

इकाई 1 :समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का अर्थ एवं प्रकृति Meaning & Nature of Sociological Theories

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
- 1.3 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की प्रकृति
- 1.4 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण
- 1.5 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकार
- 1.6 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का महत्त्व
- 1.7 सारांश
- 1.8 शब्दावली
- 1.9 अभ्यास प्रश्न
- 1.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इसकी प्रकृति, निर्माण, प्रमुख प्रकारों तथा महत्त्व को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की अवधारणा को समझ पाएँगे;
- समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की प्रकृति अथवा इसकी विशेषताओं की व्याख्या कर पाएँगे;
- समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण समझ पाएँगे;
- समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकारों की व्याख्या कर पाएँगे; तथा
- समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के महत्त्व को स्पष्टतया समझ पाएँगे।

1.1 प्रस्तावना

सिद्धान्त वैज्ञानिक अन्वेषण का महत्त्वपूर्ण चरण है। गुड तथा हैट (Goode and Hatt) ने इसे विज्ञान का एक उपकरण माना है क्योंकि इससे हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पता चलता है, तथ्यों को सुव्यवस्थित करने, वर्गीकृत करने तथा परस्पर सम्बन्धित करने के लिए इससे अवधारणात्मक प्रारूप प्राप्त होता है, इससे तथ्यों का सामान्यीकरण के रूप में संक्षिप्तीकरण होता है तथा इससे तथ्यों के बारे में भविष्यवाणी करने एवं ज्ञान में पाई जाने वाली त्रुटियों का पता चलता है। प्रत्येक विषय वैज्ञानिक शोध द्वारा अपनी विषय-वस्तु से सम्बन्धित तथ्यों को यथार्थ रूप में समझने का प्रयास करता है तथा इन तथ्यों को परस्पर सम्बन्धित करके सार्वभौमिक नियमों अथवा सिद्धान्तों का निर्माण करने का प्रयास करता है। समाजशास्त्र भी इसमें कोई अपवाद नहीं है, यद्यपि टी० बी० बॉटोमोर (T. B. Bottomore) के अनुसार वर्तमान समय तक ऐसा कोई भी सामान्य समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विकसित नहीं हो पाया है जो मान्य

अथवा व्यापक रूप से स्वीकृत हो। प्रारम्भ के समाजशास्त्रियों का यह दावा कि उन्होंने अनेक मूलभूत एवं सार्वभौमिक नियमों की खोज करने में सफलता प्राप्त कर ली थी, आज के समाजशास्त्री स्वीकार नहीं करते तथा यह तर्क देते हैं कि प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों के प्रयास वास्तव में अवधारणाओं के निर्माण एवं वर्गीकरण से ही मुख्यतः सम्बन्धित रहे हैं। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का निर्माण आनुभविक तथ्यों के आधार पर किया जाता है। शोध से हमारे सामने जो तथ्य आते हैं उनके सामान्यीकरण के आधार पर ही समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है। समाजशास्त्र में अभी तक अधिक सिद्धान्तों का निर्माण नहीं हो पाया है।

1.2 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

सिद्धान्त से अभिप्राय आनुभविक शोध द्वारा प्रमाणित प्रस्तावनाओं के क्रमबद्ध रूप के लिए किया जाता है। यह दो या अधिक चरों (Variables) के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों से बनता है जिसकी प्रामाणिकता की जाँच की जा सकती है। इसे हम अन्तर्सम्बन्धित तथ्यों का एक ढाँचा भी कह सकते हैं। यह एक ऐसा सामान्यीकरण है जिसे तथ्यों के बृहत् समूह के प्रामाणीकरण के बाद प्राप्त किया जाता है। सामान्यतः यह भी माना जाता है कि सिद्धान्त किसी घटना के सम्बन्ध में 'क्यों' तथा 'कैसे' सरीखे प्रश्नों का उत्तर देने का एक तरीका है। यदि सिद्धान्त समाज, सामाजिक जीवन, सामाजिक घटनाओं अथवा समाज के किसी अन्य पहलू के विषय में होते हैं, तो इन्हें समाजशास्त्रीय सिद्धान्त कहा जाता है।

'सिद्धान्त' शब्द के अर्थ के बारे में सामान्यतः एक भ्रम पाया जाता है। इस भ्रम का कारण सिद्धान्त का शब्दकोशीय अर्थ है। इस अर्थ में सिद्धान्त से अभिप्राय 'व्यवहार के विपरीत' अथवा 'अव्यावहारिक' है। इसलिए बहुधा यह कहा जाता है कि जो सिद्धान्त में उपयुक्त होता है वह अनिवार्य रूप से व्यवहार में नहीं। समाजशास्त्र में सिद्धान्त शब्द का अर्थ व्यवहार के विपरीत कदापि नहीं है।

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त समाज, सामाजिक सम्बन्धों तथा सामाजिक व्यवहार से सम्बन्धित तथ्यों की अन्तर्सम्बन्धित व्यवस्था है। समाजशास्त्रीय शोधों में तथ्यों को आनुभविक रूप से एकत्रित किया जाता है तथा फिर एक ही पहलू (या विषय) से सम्बन्धित अनेक तथ्यों को मिलाकर (अर्थात् परस्पर सम्बन्धित कर) सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है। समाजशास्त्र का एक भाग श्रेणियों में क्रमबद्ध ढाँचे के इसी वर्णन से मिलकर बना है, जिसमें केवल साधारण सिद्धान्त-निरूपण ही महत्वपूर्ण होता है। सिद्धान्त वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित एक ऐसा मान्य सामान्यीकरण होता है जो सामाजिक यथार्थता की व्याख्या करने में सक्षम होता है। प्रमुख विद्वानों ने इसकी परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी हैं—

फेयरचाइल्ड (Fairchild) ने 'डिक्शनरी ऑफ सोशियोलोजी' (Dictionary of Sociology) में समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की परिभाषा इन शब्दों में दी है—“सामाजिक घटना के बारे में ऐसा सामान्यीकरण जो पर्याप्त रूप में वैज्ञानिकतापूर्वक स्थापित हो चुका है तथा समाजशास्त्रीय व्यवस्था के लिए आधार बन सकता है।” **मर्टन (Merton)** के अनुसार—“आज जिसे समाजशास्त्रीय सिद्धान्त कहा जाता है, उसके अन्तर्गत आँकड़ों के प्रति सामान्य उन्मेष सम्मिलित है जिन पर किसी-न-किसी प्रकार से सोच-विचार करने की आवश्यकता पड़ती है। इसके अन्तर्गत स्पष्ट तथा विशिष्ट चरों के बीच प्रमाण-योग्य प्रस्तावनाओं की गणना नहीं की जाती।” उनका कहना है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रयोग व्यापक रूप से व्यावसायिक समाजशास्त्रियों के समूह के सदस्यों की विभिन्न प्रकार की क्रियाओं की व्याख्या के लिए भी किया जाता है।

एबल (Abel) के अनुसार—“.....सिद्धान्त नियमों की व्याख्या करने के लिए निर्मित अवधारणात्मक योजनाएँ हैं। सभी सिद्धान्तों का सामान्य कार्य अवलोकित नियमितताओं की व्याख्या करना है।” कैम्पबेल (Campbell) के अनुसार—“एक उपयोगी सिद्धान्त में दो गुण होते हैं। यह ऐसा होना चाहिए कि इससे नियमों का पूर्वानुमान लगाया जा सके तथा यह इन नियमों की व्याख्या कुछ ऐसी उपमाओं द्वारा कर सके जो ऐसे नियमों पर आधारित हैं जो व्याख्या किए जा रहे नियमों से अधिक सामान्य हैं।” उन्होंने समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में व्याख्यात्मक अवधारणाओं, नियमों तथा समाज के सभी पक्षों में सामान्य रूप से उपयोगी सिद्धान्तों से सम्बन्धित समाजशास्त्रीय ज्ञान को सम्मिलित किया है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सामाजिक तथ्यों पर आधारित सामान्यीकरण ही है। यह समाज, सामाजिक जीवन व व्यवहार और सामाजिक घटनाओं से सम्बन्धित तथ्यों की वह बौद्धिक व्यवस्था है जिनसे इनकी यथार्थता का ज्ञान होता है।

1.3 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की प्रकृति

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की विभिन्न परिभाषाओं से इसकी प्रकृति का भी स्पष्ट रूप से पता चल जाता है। इसकी प्रकृति को स्पष्ट करने वाली कतिपय विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) **वैज्ञानिक आधार**—अन्य सिद्धान्तों की तरह समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माणक तत्त्व भी सामाजिक तथ्य होते हैं। इसीलिए इनका वैज्ञानिक आधार होता है। ये वैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्राप्त तथ्यों पर ही आधारित होते हैं। वैज्ञानिक आधार के कारण ही समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों द्वारा आनुभविक समानताओं को ज्ञात किया जा सकता है।

(2) **तार्किक**—समाजशास्त्रीय सिद्धान्त आनुभविक तथ्यों की एक तार्किक या बौद्धिक व्यवस्था है। जब एक ही विषय से सम्बन्धित विभिन्न तथ्य संकलित कर लिए जाते हैं तो उनको तार्किक रूप में परस्पर सम्बन्धित करके सिद्धान्त का निर्माण किया जाता है।

(3) **अमूर्त**—अन्य सिद्धान्तों की तरह समाजशास्त्रीय सिद्धान्त भी अमूर्त होते हैं। इनमें प्रयुक्त अवधारणाएँ सुस्पष्ट होती हैं तथा प्रस्तावनाएँ परस्पर सम्बन्धित होती हैं।

(4) **अनुभवसिद्ध**—समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सामाजिक शोध का आधार हैं जिससे उपकल्पनाओं का परीक्षण एवं निरीक्षण किया जाता है।

(5) **यथार्थता की व्याख्या के साधन**—समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का उद्देश्य समाज, सामाजिक जीवन एवं सामाजिक घटनाओं को समझकर इनकी व्याख्या करना है। अतः ये साधन हैं, साध्य नहीं।

(6) **सामान्य प्रकृति**—समाजशास्त्रीय सिद्धान्त समाज, सामाजिक जीवन व व्यवहार तथा सामाजिक घटनाओं के बारे में सामान्यीकरण होते हैं जो सामाजिक तथ्यों द्वारा निर्मित होते हैं। इसीलिए ये सामान्य प्रकृति के होते हैं।

(7) **सार्वभौमिक**—समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सार्वभौमिक प्रकृति के होते हैं अर्थात् उन पर स्थान एवं काल का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। उदाहरणार्थ—**कार्ल मार्क्स** का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त एक सार्वभौमिक सिद्धान्त कहा जाता है।

(8) **मूल्यों की दृष्टि से तटस्थ**—समाजशास्त्रीय सिद्धान्त मूल्यों से मुक्त होते हैं क्योंकि ये अच्छे या बुरे का वर्णन नहीं करते। इनका उद्देश्य तो मात्र सामाजिक यथार्थता को समझना एवं इसकी व्याख्या करना है।

टी० बी० बॉटोमोर तथा रोबर्ट के० मर्टन के विचारानुसार समाजशास्त्र में सिद्धान्तों का काफी अभाव है तथा यह विषय अधिकांशतः आनुभविक सामान्यीकरण से आगे नहीं बढ़ पाया है। इन्हीं

सामान्यीकरणों का अधिक व्यापक रूप से परीक्षण करके सिद्धान्तों का निर्माण किया जा सकता है। **मोरिस जिन्सबर्ग** (Morris Ginsberg) के अनुसार समाजशास्त्र में छह प्रकार के सामान्यीकरण मुख्यतः पाए जाते हैं। ये हैं—

(1) मूर्त सामाजिक घटनाओं के मध्य आनुभविक सहसम्बन्ध (उदाहरणार्थ नगरीय जीवन एवं तलाक की दर),

(2) जिन दशाओं में सामाजिक संस्थाओं का विकास होता है, उनका निरूपण करने वाले सामान्यीकरण (यथा पूँजीवाद की उत्पत्ति के विभिन्न कारण),

(3) वे सामान्यीकरण, जिसका यह दृढ़ कथन है कि निर्दिष्ट संस्थाओं में परिवर्तनों का दूसरी संस्थाओं में होने वाले परिवर्तनों से नियमित सम्बन्ध है (यथा मार्क्स के सिद्धान्तों में वर्ग संरचना में परिवर्तन तथा अन्य सामाजिक परिवर्तनों के मध्य सम्बन्ध),

(4) विभिन्न प्रकार के तालबद्ध पुनः आवर्तनों अथवा अवस्था क्रमों को महत्त्व देने वाले सामान्यीकरण (यथा आर्थिक विकास की अवस्थाओं को भिन्न करने के प्रयास),

(5) सम्पूर्ण मानवता के विकास में मुख्य प्रवृत्तियों का वर्णन करने वाले सामान्यीकरण (यथा विभिन्न विद्वानों के सामाजिक विकास के सिद्धान्त) तथा

(6) मानव व्यवहार सम्बन्धी मान्यताओं में निहितार्थों का कथन करने वाले नियम (यथा आर्थिक सिद्धान्त में कुछ नियम)।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में हैं तथा इनमें सार्वभौमिकता का अभाव पाया जाता है। **जिन्सबर्ग** द्वारा बताए गए दूसरे चौथे तथा पाँचवें प्रकार के सामान्यीकरण वास्तव में सैद्धान्तिक सामान्यीकरण नहीं हैं। अतः **टी० बी० बॉटोमोर** ने उचित ही कहा है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को स्थापित आनुभविक सहसम्बन्धों से विस्तृत सामान्यीकरणों के निर्माण की ओर उन्मुख होना चाहिए। इस प्रकार के प्रयासों द्वारा समाजशास्त्र संचयी सैद्धान्तिक निर्माण के अधिक नजदीक आ जाएगा जो अन्य विज्ञानों की विशेषता है।

1.4 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण

समाजशास्त्र में सिद्धान्तों के निर्माण के प्रयास कब प्रारम्भ हुए यह एक वाद-विवाद का विषय है। समाजशास्त्रीय चिन्तन (सामाजिक पहलुओं के बारे में सोच-विचार) के रूप में समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं उसकी सभ्यता का। इस सन्दर्भ में **कोजर** एवं **रोजनबर्ग** (Coser and Rosenberg) का कहना है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त उतने ही प्राचीन हैं जितनी कि स्वयं मानव सभ्यता, क्योंकि अत्यन्त प्राचीनकाल में भी दार्शनिकों ने सभ्यता एवं साहित्य का विकास करने के लिए विधिवत् रूप से विचारों को प्रस्तुत किया। प्लेटो, अरस्तू, रूसो, लॉक इत्यादि विद्वानों के विचारों का उल्लेख सिद्धान्तों के सन्दर्भ में ही किया जाता है।

परन्तु यदि हम समाजशास्त्र विषय के एक संस्थागत विषय के रूप में इतिहास पर दृष्टि डालें तो उपर्युक्त विचारधारा उचित प्रतीत नहीं होती है। इस सन्दर्भ में **बॉटोमोर** के विचार ही उचित प्रतीत होते हैं कि जब आज तक सार्वभौमिक सिद्धान्तों का निर्माण नहीं हो पाया है, तो प्रारम्भिक दार्शनिकों के विचार सिद्धान्त हैं, यह कहना उचित नहीं होगा। इन विचारों में सिद्धान्तों का कोई गुण नहीं पाया जाता। परन्तु इन विचारों से बाद में सिद्धान्त निर्माण के प्रयासों की एक सुदृढ़ आधारशिला जरूर विकसित हुई।

थियोडोर एबल (Theodore Abel) के अनुसार समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की आधारशिला 1895 ई० से 1920 ई० की अवधि में रखी गई जबकि **दुर्खीम** (Durkheim), **सिमेल** (Simmel), **कूले** (Cooley)

तथा वेबर (Weber) जैसे विद्वानों ने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए एक नवीन दृष्टिकोण विकसित किया। प्रारम्भ से ही समाजशास्त्रियों द्वारा अध्ययन निम्न दो प्रमुख बिन्दुओं पर केन्द्रित रहे हैं—

- (1) समग्र के रूप में समाजों के अध्ययन में रुचि (समन्वयात्मक दृष्टिकोण) तथा
- (2) अस्तित्व के लिए संघर्षरत समाज के अध्ययन में रुचि (निदानात्मक दृष्टिकोण)।

प्रथम दृष्टिकोण द्वारा समाज को समग्र के रूप में, जिसमें वहाँ रहने वाले व्यक्तियों का सम्पूर्ण जीवन सम्मिलित है, समझने के प्रयास शुरू हुए, तथा संगठन एवं संस्थाओं के परस्पर सम्बन्धों के सामान्य लक्षणों की खोज शुरू हुई। इससे समाजों में तुलनात्मक एवं उद्विकासवादी अध्ययन भी शुरू हुए। इसी रुचि के कारण ऑगस्ट कॉम्ट (Auguste Comte) द्वारा समाजशास्त्र की परिभाषा 'सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक प्रगति' (Social order and Progress) के रूप में तथा फ्रेंज ओपनहीमर (Franz Oppenheimer) द्वारा "सामाजिक क्रियाओं" के अध्ययन के रूप में दी गई। अतः समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के निर्माण का प्रथम प्रयास सामाजिक जीवन को समझना व बौद्धिक व्यवस्था (Rational order) की खोज करना रहा है तथा समाज की उत्पत्ति, इसकी निरन्तरता तथा मानवीय समाज की मंजिल से सम्बन्धित सामान्य नियमों का निर्माण करना रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी में, द्वितीय दृष्टिकोण द्वारा अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे समाज को समझने का प्रयास किया गया तथा इसके लिए सामूहिक व्यवहार को प्रभावित करने वाली समस्याओं को निदानात्मक (Clinical) दृष्टिकोण द्वारा समझने का प्रयास किया गया। इसमें अन्वेषणों के केन्द्रबिन्दु सामाजिक कल्याण को प्रभावित करने वाले पर्यावरण के पक्षों तक ही सीमित थे तथा व्यक्तियों के कल्याण में वृद्धि के लिए उपाय खोजना इन अन्वेषणों एवं अध्ययनों का मुख्य उद्देश्य था। इसी दृष्टिकोण के विकास के कारण समाजशास्त्र के अनेक उपक्षेत्रों (यथा परिवार, अपराध, बाल अपराध, नगरीय जीवन आदि) के विधिवत् अध्ययन प्रारम्भ हुए।

समाजशास्त्र के जन्मदाताओं ने समाजशास्त्र को एक शास्त्रीय विषय (Academic subject) के रूप में विकसित किया तथा कॉम्ट (Comte), वार्ड (Ward), स्पेन्सर (Spencer) एवं स्माल (Small) जैसे प्रारम्भिक विद्वानों का यह मत था कि उनके समाजशास्त्रीय अध्ययन समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के प्रति योगदान ही हैं। परन्तु आने वाली पीढ़ियों ने इन अध्ययनों को चुनौती देनी शुरू कर दी तथा इनके सामान्यीकरण एवं वैज्ञानिक प्रमाणीकरण को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। बाद में, इन विद्वानों का यह मत था कि नवीन विषय का निर्माण करने के लिए केवल समन्वयात्मक एवं निदानात्मक अध्ययन ही पर्याप्त नहीं हैं यद्यपि इनसे नवीन अन्तर्दृष्टि एवं ज्ञान प्राप्त होता है, फिर भी यह अध्ययन सिद्धान्त के व्यवस्थित ढाँचे का निर्माण करने में सहायक नहीं हैं। अतः एक नवीन उपागम को विकसित किया गया जिसे 'विश्लेषणात्मक उपागम' कहा जाता है तथा जो सिद्धान्त के निर्माण के अन्य दोनों दृष्टिकोणों से कहीं अधिक उपयोगी है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के निर्माण में तीन उपागमों का विकास एक प्रमुख घटना मानी जा सकती है। ये उपागम निम्न प्रकार हैं—

- (1) समन्वयात्मक उपागम (Synthetic),
- (2) निदानात्मक उपागम (Clinical) तथा
- (3) विश्लेषणात्मक उपागम (Analytical approach)।

दुर्खीम (Durkheim), रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) तथा अनेक अन्य समाजशास्त्रियों का यह कथन है कि सहज रूप से ही यह स्वीकार कर लिया गया है कि सामाजिक विज्ञान सामान्यीकरण करने वाले विज्ञान हैं, जिनका उद्देश्य प्राकृतिक विज्ञानों की तरह सैद्धान्तिक व्यवस्था की स्थापना करना है;

यद्यपि वे अभी भी विकास की निम्न अवस्था में हैं। परन्तु डिल्थे (Dilthey) तथा अनेक अन्य विद्वान् प्रथम विचारधारा के विपरीत, यह तर्क देते हैं कि सामाजिक विज्ञानों की प्रकृति ही ऐसी है कि इनमें प्राकृतिक विज्ञानों की तरह नियम नहीं बनाए जा सकते। सामाजिक विज्ञानों के वैज्ञानिक स्वभाव के प्रति एक सबल तर्क यह दिया जाता है कि उन्होंने प्राकृतिक विज्ञानों से मिलती जुलती कोई चीज पैदा नहीं की है।

सामाजिक विज्ञानों की प्रकृति के कारण ही समाजशास्त्रीय सिद्धान्त आज भी अपने उच्चतर स्तर तक नहीं पहुँच पाए हैं तथा अभी तक अपने आनुभविक सामान्यीकरण के स्तर पर ही हैं। इनके निर्माण में अनेक प्रकार की बाधाएँ हैं जिनमें सामाजिक घटनाओं की प्रकृति सबसे प्रमुख बाधा है। इसके निर्माण में आने वाली प्रमुख बाधाएँ निम्नवर्णित हैं—

(1) **वर्णनात्मक प्रकृति**—अभी तक अनेक समाजशास्त्रीय अन्वेषणों एवं अध्ययनों की प्रकृति वर्णनात्मक है अर्थात् इनका उद्देश्य किसी नियम की खोज न करके केवल घटना का वर्णन मात्र करना है। इन वर्णनात्मक अध्ययनों के आधार पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का निर्माण नहीं किया जा सकता है।

(2) **उत्पत्ति एवं विकास सम्बन्धी अध्ययनों में अप्रमाणित तथ्यों का प्रयोग**—समाजशास्त्र एक ऐतिहासिक विषय है क्योंकि इसमें सामाजिक घटनाओं एवं संस्थाओं की उत्पत्ति एवं विकास का अध्ययन किया जाता है। इन उत्पत्ति व विकास सम्बन्धी अध्ययनों के लिए समाजशास्त्रियों को भूतकालीन तथ्यों पर आधारित होना पड़ता है। भूतकालीन या ऐतिहासिक तथ्यों की प्रामाणिकता की जाँच करना कठिन है तथा यदि उपयुक्त प्रमाण व सूत्र नहीं मिल पाते हैं तो 'ऐतिहासिक पुर्ननिर्माण' (Historical reconstruction) अर्थात् काल्पनिक तथ्यों का सहारा लिया जाता है। इस प्रकार के तथ्यों पर आधारित अध्ययन कभी भी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के निर्माण में सहायक नहीं हो सकते हैं।

(3) **सार्वभौमिक सिद्धान्तों का अभाव**—समाजशास्त्रीय वर्गीकरण के क्षेत्र में भी अभी तक कोई सर्वमान्य एवं व्यापक सिद्धान्त नहीं बनाए जा सके हैं क्योंकि अवधारणाओं का प्रयोग स्पष्ट शब्दों में नहीं किया गया है और न ही अवधारणा के वर्णन व व्याख्याएँ एक-दूसरे से सुदृढ़ता से सम्बद्ध की गई हैं।

(4) **व्याख्यात्मक सिद्धान्तों का निर्माण कठिन**—समाजशास्त्रीय घटनाओं, व्यवहार व धारणाओं की जटिलता के कारण, इनके बारे में कार्य-कारण सम्बन्धों की खोज करना तथा व्याख्यात्मक सिद्धान्त बनाना एक कठिन कार्य है।

1.5 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकार

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त कितने प्रकार के हैं, इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है, क्योंकि यदि हम यह मान लें कि समाजशास्त्र में अभी तक परिपक्व सिद्धान्तों का निर्माण नहीं हुआ है, तो इनके वर्गीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता है। फिर भी, जिन्हें हम आज समाजशास्त्रीय सिद्धान्त कहते हैं, उनका वर्गीकरण विविध प्रकार से किया गया है। कुछ प्रमुख वर्गीकरण निम्न प्रकार हैं—

(अ) **वाल्टर वॉलेस (Walter Wallace)** ने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को ग्यारह श्रेणियों में विभाजित किया है—

(1) **सामाजिक क्रियावाद**—इनमें सामाजिक अन्तर्क्रियाओं से सम्बन्धित सिद्धान्तों (यथा वेबर व पारसनस के सिद्धान्त) को सम्मिलित किया जाता है। **कूले** एवं **मीड** ने भी सामाजिक अन्तर्क्रियाओं के आधार पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण करने का प्रयास किया है।

(2) **प्रकार्यात्मक अनिवार्यवाद**—ये सिद्धान्त समग्रता की इकाइयों की प्रकार्यात्मक सम्बन्धों एवं अनिवार्यताओं को व्यक्त करते हैं (यथा **मर्टन** व **पारसनस** के सिद्धान्त)।

(3) **पारिस्थितिवाद**—इसमें मानवीय पारिस्थितिकी से सम्बन्धित सिद्धान्तों (यथा **लीप्ले** व **मूर** आदि के सिद्धान्त) को सम्मिलित किया जाता है। अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि ऐसे सिद्धान्तों में मानव तथा उसके गैर-मानवीय पर्यावरणों के बीच आन्तरिक सम्बन्धों की व्याख्या करने का प्रयास किया जाता है।

(4) **भौतिकवाद**—इनमें भौतिक आधार पर सामाजिक जीवन की व्याख्या (यथा **माक्स** का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त) देने का प्रयास किया जाता है।

(5) **जनांकिकीवाद**—इनमें जनसंख्या व मानव पर्यावरण के बीच सम्बन्धों की स्थापना (यथा **माल्थस** तथा **सैडलर** का सिद्धान्त) की जाती है।

(6) **प्रौद्योगिकवाद**—इनमें प्रौद्योगिकी का मानवीय जीवन पर प्रभाव की व्याख्या (यथा **माक्स**, **वेब्लन** व **ऑगबर्न** का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त) करने का प्रयास किया जाता है।

(7) **मनोवैज्ञानिकवाद**—इनमें मानवीय व्यवहार की मनोवैज्ञानिक आधार पर व्याख्या (यथा **कूले** का समाजीकरण का सिद्धान्त) देने का प्रयास किया जाता है। **टार्ड** के 'अनुकरण के सिद्धान्त' को भी इसी श्रेणी में रखा जाता है।

(8) **संघर्ष संरचनात्मकवाद**—इनमें सामाजिक संरचना के तत्त्वों में संघर्ष की व्याख्या (**माक्स** का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त) देने का प्रयास किया जाता है। ऐसे सिद्धान्तों की यह मान्यता है कि सामाजिक जीवन में पाया जाने वाला संघर्ष सामाजिक संरचना का मूल तत्त्व होता है।

(9) **प्रतीकात्मक अन्तर्क्रियावाद**—इनमें सामाजिक अन्तर्क्रियाओं को वस्तुनिष्ठ आधार पर समझने का प्रयास (यथा **कूले**, **मीड** व **थॉमस** के सिद्धान्त) किया जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐसे सिद्धान्त व्यक्तिनिष्ठ व्यवहार की विवेचना से सम्बन्धित होते हैं।

(10) **विनिमय संरचनात्मक**—इनमें सामाजिक जीवन में भाग लेने वाली इकाइयों के विनिमय के कारण संरचना के निर्माण पर बल दिया जाता है (यथा **वेबर** का संगठन का सिद्धान्त) तथा

(11) **प्रकार्यात्मक-संरचनात्मकवाद**—इनमें संरचना व प्रकार्यों के अध्ययनों पर बल (यथा **मर्टन** का सिद्धान्त) दिया जाता है।

(ब) **डॉन मार्टिण्डेल** (Don Martindale) ने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को मुख्यतः निम्नलिखित पाँच श्रेणियों में विभाजित किया है—

(1) **समाजशास्त्रीय प्रकार्यवाद**—यह समाज के निर्माणक तत्त्वों (अंगों या इकाइयों) के प्रकार्यों की विवेचना से सम्बन्धित है (यथा **स्पेन्सर**, **दुर्खीम**, **मैलिनोव्स्की**, **रैडक्लिफ-ब्राउन**, **मर्टन** व **पारसन्स** के सिद्धान्त)।

(2) **संघर्ष सिद्धान्त**—यह मानव जीवन व समाज में पाए जाने वाले संघर्ष की व्याख्या से सम्बन्धित है (यथा **हॉब्स**, **ह्यूम**, **माक्स**, **ओपनहीमर**, **स्माल** आदि के सिद्धान्त)।

(3) **प्रत्यक्षात्मक सावयववाद**—यह समाज की व्याख्या एक सावयव के रूप में करता है (यथा **कॉम्ट**, **स्पेन्सर**, **वार्ड**, **टॉनीज**, **पेरेटो** के सिद्धान्त)।

(4) **सामाजिक व्यवहारवाद**—यह सामाजिक व्यवहार की व्याख्या से सम्बन्धित है (यथा **गिडिंग्स**, **रॉस**, **मीड**, **कूले**, **पारसन्स** इत्यादि के सिद्धान्त) तथा

(5) **स्वरूपात्मक सिद्धान्त**—यह सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों से सम्बन्धित है (यथा **वीरकान्त**, **लीप्ले**, **मैक्स वेबर** इत्यादि के सिद्धान्त)

समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को उनके कार्य-क्षेत्र के आधार पर, आजकल अधिकांश विद्वान् निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं—

- (1) प्रतिष्ठित या बृहत् सिद्धान्त (Grand or macro theories),
- (2) मध्य-सीमा सिद्धान्त (Middle range theories) तथा
- (3) सूक्ष्म सिद्धान्त (Micro theories)।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के सिद्धान्तों को उनके अध्ययन-क्षेत्र एवं कार्य-क्षेत्र के आधार पर विभाजित किया जाता है। बृहत् सिद्धान्त बृहत् अध्ययनों पर आधारित होते हैं, सूक्ष्म सिद्धान्त सूक्ष्म अध्ययनों पर आधारित होते हैं, जबकि मध्य-सीमा सिद्धान्त इन दोनों प्रकार के अध्ययनों के बीच की श्रेणी पर आधारित होते हैं। साथ ही, बृहत् अध्ययनों का दृष्टिकोण विस्तृत, सूक्ष्म अध्ययनों का सूक्ष्म तथा मध्य-श्रेणी के अध्ययनों का समन्वित दृष्टिकोण होता है।

प्रतिष्ठित या बृहत् सिद्धान्त बृहत् समस्याओं का विस्तृत अध्ययन कर बनाए जाते हैं तथा इनमें अधिक सार्वभौमिकता पाई जाती है। इसके विपरीत, सूक्ष्म सिद्धान्त लघु स्तर पर किए गए आनुभविक अध्ययनों पर आधारित होते हैं तथा इनमें सार्वभौमिकता का अभाव पाया जाता है। इन दोनों में अन्तर को स्पष्ट करते हुए **डॉन मार्टिण्डेल** ने लिखा है, "इन दोनों में भेद पूर्णतया इस आधार पर किया जाता है कि एक शोधकर्ता अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए अध्ययन विषय के रूप में जिस इकाई को चुनता है, उसका आकार क्या है।"

यदि बृहत् एवं सूक्ष्म दृष्टिकोणों में से किसी को भी न अपना कर दोनों के समन्वित दृष्टिकोण द्वारा अध्ययन किया जाता है, तो इस प्रकार के अध्ययन के आधार पर निर्मित सिद्धान्त मध्य-सीमा सिद्धान्त कहे जाते हैं। इन सिद्धान्तों के प्रतिपादन का श्रेय अमेरिकी समाजशास्त्री **रोबर्ट के० मर्टन (Robert K. Merton)** को दिया जाता है। मर्टन के शब्दों में, "मध्य-सीमा सिद्धान्त वे सिद्धान्त हैं जो कि एक ओर दिन प्रतिदिन के शोध में प्रचुर-मात्रा में प्रकट होने वाली लघु परन्तु कार्यवाहक उपकल्पनाओं एवं दूसरी ओर सामाजिक व्यवहार, सामाजिक संगठन व सामाजिक परिवर्तन में समस्त अवलोकित समानताओं की व्याख्या करने वाले एक समन्वित सिद्धान्त को विकसित करने हेतु व्यवस्थित प्रयासों के बीच में स्थित होते हैं।" मर्टन के विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्य-सीमा के सिद्धान्त बृहत् सिद्धान्तों एवं सूक्ष्म सिद्धान्तों के बीच की श्रेणी हैं।

होमन्स (Homans) ने सामान्य सिद्धान्तों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है—

- (1) आदर्शात्मक (Normative) तथा
- (2) गैर-आदर्शात्मक (Non-normative)।

आदर्शात्मक सिद्धान्त इस बात की व्याख्या करते हैं कि व्यक्तियों को लक्ष्य प्राप्ति हेतु किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। गैर-आदर्शात्मक सिद्धान्त व्यक्तियों के वास्तविक व्यवहार की व्याख्या पर बल देते हैं।

वागनर (Wagner) ने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—

- (1) प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (Positive sociological theories),
- (2) व्याख्यात्मक समाजशास्त्र (Interpretative sociology) तथा
- (3) अवैज्ञानिक या मूल्यांकन सामाजिक सिद्धान्त (Non-scientific or evaluative theories)।

प्रत्यक्षवादी सिद्धान्तों के समर्थक समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान के समान मानते हैं। नव-प्रत्यक्षवादी, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक व सामाजिक व्यवहारवाद जैसे सिद्धान्त इस श्रेणी के उदाहरण हैं। व्याख्यात्मक सिद्धान्तों के समर्थक समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान के विपरीत एक सामाजिक विज्ञान मानते हैं। सांस्कृतिक व्याख्या, क्रिया व अन्तर्क्रिया का व्याख्यात्मक समाजशास्त्र, सामाजिक प्रघटनाशास्त्र आदि इस श्रेणी के उदाहरण हैं। अवैज्ञानिक या मूल्यांकन सामाजिक सिद्धान्तों के समर्थक समाजशास्त्र को

न तो प्रत्यक्ष विज्ञान मानते हैं और न ही व्याख्यात्मक विज्ञान। सामाजिक-दार्शनिक सिद्धान्त, वैचारिक-सामाजिक सिद्धान्त तथा मानवीय सुधार सिद्धान्त इस श्रेणी के उदाहरण हैं।

1.6 समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का महत्त्व

समाजशास्त्र में समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अब्राहम (Abraham) ने हमारा ध्यान समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के निम्नलिखित आठ प्रकारों की ओर दिलवाने का प्रयास किया है—

(1) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सम्भावित समस्याओं एवं अर्थपूर्ण उपकल्पनाओं की ओर संकेत करते हैं जो नवीन अन्वेषणों अथवा अध्ययनों का आधार बनती हैं।

(2) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त तथ्यों के बारे में पूर्वानुमान लगाने में सहायता देते हैं। एक अर्थपूर्ण सिद्धान्त अन्तर्दर्शी ज्ञान, ऐतिहासिक विश्लेषण तथा सामाजिक समरूपताओं के अवलोकन पर आधारित होने के कारण पूर्वानुमान हेतु एक ठोस आधारशिला प्रस्तुत करता है।

(3) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विषय-वस्तु एवं तथ्यों के सम्बन्धों को क्रमबद्ध बनाते हैं तथा सरल अवधारणात्मक योजना प्रदान करते हैं।

(4) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विशिष्ट आनुभविक निष्कर्षों तथा समाजशास्त्रीय उन्मुखीकरणों अथवा दिग्गिन्यासों (Sociological orientations) के बीच कड़ी प्रदान करते हैं तथा इससे शोध की सार्थकता बढ़ जाती है।

(5) अर्थ प्रदान करके समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सत्यता को अनुप्रमाणित भी करते हैं।

(6) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त शोध को निर्देशित करते हैं तथा अध्ययन किए जाने वाले तथ्यों की श्रेणी को परिसीमित भी करते हैं।

(7) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अन्वेषण के उपकरण भी हैं। वे शोध प्ररचना के निर्माण में सहायता प्रदान करते हैं।

(8) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त हमारे ज्ञान में त्रुटियाँ बताते हैं तथा इन्हें पूरा करने में सहायता प्रदान करते हैं।

1.7 सारांश

प्रत्येक विषय की भाँति समाजशास्त्र में भी सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है तथा सामाजिक यथार्थता से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्त विद्यमान हैं। सिद्धान्त को नियमों की व्याख्या करने हेतु निर्मित अवधारणात्मक ढाँचा माना जाता है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सामाजिक तथ्यों पर आधारित सामान्यीकरण होते हैं। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की प्रकृति वैज्ञानिक होती है। प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों ने अनेक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। यद्यपि अनेक विद्वान् समाजशास्त्र में सार्वभौम सिद्धान्तों का निर्माण करना एक कठिन कार्य मानते हैं, तथापि इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि आज समाजशास्त्र में अनेक सिद्धान्त विद्यमान हैं जिनके आधार पर सामाजिक घटनाओं, सामाजिक व्यवहार एवं सामाजिक सम्बन्धों की सटीक व्याख्या की जा सकती है। विद्वानों ने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया है। अधिकांशतः इन्हें बृहत् सिद्धान्त (बड़े पैमाने पर किए गए अध्ययनों पर आधारित), सूक्ष्म सिद्धान्त (लघु पैमाने पर किए गए अध्ययनों पर आधारित) तथा मध्य-सीमा सिद्धान्त (बृहत् एवं सूक्ष्म सिद्धान्तों का मिश्रित रूप) में विभाजित करते हैं। मध्य-सीमा सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का श्रेय सुप्रसिद्ध अमेरिकी समाजशास्त्री रोबर्ट के० मर्टन को दिया जाता है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त आनुभविक शोध को निर्देशित करने में तथा सामाजिक यथार्थता के बारे में विद्यमान ज्ञान में पाई जाने वाली त्रुटियों का पता लगाने में सहायता प्रदान करते हैं।

1.8 शब्दावली

| | |
|-------------------------|---|
| सिद्धान्त | – प्रामाणिक तथ्यों के क्रमबद्ध ढाँचे को सिद्धान्त कहा जाता है। यह एक ऐसा सामान्यीकरण है जो तथ्यों एवं चरों में पाए जाने वाले सम्बन्धों को दर्शाता है। |
| समाजशास्त्रीय सिद्धान्त | – समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सामाजिक तथ्यों पर आधारित सामान्यीकरण ही है। यह समाज, सामाजिक जीवन व व्यवहार और सामाजिक घटनाओं से सम्बन्धित तथ्यों की वह बौद्धिक व्यवस्था है जिनसे इनकी यथार्थता का ज्ञान होता है। |
| बृहत् सिद्धान्त | – बड़े पैमाने पर किए गए आनुभविक अध्ययनों के आधार पर निर्मित सिद्धान्त बृहत् सिद्धान्त कहे जाते हैं। ऐसे सिद्धान्त सामान्यीकरण में अधिक सहायक होते हैं। |
| सूक्ष्म सिद्धान्त | – सूक्ष्म अध्ययन पर आधारित सिद्धान्त सूक्ष्म सिद्धान्त कहलाते हैं। इन सिद्धान्तों की सामान्यीकरण की क्षमता सीमित होती है। |
| मध्य-सीमा सिद्धान्त | – बृहत् एवं सूक्ष्म सिद्धान्तों के समन्वित दृष्टिकोण को मध्य-सीमा सिद्धान्त कहा जाता है। |

1.9 अभ्यास प्रश्न

1. समाजशास्त्रीय सिद्धान्त किसे कहते हैं? इनकी प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
2. सिद्धान्त एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की अवधारणाएँ स्पष्ट कीजिए।
3. समाजशास्त्रीय सिद्धान्त को परिभाषित कीजिए। इनका निर्माण कैसे किया जाता है? संक्षेप में समझाइए।
4. समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का अर्थ बताइए। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के किसी एक वर्गीकरण की विवेचना कीजिए।
5. समाजशास्त्र में सार्वभौम सिद्धान्तों का निर्माण करना क्यों कठिन है? तर्क दीजिए।
6. समाजशास्त्रीय सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं? इनका महत्त्व बताइए।

1.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Don Martindale (1961), **The Nature and Types of Sociological Theory**, Routledge and Kegan Paul, London.
- Emile Durkheim (1982), **The Rules of Sociological Method**, The Free Press, New York.
- George C. Homans (1964), “Contemporary Theory in Sociology” in R. E. L. Faris (ed.), **Handbook of Modern Sociology**, Rand McNally, Chicago, pp. 951-77.
- H. P. Fairchild Fairchild (1944), **Dictionary of Sociology** (ed.), Philosophical Library, New York.
- Hans L. Zetterberg (1965), **On Theory and Verification in Sociology**. The Bedminster Press, New Jersey.
- Helmut R. Wagner (1963), “Types of Sociological Theory : Toward a System of Classification” in **American Sociological Review**, Vol. 28, pp. 735-42.

- Jonathan H. Turner (1971), **The Structure of Sociological Theory**, McGraw-Hill Book Company, New York.
- L. A. Coser and B. Rosenberg (1969), **Sociological Theory** (eds.), The Macmillan Company, New York.
- M. Francis Abraham (1990), **Modern Sociological Theory—An Introduction**, Oxford University Press, Delhi.
- Morris Ginsberg (1950), **Sociology**, Oxford University Press, New York.
- Robert K. Merton (1966), ‘The Sociologist as Empiricist’ in Alex Inkeles (ed.), **Readings on Modern Sociology**, Prentice Hall, New York.
- Robert K. Merton (1968), **Social Theory and Social Structure**, The Free Press, New York.
- T. B. Bottomore (1971), **Sociology : A Guide to Problems and Literature**, Prentice-Hall, Inc., N.J.
- Theodore Fred Abel (1970), **The Foundation of Sociological Theory**, Random House, New York.
- W. J. Goode and P. K. Hatt (1952), **Methods in Social Research**, McGraw-Hill Book Company, New York.
- Walter L. Wallace (1969), **Sociological Theory**, Aldine Publishing Company, Chicago.

इकाई 2 समाजशास्त्रीय चिन्तन का विकास Development of Sociological Thought

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 समाजशास्त्रीय चिन्तन की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
- 2.3 समाजशास्त्रीय चिन्तन की प्रकृति एवं विशेषताएँ
- 2.4 समाजशास्त्रीय चिन्तन की श्रेणियों की व्याख्या
- 2.5 समाजशास्त्रीय चिन्तन का ऐतिहासिक विकास
 - 2.5.1 आदिम सामाजिक चिन्तन
 - 2.5.2 प्राचीन सामाजिक चिन्तन
 - 2.5.3 मध्यकालीन सामाजिक चिन्तन
 - 2.5.4 पूर्व-आधुनिक सामाजिक चिन्तन
 - 2.5.4 आधुनिक सामाजिक चिन्तन
- 2.6 सारांश
- 2.7 शब्दावली
- 2.8 अभ्यास प्रश्न
- 2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक चिन्तन (जिसे समाजशास्त्रीय चिन्तन भी कहा जाता है) की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इसकी प्रकृति, प्रमुख श्रेणियों तथा ऐतिहासिक विकास को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- समाजशास्त्रीय चिन्तन की अवधारणा को समझ पाएँगे;
- समाजशास्त्रीय चिन्तन की प्रकृति अथवा इसकी विशेषताओं की व्याख्या कर पाएँगे;
- समाजशास्त्रीय चिन्तन की प्रमुख श्रेणियों को स्पष्टतया समझ पाएँगे; तथा
- समाजशास्त्रीय चिन्तन के ऐतिहासिक विकास की चर्चा कर पाएँगे।

2.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्रीय चिन्तन का इतिहास अथवा समाजशास्त्रीय विचारधारा प्रमुख रूप से सामाजिक जीवन एवं इससे सम्बन्धित मुख्य सामाजिक समस्याओं से आबद्ध विचार है। अतः सामाजिक चिन्तन का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं मनुष्य का तथा समाज का। प्रारम्भ से ही प्रत्येक समाज में अनेक तरह की समस्याएँ रही हैं। इन समस्याओं के प्रति चिन्तक अनदेखे नहीं रहे अपितु उन्होंने इन समस्याओं को सुलझाने के लिए और सामाजिक जीवन को स्थायी एवं सुचारु रूप से चलाने के लिए विभिन्न प्रकार के विचार प्रकट किए एवं सुझाव दिए। इन्हीं विचारों के लिए, जो कि समाज, सामाजिक

व्यवस्था, सामाजिक संरचना अथवा सामाजिक जीवन एवं समस्याओं से सम्बन्धित है; 'सामाजिक चिन्तन' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

सामाजिक चिन्तन, समाज के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित विचार हैं। इन्हीं विचारों को आज हम 'समाजशास्त्रीय चिन्तन' कहते हैं। क्योंकि 'समाजशास्त्र' का एक संस्थागत विषय के रूप में विकास उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ, इसलिए इससे पहले 'सामाजिक चिन्तन' शब्द ही प्रचलित रहा है। सामाजिक चिन्तन का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं समाज का। चूँकि मानव समाज के विकास के विभिन्न युगों में एक समान समस्याएँ नहीं रही हैं, इसलिए विभिन्न युगों के सामाजिक चिन्तन में भेद पाया जाता है।

2.2 समाजशास्त्रीय चिन्तन की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

सामाजिक अर्थात् समाजशास्त्रीय चिन्तन का शाब्दिक अर्थ है 'समाज के बारे में विचार' या 'समाज के बारे में चिन्तन'। ये सामाजिक चिन्तन सामाजिक व्यक्तियों अथवा सहयोगी व्यक्तियों के सहचिन्तन का परिणाम है। इस प्रकार का सहचिन्तन दैनिक जीवन की किसी भी प्रकार की समस्या से सम्बन्धित हो सकता है। क्योंकि समस्याएँ सदैव समाज में रही हैं इसलिए सहचिन्तन भी सदैव होता रहा है अर्थात् सामाजिक चिन्तन का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं समाज का इतिहास। अन्य शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक चिन्तन वैयक्तिक या सहचिन्तन के परिणामस्वरूप विकसित वे विचार हैं जो मुख्यतः सामाजिक जीवन एवं समस्याओं से सम्बन्धित हैं।

सामाजिक चिन्तन एवं सोच-विचार की उस पद्धति को हम समाजशास्त्रीय चिन्तन कह सकते हैं जो मानव समाज अथवा व्यक्तियों के जीवन एवं समस्याओं से सम्बन्धित है। प्राचीनकाल के भारत, चीन, जापान, ग्रीक, मिस्र, बेबीलोनिया आदि के समाज विचारकों का समाज के बारे में चिन्तन इसी श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है। प्रारम्भिक चिन्तन लोक चिन्तन की उपज थी जिसकी अभिव्यक्ति कहावतों, लोकवार्ताओं, मिथकों, लोकगाथाओं, किंवदन्तियों आदि में देखने को मिलती है। क्योंकि प्राचीनकाल में समाजशास्त्र विषय नहीं था, इसलिए इस चिन्तन को सामाजिक चिन्तन कहते हैं। प्राचीनकाल के विचारक समाजशास्त्री न होते हुए भी प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों की भाँति सामाजिक जीवन से सम्बन्धित समस्याओं को समझने तथा उनके निराकरण के उपाय खोजने हेतु प्रयासरत थे।

प्रमुख विद्वानों ने समाजशास्त्रीय चिन्तन की परिभाषाएँ निम्नलिखित प्रकार से दी हैं—

बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार—“जहाँ तक भूतकाल एवं वर्तमान का सम्बन्ध है, नियमानुसार सामाजिक प्रश्नों के बारे में व्यक्तियों के विचार ही सामाजिक चिन्तन है। इस अर्थ में सामाजिक चिन्तन मानव इतिहास अथवा वर्तमान में यहाँ-वहाँ एक या कुछ व्यक्तियों द्वारा सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में सोचना या विचारना है।” **चैम्बलिस (Chambliss)** के अनुसार—“सामाजिक विचार मानव प्राणियों एवं उनके साथियों के बीच सम्बन्धों से सम्बन्धित है।” **फूरफे (Furfey)** के अनुसार—“सामाजिक चिन्तन मानवीय जीवन से सम्बन्धित है।...सामाजिक विचार एक शब्द है क्योंकि इसमें मानव समूह की सभी प्रकार की गतिविधियाँ सम्मिलित हैं।”

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्रीय चिन्तन का सम्बन्ध व्यक्तियों के सामान्य जीवन तथा सामाजिक समस्याओं के बारे में चिन्तन से है। इस प्रकार, सामाजिक जीवन तथा समस्याओं के बारे में एक अथवा कुछ व्यक्तियों के चिन्तन व विचारों को ही सामाजिक चिन्तन कहा जा सकता है। क्योंकि प्रत्येक काल में सामाजिक जीवन का स्तर तथा समस्याएँ भिन्न-भिन्न रही हैं, इसलिए प्रत्येक काल का सामाजिक चिन्तन एक जैसा नहीं होता, अपितु प्रत्येक युग की अपनी एक पृथक् तथा विशिष्ट विचारधारा होती है। सामाजिक चिन्तन का विकास सामाजिक अनुभवों के आधार पर निरन्तर

होता रहता है। क्योंकि आज की सामाजिक समस्याएँ प्राचीनकाल के चिन्तन से भिन्न हैं, इसलिए आधुनिक सामाजिक चिन्तन भी प्राचीनकाल के चिन्तन से भिन्न है। सामाजिक चिन्तन में जीवन के सामाजिक एवं अन्य पहलुओं की क्रियाओं तथा आर्थिक एवं राजनीतिक क्रियाओं के बारे में भी चिन्तन सम्मिलित है। इन सभी पहलुओं को जिन्हें पहले 'सामाजिक' के अन्तर्गत रखा जाता था, आज इन्हें 'समाजशास्त्रीय' के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

2.3 समाजशास्त्रीय चिन्तन की प्रकृति एवं विशेषताएँ

समाज के द्वारा वैज्ञानिक आधार पर सहचिन्तन का विकास ही सामाजिक विचार की प्रकृति को स्पष्ट कर देता है। **बोगार्डस** के अनुसार समाजशास्त्रीय चिन्तन मानवीय चिन्तन की वह शाखा है जो कि अपनी सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर मानवीय अन्तर्सम्बन्धों तथा अन्तर्क्रियाओं से विशेष रूप से सम्बन्धित है। उनके अनुसार सामाजिक चिन्तन अमूर्त है। व्यावहारिक विचार अथवा प्रचलित विचार सामाजिक विचारों की श्रेणी में नहीं आते क्योंकि इनमें कोई गहराई नहीं होती। इनमें केवल कुछ मूल प्रश्न उठाए जाते हैं, सन्देह प्रकट किए जाते हैं तथा दूरगामी सह-सम्बन्धों का पता लगाने का प्रयास किया जाता है। दूसरी ओर, अमूर्त विचारों में कारणवादी व्याख्याओं, वास्तविकता का वर्गीकरण, सम्बन्धों में दूरदर्शिता तथा सन्तुलित विधियों की तरफ काफी ध्यान दिया जाता है। व्यावहारिक चिन्तन प्रत्येक सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव है, जबकि अमूर्त चिन्तन पूर्णतः असामान्य है।

समाजशास्त्रीय चिन्तन का सम्बन्ध केवल सामाजिक समस्याओं के बारे में ही सहचिन्तन नहीं है, अपितु यह समाज के अन्य सभी पहलुओं, जिनमें आर्थिक तथा राजनीतिक क्रियाएँ भी सम्मिलित हैं, से भी सम्बन्धित है। यह एक अलग बात है कि इसकी उत्पत्ति प्रमुख रूप से सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए होती है।

क्योंकि प्रत्येक युग का सामाजिक जीवन भिन्न होता है, इसलिए प्रत्येक समाज तथा एक ही समाज के विभिन्न युगों में समाजशास्त्रीय विचारधारा भिन्न-भिन्न होती है। समाजशास्त्रीय चिन्तन का निरन्तर विकास मानव की विकासवादी प्रकृति का सूचक है। साथ ही, समाजशास्त्रीय चिन्तन किसी युग में विचारकों के सामाजिक अनुभवों से सम्बन्धित होती है और इसकी प्रकृति विकासवादी होती है क्योंकि इसके आधार पर सामाजिक समस्याओं का निराकरण करने का प्रयास किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से समाजशास्त्रीय चिन्तन की निम्नांकित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

- (1) समाजशास्त्रीय चिन्तन अमूर्त होता है क्योंकि यह विचारों से सम्बन्धित है।
- (2) समाजशास्त्रीय चिन्तन का उद्भव सामाजिक समस्याओं के निराकरण की आवश्यकता के परिणामस्वरूप होता है। जब कभी आवश्यकताओं की पूर्ति की समस्या उठ खड़ी होती है, तभी विभिन्न सामाजिक चिन्तन जन्म लेता है।
- (3) समाजशास्त्रीय चिन्तन केवल सामाजिक समस्याओं से ही सम्बन्धित न होकर आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं तथा सामाजिक नियोजन से भी सम्बन्धित है।
- (4) प्रत्येक समाज का भिन्न-भिन्न समाजशास्त्रीय चिन्तन होता है तथा साथ ही एक ही समाज के विभिन्न युगों के चिन्तन में भी भेद होता है क्योंकि उनकी संस्कृति तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अलग-अलग होती है।
- (5) समाजशास्त्रीय चिन्तन सामाजिक अनुभवों द्वारा विकसित एवं प्रभावित होता है। समाज के प्रति होने वाले अनुभव ही चिन्तन को विकसित करते हैं।
- (6) सामाजिक चिन्तन की प्रकृति विकासवादी होती है। यह निरन्तर वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में सुधार पर बल देती है।

2.4 समाजशास्त्रीय चिन्तन की श्रेणियों की व्याख्या

बोगार्डस ने समाजशास्त्रीय चिन्तन की तीन श्रेणियाँ बताई हैं। अन्य शब्दों में सामाजिक जीवन के बारे में व्यक्तियों के चिन्तन तीन प्रकार के हैं—

(1) **सामाजिक नियोजन**—इस प्रकार के चिन्तन का प्रमुख उद्देश्य मानव समूहों में उन्नति (Advancement of human groups) करना होता है। बोगार्डस का कहना है कि कुछ व्यक्ति 'नियोजन' शब्द से अभिप्राय सामान्य शब्दों में समाजवाद अथवा साम्यवाद अथवा फासिस्टवाद (फासिज्म) के निर्माण से लगा लेते हैं जो कि पूर्णतः गलत है। सामाजिक नियोजन का सार मानव समुदायों का विकास करना है। यह विकास विशेषज्ञों द्वारा सावधानीपूर्वक, सुनिश्चित एवं निर्धारित विधियों द्वारा किया जाता है। अन्य शब्दों में, समुदायों के विकास व उन्नति के लिए नियोजित प्रयास ही सामाजिक नियोजन है।

(2) **समाज-विरोधी चिन्तन**—इस प्रकार के चिन्तन का उद्देश्य व्यक्तियों के हितों का किसी विशेष गुट या समूह उद्देश्यों के लिए शोषण करना है। यह अक्सर व्यक्तिवादी विचारों से शुरू होता है तथा ऐसी योजना में समाप्त होता है जिसमें कुछ व्यक्तियों को लाभ हो, जबकि अनेक अन्य व्यक्तियों को किसी-न-किसी प्रकार की हानि उठानी पड़ती है। जब इसके हानिकारक प्रभावों का जनसाधारण को पता चल जाता है तो जनसाधारण द्वारा इसका खण्डन (Repudiation) शुरू हो जाता है।

(3) **वैज्ञानिक सामाजिक चिन्तन**—इस प्रकार के चिन्तन का उद्देश्य प्रक्रियाओं का विश्लेषण करना है तथा ऐसी योजनाएँ बनाना है जिससे मौलिक सामाजिक सुधार हो सके। इसमें समाज-विरोधी अथवा समाज उपयोगी हितों पर बल न देकर इसके अन्तर्गत कार्य करने वाली प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने के पश्चात् सामाजिक प्रक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, चाहे यह ज्ञान कैसा भी क्यों न हो।

2.5 समाजशास्त्रीय चिन्तन का ऐतिहासिक विकास

सामाजिक चिन्तन का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं समाज का, परन्तु इसे श्रेणीबद्ध करना एक कठिन कार्य है। यदि हमें केवल 'समाजशास्त्रीय चिन्तन' के ऐतिहासिक विकास की बात करनी है तो हमें निश्चित रूप से अपना अध्ययन **ऑगस्त कॉम्ट** के विचारों से प्रारम्भ करना होगा। इस दृष्टि से यह केवल आधुनिक सामाजिक चिन्तन ही कही जाएगी। यहाँ पर हम **बोगार्डस** का अनुकरण करते हुए 'सामाजिक चिन्तन' शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में कर रहे हैं। सामाजिक चिन्तन के इतिहास को सुविधानुसार निम्नलिखित पाँच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

2.5.1 आदिम सामाजिक चिन्तन

आदिम व्यक्ति सरल जीवन व्यतीत करते थे परन्तु वे भी जीवन के नाटकीय पहलुओं के बारे में सोचते थे तथा उनकी व्याख्या देने का प्रयास करते थे। परन्तु उनकी व्याख्याएँ धार्मिक तथा अलौकिक शक्तियों से सम्बन्धित होती थीं। सबसे आदिम सामाजिक चिन्तन कहावतों, लोकगीतों इत्यादि के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। बोगार्डस ने इस तरह के चिन्तन को लोक चिन्तन (Folk thinking) कहा है। इन कहावतों, लोकगीतों तथा लोकगाथाओं को आदिम व्यक्तियों ने न केवल अपने नीरस जीवन को सरल बनाने अपितु अपनी आशाओं, आकांक्षाओं, आदर्शों एवं इच्छाओं को अभिव्यक्त करने का साधन भी बनाया।

आदिम सामाजिक चिन्तन के युग का व्यक्ति प्रकृति पर ही निर्भर था तथा उसे अपने जीवन की रक्षा के लिए कठोर संघर्ष करना पड़ता था जिसके कारण उसका जीवन काफी बर्बरता से पूर्ण था तथा सामाजिक चिन्तन में समाजिकता की कमी थी। उन लोगों के लोकगीतों तथा लोककथाओं से यह अनुमान

लगाया जा सकता है कि वे लोग सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के बारे में क्या सोचते थे। अनेक ऐसी कहावतें हैं जिनका गहन अर्थ था। उदाहरण के लिए—अफ्रीका में प्रचलित कहावत है “इका के बेवकूफ और लूका के उजड्ड दोनों ने दोस्ती कर ली” तथा “एक समान पंख वाले पक्षी एक साथ दिखाई देते हैं।” इन कहावतों का यह अर्थ है कि दोस्त एक ही प्रकार के व्यक्ति होने चाहिए जिनके सोचने का ढंग एक—सा हो। इसी प्रकार की अनेक अन्य कहावतें हम सबने सुनी हैं। उदाहरणार्थ, “आग लगने पर कुआँ खोदना उचित नहीं” अथवा “का वरखा जब कृषि सुखानी” अथवा “घोड़ा चोरी चले जाने के बाद अस्तबल में ताला लगाना निरर्थक है।” इन कहावतों का अर्थ मानव व्यवहार की लापरवाही के प्रति सचेत करना तथा सोच—समझ कर व्यवहार करना रहा है। इसी प्रकार, “कोयलों की दलाली में हाथ काले” तथा “घर का भेदी लंका ढाए” कुछ ऐसी कहावतें हैं जो बुरे कामों को करने से रोकने तथा पारिवारिक एकता को बनाए रखने से सम्बन्धित रही हैं।

बोर्गार्डस ने आदिम सामाजिक चिन्तन की आठ विशेषताएँ बताई हैं। ये विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

- (1) आदिम सामाजिक विचार पूर्ण रूप से सरल, अस्पष्ट तथा अविकसित था।
- (2) यह असम्बद्ध, अव्यवस्थित तथा अस्थिर था।
- (3) लोककथाओं तथा गाथाओं के वर्गीकरण से पता चलता है कि बहुत कम कथाएँ अथवा गाथाएँ सामाजिक थीं। अधिकतर सामाजिक विचार व्यक्तिगत थे।
- (4) सामाजिक विचार व्यावहारिक थे क्योंकि वे वास्तविक मूर्त सामाजिक जीवन से सम्बन्धित थे, न कि अमूर्त जीवन से।
- (5) सामाजिक विचार अधिकांशतः सलाह के रूप में थे।
- (6) सामाजिक विचार प्रकृति तथा शारीरिक उपमाओं द्वारा व्यक्तियों को कठिन जीवन का सामना करने के लिए प्रेरित करते थे।
- (7) सामाजिक विचार परिवार अथवा छोटे समूह के सम्बन्धों के बारे में थे। उत्तरदायित्व की भावना प्राथमिक समूहों तक ही सीमित थी।
- (8) आदिम लोक चिन्तन के तुलनात्मक अध्ययन से मानवीय आवश्यकताओं तथा अनुभवों में अनेक समानताओं का पता चलता है। इन समान विचारों से नातेदारी, अधिकार, पारस्परिक निर्भरता तथा जनजातीय वफादारी की अवधारणाओं की उत्पत्ति हुई।

2.5.2 प्राचीन सामाजिक चिन्तन

चिन्तन के इस युग में आदिम युग की तरह विचारों में अधिक विशेषीकरण नहीं था। परन्तु निःसन्देह लिपि एवं भाषा के विकास के कारण सामाजिक विचारों की इस श्रेणी का स्पष्ट रूप हमें दिखाई देता है। मिस्र तथा बेबीलोन (Egyptian and Babylonian) के सामाजिक विचार इस श्रेणी के प्रमुख उदाहरण कहे जा सकते हैं। मिस्र की सामाजिक विचारधारा का पता उस समय के समाज तथा उसकी संरचना से चलता है जिसका वर्णन हमें वहाँ की प्राचीन पुस्तकों में मिलता है। सामाजिक व्यवस्था पर राजा का अधिकार था जो कि दैवी प्राणी माना जाता था तथा बाकी जनता गुलामी की अवस्था में थी। सामान्य नागरिक राजा के प्रति श्रद्धायुक्त होते थे और अत्यधिक भयभीत भी होते थे। मध्य वर्ग बहुत छोटा था। जनता की सामाजिक दशाएँ अच्छी नहीं थीं तथा सताए हुए वर्ग के सामाजिक विचार विद्रोह के रूप में उभरते थे। मिस्र में जीवन ग्रामीण था। उच्च सामाजिक स्थिति के लोगों की स्त्रियों को अधिक स्वतन्त्रता थी क्योंकि वे अपने पति के साथ जन—जीवन में देखी जा सकती थीं। बेबीलोन की सामाजिक विचारधारा भी प्रारम्भिक अवस्थाओं में मिस्र की विचारधारा की तरह ही थी। राजा को भगवान का अवतार समझा जाता

था तथा न्याय "जैसे को तैसा" के सिद्धान्त पर निर्भर था। राष्ट्रीय जीवन में धर्म की प्रधानता थी परन्तु दास को निम्न सामाजिक दृष्टि से देखा जाता था। स्त्रियों के अधिकार मित्र की तरह ही थे तथा शासक वर्ग की स्त्रियों को निश्चित सम्पत्ति के अधिकार थे। कठोर दण्ड (यथा मृत्युदण्ड) की व्यवस्था थी तथा परिवार अधिक संगठित था। विवाह में कन्या को दहेज मिलता था जो कि उसकी अपनी निजी सम्पत्ति मानी जाती थी।

प्राचीन भारतीय सामाजिक विचार, यूनानी सामाजिक विचार (जिसमें प्लेटो तथा अरस्तू के नाम प्रमुख हैं) तथा प्रारम्भिक ईसाई विचार भी प्राचीन सामाजिक विचारों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। प्राचीन भारतीय सामाजिक विचारधारा का परिचय हमें हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों; जैसे वेद, उपनिषद्, धर्मसूत्र, रामायण, महाभारत, गीता इत्यादि से मिलता है। इन धर्मग्रन्थों में जिस जीवन की व्याख्या मिलती है वह धर्म-प्रधान जीवन था, आत्मा-परमात्मा, धर्म-कर्म के विचार प्रमुख थे तथा सम्पूर्ण सामाजिक संगठन वर्ण व्यवस्था पर आधारित था जिसका आधार कार्य था। साथ ही, इन ग्रन्थों में आदर्श परिवार तथा संयुक्त परिवारों की प्रधानता तथा विभिन्न प्रकार की सामाजिक समस्याओं का विस्तृत उल्लेख मिलता है।

सामाजिक चिन्तन के इतिहास में यूनान का चिन्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा इसमें प्लेटो और अरस्तू का नाम उल्लेखनीय है, यद्यपि अनेक अन्य विचारकों; जैसे हेरोडोटस, हिप्पोक्रेटस तथा सुकरात इत्यादि का योगदान भी किसी तरह से कम नहीं है। प्लेटो की पुस्तक 'रिपब्लिक' (Republic) में सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का विस्तृत उल्लेख मिलता है। प्लेटो को एक आदर्शवादी दार्शनिक माना गया है क्योंकि वे एक आदर्श राज्य की स्थापना करना चाहते थे। प्लेटो राज्य के कठोर नियन्त्रण के समर्थक थे तथा व्यवस्था भंग करने वालों को कठोर दण्ड देने के पक्ष में थे। वे स्त्रियों को समान अधिकार देने के भी पक्षपाती थे। एक आदर्श समाज की स्थापना हेतु प्लेटो शिक्षा के महत्त्व को तो स्वीकार करते थे परन्तु लिंग के आधार पर असमानता को स्वीकार नहीं करते थे।

अरस्तू के विचारों का उल्लेख उनकी दो कृतियों 'एथिक्स' (Ethics) तथा 'पोलिटिक्स' (Politics) में मिलता है। उनका भी कहना था कि समाज के बिना मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता। राज्यों के कुछ नैतिक उद्देश्य होने चाहिए ताकि मानवीय सुख तथा भलाई के लिए आवश्यक कदम उठाए जा सकें। वह एकतन्त्रीय सरकार को श्रेष्ठ मानते थे। उन्होंने परिवार का स्थान राज्य से पहले रखा है तथा परिवार को सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई माना है। मानव के अस्तित्व को बनाए रखने हेतु पारिवारिक जीवन प्रकृति की एक व्यवस्था है और इसका विकास मानव की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है।

दोनों विद्वान् राज्य को एक अनिवार्य, आत्म-निर्भर तथा सर्वोच्च नैतिक संस्था मानते थे, राज्य तथा समाज में किसी प्रकार का भेद नहीं करते थे उनकी यह मान्यता थी कि राज्य से पृथक् मनुष्य आदर्श जीवन व्यतीत नहीं कर सकते।

2.5.3 मध्यकालीन सामाजिक चिन्तन

मध्यकालीन सामाजिक चिन्तन उस समय की अस्थायी सामाजिक दशाओं का सूचक है तथा मुख्य रूप से इस काल में यह स्वीकार किया जाता था कि सरकार तथा अन्य संगठन सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने के लिए अनिवार्य है। इसमें यह भी कहा गया है कि सरकार का निर्माण भगवान द्वारा किया गया है। सरकार एक प्राकृतिक संस्था है जो कि समाज कल्याण के लिए अनिवार्य है। इसलिए सभी नागरिकों को इसके प्रति वफादार होना चाहिए। सेण्ट आगस्टाईन की इस युग में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। पुस्तक 'सिटी ऑफ गॉड' (City of God) में आगस्टाईन ने व्यक्तिगत क्रिया की चार कारणों से व्याख्या की है—(1) शरीर की प्रसन्नता के लिए, (2) मस्तिष्क की प्रसन्नता के लिए, (3) शरीर तथा मस्तिष्क की संयुक्त

रूप से प्रसन्नता के लिए तथा (4) भगवान की प्रसन्नता के लिए। उन्होंने पवित्र हृदय की महत्ता पर भी जोर दिया है। सामाजिक अव्यवस्था के इस युग में शिक्षा के लिए आन्दोलन भी हुए तथा सामन्तवादी व्यवस्था का भी प्रचलन हुआ।

2.5.4 पूर्व-आधुनिक सामाजिक चिन्तन

पूर्व-आधुनिक काल मध्यकाल तथा आधुनिक युग के बीच का युग है तथा सामाजिक चिन्तन का विधिवत् इतिहास इसी युग में शुरू होता है। मैकियावली, सर फ्रांसिस बेकन, हॉब्स, स्पाइनोजा, लॉक, रूसो, मॉण्टेस्क्यू, डेविड ह्यूम, एडम स्मिथ, कान्त इत्यादि इस युग के प्रमुख विचारक माने जाते हैं। मैकियावली ने मानव स्वभाव की व्याख्या क्रूरता, स्वार्थीपन तथा दुर्बल चरित्र के रूप में की है। वे इस पक्ष में थे कि व्यक्ति का कठोरता से दमन किया जाना चाहिए ताकि वह अच्छे-से-अच्छा नागरिक बन सके। वे कठोर शासकों के पक्ष में थे। फ्रांसिस बेकन ने इस बात पर बल दिया कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सरकार तथा सामाजिक व्यवस्था को समाप्त कर देती है तथा विकास रुक जाता है। हॉब्स ने राज्य की उत्पत्ति प्राकृतिक अवस्था की बर्बरता, संघर्ष, मारपीट, अपहरण, अन्याय, असुरक्षा आदि में बताई है तथा वे निरंकुश शासन में विश्वास रखते थे। लॉक भी हॉब्स की तरह राज्य की उत्पत्ति प्राकृतिक अवस्था की असुविधाओं में मानते हैं। इसके विपरीत, रूसो ने प्राकृतिक अवस्था को अत्यधिक सुखी, स्वतन्त्र तथा प्रेम और सहानुभूति से भरपूर बताया है। रूसो के लिए राज्य एक सावयव है तथा राज्य में रहकर ही मानव का बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास सम्भव है। मॉण्टेस्क्यू ने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य स्वभाव से ही सहयोग और संगठन की प्रकृति रखता है। एडम स्मिथ ने आर्थिक संस्थाओं का उद्देश्य मानव समाज का हित बताया है, जबकि कान्त ने प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों को सामाजिक तथा असामाजिक दोनों तरह का बताया है।

2.5.5 आधुनिक सामाजिक चिन्तन

आधुनिक सामाजिक चिन्तन उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों के विचारकों के माने जाते हैं तथा सामाजिक विचारों, जिन्हें हम वस्तुतः समाजशास्त्रीय विचार कह सकते हैं, का वैज्ञानिक इतिहास इसी युग से शुरू होता है। ऑगस्त कॉम्ट प्रथम विचारक थे जिन्होंने समाजशास्त्र की एक व्यवस्थित विज्ञान के रूप में उन्नीसवीं शताब्दी (1838 ई0) में स्थापना की। हरबर्ट स्पेन्सर, कार्ल मार्क्स, इमाइल दुर्खीम, विलफ्रेडो पेरेटो, थरस्टीन वेब्लन, एफ0 एच0 गिडिंग्स, चार्ल्स कूले, मैक्स वेबर, मोहनदास करमचन्द गांधी, रोबर्ट के0 मर्टन, टालकट पारसनस इत्यादि तथा समकालीन समाजशास्त्री आधुनिक युग के प्रमुख विचारक कहे जा सकते हैं।

बोगार्डस ने 'सामाजिक चिन्तन' शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया है और इसीलिए आधुनिक युग में भी उन्होंने अपने आपको केवल समाजशास्त्रियों के चिन्तन तक ही सीमित नहीं रखा है। उन्होंने जिन प्रमुख समाजशास्त्रियों के विचारों की विस्तृत विवेचना की है उनमें कॉम्ट की प्रत्यक्षवादी विचारधारा, मार्क्स की समाजवादी विचारधारा, स्पेन्सर की सावयविक सामाजिक विचारधारा, वार्ड की प्रयोजनपरक (Telic) विचारधारा तथा समनर की सांस्कृतिक-सामाजिक विचारधारा प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त, उन्होंने टार्ड के सामाजिक अन्तर्क्रिया के बारे में विचार, दुर्खीम के सामूहिक प्रतिनिधान के बारे में विचार, स्माल के सामाजिक प्रक्रिया के बारे में विचार, गिडिंग्स के समानता की चेतना सम्बन्धी विचार, सिमेल के समाजीकरण के बारे में विचार, वेबर के सामाजिक बोध से सम्बन्धी विचार, कूले के सामूहिक व्यवहार सम्बन्धी विचार, पेरेटो के फासिस्टवादी विचार, रॉस के सामाजिक परिवर्तन के बारे में विचार, थॉमस के सामाजिक मनोवृत्तियों के बारे में विचार, पार्क के सामाजिक प्रक्रियाओं के बारे में विचार, एलवुड के सामाजिक

पुनर्निर्माण के बारे में विचार, मैनेजमेंट के ज्ञान के समाजशास्त्र के बारे में विचार, ओडम के जन समाज सम्बन्धी विचार तथा मुकर्जी के सामाजिक मूल्यों के बारे में विचार को भी आधुनिक सामाजिक विचारधारा में प्रमुख स्थान दिया है।

ज्ञानोदय, फ्रांसीसी क्रान्ति तथा औद्योगिक क्रान्ति तीन ऐसी प्रक्रियाएँ मानी जाती हैं जिनके परिणामस्वरूप यूरोपीय समाजों में आमूल-चूल परिवर्तन हुए तथा इन परिवर्तनों को तथा इनके अनुरूप विकसित होने वाली सामाजिक संरचना को समझने के लिए न केवल समाजशास्त्र जैसे विषय का विकास हुआ, अपितु सामाजिक चिन्तन को एक नई दिशा भी मिली। ज्ञानोदय के परिणामस्वरूप पश्चिमी यूरोप में एक नवीन दर्शन विकसित हुआ जिसने एक ओर मनुष्य को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के केन्द्र-बिन्दु के रूप में स्थापित कर दिया तो दूसरी ओर विवेक को मनुष्य की प्रमुख विशेषता के रूप में प्रतिपादित किया। विवेकपूर्ण एवं आलोचनात्मक ढंग से सोचने की क्षमता ने मनुष्य को अपनी ही नजर में हमेशा के लिए ही बदल दिया। इसी के परिणामस्वरूप 'धर्मनिरपेक्षता', 'वैज्ञानिक सोच' तथा 'मानवतावादी सोच' जैसी वैचारिक प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। इसी भाँति, फ्रांसीसी क्रान्ति तथा औद्योगिक क्रान्ति ने सामाजिक संरचना के सभी पक्षों को परिवर्तित कर दिया। उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था विकसित हुई जिससे इन समाजों में वर्ग पर आधारित विषमताएँ और गहरी हो गईं। सामाजिक समस्याओं को समझने के लिए सामाजिक सर्वेक्षण किए जाने लगे ताकि इन समस्याओं का समाधान निकाला जा सके। जीवन में अत्यधिक गतिशीलता एवं प्रतियोगिता आ गई तथा भैतिकवादी प्रवृत्ति विकसित होने लगी। अतिरिक्त उत्पादन में उपनिवेशवाद को जन्म दिया, नगरीकरण में वृद्धि होने लगी तथा नगरों एवं औद्योगिक केन्द्रों में जनसंख्या बढ़ने लगी। गन्दी बस्तियाँ और सफाई के नितान्त अभाव से अनेक नई समस्याएँ विकसित हो गईं जिनके समाधान की आशा राजतन्त्र से की जाने लगी। राज्य से समाज कल्याण के कार्यों की अधिक आशा होने लगी। बाजारों का तेजी से विकास हुआ तथा अनौपचारिक सम्बन्धों के स्थान पर औपचारिक सम्बन्ध प्रमुख होने लगे। ये सब परिवर्तन इतने दूरगामी थे कि इन्हें समझने के लिए समाजशास्त्र जैसे विषय का विकास हुआ।

विवेकपूर्ण एवं आलोचनात्मक ढंग से सोचने की क्षमता ने धर्म, सम्प्रदाय व देवी-देवताओं के महत्त्व को कम कर दिया तथा 'धर्मनिरपेक्षता', 'वैज्ञानिक सोच' तथा 'मानवतावादी सोच' जैसी वैचारिक प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। प्रोटेस्टेंट विद्रोह तथा वैज्ञानिक क्रान्ति ने 18वीं शताब्दी में जिस ज्ञानोदय के युग का प्रारम्भ किया उसमें सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं के प्रति नवीन दृष्टि से विचार किया जाने लगा। इसी नवीन दृष्टि ने समाजशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

ज्ञानोदय द्वारा व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिला तथा यह दृढ़ विश्वास विकसित हुआ कि प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति द्वारा मानवीय पहलुओं का अध्ययन किया जा सकता है और करना भी चाहिए। उदाहरणार्थ—गरीबी, जो अभी तक 'प्राकृतिक प्रक्रिया' के रूप में मानी जाती थी, उसे सामाजिक समस्या के रूप में देखना प्रारम्भ हुआ जो कि मानवीय उपेक्षा अथवा शोषण का परिणाम है। यह दृष्टिकोण विकसित हुआ कि गरीबी को समझा जा सकता है और इसका निराकरण सम्भव है। यह धारणा भी विकसित हुई कि ज्ञान में वृद्धि से सभी बुराइयों का समाधान सम्भव है। इन्हीं विचारों से समाजशास्त्र का विकास हुआ। समाजशास्त्र के जनक ऑगस्त कॉम्ट का विश्वास था कि वह जिस विषय का विकास कर रहे हैं वह मानव कल्याण में योगदान देगा।

औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। न केवल ऊँच-नीच में वृद्धि हुई, अपितु लोग गाँव छोड़कर नगरों में रोजगार की तलाश में आने लगे। स्त्रियों और बच्चों तक को खतरनाक परिस्थितियों में काम करना पड़ा। मजदूर वर्ग के गरीब लोग झुग्गी-झोपड़ियों वाली गन्दी बस्तियों में रहने के लिए विवश हो गए। इन परिस्थितियों ने राज्यतन्त्र को सार्वजनिक सामूहिक

विषयों की जिम्मेदारी उठाने के लिए विवश कर दिया। इन नई जिम्मेदारियों को निभाने के लिए शासनतन्त्र को एक नवीन प्रकार की जानकारी व ज्ञान की आवश्यकता महसूस हुई। नए ज्ञान के लिए उभरती माँग ने समाजशास्त्र जैसे विषय के अभ्युदय एवं विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसीलिए प्रारम्भ से ही समाजशास्त्रीय चिन्तन मुख्य रूप से औद्योगिक समाज के विकास के वैज्ञानिक अन्वेषण से जुड़े हुए हैं।

प्रारम्भ से ही समाजशास्त्रीय चिन्तन मुख्य रूप से औद्योगिक समाज के विकास के अन्वेषण से जुड़ा हुआ है। कुछ विद्वानों ने तो इसीलिए समाजशास्त्र को 'नए औद्योगिक समाज का विज्ञान' भी कह डाला। किसी भी समाज को समझने का आधार, वहाँ के राज्य द्वारा तैयार की गई वैज्ञानिक सूचना बनी जो इसके सामाजिक संकायों की देखरेख करती है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त इसी चिन्तन-मनन का परिणाम है।

आधुनिक सामाजिक चिन्तन को विकसित करने का श्रेय ऑगस्ट कॉम्ट, इमाइल दुर्खीम, मैक्स वेबर तथा कार्ल मार्क्स को दिया जाता है। कॉम्ट समाजशास्त्र के जनक माने जाते हैं तथा उनके प्रत्यक्षवाद के विचारों ने सामाजिक चिन्तन को एक नई दिशा प्रदान की। दुर्खीम को फ्रांस में सामाजिक चिन्तन को आगे बढ़ाने का श्रेय दिया जाता है। वस्तुतः समाजशास्त्र के जनक कॉम्ट के उत्तराधिकारी माने जाने वाले फ्रांसीसी विद्वान् दुर्खीम (1858-1917 ई0) ने समाजशास्त्र को वैज्ञानिक धरातल पर दृढ़ करने में विशेष भूमिका निभाई है। उनका विचार था कि समाजशास्त्र की विषय-वस्तु सामाजिक तथ्य हैं जिनका अध्ययन आनुभविक रूप में किया जा सकता है। प्रत्येक समाज में घटनाओं का एक विशिष्ट समूह होता है जो कि उन तथ्यों से भिन्न होता है जिनका अध्ययन प्राकृतिक विज्ञान करते हैं। सामाजिक तथ्यों की श्रेणी में कार्य करने, सोचने तथा अनुभव करने के वे तरीके आते हैं जिनमें व्यक्तिगत चेतना से बाहर भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने की उल्लेखनीय विशेषता होती है।

वेबर (1864-1920 ई0) ने समाजशास्त्र को वैज्ञानिक धरातल प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उनका तर्क था कि सामाजिक विज्ञानों का पूर्ण उद्देश्य 'सामाजिक क्रिया की व्याख्यात्मक सोच' का विकास करना है। इसी अर्थ में सामाजिक विज्ञान भौतिक विज्ञानों, जिनका उद्देश्य 'प्रकृति के नियमों की खोज करना' है से भिन्न होते हैं। सामाजिक क्रियाओं में अभी अर्थपूर्ण मानवीय व्यवहार सम्मिलित होते हैं। मानवीय क्रियाओं के विषयगत (व्यक्तिनिष्ठ) अर्थों से सम्बन्धित होने के कारण ही सामाजिक विज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न हैं। सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करते समय समाजशास्त्री का कार्य उन अर्थों को ढूँढना होता है जो कर्ता द्वारा समझे जाते हैं। इसके लिए 'सहानुभूति' की भावना उसकी सहायता करती है।

वेबर ने सामाजिक विज्ञानों में पाई जाने वाली वस्तुनिष्ठता पर भी विचार व्यक्त किए हैं। सामाजिक यथार्थता की खोज मनुष्य के अर्थों, मूल्यों, समझ, पूर्वाग्रहों, आदर्शों इत्यादि पर आधारित होती है। इसलिए सामाजिक विज्ञानों को सदैव 'समानुभूति समझ' अर्थात् 'व्याख्यात्मक बोध' (Verstehen) को अपना पड़ता है। अपने अध्ययन को वस्तुनिष्ठ बनाने हेतु समाजशास्त्री को बिना स्वयं की निजी मान्यताओं से प्रभावित हुए पूर्ण रूप से विषयगत अर्थों एवं सामाजिक कर्ताओं की अभिप्रेरणा को समझना पड़ता है। वेबर ने सामाजिक विज्ञानों में पाई जाने वाली इस प्रकार की वस्तुनिष्ठता को 'मूल्य तटस्थता' कहा है अर्थात् अपने मूल्यों से तटस्थ होकर ही समाज-वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठ अध्ययन कर सकता है। वस्तुनिष्ठ अध्ययन करने हेतु वेबर ने अपने पद्धतिशास्त्र में 'आदर्श प्रारूप' का भी उल्लेख किया है जो सामाजिक घटना का तार्किक मॉडल है जिसमें उस घटना की महत्वपूर्ण विशेषताओं को रेखांकित किया जाता है।

जर्मनी में जन्मे विद्वान् मार्क्स (1818-1883 ई0) वैज्ञानिक समाजवाद द्वारा मजदूरों पर होने वाले अत्याचार एवं शोषण को समाप्त करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने पूँजीवादी समाज का आलोचनात्मक विश्लेषण कर उसकी कमियों को उजागर किया ताकि इस व्यवस्था का पतन हो सके। पूँजीवादी

अर्थव्यवस्था के बारे में मार्क्स की धारणा थी कि यह उत्पादन के तरीकों पर आधारित होती है। यह उत्पादन की विस्तृत प्रणाली है जिसका सम्बन्ध ऐतिहासिक काल से होता है। आदिम साम्यवाद, दास प्रथा, सामन्तवाद, पूँजीवाद—ये सब उत्पादन की व्यवस्थाएँ हैं। सामान्य स्तर पर उत्पादन की व्यवस्थाएँ एक काल विशेष में जीवन की विशेषताओं को दर्शाती हैं। अर्थव्यवस्था का आधार प्राथमिक तौर पर आर्थिक होता है और इसमें उत्पादन शक्तियाँ और उत्पादन सम्बन्ध सम्मिलित होते हैं। उत्पादन शक्तियों से तात्पर्य उत्पादन के सभी साधनों (जैसे भूमि, मजदूर, तकनीक, ऊर्जा के विभिन्न स्रोत आदि) से है। उत्पादन सम्बन्धों के अन्तर्गत वे सभी आर्थिक सम्बन्ध आते हैं जो मजदूर संगठन के रूप में उत्पादन में भाग लेते हैं। उत्पादन सम्बन्ध, सम्पत्ति सम्बन्ध भी होते हैं क्योंकि ये स्वामित्व अथवा उत्पादन के साधनों के नियन्त्रण से सम्बन्धित होते हैं।

मार्क्स के लिए व्यक्ति को सामाजिक समूहों में विभाजित करने वाला सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार उत्पादन प्रक्रिया है। उत्पादन प्रक्रिया में जो व्यक्ति एक जैसे पदों पर आसीन होते हैं, वे स्वतः ही एक वर्ग निर्मित करते हैं। उत्पादन प्रक्रिया में अपनी स्थिति के अनुसार तथा सम्पत्ति के सम्बन्धों में उनके एक जैसे हित तथा उद्देश्य होते हैं। यही सामान्य हित वर्ग के सदस्यों में वर्ग के प्रति जागरूकता विकसित करते हैं।

मार्क्स ने पूँजीवादी समाज में दो प्रमुख वर्गों का उल्लेख किया है—एक पूँजीपतियों का वर्ग (बुर्जुआ वर्ग) जिसका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होता है तथा दूसरा सम्पत्तिविहीन सर्वहारा वर्ग जिसके सदस्यों को अपनी आजीविका के लिए मजबूरी में श्रमिकों के रूप में काम करना पड़ता है। इन वर्गों के उद्देश्य परस्पर विरोधी होते हैं। वर्ग चेतना विकसित होने के उपरान्त राजनीतिक गोलबन्दी के तहत इन दोनों में वर्ग संघर्ष विकसित होने लगते हैं।

मार्क्स का मत था कि “प्रत्येक विद्यमान समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।” आदिम युग से लेकर आधुनिक युग तक समाज में दो वर्ग ही प्रमुख रहे हैं—एक शोषक वर्ग तथा दूसरा शोषित वर्ग। इन दोनों वर्गों के नाम विभिन्न युगों में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। शोषक और शोषित वर्ग एक-दूसरे का कभी दबे रूप में और कभी खुले रूप में निरन्तर विरोध करते रहे हैं। यही विरोध वर्ग संघर्ष के रूप में प्रतिफलित होता रहा है। मार्क्स ने कल्पना की थी कि एक दिन सर्वहारा वर्ग पूँजीपतियों को खदेड़कर उत्पादन के साधनों पर अपना अधिकार जमा लेगा तथा एक ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसे उन्होंने ‘वर्गविहीन समाज’ की संज्ञा दी।

किसी भी विषय को समझने के लिए उन चिन्तकों का अध्ययन करना अनिवार्य है जिन्होंने सम्बन्धित विषय को विकसित करने में अथवा उसे आगे बढ़ाने में विशेष योगदान दिया है। ऐसे विद्वान् ‘शास्त्रीय चिन्तक’ कहलाते हैं जिनके विचारों को समझने बिना विषय का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। स्वाभाविक है कि सभी विषय पुराने हैं और उनके प्रतिपादकों की मृत्यु हो गई है। यदि हम समाजशास्त्र का ही उदाहरण लें तो इसके जनक ऑगस्त कॉम्ट के अतिरिक्त इमाइल दुर्खीम, मैक्स वेबर, कार्ल मार्क्स, विलफ्रेडो पेरेटो आदि विद्वानों के विचारों को समझना जरूरी है। यही वे विद्वान् हैं जिन्होंने न केवल इस विषय के निर्माण हेतु अपितु इसे वैज्ञानिक स्वरूप देने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्होंने ही इस विषय में अध्ययन-अनुसन्धान हेतु पद्धतिशास्त्र का भी निर्माण किया है। उनके द्वारा जो कार्य किए गए हैं वे उनकी शास्त्रीय कृतियों में उपलब्ध हैं तथा उन्हें पढ़े बिना समाजशास्त्र को समझना सम्भव नहीं है। यदि हम उनके कार्यों का अध्ययन नहीं करेंगे तो विषय पर हमारी पकड़ नहीं हो पाएगी। हम रटकर प्रश्न का उत्तर तो दे देंगे परन्तु सामाजिक यथार्थता को समझ नहीं पाएँगे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक सामाजिक चिन्तन, जो कि मुख्यतः उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर आज तक के युग से सम्बन्धित है, में उन विद्वानों के विचारों को

सम्मिलित किया गया है जो कि या तो समाजशास्त्री हैं या राजनीतिक दर्शनशास्त्री। इस युग की विचारधारा में समाजशास्त्र में जो प्रवृत्तियाँ उभरती हुई दिखाई देती हैं उनमें प्रत्यक्षवादी विचारधारा, समाजवादी चिन्तन, सांस्कृतिक-सामाजिक चिन्तन, अन्तर्क्रियावादी चिन्तन तथा फासिस्टवादी चिन्तन प्रमुख हैं। वास्तव में, ये प्रवृत्तियाँ एवं विचारधाराएँ विधिवत् वैज्ञानिक चिन्तन का परिणाम हैं जो कि आधुनिक युग का ही लक्षण है। सामाजिक चिन्तन में आज भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है।

सामाजिक विचारों के संक्षिप्त इतिहास से यह सिद्ध होता है कि समाज के निर्माण के साथ-ही-साथ यद्यपि सामाजिक चिन्तन भी शुरू हो गया था, तथापि वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय विचार आधुनिक युग में ही शुरू हुए। सामाजिक चिन्तन के इतिहास से इस बात का भी पता चल जाता है कि इसमें सामूहिक जीवन से सम्बन्धित सभी पहलुओं; जैसे-आर्थिक, राजनीतिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक पहलुओं से सम्बन्धित विचार सम्मिलित हैं।

जहाँ तक आधुनिक भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन का प्रश्न है, यह भी भारत में समाजशास्त्र के संस्थागत उद्भव एवं विकास से प्रारम्भ होता है। वैसे यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि भारत में प्राचीनकाल से लेकर अब तक सामाजिक चिन्तन की एक लम्बी परम्परा रही है। भारतीय समाजशास्त्र का संस्थागत विकास बम्बई विश्वविद्यालय में 1919 ई० में एक प्रमुख अंग्रेज समाजशास्त्री पैट्रिक गैडिस ने सामाजिक जीवन को पर्यावरण से सम्बन्धित करके सर्वप्रथम समाजशास्त्रीय अध्ययनों की शुरुआत की। इस विश्वविद्यालय में गैडिस की अध्यक्षता में ही इस वर्ष समाजशास्त्र विभाग का गठन किया गया। इसके पश्चात् जी० एस० घुरिये, जिन्हें भारत में समाजशास्त्र का जनक माना जाता है, ने जाति, वर्ग एवं व्यवसाय; के० एम० कपाडिया ने विवाह एवं परिवार तथा इरावती कर्वे ने हिन्दू नातेदारी व्यवस्था के अध्ययन करके समाजशास्त्र को आगे बढ़ाया। भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन में बम्बई (मुम्बई) सम्प्रदाय के अतिरिक्त लखनऊ सम्प्रदाय तथा दिल्ली सम्प्रदाय का प्रमुख स्थान रहा है। लखनऊ विश्वविद्यालय में राधाकमल मुकर्जी की अध्यक्षता में 1921 ई० में अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र विभाग गठित किया गया। दिल्ली विश्वविद्यालय में 1959 ई० में एम० एन० श्रीनिवास की अध्यक्षता में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना की गई। इन तीनों सम्प्रदायों का भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

2.6 सारांश

सामाजिक चिन्तन से अभिप्राय समाज के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित सोच-विचार अथवा विचारधारा से है। इसका लम्बा इतिहास रहा है। चूँकि समाजशास्त्र विषय का औपचारिक उद्भव एवं विकास 1838 ई० में हुआ था, इसलिए इससे पहले के चिन्तन को हम सामाजिक चिन्तन कहते हैं। सामाजिक चिन्तन एवं समाजशास्त्रीय चिन्तन को समानार्थक रूप में प्रयोग किया जाता है। समाजशास्त्रीय चिन्तन अमूर्त होता है। यह सामाजिक जीवन, सामाजिक समस्याओं एवं समाज के अन्य पहलुओं से सम्बन्धित होता है। इसकी प्रकृति विकासवादी होती है। समाजशास्त्रीय चिन्तन के ऐतिहासिक विकास को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया जाता है-आदिम सामाजिक चिन्तन, प्राचीन सामाजिक चिन्तन, मध्यकालीन सामाजिक चिन्तन, पूर्व-आधुनिक सामाजिक चिन्तन तथा आधुनिक सामाजिक चिन्तन। आधुनिक सामाजिक चिन्तन को विकसित करने में ज्ञानोदय, फ्रांसीसी क्रान्ति तथा औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप यूरोपीय समाज में हुए आमूल-चूल परिवर्तनों की प्रमुख भूमिका रही है। यद्यपि भारत में भी सामाजिक चिन्तन की एक लम्बी परम्परा रही है, तथापि समाजशास्त्रीय चिन्तन का विधिवत् प्रारम्भ 1919 ई० से माना जाता है।

भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन को आगे बढ़ाने में बम्बई, लखनऊ तथा दिल्ली सम्प्रदाय का उल्लेखनीय योगदान रहा है।

2.7 शब्दावली

| | |
|--------------------------|--|
| सामाजिक चिन्तन | – समाज के विभिन्न पहलुओं के बारे में सोच-विचार की प्रणाली अथवा विचारधारा को सामाजिक चिन्तन कहते हैं। |
| समाजशास्त्रीय चिन्तन | – यह भी सामाजिक चिन्तन की भाँति मानव समाज, इसके विभिन्न पहलुओं अथवा सामाजिक जीवन तथा इससे सम्बन्धित समस्याओं के बारे में सोच-विचार की प्रणाली अथवा विचारधारा है। सामाजिक चिन्तन में सामाजिक समस्याओं का प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया जाता है जिनमें आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याएँ तथा सामाजिक नियोजन भी सम्मिलित होता है। |
| सामाजिक नियोजन | – समाज के विकास एवं प्रगति हेतु योजनाबद्ध रूप से किए जाने वाले सचेत प्रयासों को सामाजिक नियोजन कहते हैं। |
| समाज-विरोधी चिन्तन | – इस प्रकार का चिन्तन कुछ विशेष समूहों के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सामान्य जनता के शोषण से सम्बन्धित होता है। |
| वैज्ञानिक सामाजिक चिन्तन | – इस प्रकार का चिन्तन का आधार तर्क अर्थात् वैज्ञानिक सोच होती है। |

2.8 अभ्यास प्रश्न

7. सामाजिक चिन्तन किसे कहते हैं? सामाजिक चिन्तन की प्रमुख श्रेणियाँ बताइए।
8. समाजशास्त्रीय चिन्तन से आप क्या समझते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
9. समाजशास्त्रीय चिन्तन के ऐतिहासिक विकास पर एक विस्तृत लेख लिखिए।
10. समाजशास्त्रीय चिन्तन का अर्थ बताइए तथा आदिम सामाजिक चिन्तन की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
11. आधुनिक समाजशास्त्रीय चिन्तन के बारे में आप क्या जानते हैं? संक्षेप में समझाइए।

2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- E. S. Bogardus (1981), **A History of Social Thought**, *University* of Southern California Press, Los Angeles.
- Margaret Wilson Vine (1914), **An Introduction to Sociological Theory**, Longmans, Green, New York.
- Paul Hanly Furfey (1952), **History of Social Thought**, The Macmillan company, New York.
- Raymond Aron (1998), **Main Currents in Sociological Thought**, Vol. 1, Transaction Publishers, California.
- Rollin Chambliss (1979), **Social Thought : From Hammurabi to Comte**, *Rollin Chambliss*. Irvington Publishers, New York.

इकाई 3: समाजशास्त्र का ऐतिहासिक प्रारम्भ

Beginning of Historical Sociology

इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 समाजशास्त्र की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषा
- 3.3 समाजशास्त्र का ऐतिहासिक प्रारम्भ (उद्भव एवं विकास)
- 3.4 सारांश
- 3.5 शब्दावली
- 3.6 अभ्यास प्रश्न
- 3.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में समाजशास्त्र की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इसके ऐतिहासिक उद्भव एवं विकास को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- समाजशास्त्र की अवधारणा को समझ पाएँगे;
- समाजशास्त्र के ऐतिहासिक प्रारम्भ की व्याख्या कर पाएँगे;
- समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास में सहायक कारकों को समझ पाएँगे; तथा
- प्रारम्भिक समाजशास्त्र की प्रकृति की व्याख्या कर पाएँगे।

3.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। यह एक ऐसा विषय है जिसमें समाज एवं इसके विभिन्न पहलुओं का वस्तुनिष्ठ एवं क्रमबद्ध रूप से अध्ययन किया जाता है। यह राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान एवं मानवशास्त्र की तरह एक सामाजिक विज्ञान है। यह अन्य विषयों की भाँति सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप से परिपक्व व स्वतन्त्र विषय है। समाज का विज्ञान होने के नाते इस विषय की उत्पत्ति तभी से मानी जानी चाहिए जब से कि स्वयं समाज का निर्माण हुआ है और मनुष्य ने समाज के विभिन्न पहलुओं के बारे में चिन्तन प्रारम्भ किया है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यह एक नवीन विषय है तथा एक संस्थागत विषय के रूप में इसका इतिहास लगभग 179-80 वर्षों का है। इस विषय के विकास में फ्रांसीसी एवं औद्योगिक क्रान्तियों के परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी के यूरोप में हुए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों तथा इनके परिणामस्वरूप जन-साधारण में चेतना व बौद्धिक जिज्ञासा में वृद्धि की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ऐसा माना जाता है कि इन दशाओं के परिणामस्वरूप जो सामाजिक चिन्तन विकसित हुआ उसी के परिणामस्वरूप यह नवीन विषय अस्तित्व में आया है। अमेरिका में यह एक पृथक् विज्ञान के रूप में 1876 ई० में, फ्रांस में 1889 ई० में तथा इंग्लैण्ड में 1907 ई० में प्रारम्भ हुआ। बाकी सभी देशों में यह विषय प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् आरम्भ हुआ।

3.2 समाजशास्त्र की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषा

समाजशास्त्र आधुनिक विज्ञान की एक शाखा है। इसके अन्तर्गत मानव समाज के विभिन्न स्वरूपों, उसकी विविध संरचनाओं, प्रक्रियाओं इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। टी० बी० बॉटोमोर (T. B. Bottomore) ने अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्र' का प्रारम्भ इन पंक्तियों से किया है, "हजारों वर्षों से लोगों ने उन समाजों एवं समूहों का अवलोकन एवं चिन्तन किया है जिसमें कि वे रहते हैं। फिर भी, समाजशास्त्र एक आधुनिक विज्ञान है तथा एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है।" उनके इस कथन से इस तर्क की पुष्टि हो जाती है कि समाजशास्त्र एक नवीन विषय है। साथ ही इससे यह भी पता चल जाता है कि समाज में रहना एवं इसके बारे में चिन्तन करना तथा समाज का अध्ययन करना दो भिन्न बातें हैं। समाज में रहना ही यदि समाज का अध्ययन करना होता, तो समाजशास्त्र विषय एक अति प्राचीन विषय होता जो कि वास्तव में नहीं है।

समाजशास्त्र समाज का क्रमबद्ध अध्ययन करने वाला विज्ञान है। ऑगस्त कॉम्ट (Auguste Comte) इसके जन्मदाता माने जाते हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग 1838 ई० में किया था। यद्यपि पहले उन्होंने इसे 'सोशल फिजिक्स' (Social Physics) कहा परन्तु यह विषय 'समाजशास्त्र' के नाम से ही स्वीकार किया गया है। 'समाजशास्त्र' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'सोशियोलोजी' (Sociology) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है जिसे दो भागों 'सोशियो' ('Socio') तथा 'लोजी' ('Logy') में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम शब्द अर्थात् 'Socio' लैटिन भाषा के शब्द 'Socius' से तथा दूसरा शब्द अर्थात् 'Logy' ग्रीक भाषा के 'Logos' शब्द से बना है जिनका अर्थ क्रमशः 'समाज' तथा 'विज्ञान' या 'अध्ययन' है। अतः 'समाजशास्त्र' का शाब्दिक अर्थ 'समाज का विज्ञान' या 'समाज का अध्ययन' है।

समाजशास्त्र की कोई सर्वमान्य परिभाषा देना एक कठिन कार्य है। विभिन्न विद्वानों ने इसकी परिभाषा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से दी है। इसकी सार्वभौम परिभाषा न होने का प्रमुख कारण विद्वानों में समाज के अर्थ के बारे में मतैक्य का अभाव है। इसीलिए उन्होंने समाज का विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र की परिभाषा उस अर्थ को सामने रखकर देने का प्रयास किया है जिसके द्वारा वे समाज को समझने का प्रयास करते हैं। अधिकतर समाजशास्त्र को समाज के विज्ञान, सामाजिक सम्बन्धों के क्रमबद्ध अध्ययन, सामाजिक जीवन एवं सामाजिक घटनाओं के अध्ययन, सामाजिक समूह के अध्ययन तथा सामाजिक अन्तर्क्रियाओं की व्याख्या के रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है।

अधिकांश विद्वान् (यथा ओडम, वार्ड, जिसबर्ट, गिडिंग्स आदि) समाजशास्त्र को समाज के अध्ययन या समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं। यही दृष्टिकोण अधिकांश प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों का भी रहा है जिन्होंने समाज का समग्र के रूप में (अर्थात् इसे एक सम्पूर्ण इकाई मानकर) अध्ययन करने पर बल दिया है। ऐसी कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—ओडम (Odum) के अनुसार—“समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।” वार्ड (Ward) के अनुसार—“समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।” जिसबर्ट (Gisbert) के अनुसार—“समाजशास्त्र सामान्यतः समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाता है।” गिडिंग्स (Giddings) के अनुसार—“समाजशास्त्र समग्र रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन तथा व्याख्या है।”

समाज के अध्ययन के रूप में दी गई समाजशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि केवल 'समाजशास्त्र' का शाब्दिक अर्थ ही 'समाज का अध्ययन' या 'समाज का विज्ञान' नहीं है अपितु ओडम, वार्ड, जिसबर्ट तथा गिडिंग्स आदि विद्वानों ने इसकी परिभाषा देते समय भी समाज को इस विषय का मुख्य अध्ययन-बिन्दु बताया है। समाज का अर्थ सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था, जाल अथवा ताने-बाने से है। इससे किसी समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक अन्तर्सम्बन्धों की

जटिलता का बोध होता है। अन्य शब्दों में, जब सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था पनपती है तभी हम उसे समाज कहते हैं।

विज्ञान क्रमबद्ध ज्ञान या किसी तथ्य अथवा घटना से सम्बन्धित वस्तुनिष्ठ रूप से जानकारी प्राप्त करने का एक तरीका है। इसमें अवलोकन, परीक्षा, प्रयोग, वर्गीकरण तथा विश्लेषण द्वारा वास्तविकता को समझने का प्रयास किया जाता है। यह प्रघटना के पीछे छिपे तथ्य अथवा वास्तविकता को प्राप्त करने का एक मार्ग है। इस प्रकार, जब हम समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान कहते हैं तो हमारा तात्पर्य ऐसे विषय से है जो समाज तथा इसके विभिन्न पहलुओं का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।

गिडिंग्स समाजशास्त्र को समाज के समग्र स्वरूप का क्रमबद्ध अध्ययन एवं व्याख्या करने वाला विज्ञान मानते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि समाजशास्त्र समाज में होने वाली प्रत्येक घटना और उसके विकास एवं विषय-क्षेत्र के प्रत्येक पहलू का समूल रूप से अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इसमें विभिन्न घटनाओं में पाए जाने वाले कार्य-कारण सम्बन्धों का पता लगाने का प्रयास किया जाता है। साथ ही, उनके परिणामों की व्याख्या करने का भी प्रयास किया जाता है। अतः गिडिंग्स की परिभाषा इसका यथार्थ अर्थ व्यक्त करने में सफल रही है।

कुछ विद्वानों (यथा मैकाइवर एवं पेज, क्यूबर, रोज, सिमेल, ग्रीन आदि) ने समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों के क्रमबद्ध अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। सामाजिक सम्बन्धों से हमारा अभिप्राय दो अथवा दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्धों से है जिन्हें एक-दूसरे का आभास है तथा जो एक-दूसरे के लिए कुछ-न-कुछ कार्य कर रहे हैं। यह जरूरी नहीं है कि सम्बन्ध मधुर तथा सहयोगात्मक ही हों, ये संघर्षात्मक या तनावपूर्ण भी हो सकते हैं। समाजशास्त्री इन दोनों तरह के सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं। सामाजिक सम्बन्ध उस परिस्थिति में पाए जाते हैं जिसमें कि दो या अधिक व्यक्ति, अथवा दो या अधिक समूह परस्पर अन्तर्क्रिया में भाग लें। इस दृष्टि से दी गई प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—**मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page)** के अनुसार—“समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है। सम्बन्धों के इस जाल को हम ‘समाज’ कहते हैं।” **क्यूबर (Cuber)** के अनुसार—“समाजशास्त्र को मानव सम्बन्धों के वैज्ञानिक ज्ञान के ढाँचे के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।” **रोज (Rose)** के अनुसार—“समाजशास्त्र मानव सम्बन्धों का विज्ञान है।” **सिमेल (Simmel)** के अनुसार—“समाजशास्त्र मानवीय अन्तर्सम्बन्धों के स्वरूपों का विज्ञान है।” **ग्रीन (Green)** के अनुसार—“इस प्रकार, समाजशास्त्र मनुष्य का उसके समस्त सामाजिक सम्बन्धों के रूप में समन्वय करने वाला और सामान्य अनुमान निकालने वाला विज्ञान है।”

सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में समाजशास्त्र को परिभाषित करने वाली उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट पता चल जाता है कि समाजशास्त्र की मुख्य विषय-वस्तु व्यक्तियों में पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्ध हैं। इनके आधार पर ही समाज का निर्माण होता है। **मैकाइवर एवं पेज** का इस सन्दर्भ में यह कथन उचित ही लगता है कि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों की शृंखला का अध्ययन करने वाला विषय है। ये सामाजिक सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। इनमें जटिलताएँ भी हो सकती हैं और नवीन सामाजिक परिवेश के अनुसार इनके विभिन्न रूप भी हो सकते हैं। सामाजिक सम्बन्ध छिछले, अल्पजीवी अन्तर्क्रियाओं वाले (जैसे विदेश में दो भारतीयों का एक-दूसरे को अभिवादन करना) भी होते हैं और स्थायी अन्तर्क्रिया की प्रणालियों वाले (जैसे परिवार या घनिष्ठ मैत्री) भी। सामाजिक सम्बन्ध में भाग ले रहे लोग मित्रवत् भी हो सकते हैं और द्वेषपूर्ण भी। वे एक-दूसरे के साथ सहकार भी कर सकते हैं अथवा एक-दूसरे का संहार करने की कामना भी। विरोधी सेनाओं के बीच के सम्बन्ध (शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध) भी सामाजिक सम्बन्ध ही हैं। अतः हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था का क्रमबद्ध और व्यवस्थित तरीके से अध्ययन करने वाला सामाजिक विज्ञान है।

कुछ विद्वानों ने समाजशास्त्र को सामाजिक जीवन, व्यक्तियों के व्यवहार एवं उनके कार्यों तथा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। इनकी परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—**ऑगबर्न** एवं **निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार—“समाजशास्त्र सामाजिक जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन है।” **बेनेट** एवं **ट्यूमिन** (Bennett and Tumin) के अनुसार—“समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के ढाँचे और कार्यों का विज्ञान है।” **यंग** (Young) के अनुसार—“समाजशास्त्र समूहों में मनुष्यों के व्यवहार का अध्ययन करता है।” **सोरोकिन** (Sorokin) के अनुसार—“समाजशास्त्र सामाजिक-सांस्कृतिक घटनाओं के सामान्य स्वरूपों, प्ररूपों और विभिन्न प्रकार के अन्तःसम्बन्धों का सामान्य विज्ञान है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं से हमें पता चलता है कि समाज का विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र, समाज के अन्य विज्ञानों (यथा राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र आदि) से भिन्न है। इसमें हम सामाजिक जीवन का ही अध्ययन करते हैं। इसके साथ-ही-साथ सामाजिक व्यवहार एवं सामाजिक कार्यों का अध्ययन भी इस विषय को अन्य सामाजिक विज्ञानों से पृथक् करता है। सामाजिक व्यवहार का अर्थ ऐसा व्यवहार है जो अन्य व्यक्तियों के व्यवहार या उनकी प्रत्याशित अनुक्रिया को ध्यान में रखकर किया जाता है।

व्यक्ति समाज में अकेला नहीं रहता अपितु अन्य व्यक्तियों के साथ रहता है। वास्तव में, व्यक्ति का जीवन विभिन्न सामाजिक समूहों का सदस्य होने के कारण ही संगठित जीवन है। इसी बात को आधार मानकर कुछ विद्वानों (यथा जॉनसन) ने समाजशास्त्र की परिभाषा ही सामाजिक समूहों के अध्ययन के रूप में दी है।

हेरी एम० जॉनसन (Harry M. Johnson) के अनुसार—“समाजशास्त्र सामाजिक समूहों, उनके आन्तरिक स्वरूपों या संगठन के स्वरूपों, उन प्रक्रियाओं जो उस संगठन को बनाए रखती हैं या परिवर्तित करती हैं और समूहों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।” जॉनसन की इस परिभाषा से हमें पता चलता है कि समाजशास्त्र सामाजिक समूहों, इनमें पाए जाने वाले संगठनों तथा इनसे सम्बन्धित प्रक्रियाओं (जैसे-समूह का निर्माण, समूह का विघटन अथवा समूह में परिवर्तन) का अध्ययन है। **जैटलिन** (Zeitlin) ने भी समाजशास्त्र को सामाजिक समूहों के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी लक्ष्य या उद्देश्य को पाने के लिए एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं या अन्तर्क्रिया करते हैं और इसके परिणामस्वरूप उनके मध्य सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। तभी उन व्यक्तियों के संग्रह को समूह कहा जा सकता है। सभी समूह सामाजिक सम्बन्धों के संकाय होते हैं। इस अर्थ में किसी भी समूह में उसके सदस्यों के बीच कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आंशिक सहकार निहित रहता है। समूह के सहकारिता पक्ष का यह अर्थ नहीं कि इसके सदस्यों के बीच वैमनस्य हो ही नहीं सकता। एक समूह में प्रतिद्वन्द्विता और स्थायी घृणा का बाजार गर्म हो सकता है, जैसे कि कुछ परिवार होते हैं, लेकिन वह फिर भी समूह बना रहता है। उसके सदस्य भी यदा-कदा अपनी अन्तर्क्रियाओं में कतिपय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सहकार करते रहते हैं। समाजशास्त्र व्यक्ति-व्यक्ति के परस्पर सम्बन्धों की अपेक्षा समूह-समूह के परस्पर सम्बन्धों (यथा एक जाति के दूसरी जातियों से सम्बन्ध तथा एक वर्ग के दूसरे वर्गों से सम्बन्ध) को अधिक महत्त्व देता है।

मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर है अतः यह स्वाभाविक ही है कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति के दौरान उनमें परस्पर सम्बन्ध, सहयोग तथा अन्तर्क्रियाएँ हों। व्यक्तियों की सामाजिक क्रियाओं एवं अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता है। सभी क्रियाएँ सामाजिक नहीं होतीं, वही क्रियाएँ सामाजिक होती हैं जो अर्थपूर्ण होती हैं, इस नाते वे अन्य व्यक्तियों द्वारा समझी जा सकती हैं, सामाजिक नियमों द्वारा प्रभावित होती हैं और जिनका निर्धारण

समाज अथवा समूह द्वारा किया जाता है। वेबर (Weber) के अनुसार—“समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया का निर्वचनात्मक अर्थ व्यक्त करने का प्रयत्न करता है ताकि इसकी गतिविधि तथा परिणामों की कारण सहित विवेचना की जा सके।” गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार—“समाजशास्त्र को विस्तृत अर्थ में जीवित प्राणियों के एक-दूसरे के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन कहा जा सकता है।” जिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार—“समाजशास्त्र मानवीय अन्तर्क्रियाओं, अन्तर्सम्बन्धों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है।”

सामाजिक अन्तर्क्रियाएँ (Social interactions) ही समाज की मूलाधार हैं। लूमले (Lumley) ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा है कि “और सम्पर्क तथा अन्तर्क्रियाएँ हमारे जीवन की आधारशिला हैं। वास्तव में, यही वे चीजें हैं जिन्हें हम सामाजिक अर्थ में समझते हैं; ये समाज के लिए उसी प्रकार से हैं जिस प्रकार से इमारतों के लिए ईंट और चूना होते हैं।” बीसेन्ज एवं बीसेन्ज (Biesanz and Biesanz) ने भी इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, “समाज की जड़ें सामाजिक अन्तर्क्रियाओं में ही हैं।” समाज का जन्म ही अन्तर्क्रियाओं के माध्यम से होता है।

प्रमुख विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर समाजशास्त्र की जो परिभाषाएँ दी गई हैं उनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि समाजशास्त्र मुख्य रूप से समाज, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक जीवन, सामाजिक घटनाओं, व्यक्तियों के व्यवहार एवं कार्यों, सामाजिक समूहों एवं सामाजिक अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन करने वाला विषय है। यह एक आधुनिक विज्ञान है। इसमें मानव व्यवहार के प्रतिमानों और नियमितताओं पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इसमें व्यक्तियों, उनके समूहों तथा श्रेणियों के बारे में सामान्य नियम निर्धारित किए जाते हैं। वास्तव में, समाजशास्त्रियों की रुचि उन सभी बातों के अध्ययन में है जोकि एक-दूसरे के साथ अन्तर्क्रिया के दौरान घटित होती हैं। उदाहरणार्थ, व्यक्ति किसी विशेष प्रकार का व्यवहार क्यों करते हैं? वे समूहों का निर्माण क्यों करते हैं? वे युद्ध अथवा संघर्ष क्यों करते हैं? वे पूजा क्यों करते हैं? वे विवाह क्यों करते हैं? वे वोट क्यों डालते हैं? ऐसे अनगिनत प्रश्नों का उत्तर इसी विषय में खोजने का प्रयास किया जाता है। स्मेलसर (Smelser) ने उचित ही लिखा है कि “संक्षेप में, समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं तथा समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।”

3.3 समाजशास्त्र का ऐतिहासिक प्रारम्भ (उद्भव एवं विकास)

व्यक्ति अपने स्वभाव के कारण एक जिज्ञासु प्राणी है और इसी जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण उसने प्रारम्भ से ही अपने समय में प्रचलित विविध प्रकार की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को समझने का प्रयास किया है। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में समाज के विभिन्न पहलुओं का उल्लेख विविध प्रकार से किया गया है। उदाहरणार्थ, वैदिक साहित्य एवं हिन्दू शास्त्रों (जैसे उपनिषदों, महाभारत एवं गीता आदि ग्रन्थों) में वर्ण एवं जाति व्यवस्था, संयुक्त परिवार प्रणाली, आश्रम व्यवस्था, विभिन्न संस्कारों तथा ऋण व्यवस्था जैसे अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक पहलुओं का विधिवत् विवरण मिलता है जो कि आज के समाजशास्त्रीय विश्लेषणों के किसी भी मापदण्ड से कम नहीं है। अरस्तू की पुस्तक ‘पॉलिटिक्स’, प्लेटो की ‘रिपब्लिक’ तथा कौटिल्य का ‘अर्थशास्त्र’ आदि ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें समाज के विभिन्न पहलुओं की चर्चा की गई है।

यद्यपि सामाजिक पहलुओं के अध्ययन की एक लम्बी परम्परा रही है, फिर भी समाजशास्त्र विषय का एक संस्थागत विषय के रूप में उद्भव एवं विकास 19वीं शताब्दी में हुआ जबकि ऑगस्ट कॉम्ट ने सर्वप्रथम 1838 ई० में ‘समाजशास्त्र’ शब्द का प्रयोग किया। उनका विचार था कि कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो कि समाज के विभिन्न पहलुओं का समग्र रूप में अध्ययन कर सकता हो। इस कमी को दूर करने के

लिए उन्होंने इस नवीन विषय का निर्माण किया। उन्नीसवीं शताब्दी के समाजशास्त्र को यद्यपि निश्चयात्मक (Positive) विज्ञान माना गया है जिसका प्रभाव प्राकृतिक विज्ञानों के समान था, फिर भी यह इतिहास के दर्शन एवं जैविक सिद्धान्तों के प्रभाव के कारण उद्विकासवादी था। साथ ही इसमें मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन एवं सम्पूर्ण इतिहास से सम्बन्धित अध्ययन किए जाते थे अर्थात् इसकी प्रकृति विश्वकोशीय थी।

समाजशास्त्र जैसे नवीन विज्ञान को समझने हेतु इसके उद्गम एवं विकास का अध्ययन करना अनिवार्य है। समाजशास्त्र का उद्गम एवं विकास पश्चिमी यूरोप की सामाजिक परिस्थितियों की देन है। औद्योगिक क्रान्ति, फ्रांस की क्रान्ति तथा ज्ञानोदय की इसके विकास में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इनके परिणामस्वरूप न केवल पश्चिमी समाजों में एक नवीन आर्थिक क्रियाकलाप की पद्धति (जिसे पूँजीवाद कहा जाता है) विकसित हुई अपितु इनसे इन देशों की सामाजिक संरचना पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। गाँव से शहरों की ओर प्रवर्जन, सामाजिक गतिशीलता, शिक्षा एवं रोजगार में वृद्धि, लौकिक दृष्टिकोण के विकास के साथ-साथ अनेक सामाजिक समस्याएँ भी विकसित होने लगीं। औद्योगिक मजदूरों एवं खेतिहर मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई तथा उत्पादन कार्यों में इनका शोषण होने लगा। पूँजीवाद की सेवा हेतु सत्रहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी में बड़ी संख्या में अफ्रीकियों को दास बनाया गया। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में दास प्रथा कम होने लगी, तथापि अनेक उपनिवेशवादी देशों में यह बँधुआ मजदूरों के रूप में आज भी प्रचलित है। इन सभी परिवर्तनों एवं समस्याओं के बारे में विद्वानों द्वारा चिन्तन के परिणामस्वरूप समाजशास्त्र का विकास हुआ है।

19वीं शताब्दी में समाजशास्त्र के विकास में अनेक बौद्धिक एवं भौतिक परिस्थितियों ने सहायता प्रदान की, जिनमें से चार बौद्धिक परिस्थितियों को टी० बी० बॉटोमोर (T. B. Bottomore) ने महत्वपूर्ण माना है। ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं—

- (1) राजनीति का दर्शन (Political Philosophy),
- (2) इतिहास का दर्शन (The philosophy of history),
- (3) उद्विकास के जैविक सिद्धान्त (Biological theories of evolution) तथा
- (4) सामाजिक एवं राजनीतिक सुधारवादी आन्दोलन (The movement for social and political reform)।

इनमें से दो, इतिहास के दर्शन तथा सामाजिक सर्वेक्षण (जो कि आन्दोलनों के परिणामस्वरूप शुरू हुए), ने प्रारम्भ में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। एक विशिष्ट शाखा के रूप में इतिहास का दर्शन अठारहवीं शताब्दी की देन है जिसे अबे डे सेण्ट-पियरे (Abbe de Saint-Pieare) तथा गियम्बाटिसटा विको (Giambattista Vico) ने शुरू किया। प्रगति के जिस सामान्य विचार को निर्मित करने का उन्होंने प्रयत्न किया उसने मानव की इतिहास सम्बन्धी धारणा को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। फ्रांस में मॉण्टेस्क्यू (Montesquieu) और वॉल्टेयर (Voltaire), जर्मनी में हर्डर (Herder) तथा स्कॉटिश इतिहासज्ञों एवं दार्शनिकों जैसे फर्ग्यूसन (Ferguson), मिलर (Millar), रॉबर्टसन (Robertson) इत्यादि की रचनाओं में इतिहास के दर्शन का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हीगल (Hegel) तथा सेण्ट साइमन (Saint Simon) के लेखों के परिणामस्वरूप इतिहास का दर्शन एक प्रमुख बौद्धिक प्रभाव बन गया। इन्हीं दोनों विचारकों से कार्ल मार्क्स (Karl Marx) तथा ऑगस्त कॉम्टे (Auguste Comte) की रचनाएँ विकसित हुईं। समाज की नवीन धारणा, जो कि राज्य की धारणा से भिन्न है, दार्शनिक इतिहासकारों की ही देन है।

आधुनिक समाजशास्त्र के विकास में सहायक दूसरा महत्वपूर्ण तत्त्व सामाजिक सर्वेक्षण कहा जा सकता है जिसके दो प्रमुख स्रोत थे—प्रथम, यह विश्वास कि प्राकृतिक विज्ञान की पद्धतियों को सामाजिक

घटनाओं एवं मानव क्रियाकलापों के अध्ययन में प्रयुक्त किया जा सकता है और दूसरा, यह विश्वास कि गरीबी प्रकृति या दैवी प्रकोप नहीं है अपितु मानव प्रयास द्वारा इसे दूर किया जा सकता है। इन दोनों विश्वासों के परिणामस्वरूप समाज-सुधार के लिए किए गए इन आन्दोलनों का 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के पश्चिमी यूरोप की सामाजिक परिस्थितियों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। सामाजिक परिवर्तन में रुचि के कारण ऐतिहासिक तथा सामाजिक आन्दोलनों की ओर ध्यान दिया जाने लगा।

समाजशास्त्र के विकास से जुड़े सभी प्रारम्भिक विचारक 19वीं सदी में पश्चिमी यूरोप में विद्यमान सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दशाओं या शक्तियों से प्रभावित थे। यही वह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है जिससे समाजशास्त्र का उदय हुआ। अनेक विद्वानों, जैसे **बाल्डरिज (Baldrige)** ने उन तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दशाओं का वर्णन किया है जिन्होंने समाजशास्त्र के विकास को प्रेरित किया है। ये दशाएँ निम्नलिखित हैं—

(1) तीव्र एवं क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन—बाल्डरिज ने उचित ही लिखा है, “19वीं शताब्दी में जितनी अधिक तीव्रता से परिवर्तन घटित हो रहा था उतना इतिहास में अन्य किसी काल में घटित नहीं हुआ।” इस शताब्दी में इन तीव्र सामाजिक परिवर्तनों के तीन प्रमुख कारण थे—

(i) औद्योगिक क्रान्ति—1750 ई० को इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ वर्ष माना जाता है। यह क्रान्ति लगभग सौ वर्ष अर्थात् 1850 ई० में पूर्ण हुई। इस क्रान्ति ने वस्तुओं के उत्पादन की प्रक्रिया में बृहत् मशीनों के प्रयोग का प्रचलन किया। ये मशीनें शक्ति के जड़ साधन; जैसे—भाप से चालित होती थीं। उत्पादन में मशीनों के प्रयोग पर आधारित तकनीकी ने आधुनिक उद्योगों का प्रारम्भ किया। भूमि के स्थान पर धन का प्रमुख स्रोत उद्योग बन गए। पुराने कुटीर उद्योग—धन्धे ढह गए। फैक्ट्रियों व कारखानों में काम करने के लिए दूर-दूर से मजदूर आकर एकत्रित होने लगे। हाथ के कारीगर बेरोजगार हो गए थे और वे कारखानों में काम करने के लिए मजबूर थे। बड़े पैमाने पर उत्पादन के लिए बड़ी मात्रा में कच्चे माल की खपत होने लगी। निर्मित माल के विक्रय के लिए बाजार का भी विस्तार आवश्यक हो गया। पश्चिमी यूरोप के देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार तलाशना स्वाभाविक बन गया। औद्योगीकरण ने भूमि से आय पर आधारित सामन्तशाही को धराशाही कर दिया। उद्योगपतियों की आपसी होड़ और अधिक-से-अधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप कारखानों में मजदूरों की दशा दयनीय हो गई। 12 से 14 घण्टे काम लिया जाना स्वाभाविक था, स्त्रियाँ और बच्चे भी खानों में काम पर लगाए जाने लगे क्योंकि वे पुरुषों की अपेक्षा सस्ते मजदूर थे। हवा व प्रकाश की व्यवस्था नहीं थी। व्यवसाय में मजदूर के रोगग्रस्त हो जाने या दुर्घटना में अंग-भंग हो जाने या मर जाने पर भी क्षतिपूर्ति के कोई नियम नहीं थे। औद्योगिक नगर समृद्धि के चारों ओर दर्दनाक गरीबी के साक्षी बन गए थे। पुराने सामाजिक मूल्य और परम्पराएँ आम जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक नहीं रह गए थे। नए मूल्यों और परम्पराओं का पूरी तरह विकास नहीं हो पाया था।

(ii) नगरीय क्रान्ति—स्पष्ट है कि उद्योगों की शुरुआत नगरों में हुई। इस प्रकार, तीव्र गति से नगरीकरण हुआ। गाँव से शहरों की ओर प्रवास ने नगरीय जीवन के आदर्शों और मूल्यों को कस्बों और ग्रामों की जनता में फैलने में सहायता प्रदान की। औपचारिकता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के विकास को बल मिला। इस नगरीकरण में उत्तरोत्तर जटिल होते हुए श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण ने भी योगदान प्रदान किया। भाप के रेल के इंजन के आविष्कार ने यातायात के क्षेत्र में नई क्रान्ति ला दी। प्रत्येक राष्ट्र में रेलों का जाल बिछाया जाने लगा। इससे न केवल यातायात का वरन् संवाद वहन (संचार) का भी कल्पनातीत विस्तार हुआ। नगरीकरण ने छोटे-छोटे कृषि समुदायों का ह्रास कर दिया।

(iii) राजनीतिक उतार-चढ़ाव-यद्यपि सत्रहवीं शताब्दी में ही इंग्लैण्ड में क्रोमवैल (Cromwell) के नेतृत्व में संसदीय शक्तियाँ अपने चरम पर पहुँच गई थीं जब वहाँ के राजा चार्ल्स प्रथम को 30 जनवरी 1649 को मृत्यु का दण्ड दिया गया, तथापि फ्रांस की राजनीतिक क्रान्ति (1789-1799) ने प्रजातन्त्र के विकास पर अन्तिम मोहर लगाई। इससे पूर्व अमेरिका में घटित क्रान्ति (1783-1789) प्रजातन्त्र, राजनीति में समानता, भ्रातृत्व व स्वतन्त्रता के आधार पर जन सहभागिता वाली व्यवस्था के विकास की एक आवश्यक कड़ी सिद्ध हुई। 19वीं शताब्दी शनैः शनैः गणतन्त्रीय प्रणाली के विकास की शताब्दी बन गई है। इन क्रान्तियों ने विश्व-स्तर पर मानव समाज को प्रभावित किया। बाल्डरिज ने उचित ही लिखा है कि “राजनीतिक उतार-चढ़ावों-जिनका प्रारम्भ 18वीं सदी के अन्तिम वर्षों में फ्रांसीसी व अमेरिकी क्रान्तियों ने किया-ने समाज को हिला दिया।” राजतन्त्र व सामन्तशाही के विनाश की प्रक्रिया का बिगुल इन्हीं क्रान्तियों ने बजाया था।

(2) विभिन्न संस्कृतियों से सामना-यूरोप के देशों-स्पेन, फ्रांस, इंग्लैण्ड, पुर्तगाल, डेनमार्क-का अमेरिका, अफ्रीका व एशिया में उपनिवेश स्थापित करने की प्रक्रिया 16वीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हो गई थी। 19वीं शताब्दी में तो इन शक्तियों द्वारा विभिन्न देशों में स्थापित साम्राज्य अपने चरम पर थे। परिणामतः यूरोप के लोग ऐसे समाजों के सम्पर्क में आए जो उनसे सर्वथा भिन्न थे। उन्होंने देखा कि संसार में विवाह, परिवार, धर्म, आदर्श की बड़ी विभिन्नताएँ हैं। मानव समाजों में विभिन्न आदर्शों व मूल्यों के आधार पर सामाजिक जीवन को सफलतापूर्वक संगठित एवं संरचित किया गया है। इन सांस्कृतिक सम्पर्कों के दो स्वाभाविक परिणाम हुए-प्रथम, मानव समाजों के बारे में बृहत् तथ्य एकत्रित हो गए जिनके आधार पर मानव-समाज की संरचना एवं गत्यात्मकता के सम्बन्ध में सामान्य निष्कर्षों पर पहुँचने में सुगमता हुई। द्वितीय, विभिन्न संस्कृतियों के साथ होने वाले अनुभवों ने यूरोप के निवासियों को अपने समाज पर भी आलोचनात्मक दृष्टि डालने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार, सामाजिक आलोचना को वैधता प्राप्त हुई।

(3) वैज्ञानिक क्रान्ति-19वीं शताब्दी में भौतिक विज्ञानों ने अभूतपूर्व उपलब्धियाँ हासिल कीं। यूँ तो इस वैज्ञानिक क्रान्ति का सूत्रपात 17वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही हो गया था। इतिहासकार एडविन डनबॉफ (Adwin Dunbaugh) के शब्दों में, “यह शब्द (वैज्ञानिक क्रान्ति) उस मनोवृत्ति में परिवर्तन को प्रकट करता है जो 1600 वर्षों में प्राकृतिक विश्व के अध्ययन करने के तरीकों से हुआ था। 1600 ई० में एक व्यक्ति को इसलिए जिन्दा जला दिया गया था कि उसने ब्रह्माण्ड को असीमित बताने की हिमाकत की थी। 1700 ई० आते-आते सर आइजक न्यूटन (Sir Isaac Newton), जो असीम ब्रह्माण्ड के संचालित होने के नियमों को खोजने का प्रयास कर रहे थे, को यूरोप का सबसे सम्मानित व्यक्ति माना गया।” संसार के अध्ययन की पद्धतियों में प्रयोग व आनुभविक अनुसन्धानों के सम्मिलित हो जाने से विज्ञान के क्षेत्र में एक ऐसा दौर शुरू हुआ जिसने समाज के रूप को, सामाजिक जीवन को ऊपर से नीचे तक बदल कर रख दिया। यह स्वाभाविक था कि इन वैज्ञानिक पद्धतियों का सामाजिक अध्ययनों में प्रयोग किया जाता। 19वीं शताब्दी में इस पर जोर दिया गया कि सामाजिक संरचना और समस्याओं को समझने में वैज्ञानिक दृष्टिकोण व पद्धति का प्रयोग किया जाए।

(4) लौकिकवाद का चरमोत्कर्ष-19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही लौकिकीकरण अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। इस प्रक्रिया का सूत्रपात तो इटली में हुए पुनर्जागरण में हो गया था जो 1350 से 1550 तक चलता रहा। इस प्रक्रिया को बल यूरोप में 1715 से 1789 ई० तक घटित होने वाली राजनीतिक साहित्यिक घटनाओं से भी मिला। वास्तव में, यूरोप में इन 75 वर्षों को ‘तर्क का युग’ (Age of reason) कहा जाता है। सदियों तक यूरोप धर्म (संगठित चर्च) से प्रभावित या शासित होता चला आया था। मानव के जीवन का हर क्षेत्र धर्म से प्रभावित था। धार्मिक ग्रन्थों के या पुरोहितों के विरुद्ध कुछ भी कहना

अन्धविश्वास का प्रचार माना जाता था जिसका दण्ड एक खम्भे से बाँधकर जिन्दा जला दिया जाना था। राजा भी देवपुत्र माना जाता था जिसको शासक के दैवी अधिकार प्राप्त थे। इन परिस्थितियों में इस लोक में जनसाधारण के लिए उत्पीड़न के सिवाय कुछ नहीं था; वे तो वहाँ अपने पापों का प्रायश्चित करने को जन्मे थे, इसलिए मरणोपरान्त दूसरी दुनिया में ही वे कुछ सुख पाने की कल्पना कर सकते थे। इटली में प्रारम्भ हुई पुनर्जागरण की प्रक्रिया, प्रोटेस्टैण्ट विद्रोह तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों ने मानव को धर्म की बेड़ियों से मुक्त कराया। इन सभी शक्तियों ने जनसाधारण के मन में लौकिकवाद के प्रति आस्था पैदा की।

लौकिकवाद का अर्थ 'धर्म का विरोध' अथवा 'धर्म के प्रति तटस्थता' या 'धर्मनिरपेक्षता' नहीं है। इसका आशय तो यह है कि संसार सत्य है। मानव का जीवन बड़ा पुण्यमय है। वह अपने परिश्रम द्वारा अपनी भौतिक स्थिति में सुधार कर सकता है। धर्म पूजा-पाठ व ईश्वर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन की एक पद्धति है और उसे वहीं तक सीमित रहना चाहिए। मनुष्य अपने व्यवसाय में उन्नति करे यह उसका कर्तव्य है। उसके द्वारा धनोपार्जन द्वारा वह इसी संसार में ऐश्वर्य व सुख से रह सकता है। यह उसका अटल अधिकार है। वह विवेकपूर्वक अपनी सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था में परिवर्धन, संशोधन व परिवर्तन कर सकता है। इस लौकिक जीवन को उन्नत करने में न केवल वह सक्षम है वरन् ऐसा करना उसका नैतिक कर्तव्य है। धर्म को इन मामलों से परे ही रखा जाना चाहिए। सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक क्रियाएँ लौकिक क्रियाएँ हैं, धार्मिक क्रियाएँ नहीं। इस लौकिकवाद ने शासनतन्त्र के लिए समरूपता, कार्यक्षमता व व्यवस्था के आदर्शों पर बल दिया। सामाजिक संरचना के लिए मानववाद, समानता, व्यक्ति के मौलिक अधिकार व मुक्त सामाजिक गतिशीलता जैसे आदर्शों की स्थापना की। इस प्रकार, अनेक ऐसी धार्मिक निषेधाज्ञाएँ जो समाज के अध्ययन के विरुद्ध लगी हुई थीं 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक तिरोहित हो गईं। इससे समाज के वैज्ञानिक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हुआ।

(5) सामाजिक समस्याएँ और उनका वैज्ञानिक अध्ययन—औद्योगीकरण ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया। हम पुनः **बाल्डरिज** को ही उद्धृत करना चाहेंगे क्योंकि उन्होंने 19वीं शताब्दी के यूरोपीय समाज की समस्याओं पर बड़ी सटीक टिप्पणी करते हुए लिखा है, "19वीं शताब्दी में सामाजिक दशाएँ विशेषतया कठिन हो गई थीं क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति तथा तीव्र नगरीकरण ने बहुत दुःखदायी परिस्थितियों को जन्म दिया। बाल श्रम, कष्टकारी दुकानदारी, श्रम विवाद, भयावह आवास दशाएँ, सदियों से चलते आ रहे युद्ध के विनाशकारी परिणाम सभी सामाजिक परिदृश्य के अंग बन चुके थे।" स्वाभाविक था कि विचारशील बुद्धिजीवियों का ध्यान इस ओर जाता। उन्होंने इन समस्याओं पर वैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन प्रारम्भ किया। इनका वैज्ञानिक स्पष्टीकरण और निदान उनकी जिज्ञासा के केन्द्र विषय बन गए। इससे 'समाज की पुनर्रचना' के विचार को प्रोत्साहन मिला। उदाहरण के लिए—मार्क्स ने इन समस्याओं की जड़ में सम्पत्तिशाली वर्ग द्वारा सर्वहारा वर्ग के शोषण को बताया और सर्वहारा क्रान्ति में ही इसके निदान का सुझाव दिया। दुर्खीम ने व्यावसायिक आचरण संहिताओं के विकास और व्यावसायिक संघों के गठन में इन समस्याओं से मुक्ति का मार्ग सुझाया। इन समस्याओं के अध्ययनों ने 'सामाजिक सर्वेक्षण' के महत्त्व को भी सिद्ध किया।

(6) अनेक समाज सुधार आन्दोलन—ऐसे समय में अनेक समाज सुधार आन्दोलन उभर कर सामने आए। 'सामाजिक सन्देश' तथा 'मुक्ति वाहिनी' ऐसे धार्मिक आन्दोलन थे जो समाज सुधार के लिए कार्य कर रहे थे। प्रमुख श्रम संघों का उदय हुआ जो श्रमिकों के हितों की रक्षा और कार्य की दशाओं में सुधार के लिए कटिबद्ध थे। नए राजनीतिक दलों का उदय हुआ जो नव-चेतना पर आधारित विचार-दर्शन के आधार पर गठित हुए थे। फ्रांस के समाजवादी विचारक **सेण्ट साइमन (Saint Simon)** का सुझाव था कि उद्योग और सरकार का प्रशासन पर्यायवाची होना चाहिए जिसका उद्देश्य सभी के अधिकतम हितों की

पूर्ति हो। चार्ल्स फ्यूरियर (Charles Fourier) ने आन्दोलन चलाया कि राज्य का उन्मूलन कर दिया जाए, उसकी जगह समाज को छोटी-छोटी आदर्श बस्तियों (Phalanges) में गठित किया जाए तथा प्रत्येक व्यक्ति को उस कार्य को करने का अधिकार मिले जिसके लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त है। इंग्लैण्ड में **रोबर्ट ओवन** (Robert Owen : 1771-1858) ने एक आदर्श फैक्टरी की स्थापना की जिसका प्रशासन स्वयं श्रमिकों को करना था। ओवन का विश्वास था कि सुखी और स्वस्थ श्रमिक अधिक उत्पादन करेंगे। परन्तु अन्य उद्योगपतियों ने ओवन का अनुकरण नहीं किया। वैसे भी, उसका उपर्युक्त प्रयोग असफल हो गया। फिर भी, इन आन्दोलनों ने सामाजिक परिवर्तन की दिशाओं की ओर सशक्त इशारा किया।

(7) सामाजिक विधानों द्वारा सुधार—इंग्लैण्ड उपर्युक्त समस्याओं का सबसे अधिक शिकार था। अतः उसी को यह श्रेय है कि उसने सामाजिक विधानों द्वारा स्थिति को नियन्त्रित करने की दिशा में भी पहल की। संसद फैक्टरी-नियन्त्रण और सामाजिक सुधार का मंच बन गई। 1802 ई० में पहला फैक्टरी एक्ट पारित हुआ जिसके द्वारा कुछ सरकारी उद्योगों ने नौ वर्ष से कम की आयु के बालकों से 12 घण्टे प्रतिदिन से अधिक कार्य लेने को निषिद्ध कर दिया गया। बाद में 1832, 1842, 1847 एवं 1855 ई० में फैक्टरी एक्ट पारित कर श्रमिकों की कार्य दशाओं को उन्नत करने के प्रयास किए गए। ये विधान अन्य देशों के लिए भी आदर्श बन गए।

(8) भरपूर बौद्धिक सृजन—19वीं शताब्दी में बौद्धिक विकास भी भरपूर हुआ। समाज के सभी क्षेत्रों में नए विचार दर्शन उत्पन्न हुए। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो 19वीं शताब्दी में विभिन्न वैचारिकियों के शिविर अपने-अपने दावे प्रस्तुत कर रहे हों कि उन्हीं के अनुसार मानव और समाज का कल्याण हो सकता है। राजनीति के क्षेत्र में रूढ़िवाद, उदारवाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद और मार्क्सवाद सुदृढ़ विचार दर्शनों के रूप में विकसित हुए। समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी अनेक विचार सम्प्रदायों का उदय हुआ जैसे—विकासवाद, प्रगतिवाद, यथार्थवाद, प्रौद्योगिकीय निर्णयवाद, आर्थिक निर्णयवाद, सावयवीवाद, समाजशास्त्रीयवाद आदि। कला और साहित्य के क्षेत्र में शास्त्रीयवाद के साथ-साथ रोमांसवाद, यथार्थवाद, प्रयोजनवाद, प्रभाववाद विकसित हुए। इस शताब्दी में इस प्रकार की बौद्धिक सृजनता का विकसित होना स्वाभाविक भी था क्योंकि विज्ञान, तकनीकी, यातायात व संवाद वहन के साधनों ने विश्व को एक इकाई में बाँध दिया था, मानो सारा विश्व ही पश्चिमी यूरोप के उद्योगों के लिए एक बृहत् बाजार बन गया हो। राष्ट्रवाद विकसित हो गया था और उसका राजनीति की अन्य धाराओं पर प्रभुत्व बढ़ गया था। 1848 ई० यूरोपीय समाज में एक नए मोड़ का वर्ष है। इस वर्ष अनेक यूरोप के देशों में राज्य क्रान्तियाँ हुईं जिन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि कोरा उदारवाद समस्याओं को हल नहीं कर सकता। एक मजबूत केन्द्रीय शासन और क्रान्तिकारी विचारधारा ही समस्याओं का समाधान कर सकती है।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उद्योग के क्षेत्र में अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए। औद्योगीकरण पर अब इंग्लैण्ड का एकाधिकार ही नहीं था वरन् वह अब पूरे यूरोप व अमेरिका में फैल चुका था। संयुक्त राज्य अमेरिका द्रुत गति से एक विश्व शक्ति के रूप में विकसित हो गया था। बड़े उद्योग और एकाधिकारी संगठनों के सामने छोटे उद्योगपति या व्यापारी लुप्त होने लगे थे। विज्ञान की निरन्तर उपलब्धियों ने ज्ञानोदय के इस स्वप्न को कि अन्ततोगत्वा मानव समाज पूर्णता प्राप्त कर लेगा, करीब-करीब सम्भव बना दिया था। **डनबाँफ** (Dunbaugh) ने उचित ही लिखा है, “जैसे पुनर्जागरण में अतीत की पूजा थी, 18वीं सदी में तर्क की पूजा थी, इसी भाँति 19वीं शताब्दी के बाद के वर्षों में विज्ञान की पूजा थी।”

डनबाँफ के ही शब्दों में हम 19वीं शताब्दी की सामाजिक और आर्थिक दशाओं के विश्लेषण का समापन कर सकते हैं। उन्होंने लिखा है कि “19वीं शताब्दी यूरोप का स्वर्णिम युग था। जैसे ग्रीस में 5वीं

शताब्दी ईसा पूर्व और इटली में पुनर्जागरण, इसी भाँति पूँजीपति समाज अपनी प्रौढ़ता पर पहुँच चुका था जो सांस्कृतिक फसल उत्पन्न भी कर रहा था और काट भी रहा था।”

समाजशास्त्र के विकास का बौद्धिक सन्दर्भ (ज्ञानोदय) तथा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक शक्तियों (प्रमुख रूप से फ्रांस की क्रान्ति एवं औद्योगिक क्रान्ति) के परिणामस्वरूप लौकिकवाद, मानववाद, व्यक्तिवाद, उदारवाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद जैसी विचारधाराएँ विकसित हुई जिन्होंने मानव के सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया। इनसे एक नवीन सामाजिक दर्शन का भी विकास हुआ जिसका लक्ष्य मानव में अन्तर्निहित सभी शक्तियों के विकास को सम्भव बनाना और इस धरा पर उसके जीवन को आनन्दमय बनाना था। यही वह दर्शन है जिसने समाजशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है तथा इसीलिए इस सामाजिक दर्शन को समाजशास्त्र के विकास का आधारस्तम्भ कहा गया है।

उपर्युक्त समसामयिक दशाओं ने फ्रांस के **सेण्ट साइमन**, जर्मनी के **कार्ल मार्क्स** जैसे विचारकों को जन्म दिया, जिन्होंने एक नए सामाजिक विज्ञान की रूपरेखा प्रस्तुत की। **ऑगस्ट कॉम्ट** ने इस नए विज्ञान का नामकरण किया, जबकि स्पेन्सर और दुर्खीम ने उसे प्रतिष्ठित किया। **बॉटोमोर** का कहना है कि इस प्रकार समाजशास्त्र का पूर्व इतिहास सौ वर्षों की उस अवधि से सम्बन्धित है जो लगभग 1740 ई० से 1850 ई० तक की है। उन्होंने 19वीं शताब्दी में विकसित समाजशास्त्र की निम्नलिखित तीन विशेषताओं का भी उल्लेख किया है—

- (1) यह विश्वकोशीय (Encyclopaedic) था,
- (2) यह उद्विकासवादी (Evolutionary) था तथा
- (3) यह निश्चयात्मक (Positive) था।

समाजशास्त्र के विकास में प्रारम्भिक विद्वानों की समाज—सुधार में रुचि ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 1880 ई० से 1920 ई० के काल में तीव्र औद्योगीकरण के कारण सामाजिक परिवर्तन के अध्ययनों में रुचि विकसित हुई तथा 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक इसे विज्ञान की स्थिति प्राप्त हो गई। समाज—सुधार तथा सामाजिक अनुसन्धान के घनिष्ठ सम्बन्ध के परिणामस्वरूप आनुभविक अनुसन्धान को प्रोत्साहन मिला तथा नीति—निर्माण करने वालों ने समस्याओं के समाधान के लिए समाजशास्त्रियों की ओर देखना शुरू कर दिया जिससे व्यावहारिक अनुसन्धान प्रारम्भ हुए।

हेरी एम० जॉनसन का मत है कि आज समाजशास्त्र निश्चित रूप से एक विज्ञान है, यद्यपि यह अन्य विज्ञानों से थोड़ा पिछड़ा हुआ है। इसमें विज्ञान की निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं—

- (1) समाजशास्त्र आनुभविक (Empirical) है, क्योंकि यह तार्किक चिन्तन पर आधारित है।
- (2) यह सैद्धांतिक (Theoretical) है, क्योंकि इसमें घटनाओं के कार्य—कारण सम्बन्धों के आधार पर नियम बनाए जाते हैं।
- (3) यह संचयी (Cumulative) है अर्थात् समाजशास्त्रीय सिद्धान्त एक के आधार पर दूसरे बनते हैं।
- (4) यह नैतिकता—मुक्त (Non-ethical) है अर्थात् समाजशास्त्री का कार्य तथ्यों की व्याख्या करना है, उन्हें अच्छा या बुरा बताना नहीं।

फ्रांस के पश्चात् अमेरिका में समाजशास्त्र का अध्ययन—कार्य सर्वप्रथम 1876 ई० में 'येल विश्वविद्यालय' से प्रारम्भ हुआ और इस विषय का सर्वाधिक विकास अमेरिका में ही हुआ है। अमेरिकी समाजशास्त्रियों में समनर, रॉस, सोरोकिन, ऑगबर्न एवं निमकॉफ, मैकाइवर एवं पेज, यंग, लुण्डबर्ग, जिमरमैन, पारसन्स, मर्टन, किंग्सले डेविस आदि प्रमुख हैं। आज यद्यपि फ्रांस, अमेरिका, इंग्लैण्ड तथा जर्मनी में समाजशास्त्र एक सर्वाधिक लोकप्रिय विषय है, फिर भी संसार में शायद ही कोई ऐसा देश हो जिसमें

आज समाजशास्त्र का अध्ययन न हो रहा हो। भारत में समाजशास्त्र का एक अलग व संस्थागत विषय के रूप में विकास 1919 ई० में हुआ जबकि 'बम्बई विश्वविद्यालय' में पैट्रिक गैडिस की अध्यक्षता में समाजशास्त्र विभाग का गठन किया गया।

3.4 सारांश

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। इसमें सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक जीवन, सामाजिक घटनाओं, सामाजिक समूहों, सामाजिक क्रियाओं इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। इस विषय का उद्भव एवं विकास 1838 ई० में फ्रांस में हुआ तथा ऑगस्त कॉन्ट इसके जनक माने जाते हैं। उन्होंने इसे पहले 'सामाजिक भौतिकी' का नाम दिया था, परन्तु विरोध के कारण उन्होंने इसे समाजशास्त्र की संज्ञा दी। यह विषय समस्त सामाजिक विज्ञानों की रानी कहा जाता है। इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ गए होंगे कि इसके उद्भव एवं विकास में पश्चिमी यूरोप की अनेक परिस्थितियों को उत्तरदायी माना जाता है। इन कारणों में औद्योगिक क्रान्ति, फ्रांस की क्रान्ति तथा ज्ञानोदय का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यूरोप में होने वाले अमूलचूल परिवर्तनों एवं इनके परिणामस्वरूप उत्पन्न समस्याओं को समझने के प्रयास से इस विषय का विकास हुआ है। आज समाजशास्त्र सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण विषय माना जाता है। विश्व के सभी देशों में यह विज्ञान अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में अग्रणी स्थान प्राप्त करता जा रहा है।

3.5 शब्दावली

| | |
|---------------------------|--|
| समाजशास्त्र | – समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। इसे सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं तथा समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। |
| सामाजिक सम्बन्ध | – सामाजिक सम्बन्ध से अभिप्राय दो अथवा दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों में पाए जाने वाले सम्बन्ध से है जिन्हें एक-दूसरे का आभास है तथा जो एक-दूसरे के लिए कुछ-न-कुछ कार्य कर रहे हैं। |
| निश्चात्मक विज्ञान | – इससे अभिप्राय प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति ऐसे विज्ञानों से है जिनमें वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है। |
| लौकिकवाद | – वह विचारधारा जो तर्क पर आधारित होती है। अनेक बार इसका प्रयोग धर्म एवं राजनीति को एक-दूसरे से पृथक् करने के रूप में किया जाता है। |
| नैतिकता-मुक्त | – इससे अभिप्राय नैतिक मूल्यों की दृष्टि से तटस्थ अध्ययन है। ऐसा अध्ययन जो अच्छा या बुरा न बताकर केवल तथ्यों की व्याख्या करता है, नैतिकता मुक्त अध्ययन कहलाता है। |
| आनुभविक विज्ञान | – इससे अभिप्राय ऐसे विज्ञान से है जो क्षेत्राधारित अध्ययनों पर बल देता है। |
| सामाजिक क्रिया | – वह क्रिया सामाजिक क्रिया कही जाती है जो अर्थपूर्ण होती है तथा अन्यों द्वारा प्रभावित होती है। |

3.6 अभ्यास प्रश्न

1. समाजशास्त्र का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा इसकी उपयुक्त परिभाषा दीजिए।
2. "समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है।" इस कथन के परिप्रेक्ष्य में समाजशास्त्र का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. "समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4. समाजशास्त्र का अर्थ बताइए। इसकी सर्वमान्य परिभाषा देना क्यों कठिन है? समझाइए।

5. समाजशास्त्र को परिभाषित कीजिए तथा इसके ऐतिहासिक प्रारम्भ की व्याख्या कीजिए।
6. समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास पर एक विस्तृत लेख लिखिए।
7. समाजशास्त्र क्या है? इसके विकास में सहायक कारकों का उल्लेख कीजिए।
8. समाजशास्त्र को परिभाषित कीजिए। यूरोप की उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जो इस विषय के विकास में सहायक रही हैं।

3.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- A. W. Green (1964), **Sociology : An Analysis of Life in Modern Society**, McGraw-Hill Book Company, New York.
- Arnold M. Rose (1965), **Sociology : The Study of Man in Society**, C. E. Merrill Books, Columbus, Ohio.
- E. S. Bogardus (1981), **A History of Social Thought**, University of Southern California Press, Los Angeles.
- Edwin Dunbaugh (1969), **World History**, Collier Quick and Easy Series, Harcourt Brace & World, San Diego.
- F. E. Lumley (1994), **Principles of Sociology**, Macgraw Hill Book Company, New York.
- F. H. Giddings (1901), **Inductive Sociology**, The Macmillan Company, New York.
- F. H. Giddings (2004), **Principles of Sociology**, The Macmillan Company, New York.
- Georg Simmel (1896), "The Problem of Sociology" in **Annals of the American Academy of Political and Social Science**, Vol. VI, p. 54.
- H. W. Odum (1947), **Understanding Society : The Principles of Dynamic Sociology**, The Macmillan Company, New York.
- Harry M. Johnson (1960), **Sociology : A Systematic Introduction**, Routledge and Kegan Paul, London.
- Irving M. Zeitlin (2001), **Ideology and the Development of Sociological Theory**, Prentice Hall, New Jersey.
- J. Biesanz and M. Biesanz (1964), **Modern Society**, Prentice-Hall of India, New Delhi.
- J. F. Cuber (1959), **Sociology : A Synopsis of Principles**, Appleton Century Crofts, Inc., New York.
- J. L. Gillin and J. P. Gillin (1948), **Cultural Sociology**, The Macmillan Company, New York.
- J. Victor Baldridge (1975), **Sociology : A Critical Approach to Power, Conflict and Change**, John Wiley, New York.
- John W. Bennett and Melvin M. Tumin (2012), **Social Life, Structure and Function: An Introductory General Sociology**, Literary Licensing, LLC, United States.
- Kimball Young (1934), **An Introductory Sociology**, American Book Company, New York.
- Kimball Young (1946), **A Handbook of Social Psychology**, Routledge and Kegan Paul Ltd., London.
- L. F. Ward (1902), **Popular Science Monthly**, June, 1902.

- Margaret Wilson Vine (1969), **An Introduction to Sociological Theory**, D. McKay Company, New York.
- Max Weber, Quoted in Alex Inkeles (1964), **What is Sociology ?**, Prentice-Hall, Englewood Cliffs, N.J.
- Morris Ginsberg (1950), **Sociology**, Oxford University Press, New York.
- Neil J. Smelser (2013), **Sociology**, University of California Press, Berkeley.
- P. A. Sorokin (1947), **Society, Culture and Personality : Their Structure and Dynamics, A System of General Sociology**, Harper & Brothers, New York.
- P. Gisbert (1989), **Fundamentals of Sociology**, Orient Longman, Bombay.
- T. B. Bottomore (1971), **Sociology : A Guide to Problems and Literature**, Prentice-Hall, Inc., N.J.
- W. F. Ogburn and M. F. Nimkoff (1964), **A Handbook of Sociology**, Routledge and Kegan Paul Ltd., London.

इकाई 4 – एक वैज्ञानिक विषय के रूप में समाजशास्त्र का प्रारम्भ (Beginning of Sociology as a Scientific Discipline)

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 आगस्त कॉम्ट परिचय

4.3 जीवन एवं कृतियाँ

4.4 कॉम्ट की दृष्टि में समाजशास्त्र एवं इसका उद्भव

4.5 समाजशास्त्र एक विज्ञान हैं।

4.6 समाजशास्त्र की उपयोगिता

4.7 सारांश

4.8 पारिभाषिक शब्दावली

4.9 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

4.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.12 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 उद्देश्य—

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान पाएँगे कि

1. समाजशास्त्र का उद्भव किन परिस्थितियों में हुआ?
2. अगस्त कांम्ट समाजशास्त्र के पिता क्यों हैं?
3. समाजशास्त्र एक विज्ञान के रूप में।

4.0 प्रस्तावना

किसी युग की सामाजिक परिस्थितियों एवं तत्कालिक विचारों के बीच सदैव सम्बंध हुआ करता है। जैसा कि हम जानते हैं कि समाजशास्त्र का उद्भव फ्रांस में हुआ। इस लिए हमें उस समय विद्यमान यूरोपीय सामाजिक परिस्थिति को जानना चाहिए। अतः एक वैज्ञानिक विषय के रूप में समाजशास्त्र के उद्भव कारक यूरोप की सामाजिक परिस्थितियों में इतिहास के उस काल में समझने होंगे। उस समय यूरोप में दो बड़ी क्रांति फ्रांसीसी क्रांति (1789) एवं औद्योगिक क्रांति (1760) के कारण व्यापक सामाजिक,

राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन हुए। इन्हीं परिस्थितियों को अगस्त काम्ट ने समाजशास्त्र (Sociology) शब्द का प्रयोग एवं विषय के रूप में स्थापित किया। एक विषय के रूप में समाजशास्त्र (Sociology) की स्थापना सर्वप्रथम अगस्त कॉम्ट 1838 ई० में की थी इस लिए उन्हें समाजशास्त्र का जनक (Father of Sociology) कहा जाता है। उन्होंने इस विषय की कल्पना फ्रांस की औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न सामाजिक समस्याओं के अध्ययन करने के लिए की थी। समाजशास्त्र के प्रारम्भिक लेखकों में काम्ट के अलावा हरबर्ट स्पेन्सर, इमाइल दुर्खीम तथा मेक्स वेबर का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। समाजशास्त्र के विकास में इन लोगों का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

समाजशास्त्र के जनक अगस्त कॉम्ट ने समाजशास्त्र को न केवल जन्म दिया बल्कि विज्ञानों का संस्तरण प्रस्तुत करते हुए इसे सबसे नवीन, जटिल एवं अग्रिम विज्ञान माना। उन्होंने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए प्रत्यक्षवादी अध्ययन पद्धति की भी चर्चा की है।

4.2 आगस्त कॉम्ट (AUGUSTE COMTE) : 1798.1857 परिचय :-

सामाजिक घटनाओं के व्यवस्थित अध्ययन की नींव डालने में जिन प्रमुख विद्वानों ने योगदान किया, उनमें फ्रांस के दार्शनिक आगस्त कॉम्ट का नाम सर्वोपरि है। कॉम्ट वह पहले विचारक थे जिन्होंने सामाजिक चिन्तन को एक व्यवस्थित क्रमबद्धता में संयोजित करके समाजशास्त्रीय चिन्तन की परम्परा आरम्भ की। यह सच है कि अपने इसी योगदान के कारण कॉम्ट को समाजशास्त्र के जनक (Father of Sociology) के रूप में स्वीकार किया जाता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कॉम्ट से पूर्व सामाजिक चिन्तन की कोई परम्परा विद्यमान नहीं थी।

आगस्त कॉम्ट ने समाज के वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बन्धित जो विचार प्रतिपादित किये उन पर कॉम्ट के विचारों का एक स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त, कॉम्ट के चिन्तन पर सेन्ट साइमन के प्रभाव की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। इसके पश्चात् भी यह सच है कि कॉम्ट के समाजशास्त्रीय विचार एक बड़ी सीमा तक फ्रांस के मानवतावादी विचारों से प्रभावित हुए। फ्रांस की क्रांति ने जिन तत्कालीन सामाजिक राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को जन्म दिया, वे एक नयी मानवतावादी विचारधारा से प्रभावित थीं तथा यही दशाएं कॉम्ट के चिन्तन का एक आधार सिद्ध हुयीं।

4.3 जीवन एवं कृतियां (Life and works)

समाजशास्त्र के जनक अगस्त कॉम्ट का जन्म दक्षिण फ्रांस के मान्टपेलियर नाम स्थान में 19 जनवरी सन् 1798 में हुआ था। यह समय फ्रांस की उथल-पुथल की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का काल था। फ्रांस की क्रांति के अध्येताओं का कथन है कि उस समय निरंकुश सत्ता और बढ़ती हुई जनशक्ति के बीच हिंसात्मक संघर्ष होने के कारण फ्रांस का सम्पूर्ण जन-जीवन अस्त-व्यस्त होने लगा था। फ्रांस की क्रान्ति सन् 1789 में हुई और उसके पश्चात् उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही नैपोलियन की तानाशाही का उदय हुआ। इस प्रकार कॉम्ट के बौद्धिक जीवन का प्रारम्भिक काल नैपोलियन की बढ़ती हुई सत्ता का काल था। स्पष्ट है कि आगस्त कॉम्ट ने जिन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों में जन्म लिया और जिस काल में उन्होंने अपना सामाजिक चिन्तन आरम्भ किया, वह काल मुख्यतः अराजकता और सैन्य-शक्ति के विस्तार का काल था।

आगस्त कॉम्ट का जन्म एक कैथोलिक परिवार में हुआ था। कॉम्ट का पूरा नाम **इसीडोर आगस्त मेरी फ्रा-कोयस जेवियर कॉम्ट** था। यद्यपि कॉम्ट के पिता राजस्व कर-विभाग में एक छोटे से अधिकारी थे। लेकिन कॉम्ट में बचपन से ही एक बहुमुखी बौद्धिक प्रतिभा परिलिखित होने लगी थी। एक ओर कॉम्ट के शिक्षक उन पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अनुशासनहीनता आचरण का आरोप लगाते थे जबकि कॉम्ट के सहपाठी उनकी बौद्धिक क्षमताओं और स्थापित सत्ता के प्रति उनके क्रान्तिकारी रुख के प्रशंसक थे। कॉम्ट के जीवन का यह प्रारम्भिक काल पूर्व मान्यताओं के विरोध का काल था जिसका स्पष्ट रूप परिवार तथा स्कूल दोनों ही स्थानों पर रूढ़िवादी विचारों के रोमन कैथोलिक थे जबकि कॉम्ट कैथोलिक मत की आलोचना किया करते थे। एक शासकीय अधिकारी होने के कारण कॉम्ट के पिता राजभक्ति के समर्थक थे जबकि कॉम्ट लोकतान्त्रिक प्रणाली एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को महत्वपूर्ण मानते थे। फ्रांस की क्रान्ति से लोकतन्त्र, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और मानवतावादी विचारों को जो प्रोत्साहन मिला था कॉम्ट उन्हीं विचारों पर अपने चिन्तन को 13 वर्ष की अल्पायु से ही विकसित करने लगे।

प्रारम्भिक शिक्षा के पश्चात् 19 वर्ष की आयु में कॉम्ट का सम्पर्क तत्कालीन प्रमुख विचारक **सेन्ट साइमन (1760-1825)** से हुआ जो उस काल के सर्वाधिक चर्चित विचारक थे। कॉम्ट ने जो कुछ भी लिखा वह केवल सेन्ट साइमन की ही देन थी तो इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि सेन्ट साइमन के विचारों में वह वैज्ञानिकता तथा क्रमबद्धता नहीं थी जो कॉम्ट ने समाजशास्त्र को प्रदान की। सेन्ट साइमन फ्रांसीसी कुलीनतन्त्र के सीमान्त सदस्य थे। और उनकी प्रतिष्ठा मुख्यतः एक कल्पनावादी समाजवादी के रूप तक ही सीमित रही। कॉम्ट और सेन्ट साइमन के घनिष्ठ सम्बन्धों की समाप्ति सन् 1824 में तब हुई जब कॉम्ट ने सेन्ट साइमन के कुछ दूसरे अनुयायियों पर यह आरोप लगाया कि वे कॉम्ट ने **पाजिटिव फिजिक** नामक अपने लेख के द्वारा भी सेन्ट साइमन के उन विचारों की आलोचना करना आरम्भ कर दी जो अतिक्रान्तिकारिता अथवा तीव्र परिवर्तन के पक्ष में थे यहीं से इन दोनों विचारकों के रास्ते एक-दूसरे से अलग हो गए।

फरवरी सन् 1825 में कॉम्ट का विवाह **कारलोनी मेसिन** से हुआ। इस समय तक कॉम्ट अपने समाज में एक बौद्धिक विचारक के रूप में प्रतिष्ठापित नहीं कर पाये थे। साथ ही अनेक भ्रमपूर्ण विवादों के कारण कॉम्ट का अपनी पत्नी से विवाह विच्छेद हो गया था। यह काल कॉम्ट के जीवन का एक दुःखद काल था। इसके पश्चात् भी कॉम्ट ने अपने आपको एक बौद्धिक विचारक के रूप में स्थापित करने हेतु एक शोध पत्रिका **प्रोडक्टर** में विचारोत्तेजक लेख लिखने प्रारम्भ किये। इसी काम में उन्होंने **पाजिटिव फिजिक** पर एक पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे कॉम्ट द्वारा प्रस्तुत के अनुयायियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। कॉम्ट ने अपने जीवन में संघर्ष करते हुए अनेक ग्रन्थों की रचना की। उनकी **मृत्यु 5 सितम्बर 1857** को हुई किन्तु उनकी रचनायें आज भी समाजशास्त्र की प्रमुख निधि हैं।

4.4 कॉम्ट की दृष्टि में समाजशास्त्र एवं उद्भव

कॉम्ट ने तार्किक दृष्टिकोण को उपयोग में लाते हुए बतलाया कि जब प्राणियों के अध्ययन करने वाले शास्त्र को प्राणीविज्ञान या खगोल का अध्ययन करने वाले विज्ञान को खगोलशास्त्र कहना ही अधिक युक्तिसंगत होगा। सामाजिक विचारों का व्यवस्थित अध्ययन करने वाले विज्ञान को पहले कॉम्ट ने **सामाजिक भौतिकी** का नाम दिया किन्तु बाद में उन्होंने सन् 1838 में इसे **समाजशास्त्र** नाम से सम्बोधित किया जो नाम अब पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका है।

समाजशास्त्र विषय के उद्भव की आवश्यकता कॉम्ट बहुत लम्बे समय से महसूस कर रहे थे। उनका विचार था कि समाज के बीच पाये वाले सम्बन्धों को धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन से अलग करके एक नये विज्ञान के माध्यम से ही उनका व्यवस्थित अध्ययन किया जा सकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु उन्होंने समाजशास्त्र के नाम से एक नए वैज्ञानिक विषय को जन्म दिया। कॉम्ट ने समाजशास्त्र को जिस दृष्टिकोण से समझने और विकसित करने का प्रयास किया उसे कॉम्ट के समाजशास्त्र सम्बन्धी अनेक विचारों की सहायता से समझा जा सकता है।

काम्ट ने सामाजिक चिन्तन के लिए **सोशल फिजिक्स** अथवा **सामाजिक भौतिकी** शब्द का प्रयोग किया तब उनके समकालीन विचारों और वैज्ञानिक ने उनकी इसलिए आलोचना की क्योंकि इससे पहले **बेल्जियम के वैज्ञानिक क्वेटलेट** ने सांख्यिकीय अध्ययनों के लिए सामाजिक भौतिकी या सोशल फिजिक्स शब्द का प्रयोग कर लिया था। इसीलिए कॉम्ट ने सामाजिक भौतिकी नाम को छोड़कर **लेटिन शब्द सोसियस** और **ग्रीक शब्द लोगस** की संधि के आधार पर सामाजिक चिन्तन के लिए **सोशियोलोजी** शब्द का प्रयोग किया। समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए काम्ट ने लिखा है कि **समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था और प्रगति का विज्ञान है।** इस परिभाषा के आधार पर यह कहा जा सकता है। कि कॉम्ट समाजशास्त्र को सामाजिक व्यवस्था और उसमें होने वाली प्रगति कि आधार पर स्पष्ट करना चाहते थे। दूसरे शब्दों में यह भी कहा था कि कॉम्ट के लिए समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र सामाजिक व्यवस्था के अर्न्तगत आने वाले तत्वों या अंगों और उनकी प्रगति तक सीमित है। समाजशास्त्र के उस अध्ययन क्षेत्र की व्याख्या नहीं की जा सकती जो काम्ट के शेष चिन्तन से स्पष्ट होता है। अतः प्रस्तुत विवेचन में उन पक्षों को संक्षेप में स्पष्ट करना आवश्यक है जो काम्ट मतानुसार समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र से सम्बद्ध है। कॉम्ट ने अपनी पुस्तक **पाजिटिव फिलासफी में समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र** की व्याख्या करते हुए लिखा है कि **“एक नये विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र मानवीय बौद्धिकता की सम्पूर्णता तथा समय अथवा काल के परिप्रेक्ष्य में उससे उत्पन्न होने वाली सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन है।”**

काम्ट के इस कथन से स्पष्ट होता है। कि व्यक्तियों की बौद्धिकता के विभिन्न पक्ष और व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पक्षों से जुड़ी सामाजिक क्रियाएं ही समाजशास्त्र के अध्ययन की वास्तविकता विषय वस्तु है। कॉम्ट के इस विचार की सराहना करते हुए मैक्स वेबर ने लिखा है कि **आगस्त कॉम्ट ही वे प्रथम विचारक है जिन्होंने समाजशास्त्र को मानवीय क्रियाओं के एकमात्र विज्ञान के रूप में स्वीकार किया है।** अपने विचारों को बाद में और अधिक स्पष्ट करते हुए कॉम्ट ने लिखा कि समाजशास्त्र मात्र मानवीय बौद्धिकता के अध्ययन का ही विज्ञान नहीं है। बल्कि यह मानवीय मस्तिष्क द्वारा संचालित क्रियाओं या गतिविधियों के संचित परिणामों का अध्ययन है। इस कथन से पुनः यह स्पष्ट हो जाता है। कि कॉम्ट समाजशास्त्र को मानवीय क्रियाओं के विज्ञान के रूप में विकसित करना चाहते थे।

समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को अधिक विकसित करते हुए कॉम्ट ने मस्तिष्क और समाज के उद्विकास सम्बन्धी अध्ययन को भी समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में समाहित किया। इस सम्बन्ध में समाजशास्त्र की भूमिका को स्पष्ट करते हुए कॉम्ट ने लिखा समाजशास्त्र का प्राथमिक लक्ष्य मानव प्रजाति के उद्भव अवस्थाओं से लेकर वर्तमान यूरोपीय सभ्यता के विकास की अवस्थाओं की खोज करना है। इस कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कॉम्ट ने समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में समाज के विकास के अध्ययन को भी समाहित किया है। इसके अतिरिक्त समाजशास्त्र की प्रकृति के सन्दर्भ में काम्ट ने जो

विचार प्रस्तुत किये उन्हें कॉम्ट द्वारा विश्लेषित कुछ अन्य अवधारणाओं की सहायता से समझा जा सकता है।

आगस्त कॉम्ट ने अपनी पुस्तक **पाजिटिव फिलॉसफी** में समाज की सावयवी संरचना को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। तत्कालीन दशाओं में इंग्लैण्ड में उपयोगितावादी सिद्धान्त (Doctrine of Utilitarianism) के द्वारा जिस व्यक्तिवाद (Individualism) को अत्यधिक महत्व दिया जा रहा था, उसका विरोध करते हुए कॉम्ट ने **समूहवादी दर्शन (Social Philosophy)** को स्थापित किया। रुसो (Rousseau) और सेण्ट साइमन (Saint Simon) ने जिस समूहवादी विचारधारा का आरम्भ किया था, कॉम्ट ने उसे विकसित करते हुए सामाजिक चेतना (Social Consensus) की व्याख्या के आधार पर समाज की संरचना को स्पष्ट किया। उन्होंने बतलाया कि समाज का निर्माण क्योंकि सामाजिक चेतना के आधार पर होता है, इसीलिए **समाज एक सामूहिक सावयव है।**

कॉम्ट ने समाजशास्त्र और जीवशास्त्र के बीच अनेक समानताओं का उल्लेख किया। इस सम्बन्ध में टर्नर (Turner) ने लिखा है कि "सावयवी शरीर की अवधारणा को कॉम्ट ने समाजशास्त्र और जीवशास्त्र में सामान्य रूप से देखा है।" कॉम्ट ने सामाजिक संरचना और जैविक संरचना के बीच पायी जाने वाली समरूपता को स्वीकार करते हुए लिखा है कि " मैं सामाजिक सावयव को परिवारों के एक ऐसे संयोजन के रूप में स्वीकार करता हूँ जो समाज के वास्तविक तत्व अथवा कोशिकाएँ (Cells) है। इस संरचना के अगले क्रम में वर्ग अथवा जातियों को रखा जा सकता है जो वास्तव में इसके तन्तु (Tissues) हैं और अन्त में, मैं नगरों और समुदायों को सामाजिक संरचना में समाहित करता हूँ जो समाज के वास्तविक अंग (Organs) है।"

कॉम्ट के इन विचारों को सरल शब्दों में समझने के लिए हमें इस व्याख्या में प्रयुक्त शब्दों को 'सावयवी शरीर' की अवधारणा के आधार पर समझना होगा। वास्तव में प्रत्येक जीवित शरीर में बहुत-सी सूक्ष्म कोशिकाएँ पाई जाती हैं। ये कोशिकाएँ जीवित शरीर की सरलतम संरचना होती हैं। जीव-विज्ञानियों के मतानुसार इन कोशिकाओं अथवा कोशिकाओं में जीवन द्रव्य होता है। तथा प्रत्येक कोशिका के अन्दर एक नाभिक पाया जाता है। जीवित शरीर में ये कोशिकाएँ एक निरन्तर क्रमबद्धता में संयोजित होकर तन्तुओं का निर्माण करती हैं और बहुत से तन्तु मिलकर जीवित शरीर के विभिन्न अंगों का निर्माण करते हैं।

कॉम्ट ने जीव-विज्ञान की उक्त अवधारणा के आधार पर ही सामाजिक सावयव (Social Organism) की व्याख्या करते हुए बतलाया कि **परिवार समाज की इकाई है।** जिसका सामाजिक सावयव में वही महत्व है जो महत्व जीवित शरीर में कोशिका का होता है। कॉम्ट के मतानुसार समाज के विभिन्न वर्गों अथवा जातियों में बहुत-से परिवारों का समावेश होता है। इस प्रकार यही वर्ग तथा जातियाँ समाज के विभिन्न अंगों में पाये जाने वाले तन्तुओं के समान हैं। सामाजिक सावयव के अंगों की विवेचना करते हुए कॉम्ट ने बतलाया कि किसी समाज से सम्बन्धित विभिन्न नगर अथवा समुदाय ही समाज के अंग हैं।

सामाजिक सावयव को उपर्युक्त अर्थों में स्पष्ट करने के बाद कॉम्ट ने सामाजिक संरचना के व्याधिकीय पक्ष की भी चर्चा की। कॉम्ट ने बतलाया कि जिस प्रकार व्यक्ति के शरीर या किसी व्यक्ति शरीर में कोशिकाएँ कमजोर होकर शरीर के अंगों को कमजोर बना देती हैं, उसी प्रकार परिवारों तथा वर्गों का विघटन भी सामाजिक संरचना के विभिन्न अंगों को कमजोर बनाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामाजिक

जीवन की छोटी-बड़ी इकाइयों का विघटन ही सामाजिक विघटन का प्रमुख कारण है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कॉम्ट ने सामाजिक सावयव और जैविक सावयव की समरूपता की चर्चा करने के साथ ही इन दोनों सावयव के बीच पाये जाने वाले अन्तर को भी स्पष्ट किया है। कॉम्ट ने बतलाया कि जैविक सावयव (Biological Organs) में कोई परिवर्तन नहीं होता जबकि सामाजिक सावयव के अंगों में परिवर्तनशीलता पाई जाती है। तथा यह परिवर्तनशीलता भी अनेक वैज्ञानिक नियमों के द्वारा संचालित होती है।

सामाजिक संरचना के सावयवी सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए आगस्त कॉम्ट ने इसे दो प्रमुख खण्डों में विभक्त किया है। पहले खण्ड में सामाजिक संरचना की स्थिति की और दूसरे खण्ड में सामाजिक संरचना की परिवर्तनशीलता की व्याख्या की है। उनके द्वारा प्रस्तुत इस अवधारणा को 'सामाजिक स्थितिकी' एवं 'सामाजिक गत्यात्मकता' के नाम से जाना जाता है।

4.5 समाजशास्त्र एक विज्ञान है।

- अगस्त कॉम्ट ने समाजशास्त्र को मानवता के वास्तविक विज्ञान के नाम से सम्बोधित किया है। उनके मतानुसार समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं के अध्ययन का विज्ञान है तथा यह अवलोकन और तुलनात्मक पद्धतियों के द्वारा सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है। कॉम्ट ने बतलाया कि विज्ञान की आधारभूत आवश्यकता उसकी वैज्ञानिक पद्धतियां हैं जिनमें अवलोकन एवं परीक्षण अथवा तुलनात्मक अध्ययन की पद्धतियां ही महत्वपूर्ण हैं। समाज की दो विभिन्न स्थितियों (सामाजिक स्थितिकी एवं सामाजिक गत्यात्मकता) का उल्लेख करते हुए कॉम्ट ने बतलाया कि समाजशास्त्र सामाजिक स्थितिकी से सम्बद्ध सामाजिक संरचना के विभिन्न तत्वों का अवलोकन करता है। तथा सामाजिक गत्यात्मकता के अध्ययन के समय अवलोकन और तुलनात्मक पद्धतियों का प्रयोग करता है।
- कॉम्ट ने उन्नीवसीं सदी के समाज को प्रत्यक्षवादी समाज के रूप में स्वीकार करते हुए इसे एक बेहतर समाज की संज्ञा दी है। उन्होंने बतलाया कि समाजशास्त्र भी प्रत्यक्षवादी पद्धति से समाज की घटनाओं का अध्ययन करता है। इसीलिए समाजशास्त्र एक विज्ञान है। विज्ञानों के संस्तरण को स्पष्ट करने के लिए अगस्त कॉम्ट ने बढ़ती निर्भरता के नियम का प्रतिपादन किया है। इस नियम के आधार पर उन्होंने विज्ञानों के संस्तरण में समाजशास्त्र के आधारभूत स्थान एवं प्राथमिकता को प्रमाणित करके इसे एक प्रतिष्ठित स्थान देने में विशेष योगदान किया।
- समाजशास्त्र की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए कॉम्ट ने समाजशास्त्र और प्राणी विज्ञान की तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत की। कॉम्ट ने बतलाया कि जिस प्रकार प्राणी विज्ञान जीवित प्राणियों का अध्ययन करता है। उसी प्रकार समाजशास्त्र सामाजिक सावयव अथवा सावयवी संरचना का अध्ययन करता है। कॉम्ट ने प्राणिशास्त्र की तुलना में समाजशास्त्र को एक अमूर्त विज्ञान के रूप में स्पष्ट किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि समाजशास्त्र में आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं वैधानिक सभी प्रकार की घटनाओं का अध्ययन किया जा सकता है। कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित इस मान्यता के आधार पर हम यह समाजशास्त्र एक समन्वयात्मक विज्ञान है। समन्वयात्मक विज्ञान से

कॉम्ट का तात्पर्य यह है कि समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के किसी एक पक्ष का अध्ययन नहीं करता बल्कि यह मानव जीवन के समस्त सामाजिक पक्षों का अध्ययन समग्र रूप में करता है।

- विज्ञानों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कॉम्ट ने लिखा है विज्ञान की एक प्रमुख विशेषता इसमें भविष्यवाणी करने की क्षमता का होना है। समाजशास्त्र की विशेषताओं की चर्चा करते हुए कॉम्ट ने बतलाया कि प्रत्यक्षवादी पद्धति के द्वारा सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करके समाजशास्त्र जिन नियमों का निर्धारण करता है वे वैज्ञानिक नियम ही समाजशास्त्र को **भविष्यवक्ता विज्ञान** के रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं। कॉम्ट ने समाजशास्त्र को एक **व्यावहारिक विज्ञान** के रूप में स्वीकार किया है। उनका कथन है कि समाजशास्त्र का उपयोग समाज के विकास और मानवता के कल्याण के लिए होना चाहिए इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने समाजशास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान बनाने का सुझाव दिया और इसे सामाजिक दर्शन से अलग माना।
- आगस्त कॉम्ट समाजशास्त्र को सदैव एक विज्ञान मानते रहे हैं और आपने तो इसे 'विज्ञानों की रानी' की संज्ञा दी। वास्तव में किसी विषय की विज्ञान होना या विज्ञान माना जाना प्रतिष्ठा-सूचक था। अतः कुछ समाजशास्त्री समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। ऐसा प्रयत्न करने वाले विद्वानों में दुर्खीम, मैक्स वेबर तथा परेटो, आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।
- वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्गत वास्तविक घटनाओं की विवेचना की जाती है। कोई भी विज्ञान इस बात पर विचार नहीं करता कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है अथवा क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए। वह तो घटनाओं या तथ्यों का यथार्थ चित्रण करता है, वे जिस रूप में हैं उनका ठीक वैसा ही चित्रण करता है, 'क्या है' का ही उल्लेख करता है। उदाहरण के रूप में, विज्ञान तो संयुक्त परिवार प्रथा या जाति-व्यवस्था का प्राप्त तथ्यों के आधार पर ठीक उसी रूप में उल्लेख करता है जिस रूप में वे हैं, न कि यह बताने का प्रयत्न करता है कि वे अच्छी हैं यह बुरी।
- कोई भी विषय इस कारण विज्ञान माना जाता है कि वह 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा' बताने में अर्थात् भविष्यवाणी करने में समर्थ है। अन्य शब्दों में, वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से संचित ज्ञान भण्डार के आधार पर भविष्य की ओर संकेत करने की प्रत्येक विज्ञान की क्षमता है। उदाहरण के रूप में समाज में होने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखकर समाजशास्त्र यह बता सकता है कि भविष्य में सामाजिक व्यवस्था का रूप क्या होगा, जाति-व्यवस्था किस रूप में पाये जायेंगे। समाजशास्त्र के मौजूदा ज्ञान के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राकृतिक विज्ञानों के समान यह भी भविष्यवाणी करने में काफी सीमा तक समर्थ है।
- वैज्ञानिक पद्धति में वस्तुनिष्ठता पर विशेष बल दिया जाता है। बिना वस्तुनिष्ठता के वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालना किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। वस्तुनिष्ठता का तात्पर्य है-घटनाओं का अध्ययन ठीक उसी रूप में करना जिस रूप में वे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करते हुए अध्ययनकर्ता को प्रत्येक स्तर पर इस बात की विशेष सावधानी रखनी होती है कि कहीं उसके स्वयं के पूर्वाग्रह, विचार, भावनाएं, पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण आदि अध्ययन में बाधक नहीं बन जायें। उसे तो पूर्णतः निष्पक्ष(वस्तुनिष्ठ) होकर तथ्यों या घटनाओं का यथार्थ चित्रण करना है, निष्कर्ष निकालने हैं, प्राक्कल्पना की सत्यता या असत्यता को प्रमाणित करना है।
- समाज-विज्ञान भी भौतिकशास्त्र या रसायन शास्त्र के समान अपने सिद्धांतों या नियमों की परीक्षा करने में सक्षम है। इनमें वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से तथ्य एकत्रित किये जाते हैं और इस

पद्धति से प्राप्त तथ्यों की प्रमुख विशेषता यह है कि इनकी प्रामाणिकता की जांच की जा सकती है समाज-विज्ञानों में सिद्धांतों की जांच करना वास्तव में सम्भव है। उदाहरण के रूप में, तथ्यों के आधार पर प्राप्त इस निष्कर्ष की कि टूटे परिवार बाल-अपराध के लिए काफी सीमा तक उत्तरदायी हैं, अलग-अलग स्थानों पर परीक्षा और पुनर्परीक्षा की जा सकती है।

समाजशास्त्र इस कारण भी विज्ञान माना जाता है कि यह 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा' बताने में अर्थात् भविष्यवाणी करने में समर्थ है। अन्य शब्दों में, इस शास्त्र में अपने वर्तमान ज्ञान-भण्डार के आधार पर भविष्य की ओर संकेत करने की क्षमता है। समाज में वर्तमान में होने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखकर समाजशास्त्र यह बता सकता है कि भविष्य में सामाजिक व्यवस्था का रूप क्या होगा, जाति-व्यवस्था किस रूप में रहेगी तथा परिवारों के कौन से प्रकार विशेष रूप से पाये जायेंगे। समाजशास्त्र के मौजूदा ज्ञान के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राकृतिक विज्ञानों के समान यह भी भविष्यवाणी करने में काफी सीमा तक समर्थ है।

- वैज्ञानिक पद्धति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह तर्क पर आधारित है। तर्क तथ्य और विवेक से जुड़ा हुआ है। किसी भी बात को बुद्धिमत्तापूर्वक, प्रमाणित या अप्रमाणित किया जा सकता है, इसके लिए तर्क देना आवश्यक होता है, साथ ही आवश्यकतानुसार तथ्य भी दिये जाते हैं। वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्गत सर्वप्रथम तथ्यों के संकलन के लिए पद्धतियों एवं उपकरणों के चुनाव पर जोर दिया जाता है जो तर्क-संगत हों, तार्किकता पर आधारित हो। साथ ही इस पद्धति के अन्तर्गत संकलित तथ्यों का विश्लेषण भी तार्किकता के आधार पर किया जाता है।
- असम्बद्ध या बिखरे हुए आंकड़ों या तथ्यों के आधार पर कोई वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। सही निष्कर्ष निकालने के लिए यह आवश्यक है कि प्राप्त तथ्यों को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध किया जाए। इसके लिए तथ्यों को समानता के आधार पर विभिन्न वर्गों में बांटा जाता है। यह कार्य वर्गीकरण के अन्तर्गत आता है इसके पश्चात तथ्यों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया जाता है। किसी भी विषय को विज्ञान मानने का प्रमुख कारण यह है कि उसमें सही निष्कर्षों तक पहुंचने के लिए तथ्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया जाता है। समाजशास्त्र भी भौतिकशास्त्र या रसायनशास्त्र के समान अपने सिद्धान्त या नियमों की परीक्षा एवं पुनर्परीक्षा करने में सक्षम है। इस शास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से तथ्य एकत्रित किये जाते हैं और इस पद्धति से प्राप्त तथ्यों की प्रमुख विशेषता यही है कि इनकी प्रामाणिकता की जांच की जा सकती है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की जांच करना वास्तव में सम्भव है उदाहरण के रूप में, तथ्यों के आधार पर प्राप्त इस निष्कर्ष की कि टूटे परिवार बाल-अपराध के लिए काफी सीमा तक उत्तरदायी हैं, अलग-अलग स्थानों पर परीक्षा और पुनर्परीक्षा की जा सकती है।
- वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्गत घटनाओं, तथ्यों और विभिन्न समस्याओं के कार्य-कारण सम्बन्धों को जानने का प्रयत्न किया जाता है, विज्ञान तो किसी घटना या समस्या के पीछे छिपे कारणों की खोज करता है। वह तो यह मानकर चलता है कि कोई भी घटना जादुई चमत्कार से घटित नहीं होकर कुछ विशिष्ट कारणों से घटित होती है। जिनका पता लगाना वैज्ञानिक का दायित्व है। कार्ल मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त एवं दुर्खीम का आत्महत्या का सिद्धान्त कार्य-कारण के सह-सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं। समाजशास्त्र वैज्ञानिक पद्धति को काम में लेता हुआ जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, वे सार्वभौमिक प्रकृति के होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि परिस्थितियां समान रहे तो समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विभिन्न समाजों और कालों में खरे उतरते हैं।

उदाहरण के रूप में यह सिद्धान्त सार्वभौमिक रूप से ठीक पाया गया है कि पारिवारिक विघटन सामाजिक विघटन पर आधारित है।

- वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से कार्य-कारण सम्बन्धों की विवेचना की जाती है, तथ्यों या घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात किये जाते हैं, वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया जाता है और तत्पश्चात् सामान्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इन निष्कर्षों के आधार पर ही सिद्धान्त या वैज्ञानिक नियम बनाये जाते हैं। समाजशास्त्र को विज्ञान मानने का एक अन्य आधार अनुसन्धानकर्ता द्वारा तथ्यों के संकलन हेतु प्रत्यक्ष निरीक्षण और अवलोकन करता है। समाजशास्त्र में काल्पनिक या दार्शनिक विचारों को कोई स्थान नहीं दिया जाता। इसमें तो अध्ययनकर्ता स्वयं घटना-स्थल पर पहुंचकर घटनाओं का निरीक्षण और तथ्यों का संकलन है। यदि समाजशास्त्री को बाल-अपराध अथवा वेश्यावृत्ति की समस्या का अध्ययन करना है वो वह इनसे सम्बन्धित तथ्यों को स्वयं घटनाओं का अवलोकन करते हुए एकत्रित करेगा। असम्बद्ध या बिखरे हुए आंकड़ों या तथ्यों के आधार पर कोई वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। सही निष्कर्ष निकालने के लिए यह आवश्यक है कि प्राप्त तथ्यों को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध किया जाय। इनके लिए तथ्यों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया जाता है। समाजशास्त्र को विज्ञान मानने का एक प्रमुख कारण यह है कि इसमें सही निष्कर्षों तक पहुंचने के लिए तथ्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया जाता है। अन्य शब्दों में समाजशास्त्र में वास्तविक घटनाओं की विवेचना की जाती है। यह शास्त्र इस बात पर विचार नहीं करता कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है अथवा क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए। यह तो घटनाओं या तथ्यों का यथार्थ चित्रण करता है, वे जिस रूप में हैं, उनका ठीक वैसा ही चित्रण करता है। यह शास्त्र तो 'क्या है' का ही उल्लेख करता है। उदाहरण के रूप में, वह संयुक्त परिवार प्रथा या जाति-व्यवस्था का प्राप्त तथ्यों के आधार पर ठीक उसी रूप में उल्लेख करता है जिस रूप में वे हैं न कि यह बताने का प्रयत्न कि वे अच्छी हैं या बुरी।
- समाजशास्त्र तथ्यों के संकलन के लिए वैज्ञानिक पद्धति को काम में लाते हैं। मूर्त और अमूर्त सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के लिए समाजशास्त्र विभिन्न वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग करता है। उदाहरण के रूप में, समाजशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने या तथ्य एकत्रित करने हेतु समाजमिति, अवलोकन पद्धति, अनुसूची तथा प्रश्नावली पद्धति, सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, सांख्यिकीय पद्धति, साक्षात्कार पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, आदि का प्रयोग किया जाता है। इनमें से एकाधिक पद्धतियों को काम में लेते हुए सामाजिक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। वैज्ञानिक पद्धति के विभिन्न चरणों का उल्लेख है। इन्हीं चरणों से गुजरकर समाजशास्त्रीय ज्ञान, सामाजिक तथ्य प्राप्त किये जाते हैं। समाजशास्त्र 'क्या है' का वर्णन करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता है। इसमें तो घटनाओं, तथ्यों और विभिन्न समस्याओं के कारण सम्बन्धों को जानने का प्रयत्न किया जाता है। यह शास्त्र तो किसी घटना या समस्या के पीछे छिपे कारणों की खोज करता है। यह तो यह मानकर चलता है कि कोई भी घटना जादुई चमत्कार से घटित नहीं होकर कुछ विशिष्ट कारणों से घटित होती है जिनका पता लगाना समाजशास्त्री का दायित्व है। कार्ल मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त एवं दुर्खीम का आत्महत्या का सिद्धान्त कार्य-कारण के सह-सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं।
- समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं मानने वाले विद्वानों का कहना है कि यह विज्ञान कैसे हो सकता है, जबकि इसके पास कोई प्रयोगशाला नहीं है, जब यह अपनी विषय-सामग्री मापने में समर्थ नहीं है

और जब यह भविष्यवाणी भी नहीं कर सकता है। साथ ही उनका यह भी कहना है कि सामाजिक प्रघटनाओं की स्वयं की कुछ ऐसी आन्तरिक सीमाएँ हैं जो समाजशास्त्र को एक विज्ञान का दर्जा दिलाने में बाधक हैं। यही बात अन्य सामाजिक विद्वानों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस सम्बन्ध में **बाटोमोर** ने लिखा है, "सामाजिक विज्ञानों की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध एक सबल तर्क यह दिया गया है कि ये विज्ञान प्राकृतिक नियम से मिलती-जुलती कोई चीज पैदा नहीं कर पाये हैं।" समाजशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ थोड़े से समाजशास्त्रियों का कहना है कि इसे एक पृथक अनुशासन या विषय मानने के बजाय इतिहास या राजनीतिशास्त्र की शाखा मानना ज्यादा उपयुक्त है। **सी.डब्ल्यू. मिल्स** ने समाजशास्त्र को विज्ञान मानने की अपेक्षा एक क्राफ्ट मानने का तर्क दिया है। **राबर्ट बीरस्टीड** का कहना है, "समाजशास्त्र का उचित स्थान केवल विज्ञानों में ही नहीं है, वरन् मानवीय मस्तिष्क को स्वतन्त्र बनाने वाले कला के विषयों में भी स्पष्ट है।" स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की प्रकृति के सम्बन्ध में विवाद पाया जाता है। कुछ लोग इसे विज्ञान मानते हैं, जबकि कुछ अन्य ऐसा नहीं मानते।

- **समाजशास्त्र एक विज्ञान है** और उसकी प्रवृत्ति वैज्ञानिक है। इतना अवश्य है कि समाजशास्त्र उतना निश्चित विज्ञान नहीं है जितने निश्चित प्राकृतिक या भौतिक विज्ञान हैं। इसी कारण समाजशास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान नहीं मानकर एक विशुद्ध या सैद्धान्तिक विज्ञान माना जाता है। **स्टीवर्ट एवं ग्लिन** ने लिखा है कि समाजशास्त्र में वे सभी विशेषताएँ पायी जाती हैं जो एक विज्ञान के लिए आवश्यक हैं। ये विशेषताएँ हैं— ज्ञान में वृद्धि, वैज्ञानिक विधि द्वारा ज्ञान का संचय, सामान्य नियमों का प्रतिपादन, नियमों की व्यावहारिकता, नियमों की सहायता से अपने अध्ययन क्षेत्र का विस्तार। ये सभी विशेषताएँ समाजशास्त्र में भी मौजूद हैं, अतः यह भी एक विज्ञान है और इसकी प्रकृति वैज्ञानिक है।

विद्वानों के उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि **विज्ञान का सम्बन्ध किसी विशिष्ट प्रकार की विषय-सामग्री से नहीं होकर वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त किये गये क्रमबद्ध व व्यवस्थित ज्ञान से है।**

4.6 समाजशास्त्र की उपयोगिता (Relevance of Sociology)

जिस तरह से प्रत्येक विषय की एक अपनी उपयोगिता होती है, उसी तरह से समाजशास्त्र की भी अपनी उपयोगिता है। विशेष तौर पर भारत के सन्दर्भ में इसकी उपयोगिता कुछ और भी ज्यादा है। विशेष तौर पर भारत के सन्दर्भ में इसकी उपयोगिता कुछ और भी ज्यादा है। भारतीय समाज के लगभग तमाम क्षेत्रों में विभिन्नताएँ देखी जा सकती हैं, चाहे वह धार्मिक हो या आर्थिक, सामाजिक हो या सांस्कृतिक। दूसरी ओर, हम यह भी पाते हैं कि परम्परावादी मूल्यों से हमारा नाता अब भी बना हुआ है, जबकि कुछ शहरी समुदायों में आधुनिक मूल्यों को अधिक-से-अधिक लोग स्वीकार कर रहे हैं। ऐसी समस्याओं को समझने के लिए समाजशास्त्र की काफी उपयोगिता है।

इसके अतिरिक्त, भारतीय समाज में अनेक प्रकार की समस्याएँ भी देखी जा सकती हैं, जैसे जातिवाद, सामाजिक असमानता, घूसखोरी, अपराध, जनसंख्या की समस्या, गरीबी, स्त्रियों की निम्न सामाजिक स्थिति एवं उनका शोषण आदि। इन समस्याओं के निदान के लिए हमें उन्हें समझना होगा और इन्हें समझने के लिए सर्वप्रथम हमें अपने समाज को गहराई से समझना होगा। इस क्षेत्र में भी समाजशास्त्र हमारी सहायता कर सकता है।

समाजशास्त्र निम्नलिखित क्षेत्रों में उपयोगी साबित हो सकता है—

1. **सामाजिक समस्याओं के निराकरण में सहायक**— यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हमारा समाज आज समस्याओं से घिरा हुआ है। भ्रष्टाचार, भिक्षावृत्ति, वेश्यावृत्ति, जातिवाद, बेकारी, गरीबी, दलितों एवं पिछड़ी जाति के साथ अन्याय, बाल-अपराध, राजनीतिक अपराध, ग्रामीणों की समस्याएँ आदि। इन समस्याओं के सामाजिक कारणों की खोज करके हम इसकी निष्पक्ष व्याख्या कर सकते हैं।
2. **राष्ट्रीय एकता में सहायक**— भारत विभिन्नताओं का देश है। भाषा, धर्म, क्षेत्र आदि के आधार पर हम बँटे हुए हैं। इस कारण हमेशा ही हमारे समाज में आन्दोलन, दंगे आदि होते होते रहते हैं। ये समस्याएँ एकता में बाधक हैं। इन विभिन्नताओं का वैज्ञानिक अध्ययन करके हम बहुत सी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इससे समाजशास्त्र अत्यन्त उपयोगी है।
3. **नई परिस्थितियों से समंजन कराने में सहायक**— वर्तमान युग परिवर्तनशीलता का युग है। प्रत्येक दिन नई-नई परिस्थितियाँ आती हैं, जहाँ समायोजन में समस्या उत्पन्न हो सकती है। वर्तमान परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर समाजशास्त्र भविष्य की परिस्थिति का एक स्वरूप पैदा करता है। ऐसे स्वरूपों से परिचित होकर उन नई परिस्थितियों के लिए तैयार होते हैं।
4. **ग्रामीण उत्थान में सहायक**— भारत की अन्य समस्याओं में ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध समस्याएँ अत्यन्त विकराल रूप लेती जा रही हैं। जन-स्वास्थ्य, निरक्षरता, भूमिहीनों की समस्या, तेजी से बढ़ती हुई आबादी आदि कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जिनका शीघ्र निवारण अत्यन्त आवश्यक है। समाजशास्त्रीय अध्ययन इस क्षेत्र में उपयोगी हो सकता है।
5. **जनजातियों की समस्याओं को हल करने में उपयोगी**— जनजातियों की जीवनशैली बिल्कुल अलग है, अतः उनकी समस्याएँ भी कुछ अलग प्रकार की होती हैं। सरकार उनके विकास के लिए अनेक सुविधाएँ देती है, फिर भी इच्छित परिणाम सामने नहीं आ पा रहे हैं। इसके पीछे कौन-से कारण हैं? उनकी समस्याओं की क्या प्रकृति है? इस तरह के कई ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर हमें समाजशास्त्रीय विश्लेषण के द्वारा हो सकता है।
6. **जनसंख्या सम्बन्धी समस्याओं को समझने में उपयोगी**— आज हमारे देश की बढ़ती हुई जनसंख्या सम्भवतः सबसे भयंकर समस्या है। इसे कम करने के लिए सरकार ने परिवार नियोजन कार्यक्रम को चलाया है, परन्तु इच्छित परिणाम देखने को नहीं मिलता। जन्म निरोध उपायों को अपनाने में कौन-कौन सी बाधाएँ हैं, इसकी सही जानकारी हमें तभी हो सकती है, जब हम समाज की मान्यताओं, मूल्यों, परम्पराओं आदि को समझने का प्रयास करेंगे। इस सन्दर्भ में हमें समाजशास्त्र से काफी सहायता मिलती है।
7. **आर्थिक विकास के कार्यान्वयन में सहायक**— विकास एक बहुआयामी प्रक्रिया है। जिसका समाजशास्त्रीय पहलू काफी महत्वपूर्ण है। विकास कार्यक्रमों के सफल कार्यान्वयन तथा समय-समय पर उनके मूल्यांकन में समाजशास्त्रीयगण काफी महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।
ऊपर के तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र की उपयोगिता काफी व्यापक है। इसके अध्ययन से न केवल हमें अपने समाज की जानकारी होती है, बल्कि अन्य समाजों की भी। ऊपर दी गईं जिन समस्याओं की चर्चा हुई है, उनका राजनीतिक, आर्थिक और

मनोवैज्ञानिक पहलू भी है। अतः हमें यह नहीं मानना चाहिए, कि इनका केवल समाजशास्त्रीय पहलू भी है।

4.7 सारांश—

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि किस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति एवं फ्रांसीसी क्रान्ति के दौर में आगस्त कॉम्ट ने एक नये विषय के रूप में समाज-शास्त्र का उद्भव किया। अतः कॉम्ट को समाजशास्त्र के पिता के रूप में जाना जाता है। साथ ही समाजशास्त्र एक विज्ञान है और इसमें भविष्यवाणी करने की क्षमता है

4.8 पारिभाषिक शब्दावली—

सामाजिक भौतिकी — कॉम्ट ने सर्वप्रथम समाजशास्त्र का नाम सामाजिक भौतिकी या सोशल फिजिक्स रखना चाहा था। परन्तु बेलजियम के वैज्ञानिक क्वेटलेट ने अपने एक निबन्ध को सोशल फिजिक्स नाम से प्रारम्भ किया। अतः आगस्त कॉम्ट को इस विषय का नाम समाजशास्त्र अर्थात् सोशियोलॉजी रखना पड़ा।

4.9 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

1. ऑगस्ट कॉम्टे के अनुसार मानवीय ज्ञान तीन मुख्य अवस्थाओं से गुजरा , जो हैं—प्रत्यक्षात्मक, तत्वमीमांसीय, धर्म शास्त्रीय

नीचे दिये कूटों का प्रयोग करते हुए इन अवस्थाओं के उदय होने का सही क्रम चुनिए—

- क. धर्मशास्त्रीय, तत्वमीमांसीय, प्रत्यक्षात्मक
- ख. तत्वमीमांसीय धर्मशास्त्रीय प्रत्यक्षात्मक
- ग. धर्मशास्त्रीय प्रत्यक्षात्मक तत्वमीमांसीय
- घ. प्रत्यक्षात्मक धर्मशास्त्रीय तत्वमीमांसीय

2. ऑगस्त कॉम्ट में समाज के अध्ययन को विभाजित किया है—

- क. उप संरचना एवं अतिसंरचना में
- ख. सामाजिक स्थिति शास्त्र एवं सामाजिक गतिशास्त्र में
- ग. अन्तः समूह और बाध्य समूह में
- घ. उपरोक्त में से कोई नहीं

3. कॉम्ट ने समाज विज्ञान को कौन सा नाम दिया था जब तक उसने सोशियोलॉजी शब्द की रचना हीं कर ली थीं?

- क. सोशलडियॉलोजी
- ख. सोशलबायोलोजी
- ग. एन्थ्रोपोलोजी
- घ. सोशलफिजिक्स

4. कॉम्टे की मृत्यु कब हुई?

- क. अगस्त 15, 1851 ई०
 ख. सितम्बर 5, 1857 ई०
 ग. अक्टूबर 25, 1859 ई०
 घ. दिसम्बर 29, 1861 ई०

5. ऑगस्त कॉम्टे को समाजशास्त्र का जनक कहा जाता है, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होंने—

- क. समाजशास्त्र की परिभाषा दी
 ख. समाजशास्त्र शब्द की रचना की
 ग. समाजशास्त्र के अध्ययन का वैज्ञानिक तरीका सुझाया
 घ. समाजशास्त्र की पुस्तक लिखी।

6. ऑगस्त कॉम्टे ने समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग कब किया?

- क. सन् 1836 ई०
 ख. सन् 1846 ई०
 ग. सन् 1838 ई०
 घ. सन् 1848 ई०

7. निम्नलिखित में से कॉम्टे के परिवर्तन के सिद्धान्त के अनुसार सही अनुक्रम कौनसा एक है?

- धर्मशास्त्रीय, प्रत्यक्षवादी, तत्त्वदार्शनिक
- धर्मशास्त्रीय, तत्त्वदार्शनिक, प्रत्यक्षवादी
- तत्त्वदार्शनिक, धर्मशास्त्रीय, प्रत्यक्षवादी
- प्रत्यक्षवादी, तत्त्वदार्शनिक, धर्मशास्त्रीय

7. सूची I को सूची II के साथ सुमेलित कीजिये और सूचियों के नीचे दिये गये कूट की सहायता से सही उत्तर का चयन कीजिए:

सूची I

- क. अगस्त कॉम्टे
 ख. कार्ल मार्क्स
 ग. हरबर्ट स्पेंसर
 घ. रडक्लिफ ब्राउन

सूची II

1. भौतिकवाद
 2. विकासवाद
 3. प्रत्यक्षवाद
 4. प्रकार्यवाद
 5. अस्तित्ववाद

कूट:

- a. A B C D
 3 1 2 4
 b. A B C D

| | | | | |
|----|---|---|---|---|
| | 4 | 2 | 1 | 5 |
| c. | A | B | C | D |
| | 3 | 2 | 1 | 4 |
| d. | A | B | C | D |
| | 2 | 1 | 5 | 4 |

- 8 प्रत्यक्षवाद की चर्चा निम्नलिखित में से किस विद्वान ने की?
 क. आगस्ट कॉम्ट
 ख. कालमाक्स
 ग. इमाइल दुर्खीम
 घ. हरबर्ट स्पेन्सर
- 9 प्रत्यक्षवाद को किस विद्वान ने अपनी अध्ययन पद्धति बनाया?
 क. कालमाक्स
 ख. इमाइल दुर्खीम
 ग. हरबर्ट स्पेन्सर
 घ. आगस्ट कॉम्ट
- 10 आगस्ट कॉम्ट के अनुसार समाज के विकास का उच्चतम स्तर है?
 क. तात्विक स्तर
 ख. धार्मिक स्तर
 ग. वैज्ञानिक स्तर
 घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं।

उत्तर— 1. क 2. ख 3.घ 4.ख 5.घ 6.ग 7.ख 8.क 9.क 10.घ 11.ग

4.10 संदर्भ ग्रंथ सूची—

- (1) शम्भूलाल दोशी एवं मधुसूदन त्रिवेदी, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (1997)
 रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 22-110
- (2) एस. एल. दोशी एवं पी. सी. जैन, सामाजिक विचारक (1997), सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन्स,
 जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 150-280
- (3) डा. शीबा सिद्दीकी, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (2012)
 विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली, P- 30&35
- (4) डा. एम. एम. लवानिया एवं शशी के. जैन, सैद्धान्तिक समाजशास्त्र (1998),
 रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, P- 143
- (5) एस. एस. पाण्डेय, टीएमएच, P- 11.1, 12.5
- (6) डा0 अफरोज एकबाल, भारत में सामाजिक परिवर्तन दशा एवं दिशा, ल्यूसेंट पटना, P 1- 55

4.11 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री—

(1) M. Francis Abraham, Modern Sociological Theory, Oxford University, Press
Bombay, Calcutta, Madras (1982) —P- 10-55

(2) Sujit Kumar Choudhary, Thinkers and Theories in Sociology — P 1-20

4.12 निबंधात्मक प्रश्न—

प्रश्न— किन परिस्थितियों में समाजशास्त्र का उद्भव हुआ? वर्णन करें।

प्रश्न—समाजशास्त्र की प्रकृति को समझाए?

प्रश्न— क्या समाजशास्त्र एक विज्ञान है?

इकाई 5 – विज्ञानों का संस्तरण एवं त्रि-स्तरीय नियम (HIERARCHY OF SCIENCE AND LAW OF THREE STAGES)

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 विज्ञानों का संस्तरण

5.3 ज्ञान के विकास का त्रि-स्तरीय नियम

5.4 चिन्तन के तीन स्तर एवं सामाजिक संगठन-

5.5 आलोचनात्मक मूल्यांकन-

5.6 सारांश

5.7 पारिभाषिक शब्दावली

5.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

5.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

5.11 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 उद्देश्य-

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान पाएँगे कि

1. त्रिस्तरीय नियम क्या है?
2. किस प्रकार बौद्धिकता समाज के विकास का निर्धारक होती है?
3. किस प्रकार आगस्त कॉम्ट ने विज्ञानों का संस्तरण प्रस्तुत किया है।

5.1 प्रस्तावना-

सामाजिक घटनाओं के व्यवस्थित अध्ययन की नींव डालने में जिन प्रमुख विद्वानों ने योगदान किया, उनमें फ्रांस के दार्शनिक आगस्त कॉम्ट का नाम सर्वोपरि है। कॉम्ट वह पहले विचारक थे जिन्होंने सामाजिक चिन्तन को एक व्यवस्थित क्रमबद्धता में संयोजित करके समाजशास्त्रीय चिन्तन की परम्परा आरम्भ की। यह सच है कि अपने इसी योगदान के कारण कॉम्ट को समाजशास्त्र के जनक (**Father of Sociology**) के रूप में स्वीकार किया जाता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कॉम्ट से पूर्व सामाजिक चिन्तन की कोई परम्परा विद्यमान नहीं थी।

आगस्त कॉम्ट ने समाज के वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बन्धित जो विचार प्रतिपादित किये उन पर कान्त के विचारों का एक स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त, कॉम्ट के चिन्तन पर सेन्ट साइमन के प्रभाव की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। इसके पश्चात् भी यह सच है कि कॉम्ट के सामाजशास्त्रीय विचार एक बड़ी सीमा तक फ्रांस के मानवतावादी विचारों से प्रभावित हुए। फ्रांस की क्रांति ने जिन तत्कालीन सामाजिक राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को जन्म दिया, वे एक नयी मानवतावादी विचारधारा से प्रभावित थीं तथा यही दशाएं कॉम्ट के चिन्तन का एक आधार सिद्ध हुंयीं।

5.2 विज्ञानों का संस्तरण—(HIERARCHY OF SCIENCE)

समाजशास्त्र के जनक आगस्त कॉम्ट "समाजशास्त्र को एक विशिष्ट प्रस्थिति प्रदान करना चाहते थे। इस के लिए उन्हें एक ऐसे सुदृढ़ आधार की आवश्यकता थी जिसके माध्यम से वे अन्य विज्ञानों की तुलना में समाजशास्त्र की विशिष्टता को प्रतिस्थापित कर सकें। कॉम्ट के पूर्ववर्ती विचारकों में सेन्ट साइमन (Saint Siman) ने वैज्ञानिक तरीके से विज्ञानों का वर्गीकरण अवश्य किया था किन्तु कॉम्ट ने वैज्ञानिकता के दृष्टिकोण से इस वर्गीकरण को स्वीकार न करते हुए इसे और अधिक वैज्ञानिक रूप से स्पष्ट करने पर बल दिया। इस दृष्टि-कोण से कॉम्ट ने अपनी पुस्तक 'पॉजिटिव फिलासफी' (Positive Philosophy) में जहाँ एक ओर अन्य विज्ञानों से समाजशास्त्र के सम्बन्ध को स्पष्ट किया, वही दूसरी ओर एक नवीन विज्ञान होने के पश्चात् भी इसके आधार भूत महत्व एवं व्यापक अध्ययन-क्षेत्र पर प्रकाश डाला। कॉम्ट द्वारा प्रस्तुत "विज्ञानों का संस्तरण" उनके इसी प्रयास का परिणाम है। कॉम्ट ने विभिन्न विज्ञानों के पारिस्परिक सम्बन्ध तथा संस्तरण को जिस रूप में स्पष्ट किया, वह मुख्यतः दो निम्नांकित सिद्धांतों पर आधारित है:

1. निर्भरता बढ़ता हुआ क्रम (Order of Increasing Dependence)
2. घटती हुई सामान्यता एवं बढ़ती हुई जटिलता (Decreasing Generality and Increasing Complexity)

1. निर्भरता बढ़ता हुआ क्रम (Order of Increasing Dependence)

कॉम्ट के द्वारा प्रतिपादित इन विज्ञानों के संस्तरण की पहली मान्यता यह है कि ज्ञान के विकास के साथ इसकी प्रत्येक आगामी अथवा नयी शाखा अपने से पहले के ज्ञान पर अधिक निर्भर होती चली जाती है। इस का तात्पर्य है कि सबसे पहले विकसित होने वाला ज्ञान अथवा विज्ञान सबसे अधिक स्वतंत्र होगा जबकि ज्ञान की प्रत्येक आगामी शाखा अपने से पूर्व के सभी विज्ञानों अथवा ज्ञान की शाखाओं पर अधिक निर्भर होगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जैसे-जैसे ज्ञान की शाखाएँ विकसित होती हैं, वैसे-वैसे वे पूर्ववर्ती विज्ञानों पर अधिक आश्रित या निर्भर होती जाती हैं।

2. घटती हुई सामान्यता एवं बढ़ती हुई जटिलता (Decreasing Generality and Increasing Complexity) –

कॉम्ट ने अपने प्रथम सिद्धांत के पुरक के रूप में इस दूसरे सिद्धांत का प्रतिपादन किया। कॉम्ट का कहना है कि जैसे-जैसे किसी एक विज्ञान की दूसरे विज्ञान पर निर्भरता बढ़ती जाएगी वैसे-वैसे उसकी सामान्यता में कमी होती जाएगी। किसी विज्ञान में यह सामान्यता जितनी कम होगी, उसकी जटिलता में उतनी ही अधिक वृद्धि देखने को मिलेगी। इसका तात्पर्य है कि जो विज्ञान जितना अधिक नवीन होगा, वह उतना ही अधिक सामान्य लेकिन जटिल होगा। इसका कारण यह है कि जिस विज्ञान की विषय-वस्तु जितनी सरल होगी वह विज्ञान अन्य विज्ञानों पर उतना ही कम निर्भर होगा और जैसे-जैसे किसी विज्ञान की अध्ययन-वस्तु में विशिष्टता आती जायेगी वैसे-वैसे उस विज्ञान की अन्य विज्ञानों पर निर्भरता बढ़ती जायेगी। इस सामान्यता और जटिलता के बारे में कॉम्ट

का कहना है कि जो घटनाएँ सामान्य होती हैं अर्थात् सार्वभौमिक रूप से पाई जाती हैं उनका अध्ययन करना आसान होता है। अतः उस विज्ञान की अध्ययन-वस्तु भी सरल होगी परन्तु जैसे-जैसे किसी विज्ञान की अध्ययन-वस्तु में विशेषीकरण आता जायेगा, उसकी जटिलता भी बढ़ती जाती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि सरल घटनाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान सबसे अधिक सरल और सामान्य होता है क्योंकि सरल घटनायें पहले घटित होती हैं। इस प्रकार सबसे पहले विकसित होने वाला विज्ञान सबसे अधिक सामान्य और कम से कम जटिल होगा। दूसरा विज्ञान उससे अधिक जटिल तथा अपेक्षाकृत कम सामान्य होगा। इस क्रम में आने वाले तीसरे, चौथे और आगामी विज्ञानों में सामान्यता कम और जटिलता बढ़ती जायेगी। इस प्रकार जो विज्ञान जितना अधिक जटिल और अन्य विज्ञानों पर जितना अधिक निर्भर होता है, विज्ञानों के संस्तरण में वही अन्तिम स्थान पर होगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कॉम्ट ने निर्भरता के क्रम एवं जटिलता के बीच समानुपातिक सम्बन्ध बतलाया है। कॉम्ट के द्वारा बतलाये गये विज्ञानों के संस्तरण को हम निम्न चार्ट के माध्यम से समझ सकते हैं:

| विषय | बढ़ती हुई निर्भरता का क्रम | बढ़ती हुई जटिलता का क्रम |
|---|---|--|
| गणित | आत्म-निर्भर | सरलतम विज्ञान |
| खगोलशास्त्र | गणित पर निर्भर | गणित से जटिल |
| प्राकृतिक विज्ञान (रसायन/भौतिक) | गणित और खगोल पर निर्भर | गणित, खगोल से जटिल |
| जीव विज्ञान (प्राणी शास्त्र/वनस्पतिशास्त्र) | गणित, खगोल तथा प्राकृतिक विज्ञानों पर निर्भर | गणित, खगोल तथा प्राकृतिक विज्ञानों से जटिल |
| समाजशास्त्र सर्वाधिक जटिल | गणित, खगोल, प्राकृतिक विज्ञानों तथा जीव विज्ञान पर निर्भर | सर्वाधिक जटिल विज्ञान |

1. **गणितशास्त्र (Mathematics)** – जैसा कि हम प्रारम्भ में उल्लेख कर चुके हैं, विज्ञानों के संस्तरण में जिस विज्ञान की विषय-वस्तु जितनी अधिक सरल होगी, वह उतना ही सामान्य होगा। गणित विज्ञान अत्यन्त प्रचीन एवं विशुद्ध विज्ञान है। गणित में निहित तथ्यों की विवेचना के लिए अन्य विज्ञानों की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती है। उदाहरण के लिए, दो और दो चार होते हैं, यह तथ्य सर्वभौमिक है। इस तरह कॉम्ट ने विज्ञानों के संस्तरण में प्रथम स्थान गणित विज्ञान को प्रदान किया क्योंकि इस के सिद्धांतों की सत्यता के लिए उसे दूसरे विज्ञान पर निर्भर नहीं रहना पड़ता।

2. **खगोल विज्ञान (Astronomy)** – विज्ञानों के संस्तरण में द्वितीय स्थान पर खगोलशास्त्र आता है जो अपने से पहले के विज्ञान गणित पर निर्भर है, अतः सिद्धांतानुसार यह विज्ञान गणित से अधिक जटिल है। गणित पर निर्भरता की पुष्टि के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। खगोलशास्त्र की

विषय-वस्तु का सम्बन्ध अंतरिक्ष और पृथ्वी (स्थलीय) की घटनाओं से होता है। सामान्यतया खगोलशास्त्र में ग्रहों, सूर्य, चन्द्रमा, दिन, रात आदि सम्बन्धित नियमों का अध्ययन किया जाता है। इन समस्त अध्ययनों का सत्यापन गणित की सहायता से ही किया जाता है। वास्तव में, स्थलीय घटनाओं का सम्बन्ध खगोलीय घटनाओं से ही होता है। खगोलशास्त्र में ग्रह, नक्षत्रों, तारों आदि के बीच दूरी व उनके परिभ्रमण का निर्धारण आदि गणित के माध्यम से ही किया जा सकता है। प्राचीन काल से ही ऋतुओं, मौसम, जलवायु आदि से सम्बन्धित जानकारी के लिए समय-सारणी की आवश्यकता महसूस हुई। गणित के माध्यम से सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि के परिभ्रमण के आधार पर वर्ष, माह, दिन का निर्धारण किया गया। इस प्रकार गणित पर आधारित खगोलीय जानकारी के आधार पर ही वर्ष का कैलेंडर तैयार किया गया।

3. प्राकृतिक विज्ञान (Natural Sciences) विज्ञानों के संस्तरण में तृतीय स्थान प्राकृतिक विज्ञानों का है जिसमें मुख्यतः भौतिकी तथा रसायनशास्त्र को सम्मिलित किया जाता है। भौतिक (Physics) और सायनशास्त्र (Chemistry) क्रमशः गणित और खगोलशास्त्र पर निर्भर है, इसलिए इनकी विषय-वस्तु की जटिलता अपने से पूर्व के दोनो विज्ञानों से अधिक है। भौतिकशास्त्र में जो अध्ययन किया जाता है, उनकी पुष्टि खगोल व गणित विज्ञान के बिना सम्भव नहीं है।

उदाहरण के लिए, गुरुत्वीय त्वरण की जानकारी के लिए हमें खगोलशास्त्र और गणित का अध्ययन करना आवश्यक है। गुरुत्वीय त्वरण के मान में विविधता होती है। इसके मान पर अक्षांश तथा ऊँचाई का प्रभाव पड़ता है। इस तरह भौतिकी के सिद्धांतों की गणित के बिना भी नहीं हो सकती क्योंकि मान निकालने के लिए समीकरण में गणनात्मक तथ्यों का प्रयोग किया जाता है। भौतिकशास्त्र की तरह रसायनशास्त्र में भी रासायनिक प्रतिक्रियाओं की जानकारी खगोल एवं गणितशास्त्र के बिना प्राप्त नहीं की जा सकती। **उदाहरण के लिए,** यह मापने के लिए की किसी रासायनिक प्रतिक्रिया में लवण, क्षार, अम्ल आदि के अणु है। हमें गणित के ज्ञान की आवश्यकता होती है। इस क्षेत्र में खगोल सम्बन्धी जानकारी भी इस लिए आवश्यक है कि इसी के द्वारा यह जाना जा सकता है कि कोई रासायनिक तत्व अपने स्थलीय परिवेश में प्रकृति के प्रति कितना सक्रिय या निष्क्रिय होगा। **उदाहरण के लिए,** (सोडियम) अत्यन्त ज्वलनशील पदार्थ है। इसे जानने के पश्चात की बाह्य वातावरण का इस पर क्या प्रभाव पड़ता है, सोडियम को मिट्टी के तेल में रखा जाता है। इस तरह प्राकृतिक विज्ञानों की विषय-वस्तु अपने पूर्ववर्ती विज्ञानों पर निर्भर रहती है। इसलिए कॉम्ट का मत है कि प्राकृतिक विज्ञान गणित एवं खगोलशास्त्र से अधिक जटिल है।

4. जीव विज्ञान (Biology) – जीव विज्ञान में वनस्पति एवं प्राणियों का अध्ययन किया जाता है। वनस्पति से सम्बन्धित अध्ययन के लिए भी हमें क्रमशः गणित, खगोल एवं प्राकृतिक विज्ञानों पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके साथ ही जीव विज्ञान के अध्ययन के लिए गणित, खगोलशास्त्र एवं प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्धित जानकारी भी आवश्यक है। जन्तु विज्ञान (Zoology) के बारे में कुछ भी जानने से पहले पूर्ववर्ती विज्ञानों का ज्ञान होना आवश्यक है। **उदाहरण के लिए,** एक सावयव अथवा शरीर अपना कार्य करता रहे, इसके लिए उसे भोजन की आवश्यकता होती है। सामान्यतया भोजन के रासायनिक वर्गीकरण में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, खनिज लवण, विटामिन्स तथा जल आदि प्रमुख घटक है। अतः इस रासायनिक तत्वों की प्रतिक्रियाओं, इसके अनुपात आदि के लिए रसायनशास्त्र का ज्ञान होना आवश्यक है। प्राणिशास्त्र, भौतिकशास्त्र से भी सम्बन्धित है क्योंकि भौतिकशास्त्र से ही हमें ताप, भार आदि का ज्ञान होता है। प्राणी-विज्ञान खगोलशास्त्र पर भी निर्भर करता है। किसी भी देश के लोगों के रहन-सहन, सभ्यता, संस्कृति तथा आर्थिक उन्नति आदि का जलवायु से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। प्रारम्भ से ही ऐसा माना जाता रहा है कि जलवायु का प्राणी के व्यवहारों, स्वास्थ्य और मानसिकता पर प्रभाव पड़ता है। अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि प्राणियों पर भी चंद्रमा की विभिन्न स्थितियों के भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ते हैं। ऋतु-परिवर्तन का भी प्राणियों पर प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि जीव विज्ञान जहाँ एक ओर खगोलशास्त्र से सम्बन्धित है, वही इसका गणित तथा प्राकृतिक विज्ञानों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस तरह कॉम्ट ने जीवशास्त्र को अपने पूर्ववर्ती विज्ञानों से अधिक जटिल और अधिक निर्भर विज्ञान माना है।

- **समाजशास्त्र (Sociology)**— समाजशास्त्र चूँकि नवीनतम विज्ञान है अतः सिद्धांतानुसार इसमें पढ़ती हुई निर्भरता एवं पढ़ती हुई जटिलता की विशेषता सबसे अधिक है। इसी कारण कॉम्ट ने इसी 'विशिष्टतम विज्ञान' माना है। इस संदर्भ में समाजशास्त्र की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए कॉम्ट ने कहा कि 'सामूहिक घटनाओं से सम्बन्धित समाजिक तथ्यों का अध्ययन करने वाला विज्ञान ही समाजशास्त्र है।' समाजशास्त्र की विषय-वस्तु अत्यधिक जटिल है क्योंकि कॉम्ट के अनुसार यह विज्ञान अपने पूर्ववर्ती विज्ञानों पर सबसे अधिक निर्भर है। उदाहरण के लिए, सामूहिक क्रियाओं या किसी समाज में पाये जाने वाले सम्बन्धों का अध्ययन करने अथवा उनका अनुमापन (Measurement) करने के लिए हमें गणित की जरूरत होती है। सच तो यह है कि वर्तमान समस्त सामाजिक शोधों में सांख्यिकीय का प्रयोग हो रहा है। समाजशास्त्र खगोलशास्त्र पर भी निर्भर है क्योंकि वैज्ञानिक खोजों से यह स्पष्ट हुआ है कि सामाजिक जीवन काफी सीमा तक भौगोलिक दशाओं से भी प्रभावित होता है। खगोलशास्त्र के पश्चात् प्राकृतिक विज्ञानों (भौतिकी/रसायन) का अध्ययन भी समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को प्रभावित करता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का शरीर पाँच तत्वों से मिलकर बना है तथा इन तत्वों के प्रभावों का विश्लेषण करके ही यह ज्ञात किया जा सकता है कि पर्यावरणीय प्रभाव किस प्रकार एक समूह के सदस्यों और उसकी संस्कृति को प्रभावित करते हैं। जीव एवं वनस्पति विज्ञानों के अध्ययनों तथा उनके परिणामों के आधार पर ही औषधि एवं चिकित्सा आदि का उद्भव हुआ है। चिकित्सा एवं समाज के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है या यह कहा जा सकता है कि औषधि के बिना मनुष्य और समाज दोनों ही रोगग्रस्त हो सकते हैं। चिकित्सा के समाजशास्त्र (Sociology of Medicine) के अध्येताओं ने भी कहा है कि "औषधि एक समाजिक तथ्य है।" औषधि में जिन वनस्पतियों का मिश्रण होता है, उनका व्यवस्थित अध्ययन वनस्पतिशास्त्र में किया जाता है। इस प्रकार, समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को जीव विज्ञान एवं वनस्पति विज्ञान भी प्रभावित करते हैं। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र अपने से पूर्व के सभी विज्ञानों पर सर्वाधिक निर्भर एवं जटिलतम विज्ञान है।
- कॉम्ट के अनुसार सभी विज्ञान तीन अवस्थाओं धार्मिक, तात्त्विक तथा प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक अवस्था से होकर गुजरते हैं। लेकिन अलग-अलग विज्ञान इन तीनों अवस्थाओं से एक साथ नहीं गुजरते। वास्तव में जो विज्ञान श्रेणी क्रम में जितना उंचा होगा उतनी ही देरी से वो एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जायेगा।
- कॉम्ट के अनुसार न केवल मानवीय चिंतन की धारार्यें तीनों अवस्थाओं से होकर गुजरी हैं। अपितु प्रत्येक विषय का एक सामान्य तथा सरल स्तर से जटिल और फिर अत्यधिक जटिल स्तर की ओर विकास हुआ है।
- कॉम्ट ने विभिन्न विज्ञानों की श्रेणीक्रम व्यवस्था प्रस्तुत की जिसका आधार निम्नलिखित था।
- विज्ञानों के आरम्भ तथा विकास का क्रम।
- एक-दूसरे पर निर्भर रहने का क्रम (प्रत्येक विज्ञान अपने पूर्ववर्ती विज्ञान पर आधारित होता है)।
- विज्ञानों की विषय वस्तु में, उनके विकास क्रम के अनुसार कम होती सामान्यता तथा बढ़ती हुई जटिलता।
- अपने अध्ययन के अन्तर्गत आने वाले तथ्यों में संशोधन करने की बढ़ती क्षमता।
- इस तरह विज्ञानों के आरम्भ तथा जटिलताओं के आधार पर कॉम्ट ने विज्ञानों का क्रम इस प्रकार नर्धारित किया— गणित, खगोल विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, समाजशास्त्र तथा अन्त में नैतिक विज्ञान को रखा। नैतिक विज्ञान से कॉम्ट का अभिप्राय मानव का व्यक्तियों के रूप में अध्ययन करने से था। ऐसा अध्ययन जो समाजशास्त्र के बाद आयेगा और

मनोविज्ञान तथा नीतिशास्त्र का मिश्रित रूप होगा। साथ ही सबसे जटिल तथा सब विज्ञानों से सामान्य होगा।

कॉम्ट के अनुसार अब तक विज्ञानों में समाजशास्त्र सबसे जटिल विज्ञान है। क्योंकि इसमें सबसे जटिल विषय अर्थात् समाज का अध्ययन करना शामिल है। इसीलिए समाजशास्त्र का जन्म अन्य विज्ञानों के बहुत समय बाद हुआ। समाजशास्त्र की विषय वस्तु अन्य विज्ञानों की विषय वस्तु की तुलना में जटिल एवं सामान्य हैं।

समाजशास्त्र की उद्भव एवं विकास व्यक्ति द्वारा अपने समाज से सम्बन्धित कुछ नये वस्तुनिष्ठ तथ्यों जैसे गंदी वस्तुओं का विस्तार, गरीबी आदि को पहचानने से जुड़ा हुआ है। कॉम्ट ने जब समाजशास्त्र को विज्ञानों के श्रेणी क्रम का सर्वोच्च शिखर कहा तो उनका विचार विज्ञान की सामान्य एकीकरण की प्रकृति के सन्दर्भ में था। ना कि समाजशास्त्र को अन्य विज्ञान की तुलना में कोई उंची हैसियत देने का दावा करना। वो तो केवल यह चाहते थे कि ज्ञान में वृद्धि के साथ-साथ सभी विज्ञानों का एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

विज्ञानों के संस्तरण के माध्यम से कॉम्ट ने समाजशास्त्र को पूर्ववर्ती विज्ञानों की तुलना में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। इस सिद्धांत में निहित जटिलता और विकास के समानुपातिक सम्बन्धों के आधार पर ही कॉम्ट को उद्विकासवादी विचारक की श्रेणी में भी रखा जा सकता है।



5.3 ज्ञान के विकास का त्रि-स्तरीय नियम

अगस्त कॉम्ट (1798–1857) न केवल समाजशास्त्र के पिता के रूप में जाने जाते हैं बल्कि समाजशास्त्र में उदविकासीय एवं समाजशास्त्रीय विचारधारा (Sociologistic School) के प्रतिनिधियों के नेता के रूप में भी प्रख्यात रहे हैं। हर प्रतिभा अपने पर्यावरण की देन होती है। अतः अगस्त कॉम्ट भी एक प्रतिभाशाली विद्वान हुए इस परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन यूरोप के सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। कॉम्ट का जन्म फ्रांस में ऐसे समय में हुआ जब यूरोप औद्योगिक क्रांति के साथ-साथ फ्रांसीसी राज्यक्रांति के परिणाम स्वरूप संक्रमण के दौर से गुजर रहा था। साथ ही यूरोपीय देशों में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो रही थी। तत्कालीन फ्रांस में दो परस्पर विरोधी विचार एक साथ पनप रहे थे। 19वीं शताब्दी में जहाँ एक ओर कुछ विद्वान सामाजिक प्रगति की ओर ध्यानाकृष्ट हो रहे थे, वही दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखना भी कुछ चिंतकों के चिंतन की प्रमुख समस्या थी। हम जानते हैं कि व्यवस्था स्थायित्व चाहती है और प्रगति बिना परिवर्तन के संभव नहीं है। अतः उस युग की सबसे बड़ी आवश्यकता थी व्यवस्था को बनाए रखते हुए प्रगति करना।

अगस्त कॉम्ट ने इन्ही परिस्थितियों के बीच समाज को भटकते पाया। ज्ञान के विकास का त्रि-स्तरीय नियम एक ऐसा सिद्धांत है जिसे इन्होंने अपनी पुस्तक पॉजिटिव फिलासफी (Positive Philosophy) में प्रस्तुत किया। ज्ञान के विकास का त्रिस्तरीय सिद्धांत वस्तुतः सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया और सामाजिक उन्नति की व्याख्या क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करती है। कॉम्ट व्यक्ति के ऊपर समाज के प्रभुत्व को स्वीकार करते हैं और इनका यह मानना है कि मानव जीवन का विकास और मानव विचारों में परिवर्तन सामूहिक जीवन के चलते होता है।

ज्ञान के विकास की प्रक्रिया को इन्होंने मानव मस्तिष्क में होनेवाले उदविकास की प्रक्रिया से जोड़ा है और ज्ञान के विकास को तीन स्तरों में बांटते हुए सामाजिक उदविकास की चर्चा की है। कॉम्ट के ही शब्दों में

“Each of our leading Conceptions each baranch of our knowledge passes Successvely through three different theoretical conditions the Theological or Ficticious, the Metaphysical or Abstract, & the Scientific or Positive.”

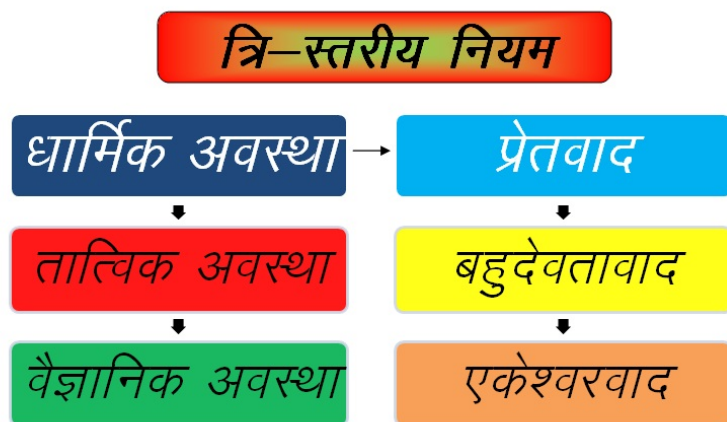
उपयुक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मानव ज्ञान में विकास तीन स्तरों के माध्यम से होता है और ये तीन स्तर क्रमशः

- धार्मिक स्तर (Theological Stage)
- तात्त्विक स्तर एवं (Metaphysical Stage)
- प्रत्यक्षवादी स्तर (Scientific Stage)

2.3.1. धार्मिक स्तर (Theological Stage)

कॉम्ट के अनुसार आरम्भ में मानव मस्तिष्क बहुत विकसित नहीं था अतः उस अवस्था का ज्ञान धार्मिक स्वरूप का था। तात्पर्य यह कि आरम्भिक स्तर में मनुष्य सभी घटनाओं की व्याख्या अलौकिक शक्ति के आधार पर करता था। चूंकि मानव मस्तिष्क विकसित नहीं था अतः मानवीय ज्ञान में केवल आस्था एवं

विश्वास के तत्व मौजूद थे एवं विवेक का अभाव था। फलतः मनुष्य किसी भी घटना के पीछे के कार्य कारण संबंध को नहीं जान पाता था बल्कि हर घटना के पीछे वह ईश्वरीय शक्ति को मानता था। ऐसा नहीं है कि इस काल में वैज्ञानिक ज्ञान नहीं थे। मनुष्य ने पेड़ की दो टहनियों के घर्षण को देखकर स्वयं भी इस प्रक्रिया के माध्यम से आग उत्पन्न किया जो उसके वैज्ञानिक ज्ञान होने का प्रमाण है। पर वास्तव में इस तरह के ज्ञान अत्यन्त सीमित थे और भरपूर मात्रा में धार्मिक ज्ञान उपलब्ध था।



कॉम्ट के अनुसार धार्मिक स्तर स्वयं तीन सफल उपस्तरों से गुजरता है, वे हैं

- प्रेतवाद (Fetishism)
- बहुदेवतावाद (Polytheism)
- एकदेवतावाद (Monotheism)

प्रेतवाद के स्तर में प्राकृतिक चीजों का मानवीकृत किया जाता है। पेड़ों, नदियों, पर्वत आदि कि पूजा इसलिए की जाती है क्योंकि लोगों में ऐसी धारणा बनी रहती है कि प्राकृतिक चीजे देवी देवताओं के निवास स्थान हैं। लेकिन जैसे जैसे मस्तिष्क में विकास होता है। वैसे वैसे मानव ज्ञान में परिवर्तन आता है। प्रेतवाद का रूप मिटता जाता है और बहुदेवता वाद की भावना लोगों में आ जाती है। इस प्रक्रिया में घरेलू देवताओं की स्थापना की जाती है। और साथ साथ लोग एक साथ अनेक देवताओं में ना केवल विश्वास करने लगते हैं। बल्कि देवताओं का श्रेणी क्रम उनकी पदस्थिति के आधार पर निर्धारित की जाती है। पुनः जैसे जैसे मानव मस्तिष्क के साथ साथ मानव ज्ञान में वृद्धि होती है। वैसे वैसे बहुदेवता वाद का स्थान समाप्त हो जाता है। और उसका स्थान एक देवतावाद ले लेता है। इस अवस्था में मनुष्य ये अनुभव करने लगता है कि भले ही देवताओं के नाम अनेक हैं पर देवता एक है। कॉम्ट के अनुसार एक देवतावाद धार्मिक स्तर के चिंतन का सर्वोच्च स्तर है।

2.3.2 तात्त्विक स्तर (Metaphysical Stage)

ज्ञान के विकास का दूसरा स्तर तात्त्विक स्तर है। मानव ज्ञान का यह दूसरा स्तर धार्मिक और प्रत्यक्षवादी स्तर के बीच एक कड़ी का काम करता है। अगस्त कॉम्ट के अनुसार जहां धार्मिक स्तर कई हजार वर्षों का काल था वहीं तात्त्विक स्तर कुछ सौ वर्षों का काल है। दरअसल कॉम्ट ने इसे संक्रमण की अवस्था कहा है। इस स्तर में ज्ञान ना तो पूर्णतः धार्मिक स्तर का होता है ना ही पूर्णतः प्रत्यक्षवादी स्तर का होता है। साफ शब्दों में कहा जाए तो इस स्तर के ज्ञान में विभिन्न घटनाओं

की व्याख्या ना तो अलौकिक शक्ति के आधार पर की जाती है। ना ही तर्क एवं विवेक के आधार पर। दरअसल अदृश्य शक्ति के आधार पर घटनाओं की व्याख्या की जाती है। अगस्त कॉम्ट का कहना है कि इस स्तर के ज्ञान में मनुष्य घटनाओं के पीछे अलौकिक शक्ति का हाथ नहीं मानता बल्कि घटना के कारण को जानना चाहता है। लेकिन ज्ञान में तर्क एवं विवेक के अभाव के चलते वो जान नहीं पाता है। और ऐसी स्थिति में वो ये मान लेता है कि आलौकिक शक्ति तो नहीं पर अदृश्य शक्ति इसके पीछे जरूर कार्यरत है।

2.3.3 प्रत्यक्षवादी स्तर (Scientific Stage)

कॉम्ट का कहना है कि मानव मस्तिष्क में विकास के फलस्वरूप ज्ञान के विकास का तीसरा और अन्तिम स्तर **प्रत्यक्षवादी स्तर** है। इस स्तर का ज्ञान तथ्यों के अवलोकन और विश्लेषण पर आधारित होता है। मनुष्य सारी घटनाओं की तर्क एवं विवेक के आधार पर करता है और उसी को सत्य मानता है। जो अवलोकन और परिक्षण के आधार पर खडा उतरता है।

स्पष्टतः कल्पना अनुमान आदि का इस स्तर के चिन्तन में कोई स्थान नहीं है। बल्कि विश्व को देखने का यह बुद्धिजीवियों का विशुद्ध मार्ग है।

त्रिस्तरीय नियमों की चर्चा करते हुए कॉम्ट का कहना है कि उपयुक्त तीनों प्रकार के चिन्तन का ढंग एक ही मस्तिष्क में या एक ही समाज में अपना अस्तित्व रख सकते हैं। लेकिन तीन तरह के चिन्तन हमेशा अपन अस्तित्व बनाये रखने में सफल नहीं होते इस से साफ जाहिर होता है कि धार्मिक स्तर में भी प्रत्यक्षवादी ज्ञान था पर मात्रा कम थी और आज के प्रत्यक्षवादी युग में भी अंधविश्वास आदि मौजूद है। पर धीरे धीरे इनकी मात्रा घटती जा रही है।

कॉम्ट का कहना है कि धार्मिक स्तर पर समाज में वर्चस्व **पुरोहित और सैनिकों** का होता है। और सामाजिक संगठन परिवार के स्तर का होता है। तत्त्विक स्तर में समाज में वर्चस्व **पादरियों एवं वकीलों** में रहा है। और समाज के संगठन में जो विस्तार उसके फलस्वरूप लोगों का सम्बन्ध और उनकी जिम्मेदारी अपने प्रांत तक सीमित थी। प्रत्यक्षवादी अवस्था के विकास के साथ ही समाज में बोल बाला **पूँजीपतियों और अद्योगिक साहसियों** का होने लगा इस काल में संचार एवं यातायात के साधनों में अदभुत विकास के चलते भूमंडलीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई और आज ग्लोबल विलेज की कल्पना करने लगे हैं। आज लोगो का सम्बन्ध एवं उसका उत्तरदायित्व केवल अपने परिवार एवं अपने प्रांत तक ही सीमित नहीं बल्कि सारा विश्व समाज का अंग बन चुका है।

5.4 चिन्तन के तीन स्तर एवं सामाजिक संगठन—

कॉम्ट द्वारा प्रस्तुत चिन्तन के तीन स्तरों का नियम केवल बौद्धिक स्तर को ही प्रभावित नहीं करता, बल्कि कॉम्ट ने सामाजिक इतिहास के अध्ययन के आधार पर यह दर्शाने का भी प्रयास किया कि जैसे-जैसे समाज के चिन्तन की अवस्थाओं में परिवर्तन आता गया। वैसे-वैसे समाज के संगठन का स्वरूप भी परिवर्तित होता गया। चिन्तन की अवस्थाओं के नियम पर आधारित सामाजिक संगठन के स्वरूप में होने वाले इस परिवर्तन की चर्चा कॉम्ट ने की उसे वह प्रगतिशील परिवर्तन के रूप में स्वीकार करते हैं। सामाजिक संघटनों के स्वरूप में होने वाले विकासशील परिवर्तन का उल्लेख कॉम्ट ने राज्यों के स्वरूप के आधार पर किया है। जिसे चिन्तन के विभिन्न स्तरों के सन्दर्भ में समझा जा सकता है।

आगस्त कॉम्ट ने बतलाया हैं कि जब समाज में व्यक्ति ईश्वरीय या धार्मिक आधार पर चिन्तन करता है तब सामाजिक संरचना में राजनीतिक सत्ता का स्वरूप निरंकुश राजतंत्र के रूप में

विद्यमान रहता है इस अवस्था में व्यक्ति ये सोचता है कि प्रत्येक प्राणी को ईश्वर ने ही पैदा किया है। और उसे जिस परिस्थिति अथवा वर्ग में जन्म लिया गया है। उसे में जीवन व्यतीत करना उसका भाग्य है। व्यक्ति यह सोचता है कि राजा को ईश्वर की विशेष कृपा प्राप्त है तथा वह ईश्वर का ही प्रतिनिधि है। इसीलिए जनता स्वयं को ईश्वर के पुत्र की भांति मानती है। और ये भी मानती है कि राजा की आज्ञा ही ईश्वर की आज्ञा है। कॉम्ट का कथन है कि जब जनता राजा की आज्ञा को ईश्वरीय आदेश के रूप में मानता है। तब समाज में निरकुंश राजशाही का जन्म होता है। ऐसे समाजों में जनता राजनीति से दूर रहकर केवल राजा के आदेशों का पालन करना ही अपना नैतिक दायित्व मानती है। समाजशास्त्र के आधुनिक विचारक पारसन्स और शिल्स इस प्रेरणा को जिज्ञासात्मक प्रेरणा कहा है। जिसमें व्यक्ति केवल विश्वास के आधार पर ही कार्य करता है। पॉवेल ने इस विश्वास के आधार पर संचालित ऐसी राजनीति को संकीर्ण राजनीतिक संस्कृति कहा है।

जब व्यक्ति घटनाओं के कार्य कारण को जानने के लिए भौतिक और ईश्वरीय दोनों आधारों पर साथ-साथ चिन्तन करता है। तब ऐसी स्थिति को कॉम्ट ने तात्विक स्तर के रूप में स्वीकार किया है। चिंतन के इस स्तर एवं राजनैतिक संगठन में संबंध स्थापित करते हुये कॉम्ट ने बतलाया कि जब समाज तात्विक चिंतन के स्तर पर रहता है। तब समाज में सत्ता के स्तर पर पुरोहितवाद की स्थापना होती है। पुरोहितवाद की अवस्था में व्यक्ति अमूर्त तथ्यों अथवा सैद्धान्तिक विचारों में आस्था रखता है। व्यक्ति यह सोचने लगता है कि राज्य में राजा ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं है, परन्तु पुरोहित या पोप ही ईश्वर का प्रतिनिधि है। जब सिद्धांत रूप में व्यक्ति पुरोहित को ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार करने लगता है। तब उसमें यह विचार भी जन्म लेने लगते हैं कि राज्य के कार्य का संचालन स्वयं ईश्वर भी पुरोहित के माध्यम से करता है। तथा राजा की शक्ति भी पुरोहित के अधीन है। कॉम्ट ने पुरोहितवाद की इस अवस्था का विवरण राजनीतिक इतिहास में चर्च राज्य की अवस्था के रूप में दिया। क्योंकि पश्चिमी यूरोप में नगर राज्य की स्थापना के पश्चात ही चर्च राज्य की स्थापना हुई। भारतीय समाज की ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर भी यही कहा जा सकता है कि आदिकालीन राज्यों के बाद ईसापूर्व में कुछ ऐसे राज्यों की स्थापना हुई थी जिनमें पुरोहितों का वर्चस्व था। उदाहरण के लिए— चाणक्य और चन्द्रगुप्त काल को पुरोहितवाद के अन्तर्गत रखा जा सकता है। पुरोहितवाद अथवा पोप वाद की अवस्था में जनता निरकुंश राज्य सत्ता को अमान्य करते हुए यह मानने लगती है कि सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन का संचालन पुरोहित की सलाह के आधार पर ही होना चाहिए।

आगस्ट कॉम्ट ने चिंतन के त्रि-स्तरीय नियम के आधार पर बतलाया है कि जब समाज में व्यक्ति प्रत्यक्षवादी धरातल पर राज्य के कार्य का परीक्षण अथवा अवलोकन करता है। तब समाज की राजनैतिक व्यवस्था का स्वरूप प्रजातान्त्रिक हो जाता है। कॉम्ट प्रजातंत्र को एक बेहतर अथवा उत्तर राजनीतिक संगठन के रूप में स्वीकार करते हैं। शिल्स एवं पारसन्स ने इस स्तर की प्रेरणा को मूल्यांकित प्रेरणा के नाम से सम्बोधित करते हुए बतलाया है कि इस स्तर में समाज का संगठन विभिन्न व्यवस्थाओं के गुणों अथवा अगुणों के आधार पर निर्मित होता है। पॉवेल के अनुसार जब किसी समाज में व्यक्ति मूल्यांकित प्रेरणा से प्रभावित होकर राजनैतिक व्यवस्था से सम्बन्धित निर्णय लेते हैं तब समाज में सहभागी राजनीतिक संस्कृति का उदय होता है। आगस्ट कॉम्ट ने बतलाया कि प्रत्यक्षवादी चिंतन की अवस्था में समाज का तीव्र गति से औद्योगिकीकरण होने लगता है। जिसके साथ-साथ समाज में प्रजातान्त्रिक मूल्यों की स्थापना होती है। कॉम्ट द्वारा प्रस्तुत विचार समाज और राज्य के परस्पर संबंधों को स्पष्ट करते हैं। इन विचारों के आधार पर हम कह सकते हैं कि कॉम्ट ने त्रि-स्तरीय नियम द्वारा राजनीति एवं समाजशास्त्र के अर्न्तसंबंधों की ओर भी संकेत दिया है।

अगस्त कांस्ट के इन विचारों को निम्नलिखित तालिका के द्वारा भी समझा जा सकता है।

| ज्ञान का स्तर | समाज में वर्चस्व | सामाजिक संगठन |
|--------------------|----------------------------------|-----------------|
| धार्मिक स्तर | पुरोहित एवं सैनिकों | परिवार |
| तात्विक स्तर | पादरी एवं वकील | प्रांत या राज्य |
| प्रत्यक्षवादी स्तर | पूजीपतियों एवं औद्योगिक साहसियों | पूरा विश्व |

अतः स्पष्ट है कि आगस्त कांस्ट ने मानव ज्ञान में होने वाले ज्ञान के विकास के आधार पर सामाजिक संगठन में होने वाले उदविकासीय परिवर्तन को समझाया है। पर आगस्त कांस्ट के इस सिद्धांत की आलोचनाएं भी कम नहीं हैं।

5.5 आलोचनात्मक मूल्यांकन—

अगस्त कांस्ट वे पहले आधुनिक चिंतक हैं जिन्होंने समाजशास्त्र विषय का न केवल नामकरण किया बल्कि इसे पूर्ववर्ती विज्ञानों के अर्न्तगत महत्वपूर्ण स्थान भी दिया। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यदि हम कांस्ट का मूल्यांकन उनके कृतित्व के काल को ध्यान में रखकर करें तो उनके प्रत्येक योगदान को आलोचना की परिधि से बाहर माना जा सकता है लेकिन यदि बौद्धिक धरातल पर उनके चिंतन की व्याख्या की जाये तो ऐसे अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। जो उनके चिंतन के समक्ष आलोचना के अनेक प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं।

1. आलोचकों का यह कहना है कि कांस्ट का यह सिद्धांत उसके मौलिक चिंतन का परिणाम नहीं है। बल्कि उसने इसे आदि विद्वानों से ग्रहण किया है। अतः कांस्ट की एक कुशल समन्वयकर्ता ही कहा जा सकता है। मौलिक चिंतक नहीं।
2. आलोचकों का कहना है कि आगस्त कांस्ट के ये विचार वैज्ञानिकता कम पर दार्शनिकता अधिक लिए हुए हैं। दरअसल अगस्त कांस्ट ने कहीं कोई क्षेत्र अध्ययन नहीं किया बल्कि लोगो के संस्मरण, यात्रावृत्तांत और अन्य द्वितीयक स्रोत से प्राप्त आंकड़ो के आधार पर यह सिद्धांत प्रतिपादित कर डाला। सोरोकिन ने भी इसी आधार पर कांस्ट की आलोचना की है।
3. परेटो ने तो कांस्ट के विचारों को पूर्णतः अवैज्ञानिक एवं नहीं काम करने लायक बताया है। परेटो ने कांस्ट सहित सभी उदविकासवादियों की आलोचना करते हुए कहा है कि इन विद्वानों ने मनाव सभ्यता का अध्ययन भूत से वर्तमान की ओर करना चाहा है। जो कि अवैज्ञानिक है। परेटो के अनुसार वैज्ञानिकों को किसी भी चीज का अध्ययन ज्ञात से अज्ञात की ओर करना चाहिए। यानि वर्तमान के आधार पर भूत की व्याख्या होनी चाहिए। जबकि उदविकासीय सिद्धांतदाताओं ने अज्ञात से ज्ञात की ओर बढ़ने का प्रयास किया है जो वैज्ञानिक भावना के विरुद्ध है। इतना ही नहीं परेटो ने उदविकासीय सिद्धान्त को ही गलत बताते हुए सिन्मेटोग्राफी(Cinematography) की संज्ञा दी है। उनका कहना है। कि जिस तरह सिनेमा का एक दृश्य के बाद दूसरा दृश्य आता है उसी प्रकार कांस्ट एक अवस्था से दूसरी अवस्था को बताते हैं लेकिन ऐसा वास्तव में होता नहीं है।

4. सोरोकिन का कहना है कि उदविकासीय सिद्धांत अधेरी कोठरी में काली बिल्ली खोजने के समान है। तात्पर्य यह कि उदविकासीय सिद्धांत का अनुसरण करने पर कभी सत्य की प्राप्ति हो सकती है और कभी नहीं।
5. रेमण्ड ऐरो ने लिखा है कि "आगस्त कॉम्ट दार्शनिकों में समाजशास्त्री और समाजशास्त्रियों में दार्शनिक कहे जाते हैं।" किसी व्यक्ति की इससे बड़ी आलोचना नहीं हो सकती। रेमण्ड ऐरो ने यह बात मुख्यतः कॉम्ट की पुस्तक प्रथम सिद्धांत (First principle) के आधार पर कही है जिसमें कॉम्ट ने मानवीय एकता, मनुष्य की अवधारणा उसकी प्रकृति और व्यक्ति तथा सामूहिकता का उल्लेख किया है। यह भी सच है कि वर्तमान संदर्भ में कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित समाजशास्त्र की विषय-वस्तु एवं उसकी परिभाषा को पूर्ण रूप से मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी है। सामाजिक स्थिति की एवं गत्यात्मकता से सम्बन्धित उनकी मान्यताएँ अधूरी प्रतीत होती हैं। चिंतन के तीन स्तरों का उल्लेख करते हुए कॉम्ट इन्हें एक निश्चित क्रम में प्रस्तुत करते हैं जबकि विभिन्न समाजों में विकास की यह अवस्थाएँ न तो उतने क्रम में पायी जा सकती हैं और न ही एक ही समाज के विभिन्न समूहों में इस क्रम का कोई सामान्य रूप देखने को मिलता है। चिंतन के इन स्तरों के आधार पर सामाजिक संगठन के स्वरूपों में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन को भी कॉम्ट अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर सके।

उपयुक्त सारी चर्चाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि कॉम्ट के सिद्धांत की काफी आलोचना की गई है पर इन सारी आलोचनाओं के बावजूद समाजशास्त्र के क्षेत्र में आगस्त कॉम्ट के योगदान को नकारा नहीं जा सकता है। यह मान भी लिया जाय कि कॉम्ट एक मौलिक चिंतक नहीं थे फिर भी बिखरें हुए ज्ञान के अंशों को एक सूत्र में पिरोकर उन्होंने समाजशास्त्र को समझने का जो सार्थक प्रयास किया वह अपने आप में एक सराहनीय कदम है।

5.6 सारांश—

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि किस प्रकार मनुष्य के बौद्धिक विकास के कारण समाज क्रमशः तीन स्तर धार्मिक, तात्विक एवं वैज्ञानिक स्तरों से गुजरता है। साथ ही आगस्त कॉम्ट ने यह स्थापित किया है कि किस प्रकार एक विषय दूसरे विषय से सम्बन्धित है। समाजशास्त्र किस प्रकार अन्य विज्ञानों पर निर्भर है जो कि समाजशास्त्र को अत्यधिक जटिल बनाता है।

5.7 पारिभाषिक शब्दावली—

धार्मिक अवस्था (Theology) — आगस्त कॉम्ट के अनुसार यह ज्ञान के विकास का प्रारम्भिक स्तर है। इस अवस्था में मनुष्य अपने हरेक घटना का कारण ईश्वर तथा अलौकिक शक्ति के आधार पर देता है।

तात्विक स्तर — कॉम्ट के अनुसार यह ज्ञान के विकास का दूसरा स्तर है। इस अवस्था में मनुष्य का मस्तिष्क धार्मिक अवस्था से ज्यादा विकसित होता है। परन्तु किसी भी घटना के वैज्ञानिक कारण तक नहीं पहुंचता है।

वैज्ञानिक स्तर— कॉम्ट के अनुसार यह ज्ञान के विकास का तीसरा एवं सर्वोच्च स्तर है। इस अवस्था में मनुष्य का मस्तिष्क विकसित होता है। किसी भी घटना का वैज्ञानिक कारण पता कर लेता है।

5.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

1. ऑगस्ट कॉम्टे के अनुसार मानवीय ज्ञान तीन मुख्य अवस्थाओं से गुजरा , जो हैं— प्रत्यक्षात्मक ,तत्वमीमांसीय ,धर्मशास्त्रीय

नीचे दिये कूटों का प्रयोग करते हुए इन अवस्थाओं के उदय होने का सही क्रम चुनिए—
क. धर्मशास्त्रीय, तत्वमीमांसीय, प्रत्यक्षात्मक

ख. तत्वमीमांसीय, धर्मशास्त्रीय ,प्रत्यक्षात्मक

ग. धर्मशास्त्रीय, प्रत्यक्षात्मक, तत्वमीमांसीय

घ. प्रत्यक्षात्मक, धर्मशास्त्रीय, तत्वमीमांसीय

2. किसने कहा है कि –सामाजिक संगठन एक सामान्य सामाजिक सहमति है।

क. हर्बर्ट स्पेन्सर

ख. ऑगस्ट कॉम्टे

ग. ईमाइल दुर्खीम

घ. मैक्स वेबर

3. कॉम्टे एक नई समाज व्यवस्था का निर्माण निम्नलिखित में से किनके आधार पर करना चाहता था।

क. नैतिक एकता

ख. सामाजिक एकता

ग. मानवता का नया धर्म

घ. ऐतिहासिक अनुभव

4. ऑगस्ट कॉम्टे में समाज के अध्ययन को विभाजित किया है—

क. उप संरचना एवं अतिसंरचना में

ख. सामाजिक स्थिति शास्त्र एवं सामाजिक गतिशास्त्र में

ग. अन्तः समूह और बाध्य समूह में

घ. उपरोक्त में से कोई नहीं

5. कॉम्टे ने समाज विज्ञान को कौन सा नाम दिया था जब तक उसने सोशियोलॉजी शब्द की रचना हीं कर ली थी?

क. सोशलडियॉलोजी

ख. सोशलबायोलोजी

ग. एन्थ्रोपोलोजी

घ. सोशलफिजिक्स

6. कॉम्टे की मृत्यु कब हुई?
- क. अगस्त 15, 1851 ई०
ख. सितम्बर 5, 1857 ई०
ग. अक्टूबर 25, 1859 ई०
घ. दिसम्बर 29, 1861 ई०
7. ऑगस्त कॉम्टे को समाजशास्त्र का जनक कहा जाता है, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होंने—
- क. समाजशास्त्र की परिभाषा दी
ख. समाजशास्त्र शब्द की रचना की
ग. समाजशास्त्र के अध्ययन का वैज्ञानिक तरीका सुझाया
घ. समाजशास्त्र की पुस्तक लिखी।
8. ऑगस्त कॉम्टे ने समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग कब किया?
- क. सन् 1836 ई०
ख. सन् 1846 ई०
ग. सन् 1838 ई०
घ. सन् 1848 ई०
9. ऑगस्त कॉम्टे के अनुसार बौद्धिक विकास के प्रत्यक्ष स्तर पर किस प्रकार की सामाजिक इकाई पायी जाती है?
- क. परिवार
ख. मानवता
ग. राज्य
घ. उपरोक्त में से कोई नहीं
10. निम्नलिखित में से कॉम्टे के परिवर्तन के सिद्धान्त के अनुसार सही अनुक्रम कौनसा एक है?
धर्मशास्त्रीय, प्रत्यक्षवादी, तत्वदार्शनिक
- धर्मशास्त्रीय, तत्वदार्शनिक, प्रत्यक्षवादी
तत्वदार्शनिक, धर्मशास्त्रीय, प्रत्यक्षवादी
प्रत्यक्षवादी, तत्वदार्शनिक, धर्मशास्त्रीय
9. सूची.I को सूची.II के साथ सुमेलित कीजिये और सूचियों के नीचे दिये गये कूट की सहायता से सही उत्तर का चयन कीजिए:
- | | |
|---|--|
| <p>सूची.I</p> <p>क. अगस्त कॉम्टे ख. कार्लमार्क्स ग. हरबर्ट स्पेंसर घ. रडक्लिफ ब्राउन</p> | <p>सूची.II</p> <p>1. भौतिकवाद 2. विकासवाद 3. प्रत्यक्षवाद 4. प्रकार्यवाद 5. अस्तित्ववाद</p> |
|---|--|

कूटः

| | | | | |
|----|---|---|---|---|
| a. | A | B | C | D |
| | 3 | 1 | 2 | 4 |
| b. | A | B | C | D |
| | 4 | 2 | 1 | 5 |
| c. | A | B | C | D |
| | 3 | 2 | 1 | 4 |
| d. | A | B | C | D |
| | 2 | 1 | 5 | 4 |

10. आगस्त कॉम्ट के अनुसार समाज के विकास का उच्चतम स्तर है?

- क. तात्त्विक स्तर
 ख. धार्मिक स्तर
 ग. वैज्ञानिक स्तर
 घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं।

11. आगस्त कॉम्ट के अनुसार समाज के विकास का निम्नतम स्तर है?

- क. तात्त्विक स्तर
 ख. धार्मिक स्तर
 ग. वैज्ञानिक स्तर
 घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं।

उत्तर— 1. क 2. ख 3. ग 4. ख 5. घ 6. ख 7. ग 8. ग 9. घ 10. ख 11. क 12. ग 13. ख

5.9 संदर्भ ग्रंथ सूची—

- (1) शम्भूलाल दोशी एवं मधुसूदन त्रिवेदी, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (1997)
 रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 22-110
- (2) एस. एल. दोशी एवं पी. सी. जैन, सामाजिक विचारक (1997), सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 150-280
- (3) डा. शीबा सिद्दीकी, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (2012)

विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली, P- 30&35

(4) डा. एम. एम. लवानिया एवं शशी के. जैन, सैद्धान्तिक समाजशास्त्र (1998),

रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, P- 143

(5) एस. एस. पाण्डेय, टीएमएच, P- 11.1, 12.5

(6) डा० अफरोज एकबाल, भारत में सामाजिक परिवर्तन दशा एवं दिशा, ल्यूसेंट पटना, P 1-55

5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री—

(1) M. Francis Abraham, Modern Sociological Theory, Oxford University, Press Bombay, Calcutta, Madras (1982) —P- 10-55

(2) Sujit Kumar Choudhary, Thinkers and Theories in Sociology — P 1-20

5.11 निबंधात्मक प्रश्न—

प्रश्न— कॉम्ट के “तीन स्तरों के नियम” की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

प्रश्न— किस प्रकार समाज का त्रि-स्तरीय नियम बौद्धिकता से प्रभावित होता है।

प्रश्न— आगस्ट कॉम्ट के द्वारा बताए गए विज्ञानों के संस्तरण का वर्णन करें।

इकाई 6 – प्रत्यक्षवाद (Positivism)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 कॉम्ट के अनुसार प्रत्यक्षवादी ज्ञान प्राप्त करने के चार साधन

6.3 कॉम्ट के अनुसार प्रत्यक्षवाद के तीन विभाग

6.4 प्रत्यक्षवाद की मूल मान्यताएँ

6.5 समाजशास्त्र एक विज्ञान है।

6.6 आलोचनात्मक मूल्यांकन

6.7 सारांश

6.8 पारिभाषिक शब्दावली

6.9 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

6.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

6.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.12 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 उद्देश्य—

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान पाएँगे कि

1. प्रत्यक्षवाद क्या है?
2. किस प्रकार सामाजिक घटनाओं का अध्ययन प्रत्यक्षवादी विधि द्वारा हो सकता है?

6.1 प्रस्तावना—

फ्रांसीसी विचारक आगस्ट कॉम्ट को प्रत्यक्षवाद का जनक कहा जाता है। वस्तुतः प्रत्यक्षवाद कॉम्ट की अध्ययन पद्धति है। जो वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है। कॉम्ट का विचार है कि समग्र ब्रह्मांड 'अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमों' द्वारा व्यवस्थित तथा निर्देशित

होता है तो धार्मिक या तात्विक आधारों पर नहीं अपितु विज्ञान की विधियों द्वारा समझा जा सकता है। वैज्ञानिक विधियां निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग और वर्गीकरण की एक व्यवस्थित कार्य-प्रणाली होती है। इस प्रकार, निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग और वर्गीकरण पर आधारित वैज्ञानिक विधियों के द्वारा सब कुछ समझना और उससे ज्ञान प्राप्त करना ही प्रत्यक्षवाद है।

कॉम्टे के अनुसार प्रत्यक्षवादी प्रणाली के अन्तर्गत सर्वप्रथम—

- अध्ययन-विषय को चुनते हैं।
 - अवलोकन या निरीक्षण द्वारा उस विषय से सम्बन्धित प्रत्यक्ष होने वाले तथ्यों को एकत्रित करते हैं।
 - इसके बाद इन तथ्यों का विश्लेषण करके सामान्य विशेषताओं के आधार पर इनका वर्गीकरण करते हैं।
 - तत्पश्चात् विषय से सम्बन्धित कोई निष्कर्ष निकालते हैं।
- कॉम्टे के अनुसार, जिन घटनाओं और तथ्यों को हम प्रत्यक्ष रूप से देख या निरीक्षण कर सकते हैं, प्रत्यक्षवाद का क्षेत्र वहीं तक सीमित है, अर्थात् प्रत्यक्षवाद अज्ञात और अज्ञेय के पीछे बिना किसी वास्तविक आधार के दौड़ता नहीं है। प्रत्यक्षवादी एक समय में केवल उसी सीमा तक देखता है या केवल उन घटनाओं का अध्ययन करता है जहां तक कि उस घटना से सम्बन्धित तथ्यों का वास्तविक निरीक्षण और परीक्षण सम्भव हो और जब उस सीमा तक समस्त विषय या घटनाएं स्पष्ट हो जाती हैं तो उससे आगे और कुछ प्रयत्न नहीं किया जाता है ताकि किसी भी स्तर पर काल्पनिक चिन्तन का सहारा लेने की आवश्यकता न पड़े।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कॉम्टे के प्रत्यक्षवाद अथवा वैज्ञानिक पद्धति की प्रमुख विशेषताओं या मान्यताओं को निम्न रूपों में देखा जा सकता है—

- प्रत्यक्षवाद की मान्यता है कि जिस प्रकार प्राकृतिक घटनाएं आकस्मिक नहीं होती बल्कि निश्चित नियमों के अनुसार घटित होती हैं उसी प्रकार सामाजिक घटनाएं भी अनायास घटित नहीं होती। प्रकृति का एक अंग होने के कारण समाज में सामाजिक घटनाएं भी कुछ निश्चित नियमों के आधार पर घटित होती हैं और वास्तविक निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग द्वारा इन नियमों को खोजा जा सकता है।
- प्रत्यक्षवाद वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही नहीं, अपितु वैज्ञानिक कार्यप्रणालीय से भी सम्बन्धित होता है। अर्थात् प्रत्यक्षवाद के अन्तर्गत घटनाओं का अध्ययन मनमाने ढंग से नहीं किया जाता। इसके लिए सुनिश्चित वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया जाता है। इस वैज्ञानिक कार्यप्रणाली के अन्तर्गत सर्वप्रथम अध्ययन-विषय का चुनाव, फिर

उस विषय से सम्बन्धित तथ्यों का वास्तविक निरीक्षण के आधार पर संकलन, संकलित तथ्यों का पुनः परीक्षण, फिर उनका वर्गीकरण किया जाता है और तब अन्त में अध्ययन विषय से सम्बन्धित कोई निष्कर्ष निकालते हैं।

- प्रत्यक्षवाद अपने को धार्मिक व दार्शनिक विचारों से दूर रखता है और अपने को वैज्ञानिक अध्ययन प्रणाली के माध्यम से वास्तविक ज्ञान से सम्बन्धित मानता है। वह किसी भी निरपेक्ष विचार को स्वीकार नहीं करता क्योंकि सामाजिक जीवन में परिवर्तन स्वाभाविक है। इस अर्थ में, प्रत्यक्षवाद वास्तविक निरीक्षण, परीक्षण व प्रयोग द्वारा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति पर बल देता है।
- प्रत्यक्षवाद का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है और वह स्वयं 'विज्ञान' है। वह स्वयं-निरीक्षण, परीक्षण व प्रयोग को आधार मानकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपना अध्ययन-कार्य पूरा करता है।
- कॉम्ट का प्रत्यक्षवाद उपयोगितावादी विज्ञान है और उस रूप में विश्वास करता है कि प्रत्यक्षवाद के माध्यम से प्राप्त यथार्थ ज्ञान को सामाजिक पुर्ननिर्माण के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।
- प्रत्यक्षवाद का ऐसी किसी घटना से कोई सम्बद्ध नहीं होता जिसे हम प्रत्यक्ष रूप में देख या निरीक्षण नहीं कर सकते हैं। प्रत्यक्षवाद प्रत्यक्ष-योग्य या वास्तविक रूप में निरीक्षण-योग्य घटनाओं तक ही सीमित होता है। प्रत्यक्षवाद अज्ञात और अप्रत्यक्ष के पीछे बिना किसी वास्तविक आधार के नहीं दौड़ता है।
- अगस्त कॉम्ट ने समाजशास्त्र को मानवता के वास्तविक विज्ञान के नाम से सम्बोधित किया है। उनके मतानुसार समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं के अध्ययन का विज्ञान है तथा यह अवलोकन और तुलनात्मक पद्धतियों के द्वारा सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है। कॉम्ट ने बतलाया कि विज्ञान की आधारभूत आवश्यकता उसकी वैज्ञानिक पद्धतियां हैं जिनमें अवलोकन एवं परीक्षण अथवा तुलनात्मक अध्ययन की पद्धतियां ही महत्वपूर्ण हैं। समाज की दो विभिन्न स्थितियों (सामाजिक स्थितिकी एवं सामाजिक गत्यात्मकता) का उल्लेख करते हुए कॉम्ट ने बतलाया कि समाजशास्त्र सामाजिक स्थितिकी से सम्बद्ध सामाजिक संरचना के विभिन्न तत्वों का अवलोकन करता है। तथा सामाजिक गत्यात्मकता के अध्ययन के समय अवलोकन और तुलनात्मक पद्धतियों का प्रयोग करता है।
- कॉम्ट ने उन्नीवसीं सदी के समाज को प्रत्यक्षवादी समाज के रूप में स्वीकार करते हुए इसे एक बेहतर समाज की संज्ञा दी है। उन्होंने बतलाया कि समाजशास्त्र भी प्रत्यक्षवादी पद्धति से समाज की घटनाओं का अध्ययन करता है। इसीलिए समाजशास्त्र एक विज्ञान है।

- समाजशास्त्र की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए कॉम्ट ने समाजशास्त्र और प्राणी विज्ञान की तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत की। कॉम्ट ने बतलाया कि जिस प्रकार प्राणी विज्ञान जीवित प्राणियों का अध्ययन करता है। उसी प्रकार समाजशास्त्र सामाजिक सावयव अथवा सावयवी संरचना का अध्ययन करता है। कॉम्ट ने प्राणिशास्त्र की तुलना में समाजशास्त्र को एक **अमूर्त विज्ञान** के रूप में स्पष्ट किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि समाजशास्त्र में आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं वैधानिक सभी प्रकार की घटनाओं का अध्ययन किया जा सकता है। कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित इस मान्यता के आधार पर हम यह समाजशास्त्र एक **समन्वयात्मक विज्ञान** है। समन्वयात्मक विज्ञान से कॉम्ट का तात्पर्य यह है कि समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के किसी एक पक्ष का अध्ययन नहीं करता बल्कि यह मानव जीवन के समस्त सामाजिक पक्षों का अध्ययन समग्र रूप में करता है।
- विज्ञानों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कॉम्ट ने लिखा है विज्ञान की एक प्रमुख विशेषता इसमें भविष्यवाणी करने की क्षमता का होना है। समाजशास्त्र की विशेषताओं की चर्चा करते हुए कॉम्ट ने बतलाया कि प्रत्यक्षवादी पद्धति के द्वारा सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करके समाजशास्त्र जिन नियमों का निर्धारण करता है वे वैज्ञानिक नियम ही समाजशास्त्र को **भविष्यवक्ता विज्ञान** के रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं। कॉम्ट ने समाजशास्त्र को एक **व्यावहारिक विज्ञान** के रूप में स्वीकार किया है। उनका कथन है कि समाजशास्त्र का उपयोग समाज के विकास और मानवता के कल्याण के लिए होना चाहिए इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने समाजशास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान बनाने का सुझाव दिया और इसे सामाजिक दर्शन से अलग माना।
- आगस्त कॉम्ट समाजशास्त्र को सदैव एक विज्ञान मानते रहे हैं और आपने तो इसे 'विज्ञानों की रानी' की संज्ञा दी। वास्तव में किसी विषय की विज्ञान होना या विज्ञान माना जाना प्रतिष्ठा-सूचक था। अतः कुछ समाजशास्त्री समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। ऐसा प्रयत्न करने वाले विद्वानों में दुर्खीम, मैक्स वेबर तथा परेटो, आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।
- प्रत्यक्षवाद के दृष्टिकोण के अन्तर्गत वास्तविक घटनाओं की विवेचना की जाती है। कोई भी विज्ञान इस बात पर विचार नहीं करता कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है अथवा क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए। वह तो घटनाओं या तथ्यों का यथार्थ चित्रण करता है, वे जिस रूप में हैं उनका ठीक वैसा ही चित्रण करता है, 'क्या है' का ही उल्लेख करता है। उदाहरण के रूप में, विज्ञान तो संयुक्त परिवार प्रथा या जाति-व्यवस्था का प्राप्त तथ्यों के आधार पर ठीक उसी

रूप में उल्लेख करता है जिस रूप में वे हैं, न कि यह बताने का प्रयत्न करता है कि वे अच्छी हैं यह बुरी।

- कोई भी विषय इस कारण विज्ञान माना जाता है कि वह 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा' बताने में अर्थात् भविष्यवाणी करने में समर्थ है। अन्य शब्दों में, वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से संचित ज्ञान भण्डार के आधार पर भविष्य की ओर संकेत करने की प्रत्येक विज्ञान की क्षमता है। उदाहरण के रूप में समाज में होने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखकर समाजशास्त्र यह बता सकता है कि भविष्य में सामाजिक व्यवस्था का रूप क्या होगा, जाति-व्यवस्था किस रूप में पाये जायेंगे। समाजशास्त्र के मौजूदा ज्ञान के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राकृतिक विज्ञानों के समान यह भी भविष्यवाणी करने में काफी सीमा तक समर्थ है।
- प्रत्यक्षवाद में वस्तुनिष्ठता पर विशेष बल दिया जाता है। बिना वस्तुनिष्ठता के वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालना किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। वस्तुनिष्ठता का तात्पर्य है-घटनाओं का अध्ययन ठीक उसी रूप में करना जिस रूप में वे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करते हुए अध्ययनकर्ता को प्रत्येक स्तर पर इस बात की विशेष सावधानी रखनी होती है कि कहीं उसके स्वयं के पूर्वाग्रह, विचार, भावनाएं, पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण आदि अध्ययन में बाधक नहीं बन जायें। उसे तो पूर्णतः निष्पक्ष(वस्तुनिष्ठ) होकर तथ्यों या घटनाओं का यथार्थ चित्रण करना है, निष्कर्ष निकालने हैं, प्राक्कल्पना की सत्यता या असत्यता को प्रमाणित करना है।
- समाज-विज्ञान भी भौतिकशास्त्र या रसायन शास्त्र के समान अपने सिद्धांतों या नियमों की परीक्षा करने में सक्षम है। इनमें वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से तथ्य एकत्रित किये जाते हैं और इस पद्धति से प्राप्त तथ्यों की प्रमुख विशेषता यह है कि इनकी प्रामाणिकता की जांच की जा सकती है समाज-विज्ञानों में सिद्धांतों की जांच करना वास्तव में सम्भव है। उदाहरण के रूप में, तथ्यों के आधार पर प्राप्त इस निष्कर्ष की कि टूटे परिवार बाल-अपराध के लिए काफी सीमा तक उत्तरदायी हैं, अलग-अलग स्थानों पर परीक्षा और पुनर्परीक्षा की जा सकती है। समाजशास्त्र इस कारण भी विज्ञान माना जाता है कि यह 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा' बताने में अर्थात् भविष्यवाणी करने में समर्थ है। अन्य शब्दों में, इस शास्त्र में अपने वर्तमान ज्ञान-भण्डार के आधार पर भविष्य की ओर संकेत करने की क्षमता है। समाज में वर्तमान में होने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखकर समाजशास्त्र यह बता सकता है कि भविष्य में सामाजिक व्यवस्था का रूप क्या होगा, जाति-व्यवस्था किस रूप में रहेगी तथा परिवारों के कौन से प्रकार विशेष रूप से पाये जायेंगे। समाजशास्त्र के मौजूदा ज्ञान के आधार पर कहा जा सकता है कि

प्राकृतिक विज्ञानों के समान यह भी भविष्यवाणी करने में काफी सीमा तक समर्थ है।

- प्रत्यक्षवाद अथवा वैज्ञानिक पद्धति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह तर्क पर आधारित है। तर्क तथ्य और विवेक से जुड़ा हुआ है। किसी भी बात को बुद्धिमत्तापूर्वक, प्रमाणित या अप्रमाणित किया जा सकता है, इसके लिए तर्क देना आवश्यक होता है, साथ ही आवश्यकतानुसार तथ्य भी दिये जाते हैं। वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्गत सर्वप्रथम तथ्यों के संकलन के लिए पद्धतियों एवं उपकरणों के चुनाव पर जोर दिया जाता है जो तर्क-संगत हों, तार्किकता पर आधारित हो। साथ ही इस पद्धति के अन्तर्गत संकलित तथ्यों का विश्लेषण भी तार्किकता के आधार पर किया जाता है।
- असम्बद्ध या बिखरे हुए आंकड़ों या तथ्यों के आधार पर कोई वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। सही निष्कर्ष निकालने के लिए यह आवश्यक है कि प्राप्त तथ्यों को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध किया जाए। इसके लिए तथ्यों को समानता के आधार पर विभिन्न वर्गों में बांटा जाता है। यह कार्य वर्गीकरण के अन्तर्गत आता है इसके पश्चात तथ्यों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया जाता है। किसी भी विषय को विज्ञान मानने का प्रमुख कारण यह है कि उसमें सही निष्कर्षों तक पहुंचने के लिए तथ्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया जाता है। समाजशास्त्र भी भौतिकशास्त्र या रसायनशास्त्र के समान अपने सिद्धान्त या नियमों की परीक्षा एवं पुनर्परीक्षा करने में सक्षम है। इस शास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से तथ्य एकत्रित किये जाते हैं और इस पद्धति से प्राप्त तथ्यों की प्रमुख विशेषता यही है कि इनकी प्रामाणिकता की जांच की जा सकती है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की जांच करना वास्तव में सम्भव है उदाहरण के रूप में, तथ्यों के आधार पर प्राप्त इस निष्कर्ष की कि टूटे परिवार बाल-अपराध के लिए काफी सीमा तक उत्तरदायी हैं, अलग-अलग स्थानों पर परीक्षा और पुनर्परीक्षा की जा सकती हैं।
- प्रत्यक्षवाद अथवा वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्गत घटनाओं, तथ्यों और विभिन्न समस्याओं के कार्य-कारण सम्बन्धों को जानने का प्रयत्न किया जाता है, विज्ञान तो किसी घटना या समस्या के पीछे छिपे कारणों की खोज करता है। वह तो यह मानकर चलता है कि कोई भी घटना जादुई चमत्कार से घटित नहीं होकर कुछ विशिष्ट कारणों से घटित होती है। जिनका पता लगाना वैज्ञानिक का दायित्व है। कार्ल मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त एवं दुर्खीम का आत्महत्या का सिद्धान्त कार्य-कारण के सह-सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं। समाजशास्त्र वैज्ञानिक पद्धति को काम में लेता हुआ जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, वे सार्वभौमिक प्रकृति के

होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि परिस्थितियां समान रहे तो समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विभिन्न समाजों और कालों में खरे उतरते हैं। उदाहरण के रूप में यह सिद्धान्त सार्वभौमिक रूप से ठीक पाया गया है कि पारिवारिक विघटन सामाजिक विघटन पर आधारित है।

- प्रत्यक्षवाद अथवा वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से कार्य-कारण सम्बन्धों की विवेचना की जाती है, तथ्यों या घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात किये जाते हैं, वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया जाता है और तत्पश्चात् सामान्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इन निष्कर्षों के आधार पर ही सिद्धान्त या वैज्ञानिक नियम बनाये जाते हैं। समाजशास्त्र को विज्ञान मानने का एक अन्य आधार अनुसन्धानकर्ता द्वारा तथ्यों के संकलन हेतु प्रत्यक्ष निरीक्षण और अवलोकन करता है। समाजशास्त्र में काल्पनिक या दार्शनिक विचारों को कोई स्थान नहीं दिया जाता। इसमें तो अध्ययनकर्ता स्वयं घटना-स्थल पर पहुंचकर घटनाओं का निरीक्षण और तथ्यों का संकलन है। यदि समाजशास्त्री को बाल-अपराध अथवा वेश्यावृत्ति की समस्या का अध्ययन करना है तो वह इनसे सम्बन्धित तथ्यों को स्वयं घटनाओं का अवलोकन करते हुए एकत्रित करेगा। असम्बद्ध या बिखरे हुए आंकड़ों या तथ्यों के आधार पर कोई वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। सही निष्कर्ष निकालने के लिए यह आवश्यक है कि प्राप्त तथ्यों को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध किया जाय। इनके लिए तथ्यों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया जाता है। समाजशास्त्र को विज्ञान मानने का एक प्रमुख कारण यह है कि इसमें सही निष्कर्षों तक पहुंचने के लिए तथ्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया जाता है। अन्य शब्दों में समाजशास्त्र में वास्तविक घटनाओं की विवेचना की जाती है। यह शास्त्र इस बात पर विचार नहीं करता कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है अथवा क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए। यह तो घटनाओं या तथ्यों का यथार्थ चित्रण करता है, वे जिस रूप में हैं, उनका ठीक वैसा ही चित्रण करता है। यह शास्त्र तो 'क्या है' का ही उल्लेख करता है। उदाहरण के रूप में, वह संयुक्त परिवार प्रथा या जाति-व्यवस्था का प्राप्त तथ्यों के आधार पर ठीक उसी रूप में उल्लेख करता है जिस रूप में वे हैं न कि यह बताने का प्रयत्न कि वे अच्छी हैं या बुरी।
- समाजशास्त्र तथ्यों के संकलन के लिए वैज्ञानिक पद्धति को काम में लाते हैं। मूर्त और अमूर्त सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के लिए समाजशास्त्र विभिन्न वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग करता है। उदाहरण के रूप में, समाजशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने या तथ्य एकत्रित करने हेतु समाजमिति, अवलोकन पद्धति, अनुसूची तथा प्रश्नावली पद्धति, सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, सांख्यिकीय पद्धति, साक्षात्कार पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, आदि का प्रयोग किया जाता है। इनमें

से एकाधिक पद्धतियों को काम में लेते हुए सामाजिक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। वैज्ञानिक पद्धति के विभिन्न चरणों का उल्लेख है। इन्हीं चरणों से गुजरकर समाजशास्त्रीय ज्ञान, सामाजिक तथ्य प्राप्त किये जाते हैं। समाजशास्त्र 'क्या है' का वर्णन करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता है। इसमें तो घटनाओं, तथ्यों और विभिन्न समस्याओं के कारण सम्बन्धों को जानने का प्रयत्न किया जाता है। यह शास्त्र तो किसी घटना या समस्या के पीछे छिपे कारणों की खोज करता है। यह तो यह मानकर चलता है कि कोई भी घटना जादुई चमत्कार से घटित नहीं होकर कुछ विशिष्ट कारणों से घटित होती है जिनका पता लगाना समाजशास्त्री का दायित्व है। कार्ल मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त एवं दुर्खीम का आत्महत्या का सिद्धान्त कार्य-कारण के सह-सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं।

- समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं मानने वाले विद्वानों का कहना है कि यह विज्ञान कैसे हो सकता है, जबकि इसके पास कोई प्रयोगशाला नहीं है, जब यह अपनी विषय-सामग्री मापने में समर्थ नहीं है और जब यह भविष्यवाणी भी नहीं कर सकता है। साथ ही उनका यह भी कहना है कि सामाजिक प्रघटनाओं की स्वयं की कुछ ऐसी आन्तरिक सीमाएं हैं जो समाजशास्त्र को एक विज्ञान का दर्जा दिलाने में बाधक हैं। यही बात अन्य सामाजिक विद्वानों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस सम्बन्ध में **बाटोमोर** ने लिखा है, "सामाजिक विज्ञानों की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध एक सबल तर्क यह दिया गया है कि ये विज्ञान प्राकृतिक नियम से मिलती-जुलती कोई चीज पैदा नहीं कर पाये हैं।" समाजशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ थोड़े से समाजशास्त्रियों का कहना है कि इसे एक पृथक अनुशासन या विषय मानने के बजाय इतिहास या राजनीतिशास्त्र की शाखा मानना ज्यादा उपयुक्त है। **सी.डब्ल्यू. मिल्स** ने समाजशास्त्र को विज्ञान मानने की अपेक्षा एक क्राफ्ट मानने का तर्क दिया है। **राबर्ट बीरस्टीड** का कहना है, "समाजशास्त्र का उचित स्थान केवल विज्ञानों में ही नहीं है, वरन् मानवीय मस्तिष्क को स्वतन्त्र बनाने वाले कला के विषयों में भी स्पष्ट है।" स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की प्रकृति के सम्बन्ध में विवाद पाया जाता है। कुछ लोग इसे विज्ञान मानते हैं, जबकि कुछ अन्य ऐसा नहीं मानते।
- समाजशास्त्र एक विज्ञान है और उसकी प्रवृत्ति वैज्ञानिक है। इतना अवश्य है कि समाजशास्त्र उतना निश्चित विज्ञान नहीं है जितने निश्चित प्राकृतिक या भौतिक विज्ञान हैं। इसी कारण समाजशास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान नहीं मानकर एक विशुद्ध या सैद्धान्तिक विज्ञान माना जाता है। **स्टीवर्ट** एवं **ग्लिन** ने लिखा है कि समाजशास्त्र में वे सभी विशेषताएं पायी जाती हैं जो एक विज्ञान के लिए आवश्यक हैं। ये विशेषताएं हैं- ज्ञान में वृद्धि, वैज्ञानिक विधि द्वारा ज्ञान का संचय, सामान्य

नियमों का प्रतिपादन, नियमों की व्यावहारिकता, नियमों की सहायता से अपने अध्ययन क्षेत्र का विस्तार। ये सभी विशेषताएं समाजशास्त्र में भी मौजूद हैं, अतः यह भी एक विज्ञान है और इसकी प्रकृति वैज्ञानिक हैं

विद्वानों के उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि विज्ञान का सम्बन्ध किसी विशिष्ट प्रकार की विषय-सामग्री से नहीं होकर वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त किये गये क्रमबद्ध व व्यवस्थित ज्ञान से है।

- कॉम्टे का प्रत्यक्षवाद केवल 'विज्ञान' ही नहीं 'धर्म' भी है और वह है मानवता का धर्म। यह प्रत्यक्षवादी भावना से प्रेरित मानवता के धर्म के आदर्शों पर आधारित एक नवीन समाज व्यवस्था की स्थापना को अपना प्रमुख उद्देश्य मानता है। प्रत्यक्षवाद से वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है, वास्तविक ज्ञान समाज में बौद्धिक व नैतिक एकता को पनपाने में सहायक होता है और इस प्रकार की एकता से मानव कल्याण सहज हो सकता है। इसी रूप में प्रत्यक्षवाद मानवता का 'धर्म' है क्योंकि धर्म का भी अन्तिम व परम उद्देश्य मानव-कल्याण है।

स्पष्ट है कि प्रत्यक्षवाद का प्रथम और सर्वप्रमुख उद्देश्य धार्मिक तथा तात्त्विक अवधारणाओं या विचारों से मानव-मस्तिष्क को मुक्त करके सामाजिक अध्ययन व अनुसंधान को वैज्ञानिक स्तर पर लाना है। प्रत्यक्षवाद प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति को सामाजिक अध्ययन में प्रयोग कर सामाजिक विज्ञान को भी उतना ही यथार्थ बनाता चाहता है जितना की प्राकृतिक विज्ञान। इस प्रकार, प्रत्यक्षवाद वह वैज्ञानिक साधन बन जाता है। जिसके द्वारा मानव का बौद्धिक विकास सम्भव और सरल होगा। बौद्धिक विकास के बिना सामाजिक प्रगति भी असम्भव है। अतः प्रत्यक्षवाद सामाजिक प्रगति में भी सहायक होगा क्योंकि सामाजिक तथ्यों के निरीक्षण, परीक्षण तथा वर्गीकरण की व्यवस्थित कार्यप्रणाली के द्वारा सामाजिक प्रगति को सम्भव बनाया जा सकेगा। साथ ही, सामाजिक पुर्ननिर्माण या पुनर्संगठन के लिए एक आधार तैयार कर सकेगा।

“ Positivism is that movement in thought which rests all interpretation of the world exclusively on experience.”

उपर्युक्त वाक्य Don Mantindale ने अपनी पुस्तक में प्रत्यक्षवाद की चर्चा करते हुए लिखा है जिससे स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्षवाद वह विचारधारा है जो किसी भी घटना की व्याख्या, अनुमान या कल्पना के आधार पर नहीं करते बल्कि इसके अन्तर्गत घटनाओं का विश्लेषण अनुभव के आधार पर किया जाता है। स्पष्टतः प्रत्यक्षवाद में अनुमान कल्पना या तात्त्विक विचारों का कोई स्थान नहीं होता है। इसके घटनाओं का विश्लेषण अनुभव अर्थात् अवलोकन परिश्रम एवं वर्गीकरण के आधार पर किया जाता है। यानि प्रत्यक्षवादी प्रणाली के अन्तर्गत

सर्वप्रथम अध्ययन विषय को चुना जाता है। फिर अवलोकन द्वारा उस विषय से संबंधित प्रत्यक्ष होने वाले समस्त तथ्यों को एकत्रित किया जाता है। इन तथ्यों का विश्लेषण कर सामान्य विशेषताओं के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है। अन्ततः इसके आधार पर विषय सम्बन्धी निष्कर्ष निकाला जाता है। स्पष्टतः अवलोकन परीक्षण एवं वर्गीकरण प्रत्यक्षवाद के आधार स्तम्भ हैं।

प्रत्यक्षवादी विचारधारा अनेक प्राचीन दार्शनिकों एवं विचारकों की कृतियों में देखने को मिलती है। ग्रीक डेमोक्रीटस से लेकर एवं आदि विद्वानों ने भी इसकी चर्चा की है। Comte, Hume, Kant, Gall एवं Francis Bacon ने प्रत्यक्षवाद की चर्चा की की। पर उनका प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण कारण और प्रभाव पर आधारित न होकर विवेक पर आधारित था। समाजशास्त्री जगत में प्रत्यक्षवाद का पूर्णरूपेण विकास फ्रान्सीसी विचारक एवं समाजशास्त्र के जनक August Comte की रचनाओं में हुआ। अपने प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण की चर्चा कॉम्ट ने अपनी कृतियाँ Positive Philosophy एवं Positive Polity में की है।

कॉम्ट द्वारा दी गई प्रत्यक्षवादी की चर्चा बहुत सुक्ष्म और सीमित नहीं है। उसने इस धारणा में ही अपने प्रमुख समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों जैसे ज्ञान के विकास के त्रि-स्तरीय नियम, विज्ञान, का वर्गीकरण, समाजशास्त्र की व्याख्या समाजिक पुनर्निर्माण का सिद्धान्त आदि की चर्चा की है। इस तरह स्पष्ट है कि प्रत्यक्षवाद कॉम्ट की रचनाओं का केन्द्र बिन्दु है।

कॉम्ट औद्योगिक क्रांति के बाद विशेषकर फ्रान्सीसी राज्य क्रांति के बाद जन्म लेने वाले ऐसे विद्वान में से थे जिन्हें तत्कालीन समास्याओं ने विशेषकर सामाजिक व्यवस्था ने आकर्षित किया। औद्योगिक क्रांति के बाद तत्कालिक समाज में जो बिखराव आया, नैतिक मूल्यों में जो गम्भीर परिवर्तन हुए और इसके साथ ही साथ सामाजिक सम्बन्धों में जो परिवर्तन हुए उसे कॉम्ट ने गम्भीर समस्या के रूप में देखा। उसने विश्लेषणोपरान्त पाया कि सामन्तवादी व्यवस्था का अन्त हो रहा था और पूंजीवादी व्यवस्था जन्म ले रही है। फलतः समाज में अशान्ति एवं अराजकता फैली हुई थी। Comte एवं Saint Simon दोनों ने ही इस समस्या से निजात पाने के लिये विश्लेषण किया तथा योजनाओं रखी। उसी का परिणाम यह प्रत्यक्षवाद है।

इस तरह कॉम्ट का मुख्य लक्ष्य नये समाज के निर्माण का था और उसके सम्पूर्ण रचना का सम्बन्ध इस लक्ष्य से था। उसका विश्वास था कि जब तक सामाजिक समस्याओं का वास्तविक आधार ज्ञात नहीं होगा तब तक समाज का पुनर्निर्माण व्यवहारिक रूप से सफल नहीं हो सकता आगे कॉम्ट जोरदार ढंग से कहता है कि सामाजिक समस्याओं का खोज प्रत्यक्षवादी ढंग से ही किया जा सकता है। इस तरह प्रत्यक्षवाद की चर्चा एक अध्ययन पद्धति

के रूप में करता है। तो नये समाज के निर्माण के लिए एक जीवन दर्शन पर भी जोर देता है।

6.2 कॉम्ट ने अनुसार प्रत्यक्षवादी ज्ञान प्राप्त करने के चार साधन

- अवलोकन (Observation)
- परीक्षण (Experimentation)
- तुलना (Comparison)
- ऐतिहासिक विधि (Historical)

प्रत्यक्षवादी विचारधारा के अन्तर्गत किसी भी चीज का अवलोकन किया जाता है अवलोकन द्वारा प्राप्त तथ्यों का परीक्षण किया जाता है। ऐतिहासिक विधि का प्रयोग वैसी स्थिति में लाभदायक है जब प्राचीन काल की बात जाननी हो ।

Timashelf ने Historical method” के बारे में लिखा है।

“ By Historical method Comte meant the Search for general Laws of the Continuous Variation by human opinion.”

ऐतिहासिक विधि मनुष्य के बौद्धिक विकास में लगातार हो रहे परिवर्तन को खोजने में मददगार है।

इस तरह हम देखते हैं कि कॉम्ट का प्रत्यक्षवाद एक वैज्ञानिक विधि है। प्रत्यक्षवाद का यह मानना है कि किस प्रकार प्राकृतिक घटनाएँ आकस्मिक नहीं होती हैं। उसी तरह सामाजिक घटनाएँ भी बिना कारण नहीं होती हैं। प्रत्यक्षवाद समाज को कुछ निश्चित सामाजिक नियमों से संचालित तथ्य के रूप में स्वीकार करता है। जिसका अध्ययन प्रत्यक्षवादी विधि से किया जाता है।

प्रत्यक्षवाद एक वैज्ञानिक विधि है। लेकिन एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या यह विधि शुरू से ही थी। कॉम्ट स्पष्ट रूप से कहता है नहीं। इस सम्बंध में Raymond Aron ने अपनी पुस्तक “Main Currents’s in Social thought ” में लिखा है। **“ Positivism can not be a Sportaneous Philosphy, it can only be a later day philosophy”**

प्रत्यक्षवाद आरम्भिक जीवन दर्शन नहीं बल्कि बाद का जीवन दर्शन है। कॉम्ट के अनुसार मनुष्य का दिमाग Theological Stage में थे इससे सभी चीजों को अदृश्य ईश्वर

की कृपा का फल मानकर सन्तोष कर लिया जाता था। बाद का स्तर Metaphysical आता है। जिसमें Super Natural force की Abstract force जगह को विश्लेषण का आधार माना जाता है। तीसरी अवस्था Positive Stage है। जिसे वैज्ञानिक स्तर पर अध्ययन किया जाता है। स्पष्टतः प्रत्यक्षवादी विश्लेषण बाद की उपज है। लेकिन Positive Stage में सभी चीज एक Positive साथ नहीं हो जाती जैसे जैसे वस्तु Complex होता जाता है। उसकी generality घटती जाती है वह विज्ञान बाद में उतना ही Positive हो पाता है।

विज्ञानों की चर्चा करते हुए कॉम्ट ने स्पष्टतः कहा है कि सबसे पहले Mathematics उसके बाद Astronomy उसके बाद Physics और फिर Bio तथा अन्त में Sociology का एक Positive Science के रूप में उदय हुआ स्पष्टतः Positivism जो उससे सामाजशास्त्र के लिए मुख्य रूप से चर्चा की भी बाद की प्रक्रिया है।

प्रत्यक्षवाद एक जीवन दर्शन या मानव धर्म भी है। प्रत्यक्षवाद परार्थ भावना से प्रेरित मानवता के धर्म पर आधारित नवीन समाज व्यवस्था की स्थापना को प्रमुख उद्देश्य के रूप में स्वीकार करता है। नए सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य के शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक गुणों के उत्कर्ष के लिए प्रत्यक्षवादी शिक्षा दी जाएगी। इसके लिए सामाजिक जीवन को निर्देशित करने वाले कुछ नियमों का संगठन करना आवश्यक है। नैतिक शिक्षा द्वारा व्यक्तियों को उनके कर्तव्यों का एहसास कराया जाता है। ताकि वे परार्थ की भावना से प्रेरित होकर कार्य करें। भौतिक शिक्षा मानवीय क्रम पर आधारित है। बौद्धिक शिक्षा का सम्बन्ध चिन्तन और विवेक से है। नैतिक शक्ति प्रेम पर आधारित होता है। अर्थात् नये समाज में प्रेम का काफी महत्व होता है।

कॉम्ट की उपर्युक्त शक्तियां मानवीय क्रियाओं के तीन पक्षों का प्रतीक है। मनुष्य की आर्थिक और बौद्धिक क्रियाएं उसे भौतिक प्रगति की ओर ले जाती है। लेकिन साथ ही साथ स्वार्थपरकता की ओर भी प्रेरित करती है। फलस्वरूप समाज में शोषण और असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस असंतुलन की स्थिति से छुटकारा पाने के लिए नैतिक शक्ति का बहुत बड़ा महत्व है। यह शक्ति भावना पर आधारित है। अतः परहित की प्रेरणा देती है। अतः कॉम्ट का कहना है। कि क्रिया बुद्धि और नैतिकता का समन्वय ही मानव जीवन की पूर्णता है। इस तरह हम देखते हैं। कि प्रत्यक्षवाद जीवन को सुखमय बनाने वाला एक दर्शन भी है। इसमें उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बल या हिंसात्मक कारवाइयों की चर्चा नहीं की गई है। बल्कि शिक्षा और उपदेश के द्वारा ही Positivism के उद्देश्यों को प्राप्त किया जाता है। स्पष्टतः

Positivism एक समाज के नष्ट कर दूसरे समाज का सृजन नहीं किया जाता बल्कि परिवर्तन लाकर सामाजिक पुर्ननिर्माण का ध्यान रखा जाता है।

J.H Bridge ने कॉम्ट द्वारा दिये गये मत को स्पष्ट लिखा है।

“ Positivism Is A Scientific Doctrins Which Aims At Continuous Increase Of The Material Intellectual And Moral Well Being Of All Human Societies.

इस व्याख्या से स्पष्ट है कि इसके दो मुख्य आधार हैं। एक ओर यह वैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित है तो दूसरी ओर इसका नैतिक मूल्यों से भी गहरा सम्बन्ध है। इसका उद्देश्य मानव समाज में नैतिक, मानसिक तथा भौतिक विकास लाना है। इसका कारण यह है कि कॉम्ट ने सिर्फ भौतिक पक्ष पर ही बल नहीं दिया बल्कि सर्वक्षेत्रीय विकास का मत देते हुए कहा कि भौतिकता और नैतिकता दोनों में समन्वय होना आवश्यक है। इन दोनों में अनुकूलन बनाये रखने के लिए बौद्धिकता का होना अनिवार्य है।

6.3 कॉम्ट ने अनुसार प्रत्यक्षवाद (Positivism) के तीन विभाग

- **Philosophy of Sciences,**
- **Scientific Religion or**
- **Positive Politics,**

Philosophy of Science का सम्बन्ध इस बात से है कि मनुष्य को अपनी स्थिति में सुधार लाने के लिए अपनी शक्ति और प्रयासों पर आधारित होना चाहिए। Super Natural force पर आधारित नहीं रहना चाहिए। इस प्रकार “ Philosophy of Science” यह शिक्षा देती है। कि मानव आत्म चिन्तन से ही सभी क्षेत्रों में विकास ला सकता है। यानि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। इस संबंध में Comte ने hierarchy of Science की चर्चा की है।

Science Religion or Ethics के क्षेत्र में अपना विचार देते हुए कॉम्ट ने यह बताया है कि Scientific Religion धार्मिक विश्वासों या Super Natural force से सम्बन्धित नहीं होता बल्कि इसे मानवता का धर्म कहा जाता है। इस धर्म का उद्देश्य वैज्ञानिक ढंग से भौतिक मानसिक तथा नैतिक क्षेत्रों में विकास लाना है। साथ ही साथ **Scientific Religion** का उद्देश्य प्रेम, सेवा, भलाई की भावना को जाग्रत रखना है।

कॉम्ट ने जो सामाजिक पुननिर्माण का सिद्धांत दिया है। वह इसी नियम पर आधारित है।

Positive Politics की चर्चा कॉम्ट ने अपनी पुस्तक Positive Politics में की है। Positive Politics राज्यों की नीति से भिन्न होता है। इसका उद्देश्य युद्ध को रोकना होता है। Positive Politics अन्तराष्ट्रीय क्षेत्रों में सहयोग बनाये रखने के लिए कार्य करती है।

6.4 प्रत्यक्षवाद की मूल मान्यताएँ (Basic Assumptions of positivism)

आगस्ट कॉम्ट ने प्रत्यक्षवाद की चर्चा विभिन्न संदर्भों में की है अतः प्रत्यक्षवाद की अवधारणा को स्पष्ट रूप से समझने के लिए इससे सम्बन्धित मान्यताओं को जानना आवश्यक हो जाता है।

(1) सामाजिक घटनाएँ निश्चित नियमों पर आधारित होती हैं (**Social Phenomena are based on Definite Laws**)— कॉम्ट का मत है कि जिस प्रकार प्राकृतिक घटनाओं (पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा, ऋतुओं की आवृत्ति, भूकम्प, ज्वालामुखी का विस्फोट आदि) का संचालन कुछ निश्चित नियमों के द्वारा होता है, उसी प्रकार सामाजिक घटनाएँ भी कुछ निश्चित नियमों में संचालित होती हैं। जिस प्रकार अवलोकन तथा परीक्षण आदि के द्वारा प्राकृतिक घटनाओं का अध्ययन किया जा सकता है, उसी प्रकार सामाजिक घटनाओं या तथ्यों से सम्बन्धित नियमों को भी अवलोकन एवं परीक्षण द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। इस प्रकार कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षवाद की पद्धति सर्व प्रथम इस मान्यता पर आधारित है कि सामाजिक घटनाओं का संचालन कुछ निश्चित नियमों के द्वारा होता है जिनका अध्ययन सम्भव है।

(2) वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग (**Use of Scientific Method**)— कॉम्ट के मतानुसार वैज्ञानिक प्रणाली का उपयोग ही प्रत्यक्षवादी पद्धति का आधार है। उन्होंने उन्नीसवीं सदी के समाज को प्रत्यक्षवादी समाज मानते हुए कहा कि आज के युग में अवलोकन, परीक्षण एवं वर्गीकरण जैसी वैज्ञानिक पद्धतियों के माध्यम से सामाजिक तथ्यों का संग्रह करने तथा उनके विश्लेषण करने का कार्य किया जा रहा है। कॉम्ट ने बतलाया कि प्रत्यक्षवाद में वैज्ञानिकता का समावेश होने के कारण पक्षपातपूर्ण चिंतन निरस्त होता चला जाता है। इस प्रकार कॉम्ट प्रत्यक्षवाद को निष्पक्ष एवं पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति के रूप में स्वीकार करते हैं।

(3) वास्तविक ज्ञान (**Exact Knowledge**)— कॉम्ट का कथन है कि प्रत्यक्षवाद का सम्बन्ध केवल वास्तविक ज्ञान से है जिसे यह अवलोकन एवं परीक्षण के माध्यम से प्राप्त करता है। उनके मतानुसार प्रत्यक्षवादी पद्धति में विश्वास अनुभव या अनुमान के आधार पर घटनाओं का विश्लेषण नहीं किया जाता। इस संदर्भ में कॉम्ट ने ईश्वरीय तथा तात्विक स्तर

का विवरण देते हुए बतलाया कि जहा ईश्वरीय अथवा धार्मिक स्तर में सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण विश्वास के आधार पर एवं तात्विक अवस्था में संयोग या अनुमान के आधार पर किया जाता है, वही प्रत्यक्षवाद वह विधि है जिसमें यह विश्लेषण वैज्ञानिक चिंतन और अवलोकन के आधार पर वास्तविक तथ्यों के संकलन तथा परीक्षण द्वारा किया जाता है। प्रत्यक्षवाद की यह मान्यता स्पष्ट करती है कि प्रत्यक्षवादी चिंतन में कल्पना तथा अनुमान का कोई स्थान नहीं है। यह पद्धति पूर्ण रूप से परीक्षणों आधारित निष्कर्ष प्रस्तुत करती है।

(4) प्रत्यक्षवाद और अनीश्वरवाद (Positivism and Atheism)— आगस्त कॉम्ट ने अपनी पुस्तक 'पॉजिटिव पॉलिटी' में प्रत्यक्षवाद और ईश्वरीय अवस्थाओं में पाये जाने वाले चिंतन के स्तर की भिन्नता को भी स्पष्ट किया है। वे यह मानते हैं कि प्रत्यक्षवादी चिंतन या पद्धति ईश्वरीय चिंतन की पद्धति के विपरीत है किन्तु वे इस बात को मानने से इन्कार करते हैं कि प्रत्यक्षवाद अनीश्वरवादी है। उनका कथन है कि जब प्रत्यक्षवाद का अलौकिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है तब ईश्वरीय विश्वासों से इन की तुलना करने का कोई औचित्य ही नहीं है। स्पष्ट है कि कॉम्ट के लिए प्रत्यक्षवाद पूर्णतः यथार्थ से सम्बन्ध रखने वाली पद्धति है जिसका कल्पनाओं ईश्वरवाद, आशावाद या भाग्यवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(5) प्रत्यक्षवाद एवं ऐतिहासिक पद्धति (Positivism and Historical Method)— कॉम्ट ने बतलाया कि प्रत्यक्षवाद मुख्यतः ऐतिहासिक पद्धति पर आधारित है। इसे स्पष्ट करते हुए कॉम्ट ने बतलाया कि समाजशास्त्रीय अध्ययनों में प्रत्यक्षवादी पद्धति तीन चरणों में पूर्ण होती है। इसका पहला चरण अवलोकन (Observation) है तथा दूसरा चरण परीक्षण (Experimentation) है। इन दोनों चरणों को संयुक्त रूप से "नियंत्रित अवलोकन" कहा जा सकता है। प्रत्यक्षवादी पद्धति के तीसरे चरण का उल्लेख करते हुए कॉम्ट ने कहा कि इसका सम्बन्ध व्याधिकीय प्रकरणों से है जिसमें सर्तकता से तथ्यों का सम्पादन किया जाता है। सम्पादन की इस प्रक्रिया का कॉम्ट ने तुलनात्मक पद्धति या 'शुद्ध परीक्षण' कहा है। कॉम्ट का कथन है कि अवलोकन, परीक्षण एवं तुलनात्मक पद्धति के आधार पर ही तथ्यों की ऐतिहासिक विवेचना सम्भव है, अतः प्रत्यक्षवाद ऐतिहासिक पद्धति को मान्यता प्रदान करता है।

आगस्त कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित उक्त मान्यताओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि कॉम्ट की दृष्टि में प्रत्यक्षवाद वह पद्धति है। जिसमें अवलोकन, परीक्षण एवं तुलनात्मक के आधार पर सामाजिक तथ्यों का वास्तविक विश्लेषण किया जाता है और यह विश्लेषण पूर्णतः निष्पक्ष तथा वैज्ञानिक होता है।

6.5 आलोचनात्मक मूल्यांकन

कॉम्ट के प्रत्यक्षवाद का सबसे दुर्बल पक्ष यह है कि उसने इसमें धर्म और नैतिकता का समावेश कर दिया है। आरम्भ में तो कॉम्ट ने इसे विशुद्ध वैज्ञानिक धारणा के रूप में प्रस्तुत किया है। लेकिन धीरे-धीरे वह वैज्ञानिकता ही नहीं रहना चाहा बल्कि प्रत्यक्षवादी समाज सुधारक के रूप में भी अपने आप को मानने लगा यही कारण है कि धर्म और विज्ञान को अलग नहीं माना बल्कि धारणा में दोनों को समाविष्ट कर दिया कॉम्ट अनेक प्रशंसक जिसमें मिल के अनुसार बाद का कॉम्ट सिर्फ वैज्ञानिक नहीं रहना चाहा बल्कि प्रत्यक्षवादी समाज सुधारक के रूप में भी अपने आप को मानने लगा यही कारण है कि धर्म और विज्ञान को अलग नहीं माना बल्कि अपनी धारणा में दोनों को समाविष्ट कर दिया है। कॉम्ट के अनेक प्रशंसक जिसमें मिल सर्वप्रमुख है। कॉम्ट के इस झुकाव को पतन के रूप में स्वीकार किया है। मिल ने तो यहां तक कहा कि ।

कॉम्ट ने जो अपने प्रत्यक्षवादी सिद्धांत के अन्तर्गत सामाजिक पुनर्निर्माण की रूप रेखा तैयार की है उसे सही ढंग से समाज में लागू नहीं किया जा सकता है इसका कारण इसमें वैज्ञानिक और ताकिर्कता का अभाव है जैसे पुरुष द्वारा स्त्री की पूजा करना या नेता द्वारा पुरोहित से झुकवाना लेना सामाजिक जीवन में व्यवहारिक तौर पर मान्य नहीं है।

ने भी कॉम्ट के राज्य और सरकार सम्बन्धी सिद्धांत की आलोचना की है।ने कॉम्ट द्वारा मजदूर कलबों की स्थापना को विलासिता का कदम माना है। इनका कहना है। कि जहां तक सामाजिक विघटन के कारकों का सम्बन्ध है कॉम्ट के विरुद्ध एक प्रमुख आलोचना यह भी की जाती है। कि कॉम्ट के मौलिक चिन्तन का परिणाम प्रत्यक्षवाद नहीं है। कॉम्ट से पहले भी के विचारों में प्रत्यक्षवाद की चर्चा घिर फुट रूप में देखने को मिलती है। अतः कॉम्ट को मौलिक चिन्तक नहीं कहा जा सकता बल्कि कुशल समन्वयकर्ता कहा जायेगा।

प्रत्यक्षवादी पद्धति की चर्चा करते हुए कॉम्ट नैतिकता और बौद्धिकता तथा धर्म और विज्ञान के जाल में कुछ इस तरह से उलझ गये कि कुछ विद्वानों को यह कहने के लिए विवश होना पड़ा कि “प्रत्यक्षवाद का जन्मदाता ही सर्वाधिक अप्रत्यक्षवादी अथवा अवैज्ञानिक है।” इस प्रकार कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित विभिन्न सिद्धांतों की अनेक आधारों पर कटु आलोचना की गई है। इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं कि कॉम्ट द्वारा आलोचना के स्तर से ऊपर उठ कर प्रतिपादित विचारों में अनेक कमीया है। लेकिन आलोचना के स्तर से ऊपर उठ कर यदि हम कॉम्ट की उपादेयता का उल्लेख करें तो कॉम्ट का चिंतन समाजशास्त्र में नींव के पत्थर की भाँति दिखाई देता है। यदि हम इस तथ्य पर विचार करें कि जब समाजशास्त्र के प्रारम्भिक सिद्धांतों का भी कोई वैज्ञानिक अस्तित्व नहीं था, उस समय कॉम्ट द्वारा समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए कितना आधारभूत योगदान किया गया, निःसन्देह

एक समाजशास्त्रीय विचारक के रूप में कॉम्ट की उपादेयता सिद्ध हो जाती है। समाजशास्त्र में आज प्रकार्यवादी अध्ययनों को एक बड़ी उपलब्धि के रूप में देखा जाता है जबकि यह अध्ययन कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षवाद एवं समाज की सावयवी संरचना जैसी अवधारणाओं की सहायता से ही विकसित हो सके। सच तो यह है कि विज्ञानों के संस्तरण के संदर्भ में कॉम्ट ने 'सरलता से जटिलता' की दिशा में होने वाले परिवर्तन की जिस प्रवृत्ति को स्पष्ट किया, वह आज भी अनेक महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का आधार है। इस दृष्टिकोण से एक समाजशास्त्रीय विचारक के रूप में कॉम्ट का योगदान चिरस्मरणीय रहेगा।

प्रत्यक्षवादी पद्धति की चर्चा करते हुए कॉम्ट नैतिकता और बौद्धिकता तथा धर्म और विज्ञान के जाल में कुछ इस तरह से उलझ गये कि कुछ विद्वानों को यह कहने के लिए विवश होना पड़ा कि "प्रत्यक्षवाद का जन्मदाता ही सर्वाधिक अप्रत्यक्षवादी अथवा अवैज्ञानिक है।" इस प्रकार कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित विभिन्न सिद्धांतों की अनेक आधारों पर कटु आलोचना की गई है। इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं कि कॉम्ट द्वारा आलोचना के स्तर से ऊपर उठ कर प्रतिपादित विचारों में अनेक कमीया है। लेकिन आलोचना के स्तर से ऊपर उठ कर यदि हम कॉम्ट की उपादेयता का उल्लेख करें तो कॉम्ट का चिंतन समाजशास्त्र में नींव के पत्थर की भाँति दिखाई देता है। यदि हम इस तथ्य पर विचार करें कि जब समाजशास्त्र के प्रारम्भिक सिद्धांतों का भी कोई वैज्ञानिक अस्तित्व नहीं था, उस समय कॉम्ट द्वारा समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए कितना आधारभूत योगदान किया गया, निःसन्देह एक समाजशास्त्रीय विचारक के रूप में कॉम्ट की उपादेयता सिद्ध हो जाती है। समाजशास्त्र में आज प्रकार्यवादी अध्ययनों को एक बड़ी उपलब्धि के रूप में देखा जाता है जबकि यह अध्ययन कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षवाद एवं समाज की सावयवी संरचना जैसी अवधारणाओं की सहायता से ही विकसित हो सके। सच तो यह है कि विज्ञानों के संस्तरण के संदर्भ में कॉम्ट ने 'सरलता से जटिलता' की दिशा में होने वाले परिवर्तन की जिस प्रवृत्ति को स्पष्ट किया, वह आज भी अनेक महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का आधार है। इस दृष्टिकोण से एक समाजशास्त्रीय विचारक के रूप में कॉम्ट का योगदान चिरस्मरणीय रहेगा।

इस तरह ऊपर की चर्चाओं के आधार पर हम देखते हैं कि प्रत्यक्षवाद एक अवधारणा है जो निरीक्षण परीक्षण तुलना आदि द्वारा सामाजिक समस्याओं का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर समाज की भौतिक बौद्धिक और नैतिक नियमों की खोज कर एक ऐसी सहानुभूति एवं परोपकार की भावना से ओत प्रोत मानवता का धर्म प्रतिष्ठित है।

यो तो कॉम्ट ने अपने प्रत्यक्षवादी विचारधारा को बहुत ही व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। फिर भी आलोचकों में कई मुद्दों पर इसकी आलोचना की है कॉम्ट के आलोचकों में उसके प्रमुख प्रशंसक ने भी उनकी आलोचना की है। इस आलोचनाओं के बाद

भी यह सही है कि प्रत्यक्षवाद को प्रस्तुत करने का श्रेय कॉम्ट को है। समाजशास्त्र में प्रत्यक्षवाद एक ऐसी अध्ययन पद्धति है जिसे बाद में समाजशास्त्रियों ने भी स्वीकारा है।

6.6 सारांश—

इस इकाई के अध्ययन से आप जान चुके हैं कि प्रत्यक्षवाद क्या है। प्रत्यक्षवाद का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है और वह स्वयं 'विज्ञान' है। वह स्वयं-निरीक्षण, परीक्षण व प्रयोग को आधार मानकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपना अध्ययन-कार्य पूरा करता है। इस तरह हम देखते हैं कि कॉम्ट का प्रत्यक्षवाद एक वैज्ञानिक विधि है। प्रत्यक्षवाद का यह मानना है कि जिस प्रकार प्राकृतिक घटनाओं आकस्मिक नहीं होती है। उसी तरह सामाजिक घटनायें भी बिना कारण नहीं होती हैं। प्रत्यक्षवाद समाज को कुछ निश्चित सामाजिक नियमों से संचालित तथ्य के रूप में स्वीकार करता है। जिसका अध्ययन प्रत्यक्षवादी विधि से किया जाता है।

6.7 पारिभाषिक शब्दावली—

प्रत्यक्षवाद(Positivism) – कॉम्ट के अनुसार, प्रत्यक्षवाद एक वैज्ञानिक पद्धति है। इसके माध्यम से किसी भी सामाजिक घटना का अध्ययन वैज्ञानिक, व्यवस्थित तथा तार्किकता पर आधारित होता है। साथ ही, आगस्त कॉम्ट के अनुसार प्रत्यक्षवाद समाज का वैज्ञानिक स्तर भी है।

6.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

1. ऑगस्ट कॉम्टे के अनुसार मानवीय ज्ञान तीन मुख्य अवस्थाओं से गुजरा , जो हैं—प्रत्यक्षात्मक, तत्वमीमांसीय, धर्म शास्त्रीय
नीचे दिये कूटों का प्रयोग करते हुए इन अवस्थाओं के उदय होने का सही क्रम चुनिए—
क. धर्मशास्त्रीय, तत्वमीमांसीय, प्रत्यक्षात्मक
ख. तत्वमीमांसीय धर्मशास्त्रीय प्रत्यक्षात्मक
ग. धर्मशास्त्रीय प्रत्यक्षात्मक तत्वमीमांसीय
घ. प्रत्यक्षात्मक धर्मशास्त्रीय तत्वमीमांसीय
2. ऑगस्ट कॉम्ट में समाज के अध्ययन को विभाजित किया है—
क. उप संरचना एवं अतिसंरचना में
ख. सामाजिक स्थिति शास्त्र एवं सामाजिक गतिशास्त्र में
ग. अन्तः समूह और बाह्य समूह में
घ. उपरोक्त में से कोई नहीं
3. कॉम्ट ने समाज विज्ञान को कौन सा नाम दिया था जब तक उसने सोशियोलॉजी शब्द की रचना हीं कर ली थी?
क. सोशलडियॉलोजी
ख. सोशलबायोलोजी
ग. एन्थ्रोपोलोजी

- घ. सोशलफिजिक्स
4. कौम्टे की मृत्यु कब हुई?
- म. अगस्त 15, 1851 ई०
ख. सितम्बर 5, 1857 ई०
ग. अक्टूबर 25, 1859 ई०
घ. दिसम्बर 29, 1861 ई०
5. ऑगस्त कौम्ट को समाजशास्त्र का जनक कहा जाता है, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होंने—
- समाजशास्त्र की परिभाषा दी
 - ख. समाजशास्त्र शब्द की रचना की
 - ग. समाजशास्त्र के अध्ययन का वैज्ञानिक तरीका सुझाया
 - घ. समाजशास्त्र की पुस्तक लिखी।
6. ऑगस्त कौम्ट ने समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग कब किया?
- क. सन् 1836 ई०
ख. सन् 1846 ई०
ग. सन् 1838 ई०
घ. सन् 1848 ई०
7. निम्नलिखित में से कौम्टे के परिवर्तन के सिद्धान्त के अनुसार सही अनुक्रम कौनसा एक है?
- धर्मशास्त्रीय, प्रत्यक्षवादी, तत्त्वदार्शनिक
- ख. धर्मशास्त्रीय, तत्त्वदार्शनिक, प्रत्यक्षवादी
- ग. तत्त्वदार्शनिक, धर्मशास्त्रीय, प्रत्यक्षवादी
- घ. प्रत्यक्षवादी, तत्त्वदार्शनिक, धर्मशास्त्रीय
- 8 सूची.I को सूची.II के साथ सुमेलित कीजिये और सूचियों के नीचे दिये गये कूट की सहायता से सही उत्तर का चयन कीजिए:

सूची.I

- क. अगस्त कौम्ट
ख. कार्लमार्क्स
ग. हरबर्ट स्पेंसर
घ. रडक्लिफ ब्राउन

सूची.II

1. भौतिकवाद
2. विकासवाद
3. प्रत्यक्षवाद
4. प्रकार्यवाद
5. अस्तित्ववाद

कूट:

| | | | | |
|----|---|---|---|---|
| a. | A | B | C | D |
| | 3 | 1 | 2 | 4 |
| b. | A | B | C | D |
| | 4 | 2 | 1 | 5 |
| c. | A | B | C | D |
| | 3 | 2 | 1 | 4 |

| | | | | |
|----|---|---|---|---|
| d. | A | B | C | D |
| | 2 | 1 | 5 | 4 |

9 प्रत्यक्षवाद की चर्चा निम्नलिखित में से किस विद्वान ने की?

- क. आगस्ट कॉम्ट
ख. कालमाक्स
ग. इमाइल दुर्खीम
घ. हरबर्ट स्पेन्सर

10 प्रत्यक्षवाद को किस विद्वान ने अपनी अध्ययन पद्धति बनाया?

- क. कालमाक्स
ख. इमाइल दुर्खीम
ग. हरबर्ट स्पेन्सर
घ. आगस्ट कॉम्ट

11 आगस्ट कॉम्ट के अनुसार समाज के विकास का उच्चतम स्तर है?

- क. तात्विक स्तर
ख. धार्मिक स्तर
ग. वैज्ञानिक स्तर
घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं।

12 आगस्ट कॉम्ट के अनुसार समाज के विकास का निम्नतम स्तर है?

- क. तात्विक स्तर
ख. धार्मिक स्तर
ग. वैज्ञानिक स्तर
घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं।

उत्तर- 1. क 2. ख 3.घ 4.ख 5.ग 6.ग 7.ख 8.क 9.क 10.घ 11.ग 12.ख

6.9 संदर्भ ग्रंथ सूची-

- (1) शम्भूलाल दोशी एवं मधुसूदन त्रिवेदी, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (1997)
रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 22-110
- (2) एस. एल. दोशी एवं पी. सी. जैन, सामाजिक विचारक (1997), सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन्स,
जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 150-280
- (3) डा. शीबा सिद्दीकी, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (2012)
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली, P- 30&35
- (4) डा. एम. एम. लवानिया एवं शशी के. जैन, सैद्धान्तिक समाजशास्त्र (1998),
रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, P- 143
- (5) एस. एस. पाण्डेय, टीएमएच, P- 11.1, 12.5
- (6) डा0 अफरोज एकबाल, भारत में सामाजिक परिवर्तन दशा एवं दिशा, ल्यूसेंट पटना, P 1- 55

6.10 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री—

- (1) M. Francis Abraham, Modern Sociological Theory, Oxford University, Press Bombay, Calcutta, Madras (1982) —P- 10-55
 - (2) Sujit Kumar Choudhary, Thinkers and Theories in Sociology — P 1-20
-

6.11 निबन्धात्मक प्रश्न—

- (1) कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित “ प्रत्यक्षवाद के सिद्धांत ” का वर्णन कीजिए।
- (2) प्रत्यक्षवाद एक वैज्ञानिक पद्धति है स्पष्ट कीजिये?

इकाई 7— द्वंदात्मक भौतिकवाद ; कृपंसमबजपबंस डंजमतपंसपेउद्ध

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 द्वंदात्मकता का अर्थ

7.3 द्वंदात्मक भौतिकवाद

7.3.1 हीगल के विचार

7.3.2 कार्ल मार्क्स का द्वंदात्मक भौतिकवाद

7.4 द्वंदात्मकता के नियम

7.4.1 विपरीत की एकता एवं संघर्ष का नियम

7.4.2 निशेध का निशेध नियम

7.4.3 मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम

7.5 द्वंदात्मक भौतिकवाद के नियमों का प्रयोग

7.5.1 आदिम साम्यवादी समाज

7.5.2 दास प्रथावादी समाज

7.5.3 सामंतवादी समाज

7.5.4 पूंजीवादी समाज

7.5.5 साम्यवाद समाज

7.6 सारांश

7.7 पारिभाषिक शब्दावली

7.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा—

- द्वंद्वात्मक अवधारणा को समझना,
- भौतिकवाद की अवधारणा की सामाजिकता को स्पष्ट करना,
- द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अर्थ को समाज संदर्भ में समझना,
- हीगल के विचारों को जानना,
- कार्ल मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त की व्याख्या करना,
- समाज में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के नियमों की व्याख्या करना,
- द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के नियमों द्वारा समाज के इतिहास की अवस्था के विकास को समझना।
-

7.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को समाज संदर्भ में समझाया जायेगा। कार्ल मार्क्स के विचारों को जानने में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को समझना आवश्यक हो जाता है। सर्वप्रथम इस प्रस्तुत इकाई में आपको द्वंद्वात्मक शब्द के अर्थ पर ऐतिहासिक दृष्टि से उसके अर्थ को समझाया जायेगा तथा द्वंद्वात्मक तर्क पद्धति जो कि दो या दो से अधिक लोगों के बीच चर्चा करने की विधि है जो किसी विषय पर अलग अलग राय रखते हैं लेकिन तर्क पूर्ण चर्चा की सहायता से सत्य तक पहुंचने का रास्ता है को बताया गया। संक्षिप्त में आपको यह बताया गया कि द्वंद्वात्मकता को एक तर्क-विरतक की आरोही एवं अवरोही स्वरूपों में एक प्रक्रिया भी कहा गया है। इसके बाद हीगल के विचारों को बताया गया क्योंकि मार्क्स के विचारों को इनके बिना चर्चा करना असंगत प्रतीत होता है। हीगल के अनुसार, द्वंद्वात्मक में संसार में प्रत्येक वस्तु की प्रतिवादी वस्तु अवश्य होती है, पहले वाद होता है, उसके बाद प्रतिवाद तब इन दोनों के संघर्ष से संवाद होता है। संवाद एक नई परिस्थिति है जो कि अस्थायी होता है। मार्क्स हीगल के विचारवाद का विरोधी है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के लिए वास्तविकता विचार मात्र नहीं भौतिक सत्य है, विचार स्वयं पदार्थ का विकसित रूप है, उसका भौतिकवाद विकासवान है लेकिन यह विकास द्वंद्वात्मक प्रकार से होता है। मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद विश्व का आधार भौतिक तत्व या पदार्थ को मानता है जो कि अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा विकसित होकर नाना रूप धारण कर लेता है यह विकास भौतिक पदार्थ में स्वाभाविक रूप से ही निहित एक आन्तरिक विरोध द्वारा संचालित होता है और इसमें वाद, प्रतिवाद और संवाद ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। विकास की यह प्रक्रिया सीधी एवं सरल नहीं है वरन् एक बिन्दु पर आकर अकस्मात्

तीव्र विस्फोट की भांति होती है जिससे समाज व सामाजिक परिवर्तन में क्रान्ति आती है। प्रत्येक क्रान्ति के बाद नवीन सामाजिक अवस्था का जन्म होता है इससे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का क्रान्तिकारी रूप स्पष्ट होता है और इसी के साथ मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशेषताओं को स्पष्ट करते हुये द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियमों को प्रयोग किया गया जिसमें –विपरीत की एकता एवं संघर्ष का नियम, निषेध का निषेध नियम, मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम को जानने के लिए बताया गया। इसके बाद समाज के विकास अर्थात् इतिहास की अवस्थाओं– आदिम साम्यवादी समाज, दासप्रथावादी समाज, सामंतवादी समाज, पूंजीवादी समाज आदि को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर व्याख्या की गयी है। जिसके फलस्वरूप आप मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अच्छी तरह जान सकें।

7.2 द्वंद्वत्मकता का अर्थ

यहा पर हम आपको द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अर्थ के साथ द्वन्द्वात्मक व भौतिकवाद की अवधारणा को समझाने का प्रयास करते हैं। द्वंद्वत्मक तर्क पद्धति दो या दो से अधिक लोगो के बीच तर्क वितर्क करने की विधि है जो किसी विषय पर अलग अलग अपना मत रखते हैं लेकिन यह तर्क पूर्ण चर्चा की सहायता से सत्य तक पहुचने का रास्ता है। पहले हम आपको द्वंद्वत्मक शब्द के अर्थ से अवगत कराते हैं। द्वंद्वत्मक शब्द का अर्थ वाद-संवाद की बौद्धिक विवेचना पद्धति से लिया जाता है। यह तर्क शास्त्र की एक अवधारणा है जो कि **अरस्तू के अनुसार** यह प्रज्ञोत्तर द्वारा तर्क विर्तक के लिए प्रयुक्त किया जाता है। **यूनानी दार्शनिक प्लेटो** ने इस अवधारणा को अपने दार्शनिक विचारों के संदर्भ में विकसित किया था। **दार्शनिक सुकरात** ने इस अवधारणा को सभी विज्ञानों की मूल अवधारणाओं के परीक्षण हेतू प्रयुक्त किया था। मध्य काल के अंत तक यह अवधारणा तर्कशास्त्र का एक हिस्सा बनी रही। इस अवधारणा की तर्क-वितर्क परम्परा के अनुसार जर्मन दार्शनिक इमानुएल काँट ने यूरोप के आधुनिक दर्शन में इसका प्रयोग किया और कहा कि आनुभाविक धटनाओं को नियंत्रित करने वाले नियमों से गैर आनुभाविक वस्तुओं की व्याख्या नहीं की जा सकती है।

द्वन्द्ववाद का अंग्रेजी रूपान्तरण **Dialectic** यूनानी शब्द **Dialego** से बना है जिसका अर्थ बातचीत करना अर्थात् तर्क वितर्क करना होता है। प्राचीन समय में द्वन्द्ववाद तर्क वितर्क के दौरान प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत तर्क या युक्ति में विरोधों को बताकर तथा उनका समाधान करके सत्य तक पहुचने की कला थी। प्राचीन काल मे ऐसे दार्शनिक थे जिनकी मान्यता थी कि विचारों में विरोधों के प्रकट होने से सत्य तक पहुचा जा सकता है। द्वंद्वत्मकता को एक प्रक्रिया भी माना गया है। यह तर्क-वितर्क की आरोही एवं अवरोही स्वरूपों में एक प्रक्रिया है। द्वंद्वत्मक के आरोही स्वरूप से अध्यात्मिक यर्थाथ के अस्तित्व को दर्शाया जा सकता है। जैसे— ईश्वर के स्वरूपों को। द्वंद्वत्मक के अवरोही स्वरूप से आनुभाविक प्रधटना जगत में अध्यात्मिक यर्थाथ की अभिव्यक्ति की व्याख्या की जा सकती है। आप यहा द्वंद्वत्मकता के अर्थ से भलिभांति परिचित हो गये होंगे। आइए हम आगे द्वन्द्ववाद के संदर्भ में हीगल व कार्ल मार्क्स के विचारो को समझते हैं।

7.3 द्वंद्वीयक भौतिकवाद

7.3.1 हीगल के विचार—

हीगल एक दार्शनिक विचारक थे। मार्क्स जब शिक्षा ग्रहण कर रहे थे उस समय जर्मनी के बुद्धिजीवियों पर हीगल के दर्शन का विशेष प्रभाव था। जिसका प्रभाव मार्क्स पर पडा। हीगल ने द्वंद्वीयक विचार प्रस्तुत किये और अपने अध्ययन केन्द्र में जगत में विचारों को ज्यादा महत्वपूर्ण बताया न कि पदार्थों को। द्वंद्वीयक शब्द को यूनानी भाषा के शब्द डायलैगो (Dialego) से ग्रहण किया। जिसका अर्थ है कि विश्व में जड और चेतन सभी पदार्थों में कुछ अन्तर्विरोध पाया जाता है। प्रत्येक वस्तु की आन्तरिक संरचना का निर्माण होता है जिसमें विभिन्न अंगों के बीच जो अन्तर्विरोध अथवा द्वन्द्व पाया जाता है उसी के परिणामस्वरूप उस वस्तु के बाहरी स्वरूप में परिवर्तन आता है। अतः प्रकृति के प्रत्येक भाग में द्वन्द्व की प्रक्रिया अन्तर्निहित रहती है। हीगल का संपूर्ण चिन्तन अराजकतावादी दिशा में आगे बढ़ा। हीगल के अनुसार, जब हमारे मस्तिष्क में कोई विचार पैदा होता है तब उसी समय उसका एक प्रतिवाद विचार हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न होने लगता है। इन दोनों विचारों के बीच द्वन्द्व की प्रक्रिया शुरू हो जाती है जिसका परिणाम एक ऐसे विचार के रूप में होता है जिसे हम समन्वय की दशा कह सकते हैं जैसे— जब एक व्यक्ति धन कमाना चाहता है और उसके लिए कठिन परिश्रम करता है तब उसके मस्तिष्क में गलत तरीके से धन कमाने की इच्छा पैदा भी होती है। इन दोनों तरह के विचारों के बीच द्वन्द्व अथवा संघर्ष शुरू होता है। जिस द्वन्द्व के परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी तार्किकता और चेतना के आधार पर जिस परिणाम पर पहुँचता है उसी को हम संश्लेषण या समन्वय कहते हैं। इसी आधार पर हीगल ने समाज के बारे में बताया कि समाज में जो भी परिवर्तन होते हैं वे व्यक्तियों के मस्तिष्क में वाद और प्रतिवाद के रूप में होने वाले द्वन्द्व तथा उसके परिणामस्वरूप जन्म लेने वाले समन्वय के आधार पर होते हैं। जिसे हमने निम्न चित्र द्वारा भी आपको समझने का प्रयास कराया है।

| | प्रारम्भिक विचार | विरोधी विचार | परिणाम |
|--------|------------------|--------------|--------------------|
| स्थिति | वाद | प्रतिवाद | संश्लेषण या समन्वय |

चित्र— हीगल के द्वन्द्व विचार

द्वंद्वीयकता के विचारों में हीगल का मानना है कि द्वन्द्ववादी प्रणाली में बुद्धिसंगत तत्व है उसमें विकास का विचार है, हीगल घटनाओं और घटना प्रवाह को एक-दूसरे के संदर्भ में उनके पारस्परिक संबंधों और

एक-दूसरे पर निर्भर रहने की पृष्ठभूमि में देखते हैं। हीगल घटना प्रवाह को उत्थान, परिवर्तन और विनाश के एक क्रम के रूप में देखते हैं और कहते हैं कि इस क्रम के चलते रहने का मुख्य कारण विरोधी शक्तियों का संघर्ष ही है। हीगल के अनुसार, संसार में प्रत्येक वस्तु की प्रतिवादी वस्तु अवश्य होती है, सवप्रथम वाद होता है, उसके बाद प्रतिवाद। तब इन दोनों के संघर्ष से संवाद होता है। संवाद में वाद व प्रतिवाद दोनों वस्तुएं पायी जाती हैं। संवाद एक नई परिस्थिति है जो कि अस्थायी होता है क्योंकि प्रगति के दौरान कुछ समय बाद यह वाद का रूप ले लेता है। तब फिर इसका प्रतिवाद होता है तथा संघर्ष के परिणामस्वरूप संवाद जन्म लेता है और यह प्रक्रिया निरन्तर नये को जन्म लेने के लिए चलती रहती है। जिसे समाज संदर्भ में हीगल ने लागू किया। यहाँ आप सभी हीगल के विचारों को समाज के संदर्भ में जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। आइए अब कार्ल मार्क्स के विचारों पर चर्चा करते हैं—

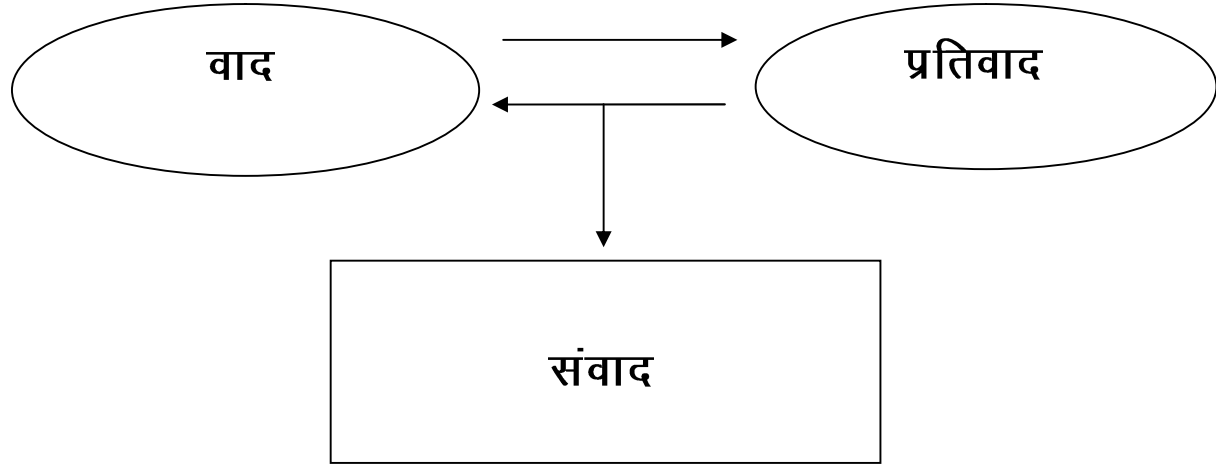
7.3.2 कार्ल मार्क्स का द्वन्द्व्वात्मक भौतिकवाद –

कार्ल मार्क्स का जन्म 05 मई सन् 1818 में राइन प्रान्त के टियर नगर के एक यहूदी परिवार में हुआ था। इनके पिता पेशे से वकील थे जिन्होंने बाद में ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। कार्ल मार्क्स की शिक्षा एक अच्छे स्कूल जिमनेजियम से होती हुई बोन विश्वविद्यालय से शिक्षा ग्रहण करने के बाद बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया यही से इनके जीवन में नया मोड़ आया। इस विश्वविद्यालय में हीगल के विचारों का काफी प्रभाव था जो कि कार्ल मार्क्स पर भी पडा। कार्ल मार्क्स को अपने डॉक्टरेट की उपाधि अपने शोध प्रबन्धन **“On the Difference between the Natural Philosophy of Democritus and Epicurus”** पर हुई।

कार्ल मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्व्वात्मक विकासवाद की धारणा को तो ग्रहण किया लेकिन हीगल के आत्मा के सिद्धान्त को काल्पनिक व अवैज्ञानिक कहकर इसकी आलोचना की। यह कहना कि वाहय जगत असत्य है या उसकी सत्ता मानव मस्तिष्क के कारण है वास्तव में वाहय जगत की वास्तविकता को अस्वीकार करना है कि क्योंकि वाहय जगत न तो मस्तिष्क पर न ही आत्मा पर आधारित है इनके बिना भी वाहय जगत रहेगा और था। अर्थात् वाहय जगत मार्क्स के अनुसार सत्य है और उसका आधार आत्मा या विश्वात्मा जैसी कोई अवास्तविक चीज न होकर अपितु कुछ ठोस व वास्तविक चीज या भौतिक तत्व है। आत्मा अवास्तविक इसलिए है कि इसको हम प्रत्यक्ष रूप से नहीं देख पाते हैं अपितु कल्पना कर पाते हैं और किसी भी काल्पनिक चीज का अस्तित्व हमारे लिए न के बराबर है। जो वास्तव में है जिसे हम प्रत्यक्ष रूप में देख सकते हैं छू सकते हैं जैसे— मिट्टी, पत्थर, मांस आदि उसी को क्यों न जगत का वास्तविक आधार माना जाये। अतः वास्तविक भौतिक वस्तुओं को छोड़कर हीगल का जो दर्शन आत्मा जैसे काल्पनिक आधार

पर आधारित हैं उसे कैसे स्वीकार कर लिया जाये। इसलिए कार्ल मार्क्स ने हीगल के दर्शन को अस्वीकार कर अपने दर्शन को द्वन्द्वात्मक पर आधारित किया। अतः स्पष्ट है कि मार्क्स का दर्शन हीगल के दर्शन का विपरीत रूप है। कार्ल मार्क्स ने कैपिटल की भूमिका में लिखा कि मैंने हीगल के द्वन्द्वाद को सिर (मस्तिष्क, आत्मा) के बल खड़ा पाया, मैंने उसे पैरों के बल (पृथ्वी पर, भौतिकता के आधार पर) खड़ा कर दिया। कार्ल मार्क्स का उद्देश्य एक ऐसे सुसम्बद्ध और सुसंगत भौतिकवादी विश्वदर्शन की रचना करना था जो सामाजिक जीवन और प्रकृति दोनों पर लागू किया जा सके।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के विचारों का मूल आधार है। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्वादी विचार ग्रहण किये लेकिन उनमें कुछ संशोधन किया। मार्क्स के लिए वास्तविकता विचार मात्र नहीं भौतिक सत्य है, विचार स्वयं पदार्थ का विकसित रूप है, उसका भौतिकवाद विकासवान है लेकिन यह विकास द्वन्द्वात्मक प्रकार से होता है। इस प्रकार मार्क्स हीगल के विचारवाद का विरोधी है लेकिन उसकी द्वन्द्वात्मक प्रणाली को स्वीकार करता है। मार्क्स का दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसलिए कहलाता है क्योंकि इसमें प्रकृति के धटनाक्रम को समझने का तरीका द्वन्द्वादी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार, विश्व का निर्माण आत्मा विचार चिन्तन से नहीं अपितु भौतिक पदार्थ या वस्तु से हुआ है। चेतना का आधार भौतिक है पदार्थ है पदार्थ में दो विरोधी शक्तियाँ पायी जाती हैं जिनके द्वन्द्व या संघर्ष से ही विश्व एवं प्रकृति का निर्माण होता है यह पदार्थ गतिशील है। निरन्तर प्रवाहमय है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु गतिशील है। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विश्व का आधार भौतिक तत्व या पदार्थ को मानता है जो कि अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा विकसित होकर नाना रूप धारण कर लेता है। यह विकास भौतिक पदार्थ में स्वाभाविक रूप से ही निहित एक आन्तरिक विरोध द्वारा संचालित होता है और इसमें वाद, प्रतिवाद और संवाद ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। विकास की यह प्रक्रिया सीधी एवं सरल नहीं है विकास की प्रक्रिया पहले मात्रात्मक परिवर्तन व फिर आकस्मिक तीव्र परिवर्तन होकर गुणात्मक परिवर्तन में बदल जाता है। वरन एक बिन्दु पर आकर अकस्मात् तीव्र विस्फोट की भाँति होती है यही स्थिति सामाजिक परिवर्तन में क्रांति लाती है। प्रत्येक क्रांति के बाद नवीन सामाजिक अवस्था का जन्म होता है। प्रत्येक भौतिकपदार्थ अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा ही अपने प्रतिवाद को जन्म देता है जिससे वाद व प्रतिवाद में संघर्ष होकर संवाद होता है और इसी में समस्त परिवर्तन का रहस्य छिपा होता है। यह नियम समाज पर लागू होता है। इससे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का क्रांतिकारी रूप स्पष्ट होता है।



चित्र- मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशेषतायें-

विभिन्न विद्वानों द्वारा मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशेषताओं को निम्न बताया गया है-

1. मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद प्रकृति को ऐसी वस्तुओं और घटना प्रवाहों का एक आकस्मिक संग्रह कदापि नहीं मानता जो एक दुसरे से बिल्कुल अलग-अलग असम्बन्धित तथा स्वतन्त्र हो। वह द्वन्द्ववाद जो प्रकृति को एक सुसम्बद्ध तथा पूर्ण समग्रता के रूप में मानता है जिसमें कि विभिन्न वस्तुएं तथा घटनाये सावयवी रूप में एक-दूसरे से संयुक्त तथा निर्भर तथा निर्धारित होती है।
2. तत्वशास्त्र के विपरीत मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद यह मानता है कि प्रकृति एक स्थिर, अगतिशील, अपरिवर्तनशील और चिरन्तन स्थिति नहीं है प्रकृति तो निरन्तर गतिशील परिवर्तनशील नवीन परिवर्द्धित तथा परिमार्जित स्थिति है। जिसमें कुछ चीजों का सदैव उदभव और विकास होता है। और कुछ की अवनति और विनाश।
3. तत्वशास्त्र के विपरीत मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद यह मानता है कि विकास की प्रक्रिया एक सरल प्रक्रिया है। जिसमें कि परिमाणात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन नहीं होते हैं। मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद के अनुसार छोटे से छोटे परिणामस्वरूप परिवर्तन से बड़े से बड़े गुणात्मक परिवर्तन भी संभव हो सकते हैं। लेकिन ये परिवर्तन तीव्रता से एकाएक होते हैं।
4. तत्वशास्त्र के विपरीत मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद यह मानता है कि समस्त वस्तुओं व प्रकृति की घटनाओं में आन्तरिक विरोध स्वाभाविक होते हैं क्योंकि इन सबका विलोमात्मक और अनुलोमात्मक पक्ष या

वाद और प्रतिवाद, भुत और भविष्य विनाशोन्मुखता और प्रगतिशील अर्थात् विनाश और विकास दोनो ही पक्ष होते है। इन दोनो विरोधों के बीच संघर्ष अर्थात् पुराने और नये के बीच संघर्ष आन्तरिक अन्तर्वस्तु है। अतः द्वन्द्ववाद के अनुसार विकास आन्तरिक विरोध या संघर्ष द्वारा ही संचालित होता रहता है।

बोध प्रश्न-1

i) द्वन्द्ववाद का क्या अर्थ है

.....

.....

ii) द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति क्या है ?

.....

.....

.....

iii) द्वन्द्ववाद की अवधारणा मार्क्स ने किस विद्वान से ग्रहण की ?

.....

.....

.....

iv) कार्ल मार्क्स ने अपने प्रतिपादित सिद्धांत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विश्व के निर्माण का आधार किसे बताया है।

.....

.....

.....

v) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार क्या प्रत्येक वस्तु गतिशील है ?

.....

vi) कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में कितनी अवस्थायें पायी जाती हैं ?

सत्य/असत्य बताइए ?

vii) क्या हीगल का द्वन्द्ववाद व मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक है

viii) कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अपने सिद्धान्त में भौतिक पदार्थों को प्रधानता देता है।

7.4 द्वन्द्वात्मकता के नियम

मार्क्स के सहयोगी एंजल्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तीन नियम— विपरीत की एकता एवं संघर्ष का नियम, निशेध का निशेध नियम एवं मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम बताये हैं। जिसमें मार्क्स प्रत्येक वस्तु की व्याख्या पदार्थ के विरोधाभास के रूप में करता है। आइए अब हम इन नियमों को विस्तृत में समझते हैं—

7.4.1 विपरीत की एकता एवं संघर्ष का नियम—

आइए अब हम समाज के संदर्भ में द्वन्द्वात्मकता के नियम के अंतर्गत विपरीत की एकता एवं संघर्ष के नियम पर बात करते हैं। समाज में प्रत्येक वस्तु परिवर्तन के बहाव में है क्योंकि परिवर्तन प्रकृति का नियम है।

लेकिन हमें यह भी जानना आवश्यक होता है कि इन परिवर्तन के पिछे क्या कारण होते है विपरीत की एकता एवं संघर्ष का नियम भौतिक जगत में विकास तथा शाश्वत परिवर्तन के वास्तविक कारणों को जानना होता है। विपरीत की एकता एवं संघर्ष का नियम में वस्तुओं या प्रघटनाओं में आंतरिक प्रवृत्तियों तथा शक्तिया होती है जो कि परस्पर विरोधी होती है। इन परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों या विरोधाभासों के अभिन्न अंतसम्बन्धित विपरीत की एकता के लिए उत्तरदायी होते है। विश्व की वस्तुओं एवं प्रघटनाओं का यह विरोधाभास सामान्य व सार्वभौमिक प्रकृति का होता है इन परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों अथवा विपरीत में सहअस्तित्व पाया जाता है तथा एक के बिना दुसरे की व्याख्या नहीं की जा सकती है। इन विपरीत शक्तियों में परस्पर विरोधी प्रकृति इनमें अनिवार्यत संघर्ष पैदा करती है। सभी में संघर्ष अनिवार्य होता है। विपरीत की एकता एवं संघर्ष की एक आवश्यक दशा है क्योंकि संघर्ष तब ही घटित होता है जब किसी एक वस्तु अथवा प्रघटना में विपरीत शक्तिया अस्तित्व में विघमान होती है। विपरीत का संघर्ष से ही विकास होता है प्राय इन शक्तियों में से एक शक्ति यथास्थिति को बनाये रखना चाहती है और दूसरी शक्ति यथास्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना चाहती है इस संघर्ष के कारण अनेक मात्रात्मक परिवर्तन के पश्चात जब भी परिपक्व अवस्थाए अस्तित्व में आती है तो एक नई स्थिति वस्तु प्रघटना या अवस्था या परिवर्तन का जन्म होता है यह क्रांतिकारी परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन है इस प्रकार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तीन नियमों में तार्किक अंतसंबंध देखे जाते है। उन वाह्य प्रभावों की भूमिका की उपेक्षा करना त्रुटिपूर्ण होगा जो कि परिवर्तन लाने के लिए सहायक हो सकते है सभी प्रकार के परिवर्तनों का स्रोत आंतरिक विरोधाभास है। विपरीत तत्वों में कभी समाभाव नहीं आ पाता है विपरीत तत्वों का समान प्रभाव अस्थायी व सापेक्षिक होता है जबकि उनके बीच संघर्ष हमेशा चलता रहता है विपरीत की एकता एवं संघर्ष के नियम के मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम तथा निषेध का निषेध नियम इसके उदाहरण है। विपरीत की एकता एवं संघर्ष के इस अमूर्त नियम को सामाजिक विकास के इतिहास की क्रमिक उत्पादन प्रणाली पर लागू किया जाये तो इसको सरलता से समझा जा सकता है।

7.4.2 निशेध का निशेध नियम—

समाज के संदर्भ में द्वन्द्वात्मकता के नियम के अंतर्गत विपरीत की एकता एवं संघर्ष के नियम के उपरान्त निषेध का निषेध नियम पर बात करते है। हीगल ने निषेध शब्द को दर्शनशास्त्र में प्रयोग किया जिसमें इसका प्रत्ययवादी अर्थात आर्दशवादी अर्थ लिया गया है। हीगल के अनुसार निषेध की अवधारणा विचार तथा चिन्तन में उपजती है जबकि कार्ल मार्क्स ने निशेध की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की। मार्क्स के अनुसार निषेध यथार्थ के विकास का एक अभिन्न अंग है। किसी भी क्षेत्र में कोई भी तत्व अपने पूर्व के अस्तित्व के स्वरूप को नकारे या निषेध किये बिना विकसित नहीं हो सकता उदाहरण— के रूप में पृथ्वी

की उपरी सतह अनेक भूगर्भीय युगो से गुजर चुकी है। प्रत्येक नया युग पिछले युग के आधार पर अस्तित्व में आता है और इसप्रकार पुराने युग के निषेध का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसा ही प्राणी जगत में भी विद्यमान होता है प्राणी जगत में भी प्राणियों की प्रत्येक नई किस्म अपनी से पुरानी किस्म के आधार पर पैदा होती है और साथ ही साथ उसके निषेध का भी प्रतिनिधित्व करती है। इसी प्रकार से समाज का इतिहास भी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के नई व्यवस्था द्वारा निषेधों की एक श्रृंखला है। रेमण्ड आरों ने कहा कि पूंजीवादी समाज सामन्तवादी समाज का निषेध है तथा समाजवाद पूंजीवाद का निषेध होगा अर्थात् समाजवाद निषेध का निषेध है। यहा महत्वपूर्ण बात यह ध्यान देने योग्य है कि निषेध किसी वस्तु या प्रघटना में बाहर से प्रविष्ट नहीं करता है अपितु यह किसी वस्तु या प्रघटना के आंतरिक विकास का ही परिणाम होता है। वस्तुए या प्रघटनाये स्वयं में निहित आन्तरिक विरोधाभासों के आधार पर ही विकसित होती है वे अपने ही विनाश की दशाये उत्पन्न करती है। ताकि एक नई उच्चतर गुणात्मक स्थिति में परिवर्तित हो सके। निषेध का अभिप्राय वस्तुओं और प्रघटनाओं के आंतरिक विरोधाभासों स्वविकास तथा स्वतः परिवर्तन के माध्यम से पुरानी स्थिति से नयी स्थिति में बदलना है। इस प्रकार समाजवाद पूंजीवाद का स्थान इसलिए लेता है क्योंकि यह पूंजीवादी व्यवस्था के आंतरिक विरोधाभासों का समाधान करता है। निषेध की मार्क्सवादी व्याख्या का प्रमुख गुण यह है कि यह निरन्तरता को मान्यता प्रदान करती है जो कि विकास में नये और पुराने के मध्य एक कडी का कार्य करती है यहा यह बात ध्यान रखनी आवश्यक है कि कभी भी नयी व्यवस्था पुरानी को पूरी तरह नहीं बदलती है। पुरानी अवस्था में से कुछ को अपने मे नयी व्यवस्था बनाये रखती है। जैसे— भारत में उपनिवेशवाद को उखाड फेकने के बाद हमने एक नये राष्ट्र की रचना प्रारम्भ की। इस प्रकिया में हमने राष्ट्रीय विकास को अवरुद करने वाले सभी उत्पीडिक तत्वों और संस्थाओं को हटाने का प्रयास किया। फिर भी हमने उपनिवेशवाद द्वारा पिछे छोडे गये शैक्षणिक वैधानिक तथा प्रशासन तंत्रीय संरचना तथा यातायात एवं संचार की आधुनिक अधोसंरचना को अपना लिया व उसको बनाये रखा। इन्ही सब कारणों से विकास की अवस्थाओं में क्रमिक परिवर्तन प्रगतिशील होता है। इस प्रकार प्राचीन से नया परिवर्तन होता है यह विकास की अवस्था मात्र होती है अन्तिम अवस्था नहीं। क्योंकि विकास सदैव सदा चलता रहता है। और जब ये पूर्व दशाये तथा नई दशाये परिपक्व हो जाती है तो एक बार पुनः निषेध धटित होता है और इसी को निषेध का निषेध कहते है। इसमें बाद वाला निषेध और उच्चतर स्थिति वाला होता है और यह प्रकिया चलती रहती है।

7.4.3 मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम

प्रकृति में प्रत्येक वस्तु निरंतर गतिशील होती है इस संबध में मार्क्स कहते है कि यथार्थ का नियम परिवर्तन का नियम है आखिर परिवर्तन किस प्रकार का परिवर्तन होता है। परिवर्तन की प्रकिया सरल या क्रमिक नहीं

होती है अपितु यह अनेक मात्रात्मक परिवर्तनों का परिणाम होती है। जो कि परिपक्व दशाओं की उपलब्धि होने पर किसी भी निश्चित समय पर अमूर्त गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तित हो जाती है। यह परिवर्तन सदैव सरलता से जटिलता की ओर होता है।

किसी भी नई अवस्था के प्रादुर्भाव तथा किसी भी पुरानी अवस्था की समाप्ति को तार्किक एवं दार्शनिक रूप से गुणात्मक परिवर्तन कहा जा सकता है। जबकि अन्य सभी परिवर्तन जिनमें किसी भी वस्तु के विभिन्न अंग पुनर्व्यवस्थित हो जाते हैं अथवा घट या बढ़ जाते हैं। जबकि उस वस्तु की मूल पहचान नहीं बदलती है। तब उस स्थिति को मात्रात्मक परिवर्तन कहा जा सकता है। इसको और अधिक सरल रूप में समझा जा सकता है। गुणात्मक परिवर्तनों के दो स्वरूप होते हैं एक— कोई वस्तु जिसका अस्तित्व नहीं था लेकिन अब वह अस्तित्व में आ गई। दूसरा— कोई वस्तु जो पहले अस्तित्व में थी लेकिन अब उसका अस्तित्व समाप्त हो गया है। दूसरी ओर मात्रात्मक परिवर्तन असीमित रूप से व्यापक होते हैं जैसे— छोटा—बड़ा, कम—अधिक, गर्म व ठण्डा आदि। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में मात्रात्मक परिवर्तन निरंतर घटित होते रहते हैं। प्रत्येक प्रक्रिया प्रकृति द्वारा निर्धारित सीमा तक पहुंच जाते हैं तब इनमें अपरिहार्य महापरिवर्तन घटित होते हैं जब निरंतर परिवर्तन एक सीमा तक पहुंच जाता है जिसके परे और अधिक मात्रात्मक परिवर्तन संभव नहीं है परिपक्वता की स्थिति को दर्शनशास्त्र में मापात्मकता की सीमा कहा जाता है। यह महापरिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन होता है जैसे— भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये एक शताब्दी से अधिक समय तक चलता रहा तथा इसमें निरंतर मात्रात्मक परिवर्तन आते रहे और जब वह अपनी सीमा पर पहुँच गया तब 15 अगस्त 1947 को महापरिवर्तन होकर भारत स्वतंत्र हो गया। उपनिवेशवाद से मुक्ति गुणात्मक परिवर्तन थी। इसी प्रकार एक ओर उदाहरण से इसे हम यहा ओर समझने का प्रयास करते हैं। व्यक्ति की निरंतर बढ़ती आयु मात्रात्मक परिवर्तनो से गुजरती है और जब वह प्रकृति द्वारा निर्धारित सीमा पर पहुँच जाती है तब व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तब मात्रात्मक परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन में अपना स्वरूप बदल लेता है। अतः आप यहा इन नियमों से भली भाँति परिचित हो गये होंगे।

7.5 द्वंद्वत्मक भौतिकवाद के नियमों का प्रयोग

द्वंद्वत्मक भौतिकवाद के नियमों का प्रयोग हम समाज संदर्भ में करते हैं जिससे मार्क्स के विचारों को ओर अच्छी तरह समझा जा सके। मार्क्स और एंगेल्स के विचारों में बहुत समानता होने के कारण उन्होंने अनेक ऐसे लेख लिखे जिससे दर्शन राजनीति तथा अर्थव्यवस्था के बारे में उनका उग्र सुधारवाद स्पष्ट होने लगा। सन 1845 में मार्क्स ने अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए द जर्मन आइडियोलॉजी पुस्तक लिखी लेकिन उनके जीवनकाल में इसका प्रकाशन नहीं हो सका। उनकी सर्वप्रथम प्रकाशित होने वाली पुस्तक द होली फैमिली है।

कार्ल मार्क्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को स्पष्ट करने के लिए इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **साम्यावादी घोशणापत्र** के अन्तर्गत मार्क्स ने इतिहास की व्याख्या भौतिकवादी आधार पर प्रस्तुत की। इस पुस्तक के कवर पृष्ठ पर मार्क्स ने लिखा कि *दुनिया का आज तक का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।* द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त अथवा नियम प्रकृति विश्व एवं समाज पर समान रूप से लागू होते हैं। जब इन नियमों को इतिहास पर समाज संदर्भ में लागू किया जाता है तो ये ऐतिहासिक भौतिकवाद का रूप ले लेता है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हुये मार्क्स ने समाज के सम्पूर्ण इतिहास को पाँच युगों में विभाजित किया है। मार्क्स कहते हैं कि सामाजिक विकास से संबंधित विभिन्न युग भौतिक दशाओं के बीच होने वाले द्वन्द्व का ही परिणाम है। जिसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है।

7.5.1 आदिम साम्यवादी समाज—

मार्क्स के अनुसार मानव समाज की पहली अवस्था आदिम साम्यवादी समाज है। इस अवस्था में मनुष्य जंगलों में निवास करते हुये कन्दमूल फल आदि पर आश्रित था, यह अवस्था सरलतम तथा निम्नतम स्वरूप की थी। इस अवस्था में व्यक्तिगत संपत्ति का पूर्ण अभाव था तथा नये तथा उन्नत किस्म के औजारों— तीर कमान आदि व उसके बाद आग का विकास हुआ तथा कृषि व पशुपालन की शुरुआत भी होने लगी। ये परिवर्तन **मात्रात्मक परिवर्तन** के उदाहरण थे। ये सभी उत्पादन के संबंध सहकारिता और परस्पर सहायता पर आधारित थे। इसके बाद उत्पादन शक्तियाँ निरंतर विकसित होने लगी, नये औजार बनाकर कार्य कौशल को बढ़ाया गया जैसे— धातु के औजार बनाना। उत्पादकता के विकास के साथ साथ समाज की सामुदायिक संरचना टूटने लगी तथा निजी संपत्ति की अवधारणा विकसित हुयी और संपत्ति पर परिवारों का स्वामित्व होने लगा। यहाँ पर उत्पादन के सामुदायिक संबंधों तथा शोषक वर्ग के संभावित स्वरूपों के मध्य विरोधाभास के कारण **गुणात्मक परिवर्तन** हुआ। जिससे आदिम साम्यवादी निषेध अथवा प्रतिवाद हुआ और उसके परिणामस्वरूप दासप्रथा की एक नई अवस्था सामने आई।

7.5.2 दास प्रथावादी समाज—

यह अवस्था दूसरी अवस्था है जिसमें आदिम समानता का स्थान सामाजिक असमानता ने ले लिया और दासों व मालिकों के वर्गों का उदय हुआ। धीरे धीरे सम्पूर्ण समाज में दास प्रथा का प्रचलन बढ़ने लगा। और सम्पूर्ण समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया— मालिक और दास। उत्पादन शक्तियों में और अधिक **मात्रात्मक परिवर्तन** हुए। मार्क्स के अनुसार, दास युग की अंतिम अवस्थता में कृषि का विस्तार होने लगा और समाज में उत्पादन के साधनों में परिवर्तन की प्रक्रिया होने लगी।

इस अवस्थता मे उत्पादन के संबध मालिको के सम्पूर्ण स्वामित्व पर आधारित थे। मालिको का उत्पादन के साधनों, दासों तथा उनके द्वारा किए गए उत्पादन पर स्वामित्व था तथा इस अवस्थता में मालिक और दासों के मध्य विरोध हुआ जिसकी परिणति निषेध के परिणामस्वरूप **गुणात्मक परिवर्तन** में हुई और सामन्तवादी समाज की अवस्थता ने अपना स्वरूप ले लिया।

7.5.3 सामन्तवाद समाज—

दास प्रथा पहली अवस्था थी जिसमें उत्पादन के संबध मालिक वर्ग द्वारा दास वर्ग के शोषण तथा आधिपत्य पर आधारित थे यह वह अवस्था थी जहा से वर्ग असमानता और वर्ग संघर्ष का इतिहास शुरू हुआ। इस अवस्थता में ही उत्पादन के संबधों में पूर्व अवस्थता की तुलना में मौलिक गुणात्मक अन्तर आये। सामन्तवादी अवस्थता मे उत्पादन की शक्तियों में तीव्र **मात्रात्मक परिवर्तन** हुये जिनके अन्तर्गत पहली बार जल वायु ऊर्जा जैसे अजैवकीय साधनों का प्रयोग हुआ। इन उत्पादक शक्तियों के विकास में सामन्तवादी उत्पादन के संबधों में सहायता मिली सामन्तवादी भूपतियों ने भूमिहीन किसानों को शोषित किया कालान्तर में नगरों का विकास हुआ इस अवस्था में व्यापार बढा। ऐसी स्थिति में सामन्तवादी जागीरों से अनेक भूमिहीन किसान नवविकसित नगरों में भाग गये ताकि वे वहा व्यापार कर सके सामन्तवादी व्यवस्थाये विपरीतों का संघर्ष अर्थात् भूमिहीन किसानों और सामन्तवादी भूपतियों के बीच संघर्ष अपनी परिपक्वता पर पहुच गया। सामन्तवादी व्यवस्थता का पतन हुआ तथा इसका निषेध पूंजीवादी व्यवस्थता थी।

7.5.4 पूंजीवाद समाज—

इस युग का प्रादुर्भाव मशीनों के आविष्कार तथा बडे बडे उद्योग धन्धों के जन्म के फलस्वरूप हुआ इस युग में उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का अधिकार होता है। उत्पादन कार्य करने वाला दूसरा वर्ग वेतनभोगी श्रमिक व्यक्तिगत रूप में स्वतंत्र होते है इस कारण दासों की भाति उन्हें पूंजीपति लोग बेच या मार नही सकते थे। लेकिन श्रमिकों को अपना श्रम पूंजीपतियों के हाथो बेचना पडता था। जिसके बदले उनको नाम मात्र का वेतन मिलता था। इस प्रकार समाज में दो वर्ग— पूंजीपति व श्रमिक का उदय हुआ। मार्क्स ने पहले वाले को बुजुर्ग तथा दूसरे को सर्वहारा वर्ग कहा। धीरे धीरे समाज में पूंजीवाद का प्रभाव समाज में बढने लगा और दासत्व अवस्थता समाप्त होकर नये वर्ग में रूपान्तरित होने लगी।

पूंजीवादी समाज में उत्पादन का स्पष्ट सामाजिक स्वरूप होता है फैक्ट्रियों में अधिक संख्या में श्रमिक काम करते है तथा सामाजिक उत्पादन मे भाग लेते है जबकि उत्पादन के साधनों के स्वामियों का एक छोटा सा समूह उनके श्रम के लाभ ले लेता है। यह पूंजीवाद का मूलभूत आर्थिक विरोधाभास है ये विरोधाभास

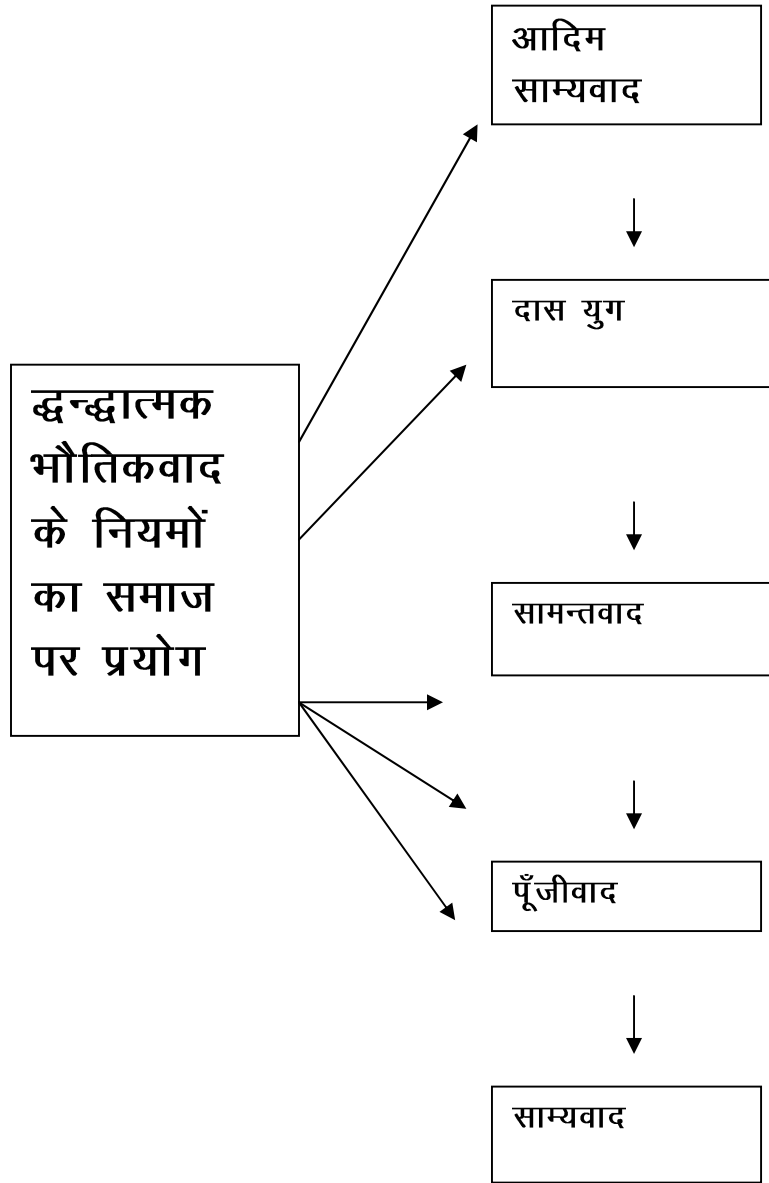
आर्थिक समस्या व बेरोजगारी को जन्म देता है। जो कि दोनो वर्ग के बीच वर्ग संघर्ष का कारण बनती है अर्थात् **मात्रात्मक परिवर्तनों** का कारण बनती है। मार्क्स कहता है कि यह क्रान्ति पूंजीवादी उत्पादन के संबंधों को समाप्त कर देगी और एक नया **गुणात्मक परिवर्तन** लायेगी। जिसके परिणामस्वरूप नयी सामाजिक संरचना स्थापित होगी।

7.5.5 साम्यवाद समाज—

मार्क्स ने अपनी द्वन्द्ववादी पद्धति का उपयोग आदिम साम्यवादी युग से लेकर पूंजीवादी युग तक के सामाजिक विकास को स्पष्ट करने के लिये किया। मार्क्स कहता है कि जब पूंजीवाद विकास की चरम अवस्था पर पहुंच जायेगा तब सामन्तवाद तथा पूंजीवाद के बीच पैदा होने वाले द्वन्द्व के परिणामस्वरूप साम्यवाद के रूप में एक नया *संश्लेषण* सामने आयेगा। इस अवस्था में सर्वहारा वर्ग संगठित होकर उत्पादन के साधनों पर पूरे समाज का अधिकार होगा तथा उत्पादक शक्ति का प्रयोग सभी के लाभ के लिये किया जायेगा। इस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी *कुशलता* और क्षमता के अनुसार कार्य दिया जायेगा तथा उसकी आवश्यकता के अनुसार ही उसे सुविधायें प्राप्त होगी।

मार्क्स कहते हैं कि साम्यवादी युग की स्थापना के लिये श्रमिक वर्ग पूंजीपति वर्ग को उसी हथियार से समाप्त कर देगा जिस हथियार से पूंजीपतियों ने सामन्तवाद को समाप्त कर दिया। अतः स्पष्ट है कि मार्क्स ने भौतिक शक्तियों के बीच चलने वाले द्वन्द्व के आधार पर इतिहास की विवेचना करके सामाजिक विकास को नये रूप में स्पष्ट किया तथा जिस द्वन्द्ववादी पद्धति की सहायता से भौतिक *दशाओं* के प्रभाव को स्पष्ट किया वह मार्क्स के चिंतन की *विषिष्टता* को स्पष्ट करती है।

वास्तविकता यह है कि मार्क्स के सभी प्रतिपादित सिद्धान्तों पर उनकी द्वन्द्ववादी पद्धति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। अतः आप यहाँ द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा इससे संबंधित मार्क्स के विचारों को अच्छी तरह से जान गये होंगे। अब आप इन नियमों का प्रयोग समाज को समझने में करें।



चित्र – मार्क्स के अनुसार द्वन्द्व्यात्मक भौतिकवाद के नियमों का प्रयोग

बोध प्रश्न-2

i) हीगल का द्वन्द्व्यात्मक सिद्धान्त क्या है।

.....

.....

.....

ii) कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को संक्षिप्त में समझाइयें

iii) मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कोई एक विशेषता लिखियें।

iv) द्वन्द्वात्मकता के नियम कौन कौन से हैं।

iv) द्वन्द्वात्मकता के नियमों का प्रयोग कौन सी समाज की अवस्थाओं में कार्ल मार्क्स करता है।

7.6 सारांश

इस प्रस्तुत इकाई में कार्ल मार्क्स के द्वंद्ववादी सिद्धान्त के बारे में बताया गया है। जिसका उल्लेख उनकी कृति 'German Ideology' में किया गया है। जर्मनी में जन्में कार्ल मार्क्स (1818–1883) को आधुनिक समाजवादी विचारधारा का पिता माना जाता है। कार्ल मार्क्स के द्वंद्ववादी सिद्धान्त में द्वंद्ववादी व सामाजिक परिवर्तन के गंभीर दार्शनिक योगदान का अध्ययन किया है। सबसे पहले आपको द्वंद्ववादीता की अवधारणा से अवगत कराया गया है साथ ही हीगल व कार्ल मार्क्स के विचारों को बताया गया। इसके बाद द्वंद्ववादीता एवं परिवर्तन के मौलिक नियम बताये गये हैं। जिसमें बताया गया कि मार्क्स प्रथम व्यावहारिक दार्शनिक है जिसने कहा कि ऐतिहासिक घटनाओं पर आर्थिक परिस्थितियाँ अपना प्रभाव डालती हैं। द्वंद्ववादी भौतिकवाद मार्क्स के विचारों का मूल आधार है मार्क्स ने हीगल के द्वंद्ववादी विचार ग्रहण किये लेकिन उनमें कुछ संशोधन किया। मार्क्स के लिए वास्तविकता विचार मात्र नहीं भौतिक सत्य है, विचार स्वयं पदार्थ का विकसित रूप है, उसका भौतिकवाद विकासवान है लेकिन यह विकास द्वंद्ववादी प्रकार से होता है। इस प्रकार मार्क्स हीगल के विचारवाद का विरोधी है लेकिन उसकी द्वंद्ववादी प्रणाली को स्वीकार करता है। मार्क्स का दर्शन द्वंद्ववादी भौतिकवाद इसलिए कहलाता है क्योंकि इसमें प्रकृति के घटनाक्रम को समझने का तरीका द्वंद्ववादी है। द्वंद्ववादी भौतिकवाद के अनुसार, विश्व का निर्माण आत्मा विचार चिन्तन से नहीं अपितु भौतिक पदार्थ या वस्तु से हुआ है। चेतना का आधार भौतिक है पदार्थ है पदार्थ में दो विरोधी शक्तियाँ पायी जाती हैं जिनके द्वंद्व या संघर्ष से ही विश्व एवं प्रकृति का निर्माण होता है यह पदार्थ गतिशील है। मार्क्स का द्वंद्ववादी भौतिकवाद विश्व का आधार भौतिक तत्व या पदार्थ को मानता है जो कि अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा विकसित होकर नाना रूप धारण कर लेता है यह विकास भौतिक पदार्थ में स्वाभाविक रूप से ही निहित एक आन्तरिक विरोध द्वारा संचालित होता है और इसमें वाद, प्रतिवाद और संवाद ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। विकास की यह प्रक्रिया सीधी एवं सरल नहीं है वरन् एक बिन्दु पर आकर अकस्मात् तीव्र विस्फोट की भाँति होती है यही स्थिति सामाजिक परिवर्तन में क्रांति लाती है। प्रत्येक क्रांति के बाद नवीन सामाजिक अवस्था का जन्म होता है इससे द्वंद्ववादी भौतिकवाद का क्रांतिकारी रूप स्पष्ट होता है।

7.7 पारिभाषिक शब्दावली

द्वंद्ववादी— द्वंद्ववादी अंग्रेजी के शब्द डाइलेक्टिक का हिन्दी रूपान्तरण है जिसका साधारण अर्थ वाद-विवाद या तर्क-वितर्क करना होता है। द्वंद्ववादी अर्थात् दो परस्पर विरोधी शक्तियों या प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष करना होता है।

द्वंद्वत्मक भौतिकवाद— में प्रत्येक वस्तु की व्याख्या परिवर्तन के संदर्भ में करता है यह परिवर्तन पदार्थ में अंतनिर्हित परस्पर विरोधी शक्तियों निरंतर विरोधाभास के कारण होता है। द्वंद्वत्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु गतिशील होती है।

निशेध— एक नई अवस्था जो कि गुणात्मक परिवर्तन का परिणाम होती है तथा प्राचीन को प्रतिस्थापित करने के लिये एक प्रगतिशील परिवर्तन है।

निशेध का निशेध— जब कोई वस्तु किसी प्राचीन के निषेध के फलस्वरूप अस्तित्व में आती है तथा दुबारा इस वस्तु का निषेध गुणात्मक परिवर्तन के माध्यम से हो जाता है।

परिवर्तन— किसी भी वस्तु में दो समय में होने वाली भिन्नता ही परिवर्तन कहलाती है।

वर्ग— वे लोग जिनके उत्पादन के साधनों से समान संबन्ध होते हैं अर्थात् अपने समान हितों के प्रति जिनमें समान जागरूकता पायी जाती है। वे एक से वर्ग का निर्माण करते हैं।

मात्रात्मक परिवर्तन— किसी भी वस्तु में ऐसा छोटा अथवा बड़ा परिवर्तन जिसमें कि वस्तु की पहचान परिवर्तित नहीं होती है।

गुणात्मक परिवर्तन— नये का प्रादुर्भाव या प्राचीन की विलुप्ति गुणात्मक परिवर्तन है।

7.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

- i) द्वन्द्ववाद का अंग्रेजी रूपान्तरण **Dialectic** यूनानी शब्द **Dialego** से बना है जिसका अर्थ बातचीत करना अर्थात् तर्क वितर्क करना होता है।
- ii) द्वंद्वत्मक तर्क पद्धति दो या दो से अधिक लोगों के बीच चर्चा करने की विधि है जो किसी विषय पर अलग अलग राय रखते हैं किन्तु तर्क पूर्ण चर्चा की सहायता से सत्य तक पहुँचने के इच्छुक हैं।
- iii) हीगल नामक विद्वान से
- iv) भौतिक पदार्थ
- v) हाँ
- vi) तीन अवस्थायें— वाद, प्रतिवाद एवं संवाद

vi) असत्य

vi) सत्य

बोध प्रश्न-2

i) हीगल एक दार्शनिक विचारक थे। हीगल ने द्वंद्व्यात्मक विचार प्रस्तुत किये। हीगल ने जगत में विचारों को ज्यादा महत्वपूर्ण बताया न कि पदार्थों को। हीगल के अनुसार, जब हमारे मस्तिष्क में कोई विचार पैदा होता है तब उसी समय उसका एक प्रतिवाद विचार हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न होने लगता है। इन दोनों विचारों के बीच द्वन्द्व की प्रक्रिया शुरू हो जाती है जिसका परिणाम एक ऐसे विचार के रूप में होता है जिसे हम समन्वय की दशा कह सकते हैं।

ii) द्वन्द्व्यात्मक भौतिकवाद मार्क्स के विचारों का मूल आधार है मार्क्स के लिए वास्तविकता विचार मात्र नहीं भौतिक सत्य है, विचार स्वयं पदार्थ का विकसित रूप है, उसका भौतिकवाद विकासवान है लेकिन यह विकास द्वंद्व्यात्मक प्रकार से होता है इस प्रकार मार्क्स हीगल के विचारवाद का विरोधी है। मार्क्स का द्वन्द्व्यात्मक भौतिकवाद विश्व का आधार भौतिक तत्व या पदार्थ को मानता है जो कि अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा विकसित होकर नाना रूप धारण कर लेता है यह विकास भौतिक पदार्थ में स्वाभाविक रूप से ही निहित एक आन्तरिक विरोध द्वारा संचालित होता है और इसमें वाद, प्रतिवाद और संवाद ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। विकास की यह प्रक्रिया सीधी एवं सरल नहीं है वरन् एक बिन्दु पर आकर अकस्मात् तीव्र विस्फोट की भाँति होती है यही स्थिति सामाजिक परिवर्तन में क्रान्ति लाती है। प्रत्येक क्रान्ति के बाद नवीन सामाजिक अवस्था का जन्म होता है इससे द्वन्द्व्यात्मक भौतिकवाद का क्रान्तिकारी रूप स्पष्ट होता है।

iii) तत्वशास्त्र के विपरीत मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद यह मानता है कि प्रकृति एक स्थिर, अगतिशील, अपरिवर्तनशील और चिरन्तन स्थिति नहीं है प्रकृति तो निरन्तर गतिशील परिवर्तनशील नवीन परिवर्द्धित तथा परिमार्जित स्थिति है। जिसमें कुछ चीजों का सदैव उदभव और विकास होता है और कुछ की अवनति और विनाश।

iv) विपरीत की एकता एवं संघर्ष का नियम, निषेध का निषेध नियम, मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों में परिवर्तन का नियम

v) आदिम साम्यवादी समाज, दासप्रथावादी समाज, सामंतवादी समाज, पूंजीवादी समाज

7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Marx, Karl, (1964) *Selected Writings in Sociology and Social Philosophy*, McGraw Hill, London
- Marx, Karl, and Engels Friedrich (1964) *German Ideology*, Frederick Ungar, New York
- Menand, Louls, (2016) *Karl Marx, Yesterday and today*, Frederick Ungar, Newyork
- Aron, Raymond, (1970) *Main currents in sociological thought*, vol.1 &2, Penguin books, London
- Bottomore, T.B., (1969) *Sociology: A guide to problem and literature*, Allen and unvin, London
- मजूमदार, डी0एन0 और मदान, टी0एन0, (1986) एन इंट्रोडक्शन टू सोशल एन्थरोपॉलाजी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
- गुप्ता एवं शर्मा, (2006) *समाजशास्त्र*, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- बोटोमोर, टी0बी0, 1975 मार्क्सवादी समाजशास्त्र, (अनुवादक: सदाशिव द्विवेदी) मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड नई दिल्ली
- कोजर लेविस ए 1971 मास्टर्स ऑफ सोशियॉलाजिकल थॉट : आइडियाज इन हिस्टारिकल एण्ड सोशल कॉन्टेक्स्ट, हरकोर्ट ब्रेस जोवैनोविश्व : न्यूयार्क

7.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- Coser, Lewis A, (1996) *Masters of Sociological Thought*, Rawat publication, Jaipur
- Giddens, Anthony, (1993) *Sociology*, polity press, Cambridge
- Mitchell, G Duncan, (1979) *A New Dictionary of Sociology*, Routledge & Kegan Paul, London
- सिंह जे0 पी0, (2008) समाजशास्त्र—अवधारणाएं एवं सिद्धान्त, पीएचआई लर्निंग नई दिल्ली

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाज में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
2. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद क्या है? इसकी सविस्तार व्याख्या कीजिए।
3. हीगल व कार्ल मार्क्स के सिद्धांतों का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संबंध में वर्णन कीजिए।
सैद्धान्तिक वर्णन कीजिए।

इकाई 8— उत्पादन की विधियां : आदिम साम्यवादी युग से समाजवादी युग तक
Modes of production: From primitive communism to Socialism

इकाई की रूपरेखा

- 8.0 उद्देश्य
- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 उत्पादन की शक्तियां एवं संबन्ध
- 8.3 कार्ल मार्क्स के विचार—
 - 8.3.1 आर्थिक व्यवस्था एवं समाज
 - 8.3.2 आर्थिक कारक एवं शक्ति
 - 8.3.3 उत्पादन की विधियां एवं सामाजिक परिवर्तन
- 8.4 उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूप
 - 8.4.1 आदिम साम्यवादी उत्पादन प्रणाली
 - 8.4.2 दासत्व उत्पादन प्रणाली
 - 8.4.3 सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली
 - 8.4.4 पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली
 - 8.4.5 समाजवादी उत्पादन प्रणाली
- 8.5 सारांश
- 8.6 पारिभाषिक शब्दावली
- 8.7 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर
- 8.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 8.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 8.10 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा—

- उत्पादन की शक्तियों एवं संबन्धों को समझना,
- कार्ल मार्क्स के विचारों को उत्पादन प्रणाली के संबन्ध में जानना,
- आर्थिक व्यवस्था एवं समाज, आर्थिक कारक एवं शक्ति की सामाजिकता को स्पष्ट करना,
- उत्पादन की विधियां एवं सामाजिक परिवर्तन को समाज संदर्भ में समझना,
- कार्ल मार्क्स के विचारों द्वारा उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या करना,

8.1 प्रस्तावना

इस प्रस्तुत इकाई में ऐतिहासिक भौतिकवाद पर विचार करते हुये आपको उत्पादन की विधियों को समाज संदर्भ में समझाया जायेगा कि किस प्रकार उत्पादन की शक्तियां समाज को प्रभावित करती है। सर्वप्रथम

आपको उत्पादन की शक्तियां एवं संबन्ध के बारे में बताया जायेगा कि उत्पादन की 'शक्तियां' एवं 'सम्बन्ध' सशक्त रूप से परस्पर जुड़े होते हैं। उसके उपरान्त कार्ल मार्क्स के विचारों को आर्थिक व्यवस्था एवं समाज तथा आर्थिक कारक व शक्ति तथा उत्पादन प्रणाली को सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में जाना गया है। इसमें बताया गया कि मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की और कहा कि मानव इतिहास में अब तक जो परिवर्तन हुए हैं वे उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के कारण हुये हैं अर्थात् उत्पादन प्रणाली ही निर्णायक कारक है। इसके उपरान्त मार्क्स के विचारों को उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूपों जिसमें आदिम साम्यवादी युग, दासत्व, सामन्तवादी, पूंजीवादी व समाजवादी युग में उत्पादन प्रणाली के बारे में बताया जायेगा। जिससे आप उत्पादन प्रणाली व सामाजिक परिवर्तनों को समाज संदर्भ में मार्क्स के दृष्टिकोण से समझ सकें।

8.2 उत्पादन की शक्तियां एवं संबन्ध

यहां पर हम आपको उत्पादन की शक्तियों के बारे में अवगत करायेगें कि किस प्रकार उत्पादन की शक्तियां समाज को प्रभावित करती हैं। मानव जाति प्रकृति पर नियंत्रण करना चाहती है, लेकिन यह नियंत्रण कितना होगा, इसकी अभिव्यक्ति उत्पादन की शक्तियां करती हैं। जितनी अधिक या कम उन्नत उत्पादन शक्तियां होंगी उतना ही अधिक या कम प्रकृति पर मानव का नियंत्रण होता है। इन उत्पादन की शक्तियों को भौतिक वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त भौतिक तरीकों के रूप में समझा जा सकता है। इसके अंतर्गत तकनीकी जानकारी, उत्पादन की प्रक्रिया में प्रयुक्त उपकरण या उत्पाद आदि आते हैं जैसे— उपकरण, मशीनें, श्रम तथा प्रौद्योगिकी के स्तर आदि सभी उत्पादन की शक्तियां कहलाती हैं।

मार्क्स के अनुसार, उत्पादन की शक्तियों में उत्पादन के साधन व श्रम शक्ति शामिल होती हैं। उत्पादन की शक्तियों के अंतर्गत मशीनों का विकास, श्रम प्रक्रिया में परिवर्तन, ऊर्जा के नए स्रोतों की खोज तथा श्रमिकों की शिक्षा आदि आती हैं अर्थात् विज्ञान व सम्बन्धित कौशल को उत्पादक शक्तियों के अंग के रूप में देखा जा सकता है। कुछ मार्क्सवादियों ने तो भौगोलिक या पारिस्थितिक भू-भाग तक को भी उत्पादन शक्ति के रूप में शामिल कर लिया है। प्रौद्योगिकी, जनांकिकी, पारिस्थितिकी अथवा "भौतिक जीवन" में अनचाहे परिवर्तन स्वयं उत्पादन प्रणाली को प्रभावित करते हैं और उत्पादक सम्बन्धों के सन्तुलन को भी काफी सीमा तक परिवर्तित करते हैं लेकिन अनचाहे परिवर्तन, उत्पादन प्रणाली को अनायास ही पुनर्गठित नहीं करते। शक्ति के सम्बन्धों, प्रभुत्व के स्वरूपों और सामाजिक संगठनों के स्वरूपों का कोई भी पुनर्गठन प्रायः संघर्ष का परिणाम होता है। संघर्ष की दशाएं एवं प्रकृति भौतिक जीवन में परिवर्तन द्वारा निर्धारित होती हैं। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन की भौतिक शक्तियों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। कभी-कभी यह परिवर्तन कुछ प्राकृतिक तथा पारिस्थितिक प्रघटनाओं के कारण भी होता है जैसे— जनजातीय समाजों में देखो जा सकता है। ऐसा परिवर्तन प्रायः नदियों के सूखने, निर्वनीकरण अथवा भूमि क्षरण जैसी प्रघटनाओं के कारण होता है। ज्यादातर यह परिवर्तन प्रायः उत्पादन के उपकरणों में विकास के फलस्वरूप होता है। मानव ने अपने जीवन को बेहतर बनाने तथा अभावों की पूर्ति के सदैव प्रयास किए हैं। मनुष्य ने अपने श्रम द्वारा प्रकृति पर विजय पाई है तथा इस निरन्तर संघर्ष से उत्पादन की शक्तियां विकसित हुई हैं।

इस प्रक्रिया में उत्पादन की शक्तियों का विकास प्रमुख होता है और यह बहिर्जन्य कारक द्वारा प्रभावित होता है। इस कारक का अभिप्राय उस प्रेरक शक्ति से है जो कि उत्पादन की शक्तियों और

सम्बन्धों से बाहर होती है। उत्पादन की शक्तियों पर प्रभाव डालती है। प्रेरक शक्ति मनुष्य की तर्कसंगत तथा शाश्वत मानसिक प्रेरणा है। इसके द्वारा मनुष्य उत्पादक शक्तियों का विकास करके कमियों पर काबू पाने और अपनी स्थिति को बेहतर बनाने की कोशिश करते हैं। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो समाज में उत्पादन करता है। मनुष्य अपने श्रम द्वारा प्रकृति पर विजय पाकर यह उत्पादन करता है। उत्पादक शक्तियां प्रकृति को उपयोगी मूल्यों और विनिमय मूल्यों में परिवर्तित कर देती हैं। उत्पादक शक्तियां मनुष्य के मध्य उत्पादक सम्बन्धों की क्रमिक व्यवस्थाओं के विनाश और सृजन को बाध्य करती हैं। उत्पादक शक्तियों की प्रकृति विकासशील होती है और वे प्रकृति पर मनुष्य की विजय और ज्ञान में वृद्धि के साथ-साथ विकसित होती हैं। जहां-जहां ये शक्तियां विकसित होती हैं, नए उत्पादन के सम्बन्ध विकसित होते हैं और विकास के एक बिन्दु पर पहुंच कर उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के मध्य संघर्ष होता है, क्योंकि उत्पादक सम्बन्ध अब नई उत्पादक शक्तियों से सामंजस्य नहीं रख पाते। ऐसी स्थिति में समाज क्रान्ति के युग में प्रविष्ट करता है। मनुष्य वर्ग-संघर्ष की स्थिति को पहचानते हुए इस क्रान्ति के प्रति जागरूक होते हैं। वर्ग-संघर्ष पुरातन व्यवस्था के संरक्षकों तथा नई आर्थिक संरचना के अग्रणों के मध्य होता है।

उत्पादन के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक संगठन समाज की उत्पादक क्षमता के विकास में योगदान देते हैं अथवा उसे हतोत्साहित करते हैं और उसी के अनुसार ये संगठन उदित अथवा नष्ट हो जाते हैं। ये संगठन मानव इतिहास की विशिष्टता रहे हैं। इस प्रकार उत्पादक शक्तियों का विकास मानवीय इतिहास की सामान्य प्रक्रिया की व्याख्या करता है। हमने पहले ही बताया है कि उत्पादक शक्तियों में सिर्फ उत्पादन के साधन (उपकरण, मशीनें, फैक्ट्रियां आदि) ही नहीं होते, अपितु कार्य में प्रयुक्त **श्रमशक्ति**, कौशल, ज्ञान, अनुभव तथा अन्य मानवीय योग्यताएं भी शामिल होती हैं। भौतिक उत्पादन की प्रक्रिया में समाज के पास जो शक्तियां होती हैं, ये उत्पादक शक्तियां उनको अभिव्यक्त करती हैं। अब हम उत्पादन की शक्तियां को सम्बन्धों के रूप में समझने की कोशिश करते हैं।

भौतिक उत्पादन में उत्पादन की शक्तियां ही एकमात्र कारक नहीं होती। समाज में लोग एक संगठित होकर ही उत्पादन कर सकते हैं। इस अर्थ में श्रम सदैव सामाजिक होता है। मार्क्स के अनुसार, समाज के सदस्य उत्पादन करने के उद्देश्य से परस्पर सुनिश्चित सम्बन्ध में बंध जाते हैं। इन सामाजिक सम्बन्धों के अंतर्गत ही उत्पादन किया जाता है। यह आसानी से कहा जा सकता है कि **उत्पादन के सम्बन्ध** उत्पादन की प्रक्रिया में जुटे लोगों के मध्य सामाजिक सम्बन्ध हैं। ये सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों के विकास के स्तर एवं प्रकृति द्वारा निर्धारित होते हैं। (इगन्यू एएसओ03: समाजशास्त्रीय सिद्धान्त)

उत्पादन की 'शक्तियां' एवं 'सम्बन्ध' सशक्त रूप से परस्पर जुड़े होते हैं। इनमें से किसी भी एक का विकास दूसरे में विरोधाभास अथवा असामंजस्य पैदा कर देता है। वस्तुतः उत्पादन के इन दोनों पक्षों के मध्य विरोधाभास 'इतिहास का संचालक तत्व' होता है (बॉटोमोर 1983:178)। ऐतिहासिक विकास में प्रभावों की श्रृंखला इसी प्रकार चलती है। उत्पादन की शक्तियां उत्पादन के सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं। तथापि इस बात को लेकर काफी विवाद है कि उत्पादन की शक्तियों का उत्पादन के सम्बन्धों पर प्रभुत्व होता है। जैसाकि हमने पहले बताया कि यहां मार्क्स की इन विभिन्न व्याख्याओं की चर्चा विस्तार से नहीं की जाएगी। मार्क्स की स्वयं की कृतियों में इस मुद्दे पर अस्पष्टता है कहीं वह उत्पादन के सम्बन्धों को प्राथमिक बताता है तो कहीं पर वह उत्पादन की शक्तियों को सामाजिक परिवर्तन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताता है। उत्पादन के सम्बन्ध किसी भी समाज के उत्पादन के स्तर के साथ-साथ चलते हैं और उत्पादन

की प्रक्रिया में उत्पादक शक्तियों तथा मनुष्य को जोड़ते हैं। ये सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं। पहले सम्बन्ध तकनीकी सम्बन्ध होते हैं, जो कि वास्तविक उत्पादन प्रक्रिया के लिए आवश्यक होते हैं। दूसरे सम्बन्ध, आर्थिक नियंत्रण के सम्बन्ध होते हैं जो कि सम्पत्ति के स्वामित्व में वैधानिक रूप से अभिव्यक्त होते हैं। ये उत्पादन की शक्ति और उत्पादों तक मनुष्य की पहुंच को नियंत्रित करते हैं। उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध होते हैं। इस प्रकार इनके अंतर्गत कामगारों अथवा प्रत्यक्ष उत्पादकों और उनके नियोक्ताओं, मजदूरों अथवा श्रम के नियंत्रकों के परस्पर सम्बन्ध तथा प्रत्यक्ष उत्पादकों के परस्पर सम्बन्ध शामिल हैं।

उत्पादक के सम्बन्ध उत्पादन के साधनों का स्वामित्व मात्र नहीं होते। नियोक्ता का कामगार से सम्बन्ध प्रभुत्व का होता है। जबकि कामगार का अपने सहयोगी कामगार के साथ सम्बन्ध सहकारिता का होता है। उत्पादन के सम्बन्ध व्यक्तियों के मध्य संबंध होते हैं। जबकि उत्पादन के साधन व्यक्तियों और वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध होते हैं। उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास की दिशा और गति को प्रभावित कर सकते हैं। उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के आर्थिक स्वामित्व में प्रतिबिम्बित होते हैं। उदाहरण के लिए, पूंजीवाद के अन्तर्गत इन सम्बन्धों में सबसे अधिक मूलभूत बात उत्पादन के साधनों का पूंजीपतियों द्वारा स्वामित्व है, जबकि सर्वहारा वर्ग सिर्फ श्रम शक्ति का मालिक होता है। उत्पादन के सम्बन्धों से उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन लाए जा सकते हैं तथा ये सम्बन्ध शक्तियों पर प्रभुत्व भी स्थापित कर सकते हैं। उदाहरण के तौर पर, पूंजीवादी उत्पादन के सम्बन्ध प्रायः श्रम प्रक्रिया तथा उत्पादन के उपकरणों में क्रान्ति ला देते हैं।

8.3 कार्ल मार्क्स के विचार

कार्ल मार्क्स का जन्म 05 मई सन् 1818 में राइन प्रान्त के टियर नगर के एक यहूदी परिवार में हुआ था। इनके पिता पेशे से वकील थे जिन्होंने बाद में ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। कार्ल मार्क्स की शिक्षा एक अच्छे स्कूल जिमनेजियम से होती हुई बोन विश्वविद्यालय से शिक्षा ग्रहण करने के बाद बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया यही से इनके जीवन में नया मोड़ आया। इस विश्वविद्यालय में हीगल के विचारों का काफी प्रभाव था जो कि कार्ल मार्क्स पर भी पडा। कार्ल मार्क्स को अपने डॉक्टरेट की उपाधि अपने शोध प्रबन्धन **"On the Difference between the Natural Philosophy of Democritus and Epicurus"** पर हुई। कार्ल मार्क्स ने अनेक सिद्धांत प्रतिपादित किये। यहा पर हम उनके समाज में आर्थिक व्यवस्था व उत्पादन प्रणाली पर विचार करेंगे।

8.3.1 आर्थिक व्यवस्था एवं समाज –

जी0के0अग्रवाल (2012) मार्क्स कहते है कि किसी भी समाज में विद्यमान आर्थिक व्यवस्था ही उस समाज की मूल-संरचना होती है। उस समाज में पाये जाने वाले मूल्य, रीति-रिवाज, संस्कृति, कानून, नियम तथा सामाजिक मानदण्ड आदि वे अधि-संरचनाएँ (Super-structures) होते है। जिनका विकास मूल संरचना की प्रकृति के अनुसार ही होता है। मार्क्स का कथन है कि समाज की मूल संरचना का निर्माण जिन आर्थिक दशाओं के आधार पर होता है उनमें उत्पादन के साधनों तथा उत्पादन के तरीकों का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि उत्पादन के साधनों में स्वामित्व तथा श्रम-सम्बन्धों के आधार पर ही समाज की उस अधो-संरचना का निर्माण होता है जिसमें सामाजिक मूल्य, रीति-रिवाज, धर्म, कानून, शिक्षा तथा

राजनीतिक आदि का समावेश होता है। इसे स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने बताया कि जब समाज में आदिम साम्यवाद की दिशा विद्यमान थी तब वह मूलतः एक अनुत्पादक समाज था। उस समय व्यक्ति पशुओं की तरह प्रकृति से प्राप्त वस्तुओं का उपभोग किया करते थे। इस स्तर में हथियार मनुष्य की पहली सम्पत्ति बने जिसका उपयोग शक्तिशाली लोगों ने दुर्बल लोगों का शोषण करने के लिए किया। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि उस समय के हथियार तथा औजार ही उत्पादन के साधन थे, जिन्होंने समाज में, एक विशेष प्रकार की मूल संरचना का निर्माण किया। इनके आधार पर तत्कालीन समाज में जिन सामाजिक मूल्यों के स्थापना हुई वे वर्तमान समाज के मूल्यों से बिल्कुल भिन्न थे।

सामन्वादी अर्थव्यवस्था तथा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों तथा उत्पादन के तरीकों में एक आधारभूत अन्तर देखने को मिलता है। यही कारण है कि इन दोनों तरह की व्यवस्थाओं में समाज की जिस अधो-संरचना का निर्माण हुआ उनका रूप भी एक दूसरे से काफी भिन्न है। सामन्वादी आर्थिक व्यवस्था में बनने वाली समाज की अधो-संरचना में परम्परागत सत्ता अर्ध-दास प्रथा अथवा बन्धुआ मजदूरों का समावेश था। दूसरी ओर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने एक ऐसी अधो-संरचना का निर्माण किया जिसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के संचय को विशेष महत्व दिया जाने लगा। इस आधार पर मार्क्स ने बतलाया कि प्रत्येक युग के समाज में उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर बनने वाली मूल संरचना तथा उसकी अधो-संरचना के बीच द्वन्द्व होता है। इसी द्वन्द्व के परिणामस्वरूप ऐसी दशा उत्पन्न होती है जिसे हम क्रान्ति कहते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक समाज दो मुख्य भागों में विभक्त होता है जिनमें से एक को हम इसकी मूल संरचना और दूसरे को इसकी अधो-संरचना कहते हैं। मूल संरचना का निर्माण आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर होता है जबकि अधो-संरचना में सामाजिक, वैधानिक तथा अन्य सम्बन्धों का समावेश होता है। समाज की इस मूल संरचना और अधो-संरचना के बीच जो अन्तर्विरोध बने रहते हैं उसी के फलस्वरूप क्रान्ति का जन्म होता है।

8.3.2 आर्थिक कारक एवं शक्ति –

शक्ति राजनीतिक व्यवस्था का एक प्रमुख आधार है। बॉटोमोर ने भी शक्ति को 'राजनीति के केन्द्र-बिन्दु' के रूप में स्पष्ट किया है। पार्सन्स शक्ति को एक ऐसे तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं जो शासक और शासितों के बीच सन्तुलन बनाये रखता है। आपके अनुसार शक्ति ही वह आधार है जिसके कारण शासक और शासित दोनों समाज के हित को ध्यान में रखते हुए कार्य करते हैं। इन विचारों के ठीक विपरीत, कार्ल मार्क्स ने यह स्पष्ट किया कि शक्ति एक ऐसा तत्व है जिसका उपयोग आर्थिक रूप से प्रभुतासम्पन्न, वर्ग अपने हितों के लिए करता है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समाज में शक्ति का स्रोत समाज की आर्थिक मूल संरचना में निहित होता है। इसे स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने बताया कि स्तरों में विभाजित प्रत्येक समाज में उत्पादन की शक्तियाँ कुछ लोगों के हाथ में ही केन्द्रित होती हैं। यही लोग सत्ता वर्ग के प्रतिनिधि भी होते हैं। उत्पादन की शक्तियों के कारण समाज में जिस उच्च वर्ग का निर्माण होता है उसकी प्रभुता अथवा शक्ति का कारण उत्पादन की शक्तियों पर उनका अधिकार होना ही है। इस दृष्टिकोण से शक्ति का विवेचना केवल आर्थिक आधार पर ही की जा सकती है। सरल शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि जिस वर्ग के पास पूँजी होती है, वही वर्ग समाज में शक्तिशाली होता है। इस आधार पर मार्क्स ने लिखा है कि "यदि सत्ता को पुनः जनसाधारण में स्थानान्तरित करना है तो जनसामान्य को सामूहिक रूप से उत्पादन की शक्तियाँ

अपने हाथों में लेनी होगी। एक पूँजीवादी समाज में सत्ता वर्ग के द्वारा अपनी शक्ति का उपयोग समाज के अन्य वर्गों का शोषण करने के लिए ही किया जाता है। शोषण की इसी प्रक्रिया में बुर्जुआ वर्ग सर्वहारा वर्ग से अधिक से अधिक उत्पादन करवाता है और उसे कम से कम मजदूरी देता है। मार्क्स का कथन है कि शक्तिशाली वर्ग द्वारा किए जाने वाले शोषण बल-प्रयोग ;ब्रमतबपवदद्ध का ही एक विशेष स्वरूप कहा जा सकता है। समाज का सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग के शोषण के अपने हितों के विरुद्ध होने के बाद भी यदि स्वीकार कर लेता है तो इस दशा में यह स्वीकार करना आवश्यक है कि समाज की अधो-संरचना बल-प्रयोग पर आधारित है। इस दशा को इस रूप में भी समझा जा सकता है कि यदि सामाजिक संरचना द्वारा छिपे तौर पर बल-प्रयोग को मान्यता न दी जा रही हो तो सर्वहारा वर्ग उस शोषण को कभी स्वीकार नहीं करेगा जो बुर्जुआ अथवा प्रभुतासम्पन्न वर्ग द्वारा किया जाता है। मार्क्स ने लिखा है कि यदि बुर्जुआ वर्ग की शक्ति को समाज उसकी वैधानिक शक्ति के रूप में स्वीकार कर लेता है तो इस दशा को केवल एक 'झूठी वर्ग-चेतना' ही कहा जा सकता है। मार्क्स ने यह स्पष्ट किया कि समाज की मूल संरचना अथवा आर्थिक संरचना में शोषण और दमन के रूप में प्रभुत्व के जो सम्बन्ध विकसित होते हैं, वे धीरे-धीरे समाज की अधो-संरचना में स्पष्ट रूप से दिखलायी देने लगते हैं। उदाहरण के लिए, एक पूँजीवादी समाज में नियोजक तथा कर्मचारी के बीच पाये जाने वाले असमानतापूर्ण सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब वहाँ की वैधानिक व्यवस्था में दिखलायी देता है। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक पूँजीवाद समाज में विधायिका तथा कानूनों के द्वारा सम्पत्ति के स्वामियों के हितों का ही संरक्षण किया जाता है। मार्क्स के इस कथन से स्पष्ट होता है कि पूँजीवादी समाज की आर्थिक व्यवस्था में पाये जाने वाले असमानताकारी सम्बन्धों के फलस्वरूप ही एक ऐसी असमानता को प्रोत्साहन मिलता है जिसे वैधानिक मान्यता मिली होती है। इस प्रकार समाज के उच्च वर्ग को जब वैधानिक रूप से जनसामान्य का शोषण करने की अनुमति मिल जाती है जब उसकी शक्ति का विस्तार होने लगता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मार्क्स आर्थिक शक्तियों, अर्थात् उत्पादन की शक्तियों को ही सामाजिक शक्ति का प्रमुख आधार मानते हैं। साथ ही मार्क्स यह भी स्वीकार करते हैं कि आर्थिक आधार पर प्राप्त होने वाली शक्ति ही समाज की अन्य संस्थाओं को भी प्रभावित करती है। यहाँ पर आप समाज में आर्थिक व्यवस्था व शक्ति को भलि भाति समक्ष गये होंगे।

8.3.3 उत्पादन की विधियाँ एवं सामाजिक परिवर्तन

मार्क्स का सिद्धान्त वर्तमान समय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी सिद्धान्त माना जाता है मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की और कहा कि मानव इतिहास में अब तक जो परिवर्तन हुए हैं वे उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के कारण हुये हैं अर्थात् उत्पादन प्रणाली ही निर्णायक कारक है। मनुष्य को जीवित रहने के लिए कुछ भौतिक मूल्यों जैसे— रोटी, कपडा, निवास आदि की आवश्यकता होती है इनको पाने के लिए मानव को उत्पादन करना होता है तथा उत्पादन के लिए उत्पादन के साधनों की आवश्यकता होती है जिन साधनों के द्वारा व्यक्ति उत्पादन करता है उन्हें प्रौद्योगिकी कहते हैं। प्रौद्योगिकी में जब परिवर्तन आता है तो उत्पादन प्रणाली में भी परिवर्तन आता है। व्यक्ति अर्थात् मानव अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी न किसी प्रौद्योगिकी को अपनाता है। उत्पादन प्रणाली दो पक्षों से मिलकर बनी होती है एक उत्पादन की प्रौद्योगिकी व श्रमिक तथा दूसरी उत्पादन के संबध। किसी भी उत्पादन के लिए हमें औजार श्रम अनुभव एवं कुशलता की आवश्यकता होती है तथा जो लोग उत्पादन के कार्य में लगे होते हैं उनके बीच कुछ आर्थिक सम्बन्ध भी पैदा हो जाते हैं जैसे— किसान कृषि क्षेत्र में उत्पादन करने के दौरान

मजदूरों, सुनार, लुहार एवं उसके द्वारा उत्पादित वस्तु के खरीदारों से संबंध बनाता है। जब उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है। उत्पादन प्रणाली कभी भी स्थिर नहीं होती है वह बदलती रहती है। उत्पादन प्रणाली समाज का मूल होती है जिस पर समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक राजनीतिक संरचना, विश्वास, कला, साहित्य, प्रथाएं आदि टिके हुये होते हैं। जिस प्रकार की उत्पादन प्रणाली होती है समाज की अधिसंरचना अर्थात् ऊपरी संरचना जिसमें धर्म, प्रथाएं, राजनीति, साहित्य, कला, विज्ञान, एवं संस्कृति आदि आते हैं, भी उसी प्रकार बन जाती है। जब उत्पादन प्रणाली बदलती है तो समाज की संस्थाएं बदलती हैं तथा सामाजिक परिवर्तन आता है। मार्क्स कहते हैं कि जब हाथ की चक्की से उत्पादन किया जाता था तो एक विशेष प्रकार का समाज था और आज जब बिजली की चक्की है तो दूसरे प्रकार का समाज है। पहले जब हल व बैलों से खेती की जाती थी तो अलग समाज था और अब कृषि में ट्रैक्टर एवं वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग हो रहा है तो एक विशेष प्रकार का समाज है। अतः स्पष्ट है कि उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होने पर ही समाज में परिवर्तन आता है। उत्पादन में लगे लोगो के पारस्परिक संबंधों में भी परिवर्तन आता है। आज के युग में पूंजीपति व श्रमिकों में जो संबंध पाये जाते हैं वे कृषि युग के भूस्वामियों एवं मजदूरों के संबंधों से इसलिए भिन्न हैं। मार्क्स का मत है कि उत्पादन के संबंधों के संपूर्ण योग से ही समाज की आर्थिक संरचना का निर्माण होता है। जैसे—कृषि युग में जमींदारों, कृषकों एवं कृषि—श्रमिकों के बीच पाये जाने वाले संबंधों से एक विशेष प्रकार की आर्थिक संरचना का निर्माण हुआ जिसे हम कृषि अर्थव्यवस्था कहते हैं। वर्तमान समय में पूंजीपतियों कारखानों के स्वामियों एवं श्रमिकों के संबंधों से मिलकर बनने वाली आर्थिक संरचना कृषि युग की आर्थिक संरचना से भिन्न है इसे हम औद्योगिक आर्थिक संरचना कहते हैं।

मार्क्स के अनुसार उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है जब उत्पादन के उपकरणों अर्थात् प्रौद्योगिकी, उत्पादन के कौशल, ज्ञान, उत्पादन के संबंध आदि जो कि आर्थिक संरचना का निर्माण करते हैं, में परिवर्तन आता है तो संपूर्ण सामाजिक—सांस्कृतिक अधि संरचना में भी परिवर्तन आता है जिसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। इसकी पुष्टि के लिए मार्क्स ने समाज के विकास के पांच युगों की चर्चा की है और प्रत्येक युग में पाये जाने वाले दो वर्गों का उल्लेख किया। एक वह जिसका उत्पादन के साधनों पर अधिकार है तथा दूसरा वह जो श्रम के द्वारा अपना जीवनयापन करता है। इन दोनों वर्गों के बीच अपने हितों को लेकर संघर्ष रहा है और वर्ग संघर्ष का अन्त नये समाज एवं नये वर्गों के उदय के रूप में हुआ है। मार्क्स कहते हैं कि वर्गों की रचना एवं प्रकृति ही समाज व्यवस्थता का निर्धारण करती है। (गुप्ता एवं शर्मा : 2014)

बोध प्रश्न—1

i) उत्पादन प्रणाली का क्या अर्थ है

.....

ii) उत्पादन की शक्तिया क्या हैं ?

.....

.....

.....

iii) अधि संरचना क्या है ?

.....

.....

.....

iv) उत्पादन प्रणाली किन पक्षों से मिलकर बनती है।

.....

.....

.....

v) बुर्जुवा वर्ग व सर्वहारा वर्ग किस युग प्रणाली में पाया जाता है।

.....

.....

.....

vi) किस उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत श्रमशक्ति बेची व खरीदी जाती है।

- अ) एशियाटिक
- ब) प्राचीन
- स) सामन्तवादी
- द) पूंजीवादी

सत्य/असत्य बताइए ?

vii) मार्क्स के अनुसार, किसी भी समाज में विद्यमान आर्थिक व्यवस्था ही उस समाज की मूल-संरचना होती है।

8.4 उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूप

उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूप

आइए अब हम उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूपों को समाज के विकास के साथ समझने की कोशिश करते हैं। किसी भी विशिष्ट समाज में एक नियत बिन्दु पर एक से अधिक उत्पादन प्रणाली प्रचलित हो सकती हैं। परन्तु समाज के सभी स्वरूपों में उत्पादन का एक निर्धारक प्रकार होता है, जो अन्य सभी परिस्थिति एवं प्रभाव प्रदान करता है। मार्क्स द्वारा मानवीय समाजों के अध्ययन के दौरान बताए गए उत्पादन प्रणाली के निम्न स्वरूपों की यहां चर्चा की गयी है—

8.4.1 आदिम साम्यवादी उत्पादन प्रणाली

मार्क्स के अनुसार, आदिम साम्यवादी युग इतिहास का प्रारम्भिक युग था। इस अवस्था में उत्पादन के साधनों पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं था अपितु समुदाय का उन पर अधिकार होता था। समाज में परिस्थितियां ऐसी थी कि सब लोग मिलजुलकर काम करते थे जिससे वे अपना जीवनयापन व भरण पोषण कर सकें। अकेले जीवनयापन करना असंभव था। उस समय समाज में पत्थर के औजार व उसके बाद तीर, धनुष आदि उत्पादन के मुख्य साधन हुये जिससे वे लोग फल-फूल एकत्रित करते थे तथा साथ ही पशुओं का शिकार करते थे और रहने व खाने आदि जैसे कार्यों में लोग साथ मिलकर काम करते थे तथा अपना जीवनयापन चलाते थे। साथ-साथ मिलकर काम करने के कारण ही उत्पादन के साधनों व उससे प्राप्त वस्तुओं पर सबका अधिकार होता था। भूमि का स्वामित्व सामुदायिक होता था। ये समुदाय नातेदारी संबंधित होते थे। व्यक्तिगत अधिकार का अभाव था। इसलिए उस प्रस्थिति के समाज में वर्ग प्रथा का अभाव था। सब समान थे, शोषण जैसी स्थिति नहीं थी। इसलिए मार्क्स इसे आदिम साम्यवादी अवस्था कहते हैं।

8.4.2 प्राचीन उत्पादन प्रणाली

समयानुसार भौतिक परिस्थितियों में धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ जिससे व्यक्ति पशुपालन व कृषि कार्य करने लगा। जिससे समाज में दस्तकारी और श्रमविभाजन पनपा। जिन व्यक्तियों का भूमि व उत्पादन के साधनों पर अधिकार था वे निस्वहाय लोगों को दास बनाकर उनसे जबरन अपना कार्य करवाने लगे। इस उत्पादन व्यवस्था का आधार दास प्रथा थी। दास का मालिक से सम्बन्ध दास प्रथा का मूल सार माना जाता है। इस उत्पादन प्रणाली में मालिकों का दासों पर स्वामित्व का अधिकार होता है तथा वह दास श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं का उपभोग करता है।

संपूर्ण समाज में धीरे-धीरे दास प्रथा का प्रचलन शुरू हो गया था और संपूर्ण समाज दो वर्गों—मालिक व दास में विभाजित हुआ। मालिकों द्वारा दासों का शोषण अपने कार्यों को करवाने के लिए होने लगा तथा दासों को वस्तुओं की भाँति खरीदा व बेचा जाने लगा। जिस व्यक्ति के पास जितने ज्यादा दास व उतना ही शक्तिशाली व प्रतिष्ठित होता था। यदि हम अपनी चर्चा को कृषि सम्बन्धी दासता तक सीमित रखें तो हमें पता चलता है कि शोषण इस प्रकार से होता है कि दास मालिक की भूमि पर कार्य करता है जिससे उसको बदले में जीवन-निर्वाह मिलता है। दास द्वारा किए गए उत्पादन और उपभोग में जो अंतर

होता है वहीं मालिक का लाभ बन जाता है लेकिन दास को अपने स्वयं के जनन से वंचित रखा जाता है। किसी भी समाज में दासता का जनन इस बात पर निर्भर करता है कि उस समाज में नए दास प्राप्त करने की उस समाज की क्या क्षमता है। समुदाय के अन्य सदस्यों से दास भिन्न होते हैं क्योंकि उन्हें अपनी सन्तान के अधिकार से वंचित रखा जाता है।

दास प्रथा में श्रम शक्ति की वृद्धि वास्तविक जनांकिकीय शक्तियों से मुक्त होती है। यह प्राकृतिक वृद्धि पर आधारित जनांकिकीय वृद्धि पर निर्भर नहीं करती, अपितु विदेशी व्यक्तियों को पकड़ कर लाने के साधनों पर निर्भर करती है। संचय की संभावना दासों की वृद्धि से होती है, जो कि श्रम की उत्पादकता में वृद्धि से मुक्त होती है। किसी भी दास उत्पादन प्रणाली के प्रभुत्व की परख दासों की संख्या में नहीं होती, अपितु उस सीमा में होती है, जिस सीमा तक अभिजन वर्ग अपनी दौलत पाने के लिए दासों पर निर्भर होते हैं। मार्क्स के अनुसार, दास युग का प्रादुर्भाव विश्व के अनेक समाजों में लगभग एक साथ हुआ। दास युग की अन्तिम अवस्था में ही कृषि का विस्तार होने लगा तथा धीरे धीरे समाज में उत्पादन के साधनों में परिवर्तन की प्रक्रिया होने लगी जिसका परिणाम सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली में हुआ।

8.4.3 सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली

मार्क्स तथा एंजल्स की प्राथमिक रूप से पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की परिभाषा में रुचि थी। इस युग में उत्पादन के साधनों पर राजाओं और सामन्तों का अधिकार हो गया। छोटे किसान सामन्तों से भूमि लेकर उस पर खेती किया करते थे। किसान दास तो नहीं थे लेकिन उन पर कई प्रकार से नियंत्रण था उन्हें सामन्तों के यहा बेगार में खेती करना व युद्ध के समय उनकी सेना में सिपाही की भूमिका के रूप में लडना होता था। जिसके फलस्वरूप उन्हें सामन्त जीवन निर्वाह के लिए कुछ वेतन या भूमि देता था। इसमें शोषण ज्यादा होता था और समाज में वर्गसंघर्ष बढ़ता गया। सामन्तवादी व्यवस्था में श्रम का प्रचलित रूप क्या था और श्रम के उत्पादकों का उपभोग कैसे किया जाता था इस बारे में भी मार्क्स विचारशील थे।

इस अवस्थता में ही उत्पादन के संबंधों में पूर्व अवस्थता की तुलना में मौलिक गुणात्मक अन्तर आये। सामन्तवादी अवस्थता में उत्पादन की शक्तियों में तीव्र **मात्रात्मक परिवर्तन** हुये जिनके अन्तर्गत पहली बार जल वायु ऊर्जा जैसे अजैवकीय साधनों का प्रयोग हुआ। इन उत्पादक शक्तियों के विकास में सामन्तवादी उत्पादन के संबंधों में सहायता मिली सामन्तवादी भूपतियों ने भूमिहीन किसानों को शोषित किया कालान्तर में नगरों का विकास हुआ इस अवस्था में व्यापार बढ़ा। ऐसी स्थिति में सामन्तवादी जागीरों से अनेक भूमिहीन किसान नवविकसित नगरों में भाग गये ताकि वे वहा व्यापार कर सकें सामन्तवादी व्यवस्थाएँ विपरीतों का संघर्ष अर्थात् भूमिहीन किसानों और सामन्तवादी भूपतियों के बीच संघर्ष अपनी परिपक्वता पर पहुच गया। सामन्तवादी समाज को मार्क्स तथा एंजल्स के प्राचीन विश्व के दास समाज तथा आधुनिक युग के पूंजीपतियों एवं सर्वहाराओं के मध्य एक माध्यमिक अवस्था माना। सामन्तवादी व्यवस्था उद्विकास के कारण विनिमय का विकास हुआ है। इसने पूंजीवादी उत्पादन के संबंधों की नींव डाली, जो कि बाद में इस व्यवस्था का मुख्य विरोधाभास बन गये। इस परिवर्तन की प्रक्रिया ने अपने किसानों को भूमि से खदेड़कर मेहनतकाश मजदूर बनने के लिए मजबूर कर दिया। अतः सामन्तवादी व्यवस्था का पतन हुआ तथा इसका निषेध पूंजीवादी व्यवस्था थी।

8.4.4 पूंजीवाद उत्पादन प्रणाली

इसका प्रादुर्भाव औद्योगिक क्रांति अर्थात् मशीनों के अविष्कार तथा उद्योग धन्धों के फलस्वरूप हुआ। जिसने उत्पादन के साधनों में परिवर्तन ला दिये। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में उत्पादन के साधन के रूप में पूंजी महत्वपूर्ण होती है। पूंजी के अनेक स्वरूप हो सकते हैं। यह धन के स्वरूप के रूप में हो सकती है अथवा श्रमशक्ति एवं उत्पादन के लिए कच्चे माल के क्रय के लिए ऋण के रूप में हो सकती है। यह भौतिक मशीनरी को खरीदने के लिए धन अथवा ऋण की आवश्यकता भी हो सकती है। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में पूंजी के विभिन्न स्वरूपों का निजी स्वामित्व पूंजीपति वर्ग के हाथ में होता है। पूंजीपतियों का स्वामित्व इस प्रकार का होता है कि आम जनता का उस स्वामित्व में कोई हिस्सा नहीं होता। इसे पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की मुख्य विशेषता माना जा सकता है। इस युग में उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का अधिकार होता है। जिससे समाज पुनः दो वर्गों में विभाजित हो जाता है पहला वह जो पूर्ण पर अधिकार रखता है जिसे मार्क्स **बुर्जुआ** कहता है तथा दूसरा वह है जो पूंजीपतियों के हाथों अपना श्रम बेचता है जिसे मार्क्स **सर्वहारा** वर्ग के नाम से संबोधित करता है। जो कि अपना सब कुछ हार चुका है। पूंजीवादी युग में पूंजीपतियों ने पूंजी का अधिक से अधिक संचय करना शुरू कर दिया। जिससे समाज में दरिद्रीकरण, ध्रुवीकरण व अलगाव की भावना ने जन्म लेना शुरू कर दिया। इस युग में उत्पादन बड़ी मात्रा में होने लगा छोटे छोटे उद्योग धन्धे नष्ट हो गये क्योंकि वे बड़े कारखानों में बने माल से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते थे। अतः इन कुटीर उद्योगों के श्रमिक भी कारखानों के मजदूरों में सम्मिलित हो गये। जिससे संपत्ति का केन्द्रीकरण पूंजीपतियों के हाथों में होने लगा। समाज के दोनों वर्गों में संघर्ष अपने अपने हितों की पूर्ति के लिये होने लगा जिसकी परिणति अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर समाज में परिवर्तन के रूप में हुयी।

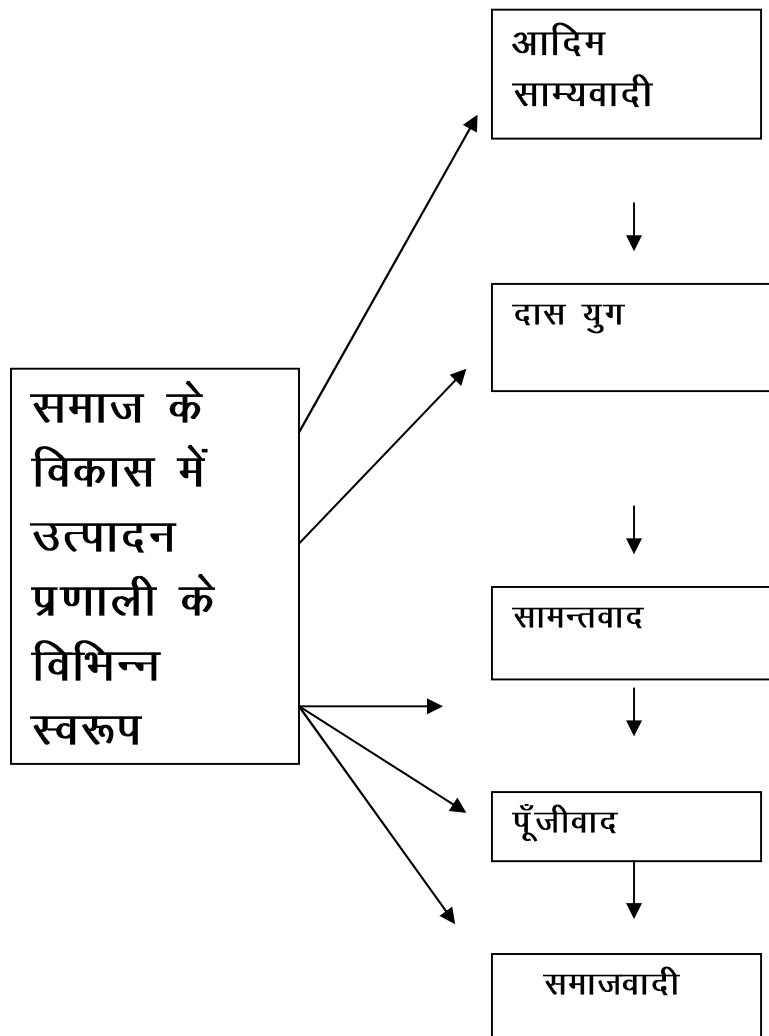
विद्वानों द्वारा पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की निम्न विशेषताएं बतायी गयी है। (बॉटोमोर 1983 : 64)

- अ) वस्तुएं प्रयोग के लिए नहीं अपितु विक्रय के लिए उत्पादित की जाती हैं।
- ब) श्रमशक्ति अथवा उपयोगी कार्य करने की क्षमता को बाजार में बेचा व खरीदा जाता है। किसी विशेष समय अथवा अवधि के लिए (समय दर) अथवा किसी विशिष्ट कार्य के लिए (नग दर) श्रम शक्ति का नकद वेतन के बदले में विनिमय किया जाता है। प्राचीन उत्पादन प्रणाली में श्रमि अपना श्रम देने के लिए बाध्य होते थे। इसके विपरीत, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में श्रमि अपने नियोक्ता से एक अनुबंध ;ब्बदजतंबजद्ध करता है।
- स) विनियम के माध्यम से धन का उपयोग किया जाता है। इस प्रक्रिया में बैंकों तथा वित्तीय माध्यमिक संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।
- द) उत्पादन प्रक्रिया पूंजीपति अथवा उसके प्रबन्धक द्वारा नियंत्रित होती है।
- इ) वित्तीय निर्णय पूंजीपति उद्यमी द्वारा नियंत्रित होते हैं।
- फ) पूंजीपति व्यक्तिगत रूप से श्रम एवं वित्त नियंत्रण के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं।

उत्पादन प्रणाली के रूप में पूंजीवादी सबसे पहले यूरोप में उभरा। इस क्रांति में प्रौद्योगिकी की तीव्र वृद्धि हुई और इसके साथ-साथ पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में भी प्रगति हुई। मार्क्स ने पूंजीवाद को एक ऐसी ऐतिहासिक अवस्था माना जिसका स्थान समाजवाद लेगा।

8.4.5 समाजवादी युग—

पूंजीवादी युग में पूंजीपतियों के शोषण के फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग एक दिन क्रांति करेंगे और पूंजीपतियों को उखाड़ फेंकेंगे और अपनी विजयी के प्रतिआशावादी होकर विजय होंगे तथा सर्वहारा वर्ग समाजवाद की स्थापना करेंगे उत्पादन के साधनों पर राज्य का सामूहिक अधिकार होगा। तब शोषक व शोषित वर्ग नहीं होंगे और वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी। इस युग में व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करना होगा तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार ही उसको मिलेगा। मार्क्स इतिहास की आर्थिक व्याख्या के आधार पर पूंजीवाद का अन्त और साम्यवाद के आगमन की संभावना व्यक्त करता है मार्क्स के अनुसार प्रत्येक युग में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके पास उत्पादन के साधन होते हैं और कुछ साधनविहीन होते हैं इन दोनो वर्गों में सदैव संघर्ष होता है जो समाजवादी युग के आकर समाप्त हो जायेगा और वर्गविहीन समाज की स्थापना हो जायेगी।



चित्र – मार्क्स के अनुसार समाज के विकास में उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूप

बोध प्रश्न-2

i) उत्पादन के विभिन्न स्वरूप क्या है।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) कार्ल मार्क्स के पूंजीवादी युग में उत्पादन प्रणाली को संक्षिप्त में समझाइयें।

.....

.....

.....

.....

.....

iii) पूंजीवादी युग में वर्ग संघर्ष का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

iv) आदिम साम्यवादी युग, दासत्व युग व सामन्तवादी युग में उत्पादन प्रणाली को समझाइयें।

.....

.....

.....

.....

.....

8.5 सारांश

इस प्रस्तुत इकाई में कार्ल मार्क्स के विचारों द्वारा उत्पादन की विधियों को समाज के विकास के संदर्भ में बताया गया जिसमें उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूपों जिसमें आदिम साम्यवादी युग, दासत्व, सामन्तवादी, पूंजीवादी व समाजवादी युग में उत्पादन प्रणाली के बारे में चर्चा की गयी है। जिससे आप उत्पादन प्रणाली व सामाजिक परिवर्तनों को समाज संदर्भ में मार्क्स के दृष्टिकोण से समझ सकें। जर्मनी में जन्में कार्ल मार्क्स (1818–1883) को आधुनिक समाजवादी विचारधारा का पिता माना जाता है। सबसे पहले आपको उत्पादन की शक्तियों एवं संबन्ध की अवधारणा से अवगत कराया गया है साथ ही आर्थिक व्यवस्था व समाज तथा आर्थिक कारक व शक्ति को कार्ल मार्क्स के विचारों द्वारा बताया गया। उत्पादन की शक्तियाँ आर्थिक वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त कच्चे माल व उपकरण और तकनीकों को कहते हैं।

यह प्रस्तुत इकाई में उत्पादन प्रणाली को सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में जाना गया है। इसमें बताया गया कि मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की और कहा कि मानव इतिहास में अब तक जो परिवर्तन हुए हैं वे उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के कारण हुए हैं अर्थात् उत्पादन प्रणाली ही निर्णायक कारक है। मार्क्स के अनुसार उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है जब उत्पादन के उपकरणों अर्थात् प्रौद्योगिकी, उत्पादन के कौशल, ज्ञान, उत्पादन के संबन्ध आदि जो कि आर्थिक संरचना का निर्माण करते हैं, में परिवर्तन आता है तो संपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक अधि संरचना में भी परिवर्तन आता है जिसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। इसकी पुष्टि के लिए मार्क्स ने समाज के विकास के पांच युगों की चर्चा की जिसमें उत्पादन की विधियों को बताया है और प्रत्येक युग में पाये जाने वाले दो वर्गों का उल्लेख किया। एक वह जिसका उत्पादन के साधनों पर अधिकार है तथा दूसरा वह जो श्रम के द्वारा अपना जीवनयापन करता है। इन दोनों वर्गों के बीच अपने हितों को लेकर संघर्ष रहा है और वर्ग संघर्ष का अन्त नये समाज एवं नये वर्गों के उदय के रूप में हुआ है।

8.6 पारिभाषिक शब्दावली

उत्पादन संबन्ध — उत्पादन की प्रक्रिया में उभरने वाले प्रत्यक्ष सामाजिक संबन्ध इन सामाजिक संबन्धों के अंतर्गत उत्पादन के साधनों के मालिक तथा गैर मालिक दोनों के मध्य संबन्ध शामिल होते हैं ये संबन्ध उत्पादन पर स्वामित्व की क्षमता एवं नियंत्रण को निश्चित एवं निर्धारित करते हैं।

उत्पादन प्रणाली— उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के संबन्धों के मध्य संबन्धों को उत्पादन प्रणाली कहा जा सकता है उत्पादन के तरीके उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के संबन्धों के मध्य सम्बन्ध में भिन्नता के आधार पर पहचाने जाते हैं।

एपियाटिक उत्पादन प्रणाली— उस समुदाय आधारित उत्पादन व्यवस्था से सम्बन्धित है जिसमें भूमि का स्वामित्व सामुदायिक होता है और राज्य शक्ति के अस्तित्व की अभिव्यक्ति इन समुदायों की वास्तविक अथवा काल्पनिक एकता से होती है।

प्राचीन उत्पादन प्रणाली— उत्पादन की व्यवस्था, जिसमें मालिक का दास पर स्वामित्व का अधिकार होता है तथा वह उसके श्रम के उत्पादन को दासता के माध्यम से हड़प लेता है और दास को जनन की अनुमति नहीं देता।

सामन्तवादी उत्पादन प्रणाली— यह एक ऐसी उत्पादन व्यवस्था है जिसमें भूमिपति किसानों से जमीन के किराये के रूप में उनके अतिरिक्त श्रम को हड़प लेता है।

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली— यह एक ऐसी उत्पादन व्यवस्था है जिसमें उत्पादन के साधनों का स्वामी पूंजीपति सर्वहारा वर्ग से लाभ के रूप में अतिरिक्त श्रम करवाते हैं।

मालिक— दास प्रथा में वह शासक वर्ग जो की दासों पर नियंत्रण रखते हैं।

भूमिहीन किसान— सामन्तवादी उत्पादन के तरीके में उत्पादकों का वह वर्ग जिनका अतिरिक्त श्रम किराये के माध्यम से हड़प लिया जाता है।

दास—उत्पादन प्रणाली में उत्पादको का वह वर्ग जो कि मालिको द्वारा निजी संपत्ति के रूप में सीधे नियंत्रित किया जाता है।

परिवर्तन— किसी भी वस्तु में दो समय में होने वाली भिन्नता ही परिवर्तन कहलाती है।

वर्ग— वे लोग जिनके उत्पादन के साधनों से समान संबन्ध होते हैं अर्थात् अपने समान हितों के प्रति जिनमें समान जागरूकता पायी जाती है। वे एक से वर्ग का निर्माण करते हैं।

8.7 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

i) उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के संबन्धों के मध्य संबन्धों को उत्पादन प्रणाली कहा जा सकता है उत्पादन के तरीके उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के संबन्धों के मध्य सम्बन्ध में भिन्नता के आधार पर पहचाने जाते हैं।

ii) उत्पादन की शक्तियों को भौतिक वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त भौतिक तरीकों के रूप में समझा जा सकता है। इसके अंतर्गत तकनीकी जानकारी, उत्पादन की प्रक्रिया में प्रयुक्त उपकरण या उत्पाद आदि आते हैं जैसे— उपकरण, मशीनें, श्रम तथा प्रौद्योगिकी के स्तर आदि सभी उत्पादन की शक्तियां कहलाती हैं।

iii) मार्क्स कहते हैं कि किसी भी समाज में विद्यमान आर्थिक व्यवस्था ही उस समाज की मूल-संरचना होती है। उस समाज में पाये जाने वाले मूल्य, रीति-रिवाज, संस्कृति, कानून, नियम तथा सामाजिक मानदण्ड आदि वे अधि-संरचनाएँ (Super-structures) होते हैं। जिनका विकास मूल संरचना की प्रकृति के अनुसार ही होता है।

iv) उत्पादन प्रणाली दो पक्षों से मिलकर बनी होती है एक उत्पादन की प्रौद्योगिकी व श्रमिक तथा दूसरा उत्पादन के संबन्ध।

v) पूंजीवादी युग उत्पादन प्रणाली

vi) द) पूंजीवादी

vii) सत्य

बोध प्रश्न-2

i) उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूपों में आदिम साम्यवादी, दासत्व, सामंतवादी, पूंजीवादी व समाजवादी उत्पादन प्रणाली है।

ii) पूंजीवादी एक ऐसी उत्पादन व्यवस्था है जिसमें उत्पादन के साधनों का स्वामी पूंजीपति सर्वहारा वर्ग से लाभ के रूप में अतिरिक्त श्रम करवाते हैं। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में उत्पादन के साधन के रूप में पूंजी महत्वपूर्ण होती है। इस युग में उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का अधिकार होता है। जब प्रौद्योगिकी में परिवर्तन होता है तो उत्पादन के साधन बदलते हैं और समाज में परिवर्तन आता है।

iii) पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था में समाज पुनः दो वर्गों में विभाजित हो जाता है पहला वह जो पूर्ण पर अधिकार रखता है जिसे मार्क्स **बुर्जुआ** कहता है तथा दूसरा वह है जो पूंजीपतियों के हाथों अपना श्रम बेचता है जिसे मार्क्स **सर्वहारा** वर्ग के नाम से जाना जाता है। जो कि अपना सब कुछ हार चुका है। दोनों वर्ग अपने अपने हितों के लिए समाज में संघर्ष करते हैं। और जब प्रौद्योगिकी में परिवर्तन होता है तो उत्पादन के साधन बदलते हैं और समाज में परिवर्तन आता है

iv) मार्क्स के अनुसार उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है जब उत्पादन के उपकरणों अर्थात् प्रौद्योगिकी, उत्पादन के कौशल, ज्ञान, उत्पादन के संबंध आदि जो कि आर्थिक संरचना का निर्माण करते हैं, में परिवर्तन आता है तो संपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक अधि संरचना में भी परिवर्तन आता है जिसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। जो कि मार्क्स ने समाज के विकास में लागू की और कहा कि **आदिम साम्यवादी युग** में इतिहास का प्रारम्भिक युग था। साथ-साथ मिलकर काम करने के कारण ही उत्पादन के साधनों व उससे प्राप्त वस्तुओं पर सबका अधिकार होता था। भूमि का स्वामित्व सामुदायिक होता था। ये समुदाय नातेदारी संबंधित होते थे। व्यक्तिगत अधिकार का अभाव था। इसलिए उस प्रस्थिति के समाज में वर्ग प्रथा का अभाव था। सब समान थे, शोषण जैसी स्थिति नहीं थी। **दासत्व युग** में उत्पादन की व्यवस्था, जिसमें मालिक का दास पर स्वामित्व का अधिकार होता है तथा वह उसके श्रम के उत्पादन को दासता के माध्यम से हड़प लेता है और दास को जनन की अनुमति नहीं देता। **सामन्तवादी व्यवस्था में** यह एक ऐसी उत्पादन व्यवस्था है जिसमें भूमिपति किसानों से जमीन के किराये के रूप में उनके अतिरिक्त श्रम को हड़प लेता है। इस युग में उत्पादन के साधनों पर राजाओं और सामन्तों का अधिकार हो गया। छोटे किसान सामन्तों से भूमि लेकर उस पर खेती किया करते थे। किसान दास तो नहीं थे लेकिन उन पर कई प्रकार से नियंत्रण था उन्हें सामन्तों के यहाँ बेगार में खेती करना व युद्ध के समय उनकी सेना में सिपाही की भूमिका के रूप में लडना होता था। जिसके फलस्वरूप उन्हें सामन्त जीवन निर्वाह के लिए कुछ वेतन या भूमि देता था। इसमें शोषण ज्यादा होता था और समाज में वर्गसंघर्ष बढ़ता गया।

8.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

Marx, Karl, (1964) *Selected Writings in Sociology and Social Philosophy*,
McGraw Hill, London

Marx, Karl, and Engels Friedrich (1964) *German Ideology*, Frederick Ungar, New
York

Menand, Louls, (2016) *Karl Marx, Yesterday and today*, Frederick Ungar,
Newyork

Aron, Raymond, (1970) *Main currents in sociological thought*, vol.1 &
2, Penguin books, London

Bottomore, T.B., (1969) *Sociology: A guide to problem and literature*,
Allen and unvin, London

गुप्ता एवं शर्मा, (2006) *समाजशास्त्र*, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

बोटोमोर, टी0बी0, 1975 मार्क्सवादी समाजशास्त्र, (अनुवादक: सदाशिव द्विवेदी) मैकमिलन कंपनी आफ
इंडिया लिमिटेड नई दिल्ली

कोजर लेविस ए 1971 मास्टर्स ऑफ सोशियॉलाजिकल थॉट : आइडियाज इन हिस्टारिकल एण्ड सोशल
कॉन्टेक्स्ट, हरकोर्ट ब्रेस जोवैनोविश्व : न्यूयार्क

8.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

Coser, Lewis A, (1996) *Masters of Sociological Thought*, Rawat
publication, Jaipur

Giddens, Anthony, (1993) *Sociology*, polity press, Cambridge

Mitchell, G Duncan, (1979) *A New Dictionary of Sociology*, Routledge &
Kegan Paul, London

सिंह,जे0 पी0, (2008) समाजशास्त्र-अवधारणाएं एवं सिद्धान्त, पीएचआई लर्निंग नई दिल्ली

8.10 निबंधात्मक प्रश्न

4. कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाज में ऐतिहासिक भौतिकवाद सिद्धांत में उत्पादन की शक्तियों पर विवेचना कीजिए।
5. उत्पादन की शक्तियां, संबन्ध व प्रणाली की सविस्तार व्याख्या कीजिए।
6. कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाज के विकास में उत्पादन के तरीको के बारे में वर्णन कीजिए।
7. उत्पादन प्रणाली के विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या कीजिए।

इकाई-9 : वर्ग संघर्ष एवं अलगाव
(Class Conflict & Alienation)

इकाई की रूपरेखा

- 9.0 उद्देश्य
- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 मार्क्स का संघर्षवाद
 - 9.2.1 मार्क्स के वर्ग संघर्ष की अवधारणा
 - 9.2.2 वर्ग संघर्ष का अर्थ एवं परिभाषा
- 9.3 मार्क्स का वर्ग संघर्ष सिद्धांत
- 9.4 मार्क्स के वर्ग संघर्ष की विशेषताएँ
- 9.5 अलगाव की अवधारणा
- 9.6 अलगाव का अर्थ एवं परिभाषा
- 9.7 अलगाव का सिद्धांत
- 9.8 अलगाव से सम्बन्धित अन्य विचार
- 9.9 सारांश
- 9.10 शब्दावली
- 9.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 9.12 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
- 9.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 9.14 निबंधात्मक प्रश्न

9.0 उद्देश्य : (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने में उपरान्त आप :-

- ✓ मार्क्स की वर्ग संघर्ष की अवधारणा को समझ पायेंगे।
- ✓ मार्क्स आर्थिक संसाधनों में परिवर्तन को कैसे समाज में परिवर्तन की बात करता है उसे समझ पायेंगे।
- ✓ अलगाव का अर्थ व परिभाषा को समझ पायेंगे।
- ✓ अलगाव की विस्तृत चर्चा को समझ पायेंगे।

9.1 प्रस्तावना : (Introduction)

कार्ल मार्क्स ने वर्ग एवं वर्ग संघर्ष की अवधारणा को अच्छी तरह से समझाया है। कार्ल मार्क्स ने वर्ग को आर्थिक आधार पर परिभाषित किया है। मार्क्स ने कहा है जिन लोगों के पास जैसे संसाधन होंगे उनका वही वर्ग होगा। इन्होंने समाज में दो वर्गों का वर्णन किया है (1) श्रमिक (2) पूँजीपति, श्रमिक से तात्पर्य जो लोग अपना श्रम बेचते हैं, श्रमिक कहलाते हैं। पूँजीपति से तात्पर्य वो लोग जिनके पास धन होता है और श्रमिकों का शोषण करते हैं। मार्क्स ने बताया कि इन दो वर्गों के बीच वर्ग संघर्ष की बात कही है और

वर्ग संघर्ष के द्वारा ही सामाजिक परिवर्तन होता है। मार्क्स ने वर्ग संघर्ष के द्वारा श्रमिक लोगो के मन में अलगाव की भावना पैदा होती है कि जिस कार्य को हम कर रहे हैं इस कार्य का मुनाफा पूँजीपति लोग ले रहे हैं। इनका श्रमिक को कोई फायदा नहीं होता है इस स्थिति को अलगाव के रूप में मार्क्स ने परिदर्शित किया है।

9.2 मार्क्स का संघर्षवाद : (Marxism Conflict)

Randle Collivs ने अपनी पुस्तक "Three Sociological Traditions" में लिखा कि कार्ल मार्क्स न तो संघर्षवाद के आविष्कारक हैं और न ही इसको शुरुआत देने वाला परन्तु इस दृष्टिकोण को उन्होंने ऐसे नाटकीय अंदाज में प्रस्तुत किया कि यह दृष्टिकोण सामाजिक विज्ञानों में इतना आर्थिक लोकप्रिय हो गया। प्रकार्यवाद के विपरीत संघर्षवाद किसी समाज का विश्लेषण 2 तत्वों या आयामों से करता है। पहला प्रभुत्व व दूसरा शोषण (Dominance & Exploitation/Inequality) या असमानता।

इस दृष्टिकोण के अनुसार समाज में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। एक जिनमें शक्ति होती है (धन, शारीरिक शक्ति, जनसमूह का समर्थन, बौद्धिक क्षमता आदि) दूसरा जिनके पास शक्ति नहीं होती।

शक्तिशाली अपनी शक्ति का प्रयोग शक्तिहीन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए करता है, जिससे वह अपने हित में उसका शोषण कर सके। यही असमानता समाज में सभी सम्बन्धों का मूल है जिसके केन्द्र में एक दूसरे का शोषण है। संघर्षवाद की शुरुआत प्राचीन दार्शनिक Openhim के दर्शन में देखा जा सकता है जो मानते हैं कि संसार में सभी जीव अपने से निर्बल पर शासन करते हैं, जिसके कारण संघर्ष होता है और इसीलिए समाज एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित होता है।

अरस्तू तथा पोलिबायस मानते हैं कि सभी समाजों में व्यक्ति के मूल्य तथा दृष्टिकोण एक समान नहीं होते जिसके कारण समाज में संघर्ष होता है तथा पुराने के स्थान पर नई सामाजिक व्यवस्थाएँ अस्तित्व में आती हैं।

खाल्डूम मानते हैं कि संघर्ष के बिना समाज में जड़ता आ जाती है। संघर्ष के कारण ही समाज में गतिशीलता आती है, जिससे समाज परिवर्तित होते हैं।

Thomas Hobbes मानते हैं कि मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी है तथा सदैव अपनी स्वार्थसिद्धि में लगा रहता है। जब भी सामाजिक व्यवस्था में उसके स्वार्थ सिद्ध नहीं हाते, वह व्यवस्था बदलने के लिए सक्रिय हो जाता है, जिससे व्यवस्था बदलती है।

Herbert Spenceer समाज पर डार्विनवाद को लागू करते है, जिनके अनुसार सभी जीवों की तरह मनुष्य भी अपने अस्तित्व भोजन एवं प्रजनन के लिए संघर्ष करता है, जिसमें जो सर्वोत्तम होते हैं, उनका अस्तित्व एवं वंश आगे बढ़ता है। जबकि अन्य अपना महत्व खोकर समाज में जीने के लिए संघर्ष करते हैं।

उपरोक्त विचारकों के विचारों के निष्कर्ष के आधार पर संघर्षवादी दृष्टिकोण की निम्नलिखित विशेषताओं की पहचान की जा सकती है—

1. संघर्ष सभी समाजों में अनिवार्य रूप से पाया जाता है, जिसे टाला नहीं जा सकता।
2. यह मानना गलत है कि संघर्ष समाज के लिए क्षतिकारी होता है। संघर्ष से समाज में परिवर्तन एवं विकास होता है।
3. संघर्ष से समाज की समस्याएँ सामने आ जाती हैं जिसका निवारण कर समाज और प्रगति करता है।
4. संघर्ष तथा प्रतिस्पर्धा समान अवधारणाएँ नहीं हैं।

5. जब भी संघर्ष वाह्य समूह से होता है, अन्तःसमूह एकता बढ़ जाती है।

मार्क्स ने उपरोक्त संघर्षवादी दृष्टिकोण को अस्वीकार किया तथा संघर्ष को एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया, जो सामाजिक विज्ञानों के दिशा को बदलने में अत्यन्त सहायक एवं सक्रिय रहा।

9.2.1 मार्क्स के वर्ण संघर्ष की अवधारणा

(Concept of Marxim Class Conflict)

मार्क्स ने अपने वर्ण संघर्ष सिद्धांत को ऐतिहासिक भौतिकवाद के पूरक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया है और इसको उत्पादन प्रणाली में निहित अंतर्विरोध की अभिव्यक्ति के रूप में दर्शाया है। मार्क्स के अनुसार उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व एवं वंचितता के आधार पर अब तक का मानव समाज परस्पर विरोधी हितों वाले दो वर्गों में विभक्त रहा है।

1. उत्पादन के साधनों का स्वामी वर्ग
2. उत्पादन के साधनों से वंचित वर्ग

स्वामी वर्ग द्वारा सदेव वंचित वर्ग का शोषण किया जाता रहा है और इस शोषण को लेकर दोनों वर्ग परस्पर संघर्षरत रहे हैं। संघर्ष की यह प्रक्रिया दास युग में दास एवं मालिक के बीच सामंत युग में सामंत एवं अर्धदास किसानों के बीच तथा पूंजीवादी युग में पूंजीपति एवं श्रमिकों के बीच चलती रही है इसीलिये मार्क्स कहता है कि अब तक मे मानव समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है।

मार्क्स ने इस वर्ग-संघर्ष के लिये संपत्ति संबंध (निजी संपत्ति का अधिकार) एवं इसमें निहित शोषण को उत्तरदायी ठहराते हुए कहा है कि इतिहास की पूर्व अवस्था (आदिम साम्यवाद) में उत्पादन शक्तियाँ सरल थीं। इस समय केवल 'जीवन-निर्वाह उत्पादन' होता था और निजी संपत्ति का अभाव था, फलतः न वर्ग था, न शोषण था और न ही वर्ग संघर्ष था। परन्तु उत्पादन की शक्तियों में विकास के साथ 'अतिरिक्त उत्पादन' संभव हुआ और 'निजी संपत्ति' की अवधारणा सामने आयी। फलतः समाज परस्पर विरोधी हितों वाले दो समूहों में विभक्त हो गया दास एवं मालिक और वर्ग शोषण तथा वर्ग संघर्ष का इतिहास आरंभ हुआ। पुनः उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के साथ समाज सामंत युग एवं पूंजीवादी युग के रूप में विकसित हुआ। फिर भी, वर्ग शोषण एवं वर्ग संघर्ष बना रहा क्योंकि युग परिवर्तन के बावजूद निजी संपत्ति का अस्तित्व विद्यमान रहा।

मार्क्स का मानना है कि निजी संपत्ति के अधिकार के कारण ही पूंजीवादी युग में समाज परस्पर विरोधी हितों वाले दो वर्गों में विभक्त है। पहला, पूंजीपति वर्ग (उत्पादन के साधनों से वंचित वर्ग)। चूंकि पूंजीपतियों का लाभ श्रमिकों के अतिरिक्त मूल्य के शोषण पर ही निर्भर है।

परन्तु, इतिहास के उद्विकास क्रम में पूंजीवादी समाज की यह अवस्था भी स्थाई नहीं है क्योंकि इसका अंतर्विरोध या इसके विनाश के बीज भी इसी सामाजिक व्यवस्था में निहित हैं। मार्क्स का मानना है कि पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के साथ पूंजी का केन्द्रीकरण होगा

और श्रमिकों का आकार बढ़ता जायेगा (सर्वहाराकरण) तत्पश्चात् श्रमिक वर्ग में अपने शोषण के बारे में “स्वयं में वर्ग” तथा “स्वयं के लिये वर्ग” के रूप में ‘वर्ग चेतना’ का विकास होगा और श्रमिक एवं वर्ग के रूप में संगठित होकर एक क्रांति (सर्वहारा क्रांति) करेगा और उत्पादन के सभी साधनों पर अधिकार कर लेगा तब मानव समाज और इतिहास अपने उद्विकास क्रम में ‘सर्वहारा के अधिनायकत्व’ की एक संक्रमणकालीन अवस्था से गुजरते हुए एक नये युग में प्रवेश करेगा; जिसे मार्क्स ने साम्यवाद कहा है। चूंकि इस अवस्था में निजी संपत्ति का उन्मूलन हो जाएगा और उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व होगा, फलतः यहाँ न वर्ग होगा, न वर्ग-शोषण होगा, और न ही वर्ग-संघर्ष होगा। मार्क्स के अनुसार यही अवस्था मानव समाज के इतिहास का अंत है।

9.2.2 वर्ग संघर्ष का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning of Class Conflict of Definition)

मार्क्स का विश्वास है कि वर्ग-संघर्ष ही सामाजिक परिवर्तन को निर्धारित करता है। मार्क्स ने साम्यवादी घोषणापत्र में लिखा है—“मानव समाज का इतिहास वर्ग-वर्घर्ष का इतिहास रहा है। वर्ग को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि यह ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो अपनी आजीविका समान तरीकों से कमाते हैं। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक युग में आजीविका उपार्जन की प्राप्ति के विभिन्न साधनों के कारण व्यक्ति अलग-अलग वर्गों में बंट जाता है और प्रत्येक वर्ग में एक विशेष वर्ग चेतना पैदा हो जाती है। दूसरे शब्दों में, ‘वर्ग’ का जन्म नए साधनों के आधार पर होता है। जैसे ही भौतिक उत्पादन-प्रणाली में परिवर्तन होता है वैसे ही एक नए वर्ग की उत्पत्ति हो जाती है। जिसके पास अच्छी किस्म के उत्पादन के साधन होते हैं, एक नई ऐतिहासिक युग की रचना करता है। नये युग का सामाजिक परिवर्तन, जो कि दो विरोधी वर्गों के संघर्ष का परिणाम होता है। मानव समाज के इतिहास में प्रत्येक युग में दो परस्पर विरोधी वर्ग रहे हैं। इन्हें समयानुकूल भिन्न नामों से सम्बोधित किया गया; जैसे, दासत्व युग में दो वर्ग-स्वामी और दास, सामन्तवादी युग में दो वर्ग-सामान्त और किसान तथा आधुनिक पूँजीवादी युग में दो वर्ग-पूँजीपति और श्रमिक। शोषण वर्ग थोड़े व्यक्तियों का विशेषाधिकार वाला वर्ग रहा है, जिसका उत्पादन के सभी साधनों पर अधिकार रहा है। इन दो वर्गों-शोषक और शोषित के बीच निरन्तर संघर्ष चलता आया है। इस संघर्ष के अन्त की भविष्यवाणी, मार्क्स साम्यवादी समाज की स्थापना के रूप में करते हैं।

मार्क्स की रूचि वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में अधिक रही है। मार्क्स के मत में प्रमुख सामाजिक वर्गों के बीच सम्बन्ध परस्पर निर्भरता और विरोध का होता है। इसीलिए पूँजीवादी समाज में पूँजीपति और श्रमिक एक दूसरे पर पूर्णरूपेण निर्भर हैं। क्योंकि श्रमिक अपना श्रम, खुद के और अपने परिवार के जीविकोपार्जन के लिए पूँजीपतियों को बेचता है। दूसरी ओर, अनुत्पादक पूँजीपति श्रमिकों की श्रम-शक्ति पर निर्भर होता है जिससे कि उत्पादन सम्भव

होता है। दोनों वर्गों के बीच इस प्रकार का परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध, बजाय बराबरी और आपसी आदान-प्रदान के एक शोषक और शोषित का सम्बन्ध होता है। एक पूँजीपति किस प्रकार श्रमिकों का शोषण करता है तथा श्रमिकों के बीच किस प्रकार पूँजीपतियों के प्रति विरोध की भावना जागृत होती है; इसकी विवेचना मार्क्स कुछ इस प्रकार करते हैं।

पूँजीपति अधिकाधिक लाभ के लालच में बड़े-बड़े उद्योग-धंधे स्थापित करते हैं और उनमें अधिक से अधिक श्रमिकों को काम पर लगाते हैं। उनसे ज्यादा से ज्यादा काम करवाने की शर्तें रखकर, न्यूनतम मजदूरी देकर उनका खूब शोषण करते हैं और स्वयं अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करते हैं। यह लाभ उन्हें अधिशेष मूल्य के रूप में मिलता है। अधिशेष मूल्य, वस्तु की कीमत तथा दिए गए वेतन के बीच के अन्तर को कहते हैं।

मार्क्स के अनुसार जैसे-जैसे पूँजीवाद बढ़ता है वैसे-वैसे श्रमिकों का शोषण भी बढ़ता जाता है। इससे श्रमिकों की दशा दिन-ब-दिन खराब होती जाती है। श्रमिक इस शोषण के विरोध के बावजूद पूँजीपतियों की इच्छाओं के विरुद्ध नहीं जा पाते क्योंकि आखिरकार पूँजीपति ही रोजगार देकर उन्हें भुखमरी से बचाते हैं। इस प्रकार कोई विरोध न पाकर पूँजीपति अपनी मनमानी करते रहते हैं।

पूँजीपति और अधिक धन लगाकर बड़े-बड़े उत्पादन संस्थाओं जैसे फैक्ट्रियों की स्थापना करते हैं जिनमें उत्पादन कार्य बड़े पैमाने पर होता है। मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन से दो दुष्परिणाम सामने आते हैं—प्रथम तो यह कि मशीन स्वयं ही श्रमिकों को रोजगार से निकाल फेंकती है क्योंकि मशीन द्वारा किया गया एक दिन का काम श्रमिकों द्वारा महीनों किए गए काम से भी अधिक होता है। इससे श्रमिकों में बेकारी बढ़ती है और यह बेकारी पूँजीपतियों के विरुद्ध इनके मन में एक असन्तोष की भावना जगाती है। दूसरा यह कि उत्पादन बढ़ने से अकसर अति-उत्पादन की स्थिति आ जाती है जिससे व्यापारिक मन्दी का चक्र आता रहता है। इस मन्दी से न केवल बेकारों की संख्या बढ़ती है वरन् कम हैसियत वाले पूँजीपति या छोटे मिल-मालिकों को व्यापार में भारी हानि होती है और वे अपनी पूँजी की शक्ति को खोकर श्रमिक वर्ग में आ मिलते हैं। इससे एक ओर श्रमिक वर्ग की सदस्य-शक्ति बढ़ती है वहीं दूसरी ओर कम हैसियत वालों को घाटा होने पर उनकी पूँजी भी ज्यादातर अल्पसंख्यक पूँजीपतियों के पास इकट्ठी हो जाती है। साथ ही, मन्दी काल में श्रमिकों का वेतन भी कम कर दिया जाता है जिससे कि उनकी क्रय शक्ति घटती है और वे अपनी सामान्य जरूरतों की पूर्ति नहीं कर पाते हैं, फलस्वरूप श्रमिकों में जो असन्तोष की भावना पनपती है उससे वर्ग-संघर्ष होता है।

अब यहाँ पर कई ऐसे प्रश्न सामने आते हैं जिनका उत्तर हम मार्क्स के ही लेख से निकालने की कोशिश करते हैं। प्रथम और अहम प्रश्न यह है कि वर्ग-संघर्ष तो हर प्रकार के समाज में हमेशा से रहा है, फिर पूँजीवादी समाज में यह इतना विकराल रूप कैसे धारण कर लेता है? द्वितीय प्रश्न जो कि पहले प्रश्न से ही सम्बन्धित है, वह यह कि मार्क्स जिस क्रान्ति की बात

करते हैं, वह क्रान्ति पूँजीवादी समाज में ही होगी, इसका आधार क्या है? कहीं ऐसा तो नहीं कि मार्क्स ने पहले के समाज को देख रहा है और चूँकि उसमें ऐसी कोई घटना हुई नहीं, इसीलिए उन जगहों पर मार्क्स मौन हो गए?

इन सवालों का जवाब कुछ इस प्रकार दिया जा सकता है। किसी भी समाज शोषित वर्ग क्रान्ति के लिए तभी सोच सकता है जब यह वर्ग किसी न किसी माध्यम से कहीं न कहीं एकत्र होकर आपस में विचार-विमर्श करता हो जिससे अपनेपन की जागरूकता आ सके। पहले के समाजों में ऐसा कहीं नहीं दिखायी देता। इसीलिए जब तक यह वर्ग ऐसा था जिसमें अपने ही वर्ग के लोगों के प्रति संवेदना नहीं थी, मार्क्स ने इस वर्ग को स्वतः में वर्ग कहा। जैसे ही लोगों में अपनापन रूपी चेतना जागती है तब यह वर्ग स्वतः के लिए वर्ग बन जाता है।

क्लास-इन-इटसेल्फ और क्लास-फार-इटसेल्फ :-मार्क्स के अनुसार 'क्लास-इन-इटसेल्फ' का तात्पर्य उन सभी सामाजिक वर्गों से है जिनका निर्धारण वस्तुनिष्ठ सत्यता के आधार पर किया जाता है। जैसे-सभी मजदूरों का भू-स्वामियों से बराबर का सम्बन्ध होता है। दूसरी तरफ, सभी भूस्वामियों का भूमि और मजदूरों से बराबर का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार, एक तरफ, मजदूर तथा दूसरी तरफ भूस्वामी दो भिन्न वर्गों को दर्शाते हैं। लेकिन मार्क्स के अनुसार ऐसे 'वर्ग' एक 'पूर्ण वर्ग' नहीं कहे जा सकते, ये केवल 'स्वतः में वर्ग' हैं। इनमें पूर्णता तब आती है जब ये 'स्वतः के लिए वर्ग' में परिवर्तित हो जाते हैं अर्थात् जब एक वर्ग के लोगों में उस वर्ग के प्रति एक चेतना जाग उठती है और उनके अन्दर एक अपनेपन का अहसास हो जाता है।

मार्क्स के अनुसार यह 'स्वतः में वर्ग' से 'स्वतः के लिए वर्ग' रूपी परिवर्तन ही श्रमिकों में जाग्रति लाती है जिससे उन्हें अपने ऊपर हो रहे अत्याचार का वास्तव में पता चलता है तथा वे क्रान्ति के लिए विवश हो जाते हैं।

दो मुख्य वर्गों का ध्रुवीकरण

यह निम्नलिखित रूप से होता है-

(1) मार्क्स कहते हैं कि अधिकाधिक मशीनों के प्रयोग से श्रमिकों में सजातीयता आती है। दूसरे शब्दों में, ये मशीन दक्ष, अर्द्ध दक्ष और अदक्ष श्रमिकों के बीच की विषमताओं को दूर करते हुए उन्हें एक साथ काम करने पर विवश करते हैं क्योंकि इन मशीनों के प्रयोग हेतु किसी दक्षता या निपुणता की जरूरत नहीं होती।

(2) पूँजीपति अपने लाभ का सर्वाधिक भाग फैंक्ट्रियों में लगाते हैं जिसका असीमित लाभ उन्हें ही मिलता है। इस बीच, हालांकि श्रमिकों के जीवन-स्तर में भी सुधार तो आता है तथापि धन के मामले में पूँजीपति और श्रमिक के बीच की खाई बढ़ती ही जाती है, इस प्रक्रिया को अकिंचनता कहते हैं।

(3) जैसे-जैसे पूँजीवाद बढ़ता है वैसे-वैसे प्रतियोगिता भी बढ़ती जाती है जिससे कम पूँजी वाले पूँजीपतियों की दशा खराब होती जाती है और अन्त में वे अपनी पूँजी की शक्ति खोकर श्रमिकों में आ मिलते हैं जिससे सम्पूर्ण पूँजी पर पूँजीपतियों का एकाधिकार हो जाता है।

ये तीन कारण जब एकत्रित होते हैं तो दो मुख्य वर्गों का ध्रुवीकरण होता है तथा श्रमिकों में अपने वर्ग के प्रति चेतना धीरे-धीरे बननी शुरू हो जाती है। चेतनारूपी आग को भड़काने के लिए एक सशक्त जागरूक नेता की आवश्यकता होती है। यह काम कम हैसियत वाले पूँजीपति करते हैं (जो पहले ही श्रमिकों में आ मिले होते हैं)। ये 'पेट्टी बुजफवा' श्रमिकों की चेतना पूर्ण रूप से जाग जाती है अर्थात् वे 'क्लास-फार-इटसेल्फ' में परिवर्तन हो जाते हैं। यही क्रान्ति का बिगुल बजता है तथा श्रमिक पूँजीपतियों को उखाड़ फेंकते हैं जिससे पूँजीवाद का अन्त होता है और साम्यवाद की स्थापना। इस प्रकार वर्ग-संघर्ष हमेशा के लिए श्रमिकों द्वारा लाए गए क्रान्ति की आग में जल कर भस्म हो जाता है। इस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करता है तथा आवश्यकता के अनुरूप पारिश्रमिक प्राप्त करता है।

9.3 मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धांत

(Marx's Theory of Class Conflict)

प्रत्येक समाज में व्यक्तियों के हितों में परस्पर विरोध पाया जाता है अथवा समाज के विभिन्न वर्गों के हित परस्पर विरोधी होते हैं। मार्क्स इस संघर्ष का आधार, जोकि भिन्न हितों के कारण उत्पन्न होता है, उत्पादन के साधन मानता है। वर्ग संघर्ष को समझने के लिए पहले वर्ग की अवधारणा को समझना जरूरी है। वर्ग शब्द अंग्रेजी के शब्द का हिन्दी रूपान्तर है जोकि लैटिन भाषा के शब्द 'Classis' से बना है जिसका अभिप्राय व्यक्तियों की श्रेणी (A division of the people) अथवा शस्त्रधारी समूह (A group called to arms) है। रोम में 578-534 ई० पूर्व इस शब्द का प्रयोग रोमन समाज के विभिन्न वर्गों के लिए किया जाता था। रोम के एक राजा सर्वुस तुलियस (Servius Tullius) ने सैनिकों को उनकी सम्पत्ति के आधार पर (अर्थात् अपने घोड़ों तथा शास्त्रों के आधार पर) पाँच वर्गों में विभाजित किया। इसके उपरान्त वर्ग शब्द का प्रयोग मानव समाज में व्यक्तियों की विभिन्न श्रेणियों के लिए किया जाता रहा है। परन्तु क्या व्यक्तियों का समूह मात्र वर्ग कहा जा सकता है? कुछ विद्वानों ने समाज में वर्गों के विभाजन का आधार बौद्धिक स्तर बताया है जबकि अन्य लोगों ने आय तथा सम्पत्ति के आधार पर इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है तथा अन्त में वर्गों की समाज में स्थिति के आधार पर इन्हें समझने का प्रयास किया गया।

ये ऐसी चीजें हैं जिन का ज्ञान लिवी, एडम स्मिथ जैसे अनेक विद्वानों को था। मार्क्स का वर्ग और वर्ग संघर्ष के क्षेत्र में योगदान अग्रलिखित चार बातों में निहित है—

1. उन्होंने वर्ग के लक्षणों को निर्धारित करने का प्रयास किया।
2. उन्होंने वर्गों की उत्पत्ति का विश्लेषण प्रस्तुत किया।
3. उन्होंने यह दर्शाया कि किसी भी निश्चित समय में, एक वर्ग का हित उत्पादन शक्तियों के विकास के अनुरूप होता है। अतः वे इस नवीन विकास के अनुरूप नई सामाजिक संरचना के लिए

उत्साहित और प्रयत्नशील होते हैं, जबकि अन्य वर्ग परम्परागत रूप से स्थापित संरचना को ही बनाए रखने का प्रयास करते हैं क्योंकि उनके हित उसी परम्परा में निहित हैं।

4. उनका विश्वास था कि सर्वहारा वर्ग सभी वर्गों में अन्तिम वर्ग है और इसकी मुक्ति इस बात की माँग करती है कि सभी वर्गों का उन्मूलन कर दिया जाये और एक वर्गविहीन व शासक-विहीन समाज की स्थापना की जाये।

कार्ल मार्क्स, एंजेल्स तथा लेनिन ने वर्ग संघर्ष की व्याख्या करने में भौतिकवाद को महत्वपूर्ण माना है तथा इनका कहना है कि वर्ग संघर्ष पूर्णतः राजनीतिक है। लेनिन के अनुसार वर्ग व्यक्तियों के वे बड़े समूह हैं जो इतिहास द्वारा निर्धारित सामाजिक उत्पादन की व्यवस्था की दृष्टि से, उत्पादन की दृष्टि से, संबंध की दृष्टि से, जोकि अधिकांशतः निश्चित तथा नियमित श्रम के सामाजिक संगठन में भूमिका की दृष्टि से तथा सामाजिक धन के हिस्से तथा उसे प्राप्त करने की दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्थिति रखते हैं। लेनिन की इस परिभाषा में वर्गों का विभाजन प्रमुख रूप से उत्पादन से संबंध के आधार पर किया गया है।

सामाजिक वर्गों का आधार आर्थिक है परन्तु वे आर्थिक समूहों से कुछ अधिक हैं। सामाजिक वर्ग वैधानिक अथवा धार्मिक रूप में परिभाषित नहीं होते। कार्ल मार्क्स के अनुसार, "सामाजिक वर्ग ऐतिहासिक परिवर्तन की इकाइयों तथा आर्थिक व्यवस्था द्वारा समाज में निर्मित श्रेणियाँ दोनों ही हैं। वास्तव में, केवल एक समान आर्थिक स्थिति वाले व्यक्तियों का समूह ही वर्ग नहीं है अपितु यह एक ऐसा समूह है जिसके सदस्य अपने वर्ग के प्रति अथवा इसके चिह्नों के प्रति मानसिक चेतना रखते हैं तथा चेतना वर्ग की विभिन्न क्रियाओं में देखी जा सकती है। यद्यपि समाज में कितने वर्ग हैं इसके बारे में समाजशास्त्रियों में सहमति नहीं है, फिर भी अधिकांश विद्वान उच्च वर्ग (समाज के अधिकांश स्रोतों के स्वामी), श्रमिक वर्ग (मुख्यतः औद्योगिक श्रमिक) तथा माध्यम वर्ग (अधिकांशतः सफेदपोश तथा व्यवसायों में लगे हुए व्यक्ति) के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

एक खास बात की ओर दशारा किया है, "यह मार्क्स की ही विशेषता थी कि उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग वर्ग संघर्ष के बारे में लिखने में लगा दिया परन्तु उन्होंने कभी भी यह परिभाषित नहीं किया कि उनका 'वर्ग' से क्या तात्पर्य है। यह प्रश्न उन्होंने पूँजी के तृतीय खण्ड के अन्तिम अध्याय में उठाया परन्तु उसका उत्तर नहीं दिया।" इस विषय पर विस्तृत विचार व्यक्त करने से पूर्व ही कार्ल मार्क्स की मृत्यु हो गई। उस अन्तिम का शीर्षक ही "वर्ग" था।

प्राचीन समाजों में वर्ग नहीं पाये जाते थे क्योंकि शोषण इत्यादि नहीं होता था। मार्क्सवादियों के अनुसार समाज में सर्वप्रथम वर्ग प्राचीन साम्यवादी युग के अन्तिम चरणों में विकसित हुए तथा प्राचीन रोम, मिस्त्र, बेबीलोनिया इत्यादि में इनके उदाहरण मिलते। आर्थिक दृष्टि से वर्ग का विकास अतिरिक्त उत्पादन के कारण हुआ जोकि बाद में निजी सम्पत्ति से जुड़ गया। कैदियों से जब दास युग में दासों की तरह काम लेना शुरू किया गया तो वर्ग की उत्पत्ति हुई। इसके अतिरिक्त, ऋणग्रस्त व्यक्तियों को भी दास की तरह समझा जाता था। पशुपालन के कार्य में लगी जनजातियों का पृथक्करण, कृषि से हस्तदस्तकारी के पृथक्करण, मानसिक तथा शारीरिक कार्य में अन्तर तथा आर्थिक असमानताओं के आधार पर समाज कुछ श्रेणियों में बँटता चला गया तथा सही श्रेणियाँ आज वर्ग कही जा सकती हैं।

कार्ल मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी आधुनिक समाज में तीन प्रमुख वर्ग पाये जाते हैं—केवल श्रम-शक्ति के मालिक (सर्वहारा), पूँजी के मालिक (पूँजीपति) एवं भू-स्वामी। इनमें पहले को मजदूरी मिलती है दूसरे को लाभ तथा तीसरे को भूमि का किराया। इन तीनों में दो ही वर्ग प्रमुख हैं—पूँजीपति और सर्वहारा क्योंकि भू-स्वामी को उसकी भूमि की क्षमता के अनुसार पहले ही किराया मिल जाता है।

कार्ल मार्क्स को श्रम-विभाजन के महत्व का पता था और उन्हें विभिन्न वृत्तियों जैसे शिक्षक, डाक्टर, वकील व इंजीनियर आदि पर आधारित वर्गों का भी अहसास था। इन्हें मार्क्स ने मध्यम वर्ग में रखा है। इसमें छोटे पूँजीपति भी शामिल हैं परन्तु उनका कथन है कि ये तो अस्थायी वर्ग होता है। जब दो महान वर्गों में संघर्ष का समय आता है तो यह वर्ग या तो पूँजीपतियों के साथ या सर्वहारा के साथ मिल चुका होता है। वास्तव में, किसी वर्ग का उदय तो वर्ग चेतना से होता है एक वर्ग का जन्म वर्ग संघर्ष में होता है।

मार्क्स का वर्ग संघर्ष सिद्धांत इस प्रस्तावना पर आधारित है कि, “सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।” इस दृष्टिकोण के अनुसार जब से मानव समाज प्राचीन तथा अविभिन्नीकृत अवस्था में आगे बढ़ा है तभी से यह वर्गों में विभाजित रहा है जो अपने-अपने वर्ग हितों के लिए परस्पर संघर्ष करते रहे हैं। उदाहरण के लिए, पूँजीपति समाज में, पूँजीपतियों का केन्द्रीय बिन्दु-कारखाना-शोषण करने वाले (शोषक) तथा शोषित, श्रम को बेचने तथा खरीदने वाले वर्गों में प्रकार्यात्मक सहयोग के स्थान पर इन दोनों वर्गों में परस्पर विरोधाभाष पैदा करता है। मार्क्स के लिए वर्ग के हित तथा शक्ति के लिए संघर्ष सामाजिक तथा ऐतिहासिक प्रक्रिया के मूल निर्णायक है।

मार्क्स के अनुसार आज तक का सम्पूर्ण समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा स्वतन्त्र तथा दास, कुलीन तथा जनसाधारण, भूमिपति तथा अर्द्धदास, श्रेणीपति तथा वेतन पाने वाले, अत्याचारी और पीड़ित, एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े रहे हैं। इन दोनों में कभी प्रत्यक्ष रूप में तो कभी अप्रत्यक्ष रूप में युद्ध तथा संघर्ष सदा चलता रहा है।

मार्क्स की व्याख्या इस बात पर केन्द्रित रहती है कि उत्पादन के साधन किस प्रकार व्यक्तियों के संबंधों तथा सापेक्षिक पदों को निर्धारित करते हैं। उनका कहना है कि असमान पहुँच सभी परिस्थितियों में सक्रिय वर्ग संघर्ष को उत्पन्न नहीं करती अपितु सामाजिक संरचना में विशिष्ट पद व्यक्तियों के सामाजिक अनुभवों के आधार पर अपने सामूहिक भाग्य को सुधारने के प्रयास की क्रियाओं द्वारा वर्ग चेतना विकसित कर देते हैं। इस प्रकार, वर्ग चेतना सामाजिक परिस्थितियों में उन व्यक्तियों के प्रकाशकरण द्वारा विकसित होती है जोकि विशेष सामाजिक पदों पर आसीन है। मार्क्स का कहना है कि, “भिन्न व्यक्ति तभी वर्ग का निर्माण करते हैं जबकि उन्हें अन्य वर्ग के विरुद्ध सामान्य संघर्ष में जुट जाना पड़ता है अन्यथा वे प्रतियोगियों की तरफ एक-दूसरे के प्रति केवल बैर मात्र रखते हैं।”

शासक वर्ग के विचार ही उस वर्ग के प्रतिष्ठित और मान्य विचार होते हैं अर्थात् जो वर्ग समाज की भौतिक शक्ति का मालिक है वही समाज का बौद्धिक वर्ग भी होता है। वे अपने युग के विचारों से उत्पादन और वितरण का भी नियमन करते हैं। उन विचारों के माध्यम से वे अपना पक्ष पोषण करते हैं तथा अपने अधिकारों का औचित्य सिद्ध करते हैं। परन्तु सर्वहारा का शोषण जब चरम सीमा पर होता है और उस वर्ग के अस्तित्व को ही खतरा नजर आता है, तब उसमें वर्ग चेतना मजबूत हो जाती है। शासकों के विचार की असारता तब उन्हें समझ आती है उत्पादन की नवीन शक्तियों के अनुरूप एक नई क्रान्तिकारी विचारधारा का जन्म हो जाता है। यह बिन्दु ही सर्वहारा के वर्ग के रूप में विकास का परिचायक है। मार्क्स ने स्पष्ट लिखा है कि, “एक विशेष काल में क्रान्तिकारी विचारों की विद्यमानता एक क्रान्तिकारी वर्ग की विद्यमानता की पूर्वमान्यता रखती है।”

वर्ग हित उपयोगितावादी संप्रदाय तथा शास्त्रीय ब्रिटिश राजनीति अर्थव्यवस्था के प्रतिपादकों द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिगत हितों से पूर्णतः भिन्न है। यह संभावना तभी वास्तविकता में बदल सकती है जबकि एक जैसे पदों पर नियुक्त व्यक्ति सामान्य संघर्ष में कूद पड़ते हैं तथा संचार का एक जाल विकसित हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप वे अपने सामान्य भाग्य के प्रति जागरूक हो जाते हैं अर्थात् अपने आप में

वर्ग अपने लिए वर्ग में बदल जाता है। इसी परिस्थिति में व्यक्ति एक संगठित वर्ग का निर्माण करते हैं। यद्यपि कुछ व्यक्तियों की उत्पादन की क्रिया के सन्दर्भ में एक जैसी स्थिति क्यों न हो वे वर्ग का निर्माण तभी करते हैं जबकि वे अन्य वर्गों के साथ संघर्ष के परिणामस्वरूप अपने हितों की समानता के बारे में जागरूक हो जाते हैं।

वर्ग संघर्ष जब अपने निर्णायक दौर में पहुँचता है तब शासक वर्ग का एक समूह उससे अलग होकर क्रान्तिकारी वर्ग के पक्ष में हो जाता है उस वर्ग के पक्ष में जिसके हाथों में उस भविष्य का समाज दिखाई देता है।

क्रान्ति द्वारा प्रत्येक उभरता हुआ नया वर्ग अपने से पिछले शासक वर्ग से अधिक विस्तृत आधार रखता है। साम्राज्यवाद में राज्य में ही शक्ति और वैभव केन्द्र था, सामन्त युग में शक्ति और वैभव अधिक व्यक्तियों में वितरित हुआ, सामान्तवाद के विनाशकर्ता पूँजीवाद में शक्ति का आधार और भी अधिक व्यापक हो गया है।

मार्क्स की संघर्ष की धारणा उस समय की इंग्लैंड की परिस्थितियों पर आधारित है। उस समय इंग्लैंड के उत्पादन में भारी वृद्धि हो रही थी। पूँजीपति वर्ग दिन-प्रतिदिन धनी होता जा रहा था तथा श्रमिक वर्ग की निर्धनता निरन्तर बढ़ती जा रही थी। पूँजीपति श्रमिकों का शोषण पूरी तरह से कर रहे थे। इस प्रकार जब मार्क्स, जर्मनी तथा फ्रांस से निकाल दिये जाने के बाद इंग्लैंड आये तो उन्होंने वहाँ की पूँजीवादी व्यवस्था की प्राथमिक जानकारी प्राप्त की। पूँजीपतियों का राज सत्ता में पूर्ण प्रभुत्व था तथा वे धन के बल पर सरकार को अपने इशारों पर चलाकर श्रमिकों का बुरी तरह से शोषण कर रहे थे। इस शोषण को देखकर मार्क्स पूँजीवादी व्यवस्था के कट्टर शत्रु बन गये।

मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था में दो वर्गों को महत्वपूर्ण स्थान दिया है—प्रथम, वह जोकि उत्पादन के साधनों का मालिक है अर्थात् पूँजीपति वर्ग तथा दूसरे, वह जो श्रम का मालिक है अर्थात् श्रमिक वर्ग। इन दोनों वर्गों के हित परस्पर विरोधी हैं क्योंकि पूँजीपति श्रमिकों का शोषण करके उनसे अधिक कार्य लेना चाहते हैं, जबकि श्रमिक वर्ग अपने कार्य का उचित वेतन चाहते हैं। इन दोनों वर्गों के हित परस्पर विरोधी होने के कारण कोई समझौता नहीं हो पाता। मार्क्स इस बात की आशा करता है कि पूँजीवादी व्यवस्था का विनाश करने के लिए सर्वहारा (श्रमिक) वर्ग क्रान्ति करेगा जिसमें सर्वहारा वर्ग को निश्चित रूप से विजय मिलेगी तथा एक नवीन समाज अर्थात् प्रारम्भिक समाजवाद तथा बाद में साम्यवाद की स्थापना होगी। इस व्यवस्था में निजी सम्पत्ति समाप्त हो जायेगी। इस नवीन व्यवस्था में सम्पूर्ण सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार हो जायेगा तथा सम्पूर्ण जनता को समान अधिकार मिल जायेंगे और श्रमिकों का शोषण पूर्णतः समाप्त हो जायेगा। परन्तु इनके यह विचार आज तक फलीभूत नहीं हो पाये हैं।

वास्तव में, सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति होना एक ऐतिहासिक अनिवार्यता है। पूँजीवादी समाज लाभ के लिए उत्पादन की शक्तियों का नित नया विकास करता जाता है, आविष्कार आदि होने से उत्पादन के ढंग में परिवर्तन होता है, इससे उत्पादन के संबंधों में परिवर्तन हो जाता है। स्वयं पूँजीवादी व्यवस्था, इस प्रकार अपने विनाश की शक्तियों को जन्म देती है क्योंकि प्रगति की ओर हम कदम पूँजी को कुछ ही हाथों में केन्द्रित करता जाता है। दूसरी ओर, सर्वहारा वर्ग एक स्थान बड़ी संख्या में केन्द्रित हो जाता है। प्रतियोगिता के कारण छोटे व्यापारी या उत्पादक बाजार से निकाल दिये जाते हैं तथा वे सर्वहारा वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं।

सर्वहारा क्रान्ति की सफलता सदा के लिए वर्गों का अन्त कर देगी क्योंकि अब तक जो भी आन्दोलन हुए वे अल्पसंख्यकों के द्वारा अल्पसंख्यकों के लिए ही किए गये आन्दोलन थे। सर्वहारा आन्दोलन ही बहुत विशाल बहुसंख्यकों के द्वारा बहुसंख्यकों के लिए किया गया आन्दोलन है। उनके पास

रक्षा करने को कोई सम्पत्ति है ही नहीं। अतः उनका पहला कदम निजी सम्पत्ति के अधिकार का उन्मूलन ही होगा। इसलिए वर्गविहीन समाज की स्थापना इस सर्वहारावर्ग के द्वारा होगी, यह उनकी ऐतिहासिक नियति है।

मार्क्स ने वर्तमान समाज के इतिहास को वर्ग संघर्ष का इतिहास बताया है क्योंकि उसके अनुसार आदिम साम्यवाद के बाद से ही समाज के विभिन्न वर्गों में संघर्ष होता रहता है। यद्यपि सामाजिक विकास में संघर्ष की महत्वपूर्ण भूमिका है फिर भी मार्क्स के सिद्धांत में अनेक बातों का स्पष्टीकरण नहीं मिलता।

इस प्रकार मार्क्स ने बतलाया है कि संसार में अभी तक वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हो गई है। वर्गों का अस्तित्व रहने के कारण ही अभी तक संसार अपने को संघर्षों से स्वतन्त्र नहीं कर सका है। जब तक वर्ग व्यवस्था रहेगी तब तक समाज में संघर्ष होता रहेगा। इतिहास के पृष्ठ इसीलिए वर्गों के आपसी संघर्ष का उल्लेख करते हैं। मार्क्स ने यह भी बताया कि आज संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँचने की ओर अग्रसर हो गया है। इसमें शोषित वर्ग (सर्वहारा) की वृद्धि होती जा रही है। इस वर्ग का असंतोष इसके मजबूत और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में अभिव्यक्त हो रहा है। इसी संगठन की मजबूती के साथ-साथ उसका पूँजीपति वर्ग से संघर्ष भी बढ़ गया है। अतः यह संघर्ष अपनी चरमसीमा पर क्रांति का रूप लेगा जिसमें समस्त पूँजीपति वर्ग की समाप्ति हो जायेगी एवं समस्त उत्पादन के साधनों पर सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य हो जायेगा।

9.4 मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत की विशेषताएँ :

(Characteristic of Marxian Theory of Class Conflict)

वर्ग संघर्ष की अपनी इस अवधारणा की भविष्यता पर मार्क्स ने व्यापक रूप से विचार किया है। आधुनिक भारतीय समाज के संदर्भ में यदि विचार किया जाय तो यह भविष्यता हमें सत्य प्रतीत होती है। मार्क्स के इस सिद्धांत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. आदिकालीन वर्ग संघर्ष :- मार्क्स ने लिखा है कि मानव समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है। मानव समाज में आज दो ही वर्ग हैं—श्रमिक एवं पूँजीपति अर्थात् सर्वहारा व बुर्जुआ समस्त मानव इतिहास को वर्ग-संघर्ष का इतिहास बताने का यही अभिप्राय हुआ कि इतिहास में सामाजिक वर्गों में कभी भी सहयोग नहीं हुआ है। मार्क्स आगे लिखता है कि मानव समाज के इतिहास में सदा से वर्ग रहे हैं और उनमें सदा संघर्ष रहा है। आधुनिक युग में यह संघर्ष अपनी चरमसीमा में विकसित हो गया है।

2. आकस्मिक संघर्ष :- यद्यपि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि मानव समाज में वर्ग-संघर्ष चला आ रहा है। लेकिन यह संघर्ष आकस्मिक एवं अस्थायी रूप से होता रहा है, न कि निरन्तर। मानव का स्वभाव हमेशा से ही सहयोगी रहा है। अतः वह सहयोग करता आ रहा है। परन्तु यह सहयोग तब तक ही रहा जब तक कि उत्पादन के साधनों का नवीनीकरण नहीं हुआ। आज यह प्रक्रिया संचालित है। इसलिए वर्ग-संघर्ष प्रक्रिया भी गतिशील हो गई है।

3. वर्ग-संघर्ष का आधार आर्थिक :- मार्क्स के अनुसार संसार में वर्ग आर्थिक

आधार पर ही बनते हैं एवं उनमें संघर्ष का आधार भी आर्थिक ही होता है। आर्थिक कारण ही सभी संघर्षों का आधार है। प्रजातियों, धार्मिक समूहों, राष्ट्रीय समूहों आदि में पाये जाने वाले संघर्षों की व्याख्या करने में मार्क्स का सिद्धान्त आर्थिक संबंधों पर जोर देता है। मार्क्स के अनुसार इन वर्गों का आधार भी आर्थिक है एवं इनमें पाये जाने वाले संघर्षों की व्याख्या भी आर्थिक आधार पर की जा सकती है।

4. द्वन्द्वात्मक परिस्थितियाँ :— मार्क्स के अनुसार संसार में केवल विरोधी वर्ग ही पाये जाते हैं। लेकिन इस बात को कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। मानव समाज में कई प्रकार के वर्गों का भी आज निर्माण हो रहा है। स्वार्थों के टकराव से इनमें संघर्ष होता है। समाज की प्रगति के साथ-साथ इन वर्गों का विकास होता जायेगा। नवीन अनुसंधानों से भी वर्गों का निम्नण होता है।

5. क्रांति के द्वारा सामाजिक उद्-विकास :— मार्क्स का कथन है कि मानव समाज में परिवर्तन एवं उसमें विकास हमेशा वर्गों के संघर्षों एवं क्रान्तियों द्वारा हुआ है। क्रान्ति के बिना समाज का विकास एवं उन्नति नहीं हो सकती। आज तक जो विकास एवं उन्नति मानव कर पाया है उसका आकरण आपसी घृणा, संघर्ष एवं क्रान्ति है। हिंसा, संघर्ष एवं क्रांति तो मानव समाज की सामान्य क्रियाएँ हैं। ये विनाश एवं पतन का कारण बनती हैं न कि विकास एवं उन्नति का। उन्नति तो निरंतर परिवर्तन एवं संगठन से ही संभव है। इनके बिना मनुष्य के लिए प्रकृति पर विजय पाना उद्योग एवं सैनिक कला में प्रगति करना संभव नहीं होता। यह सभी इस बात से संभव हुआ है कि विनाशात्मक संघर्ष के इस शोरगुल से सत्य के कुछ विचारकों एवं इच्छुकों ने अपनी प्रयोगशाला में एवं अध्ययन में शांतिपूर्वक कार्य किया।”

इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव ने आज जो प्रगति की है, उसके कारण अन्वेषणों को जारी रखना है। यदि संसार के वैज्ञानिक भी इस विनाशात्मक संघर्ष में लग जाते तो आज हम उन्नति के इस शिखर पर नहीं पहुँच सकते थे अतः यह कहा जा सकता है कि संघर्ष सामाजिक विकास एवं उन्नति का सहायक नहीं बल्कि बाधक एवं कभी-कभी विनाशक ही है। यही मार्क्स के विचारों की आलोचना का प्रमुख आधार है।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि मार्क्स का दर्शन पूर्णतया अवैज्ञानिक एवं अमौलिक है। जो कुछ मार्क्स ने लिखा है कि वह केवल इस क्षेत्र में प्रारम्भिक लेखकों के काग्र की पुनरावृत्ति मात्र है। अन्तर केवल इतना ही है कि मार्क्स ने उन्हीं व्याख्याओं को अतिशयोक्तिपूर्ण रूप से प्रस्तुत कर दिया है।

9.5 अलगाव की अवधारणा : (Concept of Alienation)

‘अलगाव’ अंग्रजी शब्द Alienation से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—‘स्व’ से विरक्ति अर्थात् "Self-estrangement"।

अर्थात् अलगाव को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है—“व्यक्ति की एक ऐसी

मानसिक अवस्था, जिसमें वह स्वयं से अपना लगाव खो देता है अथवा जैविकीय आवश्यकताओं का अचेतन प्रत्युत्तर देने लगता है, अलगाव कहलाता है।

अलगाव के विषय पर मार्क्स से पूर्व भी अनेक विद्वानों ने अपने विचार दिए हैं, जिसमें प्रमुख हैं—हीगल, एरिच फ्रॉक, डेविड रिज़मैन, थॉमस हॉब्स आदि

हीगल के अनुसार जब व्यक्ति परमात्मा या 'सर्वोच्च शक्ति' में लीन हो जाता है तो उसकी 'स्व' से जुड़ाव या लगाव स्वतः समाप्त हो जाता है, जिसे अलगाव कहते हैं।

डेविड रिज़मैन ने अपनी पुस्तक "The Lonely Crowd" में जटिल समाजों के एकांकीपन से जुड़ी हुई विसंगतियों को स्पष्ट करते हुए लिखा कि जटिल समाजों में व्यक्तिवादिता इतनी अधिक है कि किसी के सुख-दुख से किसी को कोई सरोकार नहीं है। इसी कारण व्यक्ति अपने आप से भी सरोकार खो देता है, जिसे हम 'अलगाव' कहते हैं।

थॉमस हॉब्स के अनुसार कोई ऐसी शासन व्यवस्था जो व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करता है तथा उसको अपने जीवन को अपने अनुसार जीने की अनुमति नहीं देता, उनमें 'अलगाव' की भावना जन्म ले लेती है।

मार्क्स ने उपरोक्त सभी सिद्धांतों को अवैज्ञानिक एवं अतार्किक कहकर अस्वीकार किया। मार्क्स के अनुसार 'अलगाव' सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में रहा है परन्तु औद्योगिक पूंजीवादी समाज में अलगाव अपने चरम पर है, जिसके दो प्रमुख कारण हैं—

- (1) श्रम का अवस्तुकरण
- (2) वस्तु पर अनियन्त्रण

मनुष्य स्वभाव से सृजनशील प्राणी है। वह अपने श्रम से वस्तु का सृजन करता है। मार्क्स इसे 'श्रम का वस्तुकरण' कहते हैं। औद्योगिक समाज में व्यक्ति काम तो करता है परन्तु सृजन नहीं करता जिसे मार्क्स ने 'श्रम का अवस्तुकरण' कहा। मार्क्स के अनुसार मनुष्य से सृजन का काय्र मशीनों ने ले लिया है। आज का व्यक्ति अपने श्रम से पेट भरता है, सृजन नहीं करता फलस्वरूप उत्पादन की प्रक्रिया से अलगाव महसूस करता है।

औद्योगिक पूर्व समाज में व्यक्ति जो भी सृजित करता था, उस पर उसका पूर्ण नियंत्रण होता था। वह अपनी इच्छा से उसका उपभोग, विनिमय या वितरण करता था परन्तु औद्योगिक समाज में उत्पादन लाभ या बाजार के लिए होता है इसलिए श्रमिक का वस्तु पर कोई नियंत्रण नहीं होता इसलिए उसे 'उत्पाद से अलगाव' हो जाता है।

औद्योगिक पूंजीवादी समाज अत्यन्त प्रतिस्पर्धी है। सहकर्मी पदोन्नति के लिए आपस में षड़यन्त्र करते हैं, जिससे वे एक-दूसरे के प्रति-मातृभाव महसूस नहीं करते, जिसके कारण 'सहकर्मियों से अलगाव' हो जाता है।

इस प्रकार अततः अलगाव के विभिन्न चरणों से गुजरते हुए व्यक्ति का 'स्व' से अलगाव हो जाता है। इस प्रकार मार्क्स के अनुसार औद्योगिक पूंजीवादी समाजों में 'अलगाव' चारण

चरणों में होता है—

1. उत्पादन की प्रक्रिया से
2. उत्पाद से
3. सहकर्मियों से
4. 'स्व' से

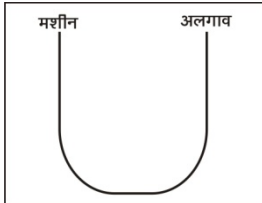
इस प्रकार, मार्क्स ने निष्कर्ष निकला कि 'अलगाव' का स्रोत या कारण पूंजीवादी औद्योगिक समाज है, जिसमें मशीनीकरण लाभ, प्रतिस्पर्धी काय की प्रणाली, शोषण आदि जैसे कारक व्यक्ति में 'अलगाव' के कारण हैं तथा इसका अन्त भी पूंजीवादी समाज के विनाश में ही निहित है।

1. मैक्स वेबर मानते हैं कि सृजनहीनता एवं अलगाव में सम्बन्ध है परन्तु इनके अनुसार क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति नियमों से बँधा है इसलिए उसकी सृजनशीलता समाप्त हो जाती है।

2. सी०डब्ल्यू० मिल्स ने सर्वाधिक अलगाव सेवा क्षेत्र में देखा जहाँ गुणवत्तापूर्ण वस्तुओं का स्थान गुणवत्तापूर्ण व्यक्तियों ने ले लिया है। यही कारण है कि व्यक्ति अपने मानवीय गुणों से दूर हो गया है, जिससे उसमें 'अलगाव' आता है।

3. Herbert Marcuse मार्क्स से सहमत हैं कि सृजनहीनता, अलगाव का कारण है परन्तु इनके अनुसार अलगाव श्रमिकों में ही नहीं, पूंजीपतियों में भी आएगा क्योंकि वे भी कोई सृजनशील कार्य नहीं करते।

4. Robert Blumer ने 'U' वक्र से मशीन तथा अलगाव के बीच सम्बन्ध स्पष्ट किया।



इनके अनुसार 'अलगाव' वहाँ अधिक है, जिन उद्योगों में मशीनीकरण अधिक है जबकि कुटीर उद्योगों, हथकरघा उद्योगों आदि में 'अलगाव' कम पाया जाता है।

5. Melurin M-Seemen मार्क्स से सहमत नहीं है। इनके अनुसार 'अलगाव' एक आत्मगत प्रक्रिया है जो 5 कारणों से हो सकती

है—

1. शक्तिहीनता (Powerlessness)
2. अर्थहीनता (Meaninglessness)
3. प्रतिमानहीनता (Normlessness)
4. पृथकता (Isolation)
5. 'स्व' से पृथकता (Self-Estrangement)

'अलगाव' एक सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो किसी भी समाज में देखा जा सकता है। मार्क्स से पूर्व भी अनेक विद्वानों ने अलगाव को अपने-अपने दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न किया, जिसमें आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। मार्क्स से पूर्व लगभग सभी विद्वानों ने 'अलगाव' को एक व्यक्तिगत अवधारणा

माना।

उसके पश्चात् से ही अनेक अध्ययन एवं शोध किए गए, जिसमें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष, अंशतः तथा पूर्णता यह स्वीकार किया गया कि सृजनहीनता से अलगाव का सम्बन्ध होता है।

9.6 अलगाव का अर्थ व परिभाषा (Meaning of Alienation & Definition)

अलगाव का शाब्दिक अर्थ है 'अलग होना'। मार्क्स का अलगाव की अवधारणा से तात्पर्य ऐसे सामाजिक संरचना से है जिसमें उत्पादन के साधनों से उत्पादक वंचित रह जाता है तथा जिसमें 'निर्जीव श्रम' (पूँजी) का 'जीवित श्रम' (श्रमिक) पर प्रभुत्व होता है।

मार्क्सवादी अर्थ में अलगाव एक ऐसी क्रिया है, जिसके माध्यम से एक व्यक्ति, एक समूह, एक संसदी अथवा एक समाज निम्न के प्रति अलगाव दर्शाता है—

- (अ) अपने कार्यों के परिणाम अथवा उत्पादों के प्रति।
- (ब) वातावरण के प्रति
- (स) अन्य व्यक्तियों के प्रति
- (द) स्वयं के प्रति

जब किसी व्यक्ति द्वारा कोई उत्पादन किया जाता है अथवा किसी वस्तु का नव-निर्माण किया जाता है तो वह अपने इस सृजन-कार्य की प्रशंसा सुनना चाहता है क्योंकि अपने उत्पादन में वह अपने आप को देखता है तथा अपने आप को आत्मसात् पाता है। यह एक सामान्य सी मानव प्रवृत्ति है। पूँजीवादी समाज में श्रमिक अपनी ही उत्पादित वस्तु के इस्तेमाल से वंचित तो होता ही है, ऊपर से अपनी इस कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रशंसा से भी दूर कर दिया जाता है, जिससे उसके अन्दर एक प्रकार का परिष्कार, एक प्रकार की हीन भावना घर करने लगती है और वह अलग-थलग रहने लगता है तथा भीतर ही भीतर खोखला होने लगता है। एक श्रमिक के लिए वस्तु का अलग रूप धारण कर लेना और भी गहरा हो जाता है जब कारखानों में उत्पादन प्रक्रिया अलग-अलग हिस्सों में बांट दी जाती है। इन कारणों से व्यक्ति न केवल पुरे परिवार या समाज के प्रति अलगाव महसूस करने लगता है वरन् वह स्वयं के प्रति भी अलगाव की भावना से ग्रस्त हो जाता है।

श्रमिकों के अलगाव में धर्म की भी एक मुख्य भूमिका है एम0 हरलम्बोस लिखते हैं—“धर्म मनुष्यों के अलगाव का एक उदाहरण प्रस्तुत करता है। मार्क्स के अनुसार मनुष्य धर्म का निर्माता है न कि धर्म मनुष्य का निर्माता है। फिर भी लोग इस बात को भूल जाते हैं और भगवान को एक स्वतंत्र सत्ता सौंप देते हैं; एक ऐसी सत्ता जिससे उनके क्रिया कलापों का निर्देशन होता है तथा जिससे उनके भाग्य का निर्धारण किया जाता है। मनुष्य जितना ही इस विश्वास की गहराई में उतरता है उतना ही अधिक नुकसान उठाता है। अन्त में एक ऐसा समय आता है जब मनुष्य अपनी शक्तियाँ भगवान को समर्पित करके खुद से अलगाव हो जाता है। इस प्रकार, धर्म एक बाह्य बल के रूप में मनुष्य के भाग्य को नियंत्रित करता हुआ प्रतीत होता है जबकि वास्तव में यह धर्म मानव-निर्मित ही है।

मार्क्स का उद्देश्य अलगाव की मात्र आलोचना करना नहीं है। उनका उद्देश्य एक आमूल क्रान्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करना तथा एक ऐसे साम्यवाद को स्थापित करना है जिसे “व्यक्ति के स्वयं को ओर वापस आने की प्रक्रिया के पुनः एकीकरण या आत्म-अलगाव की विजय” के रूप में समझा जाय मार्क्स के

मत में, केवल निजी सम्पत्ति समाप्त करने से आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का अलगाव दूर नहीं हो सकता। पूँजीवादी उत्पादन में अलगाव के कुछ तत्वों की जड़ उत्पादन के साधनों की प्रकृति में तथा इससे सम्बन्धित सामाजिक श्रम के विभाजन में होती है। इसी कारण केवल उत्पादन के प्रबंधन में परिवर्तन से अलगाव दूर नहीं होता है बल्कि उत्पादन की पूरी प्रक्रिया में क्रान्तिकारी परिवर्तन ही अलगाव रूपी इस समस्या का समाधान है।

मानवतावादी विचारक कार्ल मार्क्स ने पूँजीवादी समाज के आलोचना के विश्लेषण के क्रम में श्रमिकों के अमानवीय दशाओं के चित्रण करने हेतु अलगाव की अवधारणा को प्रस्तुत किया है और इसे (अलगाव को) एक ऐसी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक दशा या स्थिति के रूप में परिभाषित किया है जहाँ व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन के मूलभूत पक्षों, से यहां तक की स्वयं से कटा हुआ महसूस करता है।

मार्क्स के अनुसार 'कार्य से मनुष्य की वैयक्तिकता, मानवता और मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने का महत्वपूर्ण साधन है जिसके माध्यम से वह न केवल अपनी सृजनात्मक शक्ति का इस्तेमाल करके संतुष्टि पाता है बल्कि सामाजिक आवश्यकताओं को भी पूरा करता है। अतः कार्य केवल व्यक्तिगत कार्य नहीं बल्कि सामाजिक कार्य भी है और कार्य का यही रूप व्यक्ति एवं उसके काग्र के बीच संबंधों का आदर्श रूप है। परन्तु निजी संपत्ति उद्भव के साथ ही मनुष्य और उसके बीच का कार्य का यह आदर्श संबंध समाप्त हो गया है जिसकी चरम परिणति पूँजीवादी व्यवस्थाओं में दृष्टिगत होती है। पूँजीवादी समाज में काग्र की दशाएँ ऐसी होती हैं कि व्यक्ति का अपने कार्य से अलगाव हो जाता है। चूंकि काग्र एक सामाजिक तथ्य है, अतः कार्य से अपने आप को समाज से भी अलग-थलग कर देता है। इस प्रकार से अपने सहकर्मियों से और अंततः स्वयं से अलगावित हो जाता है।

मार्क्स ने पूँजीवादी समाज के अंतर्गत इस अलगाव के चार स्वरूपों की पहचान की है—

1. सर्वप्रथम, मनुष्य अपने उत्पादन तथा उत्पादन प्रक्रिया से अलगावित हो जाता है क्योंकि यहाँ उसका कार्य उसको रचनात्मक कार्य का संतोष नहीं दे पाता है।
2. दूसरे, वह प्रकृति से भी अलगावित हो जाता है, क्योंकि मशीनों पर काग्र करने के कारण उसका प्रकृति से संबंध टूट जाता है और वह प्रकृति का आनंद नहीं ले पाता।
3. तीसरे, तीव्र प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति उसे अपने सहचरों से अलगावित कर देती है।
4. अंततः वह अपने आप से पराया हो जाता है। विवशता उसके जीवन का प्रमुख पक्ष बन जाती है और संस्कृति, कला, साहित्य के प्रति कोई उसकी अभिरुचि नहीं रह जाती।

मार्क्स ने श्रमिकों की इस अलगाव की स्थिति के लिए पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में निहित जटिल श्रम विभाजन एवं उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व को उत्तरदायी बताया है क्योंकि इस व्यवस्था में श्रमिक का उत्पादन संबंधी निर्णय प्रक्रिया पर कोई नियंत्रण नहीं होता है। श्रमिक से यह नहीं पूछा जाता है कि क्या उत्पादन करना है एवं कैसे उत्पादन करना है। इस प्रणाली में उसकी रुचि को भी ध्यान में नहीं रखा जाता है।

उसे किसी कार्य का केवल एक भाग करना होता है फलतः वह किसी कार्य को पूर्णतया नहीं कर पाता है। इस प्रकार वह कार्य का पूर्णतया आनन्द नहीं ले पाता और अपनी सृजनात्मकता का उपयोग नहीं कर पाता है। उसे अपने द्वारा किये गये कार्य का पूरा लाभ नहीं मिल पाता है क्योंकि पूँजीपतियों द्वारा अतिरिक्त मूल्य का शोषण कर लिया जाता है।

अधिक समय तक (लगभग 12-16 घंटे) उसे मशीनों पर बंधा-बंधाया काम करना पड़ता है। फलतः वह मशीन का पुर्जा बनकर रह जाता है। यहां इतनी अधिक प्रतिस्पर्द्धा होती है कि एक का लाभ दूसरे की हानि बन जाता है और कार्य का सामुदायिक पक्ष समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में उत्पादन का कार्य (श्रम) भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन न होकर स्वयं में साध्य हो जाता है और व्यक्ति अपनी सृजनात्मक की अभिव्यक्ति हेतु न करके केवल अपनी आजीविका हेतु करता है। फलतः उसे कार्य से पूर्ण संतुष्टि नहीं मिल पाती और उसका अपने कार्य से लगाव समाप्त हो जाता है।

मार्क्स अलगाव की इस स्थिति को मानव समाज का अस्थायी लक्षण मानते हुए इस बात की भविष्यवाणी करता है कि जब श्रमिक अपने अलगाव के कारणों के बारे में जागरूक (वर्ग चेतना का विकास) हो जाएगा तब वह सामूहिक क्रांति (साम्यवादी क्रांति) द्वारा इस पूंजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन कर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना करेगा, जहां उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व होगा और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार सभी कार्य करेगा क्योंकि यहां जटिल श्रम-विभाजन का अभाव होगा। फलतः यहां अलगाव की समाप्ति होगी और कार्य के साथ व्यक्ति का आदर्श संबंध स्थापित हो जाएगा।

9.7 अलगाव का सिद्धांत : (Theory of Alienation)

अलगाव की अवधारणा आज समाजशास्त्री अवधारणाओं में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यद्यपि यह एक प्राचीन अवधारणा है फिर भी इस पर सर्वाधिक वाद-विवाद पूंजीवादी समाजों के सन्दर्भ में ही हुआ है। पिछले कुछ दशकों में आधुनिक समाजों में विकसित संकट, जिसे रीजमैन ने 'एकांकी भीड़' कहा है अथवा जिसे होमन्स ने 'व्यक्तियों का धूल भरा ढेर जिसमें एक-दूसरे से सम्पर्क का अभाव होता है' कहा है, के कारण अलगाव की अवधारणा समाजशास्त्र की केन्द्रीय अवधारणा बन गयी है। हीगल के अनुसार अलगाव व्यक्ति में मुख्यतः सत्य या ईश्वर से विरक्ति के कारण होता है। व्यक्ति भौतिकता से विमुख होकर अंततः स्वयं से भी विरक्त हो जाता है। मार्क्स ने मानवता के इतिहास को वर्ग संघर्ष के इतिहास के साथ-साथ व्यक्ति में अलगाव के बढ़ने का इतिहास भी कहा है। इसी प्रकार के विचार ऐरिक केहलर ने भी व्यक्त किये हैं।

अलगाव शब्द का प्रयोग प्रथमतः लागल या भ्रान्तिचित्त व्यक्ति के लिए किया जाता रहा है। इस शब्द की उत्पत्ति फ्रांसीसी शब्द 'Alienado' से हुई है जिनका अर्थ इन भाषाओं में पूर्णतः परकीकृत (स्व से विरक्ति) व्यक्ति है। पिछली शताब्दी में इस शब्द का प्रयोग 'पागलपन की दशा' के लिए न करके अपने प्रति विरह अथवा पृथक भाव के लिए यिका जाने लगा है। यह वह स्थिति है जिसमें मनुष्य अपने भविष्य के प्रति अनिश्चित और असहाय हो जाता है, उसमें मान्य साधनों व लक्ष्यों के प्रति अनिश्चितता आ जाती है, प्रचलित मान्यताओं व मूल्यों से आज इस शब्द का प्रयोग अपने लिए परायेपन (अजनबी) की स्थिति के लिए किया जाने लगा है। यह वस्तुतः समाज के प्रति विरक्ति, उदासीनता या विरोध की भावना है जो अन्ततः अपने प्रति लगाव कम करती है।

अतः प्रथमतः अलगाव शब्द का प्रयोग पागलपन की अवस्था के लिए यिका जाता था परन्तु आजकल इस शब्द का प्रयोग चिन्ताग्रस्त मनोदशाओं अथवा असंतुलित मनोदशाओं व

प्रवृत्तियों के लिए किया जाता है जो कि व्यक्ति को समाज से, पर्यावरण से तथा स्वयं अपने से उदासीन बना देती है। व्यक्ति अकेला, बेसहारा तथा असुरक्षित महसूस करने लगता है तथा सामाजिक संबंधों के जाल से अपने आपको पृथक् करने का प्रयास करते हैं।

आधुनिक समाजों में अलगाव के बढ़ जाने के कारण सामाजिक वैज्ञानिक निरन्तर इस अवधारणा का अध्ययन कर रहे हैं। इस अवधारणा का प्रयोग प्रमुखतः हीगल, मार्क्स, मिल, वेबर, सिमेल इत्यादि विद्वानों ने किया परन्तु बाद में रीजमैन तथा फॉम ने भी इस अवधारणा को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। समाजशास्त्रीय अन्वेषण में एक शक्तिशाली विश्लेषणात्मक यन्त्र के रूप में इस अवधारणा को प्रयोग करने का श्रेय कार्ल मार्क्स को ही दिया जाता है।

कार्ल मार्क्स के अनुसार, “अलगाव व्यक्ति की वह दशा है जिसमें उसके अपने कार्य पराई शक्ति बन जाते हैं, जो कि उसके द्वारा शासित न होकर उससे ऊँची परन्तु उसी के विरुद्ध होती है।”

कार्ल मार्क्स के अनुसार यह पूंजीवादी व्यवस्था की एक विशेषता है जिसमें उत्पादन की प्रक्रिया पर व्यक्ति का नियन्त्रण लुप्त हो जाता है। वह उत्पादन के प्रति, प्रकृति के प्रति, अपने साथियों के प्रति और अन्ततः अपने आप से अजनबी हो जाता है। उसे अपने साहित्य, कला और समाज की सांस्कृतिक विरासत से कोई लगाव नहीं रह जाता। उसके जीवन का ध्येय केवल पेट भरना मात्र रह जाता है। मार्क्स के अनुसार मानवता का इतिहास केवल वर्ग संघर्ष का इतिहास नहीं है अपितु यह बढ़ते हुए अलगाव का भी इतिहास है।

मार्क्स अलगाव से संबंधित इन पूर्ववर्ती धारणाओं की आलोचना करते हैं तथा अलगाव का प्रत्यक्ष संबंध उत्पादन की प्रणाली से जोड़ते हैं मार्क्स के अनुसार वैसे तो प्रत्येक युग में अलगाव अस्तित्व में रहा है परन्तु पूंजीवादी व्यवस्था में यह अपने चरम पर है। उन्होंने अपनी रचना (Fetisim of Commodation and Money) में अलगाव की विस्तृत व्याख्या की है।

मार्क्स ने अलगाव के दो कारण बताए :-

1. (Deobjectification of Labour) श्रम का अवस्तुकरण तथा,
2. (Exploitation of Labour) श्रमिकों का शोषण

मार्क्स ने अलगाव को चार चरणों में देखा :-

3. उत्पादन की प्रक्रिया से – श्रम के अवस्तुकरण के कारण
4. उत्पाद से – शोषण के कारण
5. सहकर्मियों से – प्रतिस्पर्धा के कारण
6. स्वयं से – समेकित कारणों से

मार्क्स के अनुसार श्रम एक सामाजिक क्रिया है। व्यक्ति की संतुष्टि उसकी सृजनशीलता में होती है क्योंकि श्रम या तो समाज के लिए करता है या समूह के साथ करता है।

जैसे पूँजीवादी व्यवस्था से पूर्व एक जूता बनाने वाला मोची, चमड़ा स्वयं काटता है। डिजाइन बनाता है जूते का निर्माण करता है। तथा उसे अन्तिम रूप देता है। इस प्रकार वह जूता उसके श्रम का वस्तुकरण है जो उसे निर्माण को संतुष्टि देता है, परन्तु किसी के श्रम का वस्तुकरण नहीं हो पता क्योंकि कुछ लोग मात्र चमड़े लोग कार्य करते हैं। परन्तु किसी के श्रम का वस्तुकरण नहीं हो पता क्योंकि कुछ लोग मात्र चमड़े में छेद करते हैं, कुछ लेस लगाते हैं कुछ पेस्टिंग करते हैं, आदि। फलस्वरूप उनकी सृजनशीलता कभी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। फलस्वरूप श्रमिक कभी उत्पादन की प्रक्रिया से नहीं जुड़ पाता क्योंकि उत्पादन की प्रक्रिया को वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र मानता है। इस प्रकार वह उत्पादन की प्रक्रिया से सदैव अलग रहता है।

पूँजीवादी समाज से पूर्व चाहे वह वस्तु कितनी भी महान या विशाल क्यों न हो वह व्यक्ति के नियंत्रण से परे नहीं थी। मनुष्य का उस पर नियंत्रण था। परन्तु पूँजीवादी समाज में अत्यधिक मशीनीकरण एवं लाभ की प्रवृत्ति के कारण श्रमिक का शोषण होता जा रहा है। मशीन श्रमिक से अधिक महत्वपूर्ण है और जिस उत्पाद को श्रमिक ने बनाया है उसी उत्पाद से लाभ कमाकर पूँजीपति श्रमिकों का शोषण करता है। फलस्वरूप श्रमिक का उत्पाद से भी अलगाव हो जाता है।

मार्क्स ने अलगाव का तीसरा कारण सहकर्मियों से देखा। पूँजीवादी समाज से पूर्व श्रम एक सामूहिक प्रक्रिया थी क्योंकि प्रतिस्पर्धा नहीं थी। पूँजीवादी समाज ने प्रोन्नति के सीमित अवसर देकर सहकर्मियों में सहयोग की जगह, षड़यंत्र, अविश्वास को जन्म दिया। फलस्वरूप सहकर्मी एक-दूसरे पर अविश्वास करते हैं उपरोक्त तीनों कारणों का समेकित प्रभाव स्व से विरक्ति (अलगाव) में देखा।

मार्क्स के अनुसार अन्तिम चरण का अलगाव ही अलगाव की चरम अवस्था हैं। जिसमें व्यक्ति मात्र जीवन तो जीता है परन्तु उसका कोई अर्थ नहीं ढूँढ पाता। मशीन के साथ काम करते-करते वह मशीन की तरह ही प्रतिक्रियाएँ देने लगता है। उसकी अपनी संवेदना, भावबोध, जीवन के प्रति उत्साह, आस-पास के प्रति भिन्नता समाप्त हो जाती है। जिसे दर्शन में कहा जाता है, “ऐसा जीवन जीने वाला व्यक्ति अपने जीवन का मात्र दिन जी पाता है।

अलगाव की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं:-

1. यह व्यक्ति की असन्तुलित मनोदशा है। इसमें व्यक्ति समाज, पर्यावरण तथा कई बार स्वयं अपने प्रति उदासीन हो जाता है। वह अकेला, बेसहारा व असुरक्षित महसूस करने लगता है।
2. इसमें व्यक्ति के कार्य उसके लिए पराई शक्ति बन जाते हैं। वह अपनी ही बनाई हुई वस्तुओं का दास बन जाता है।
3. अलगाव की दशा में व्यक्ति एकता का अभाव महसूस करता है। इसे सामाजिक व सांस्कृतिक सहभागिता के अपवर्जन (बहिष्कार) के रूप में देखा जा सकता है।

4. इसमें व्यक्ति अपने सामाजिक संबंधों से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता है। वह पृथकता की दशा में रहना चाहता है।
5. अलगाव की दशा में व्यक्ति अपने आप को शक्ति अनुभव करता है।
6. अलगाव की दशा अर्थहीनता से जुड़ी हुई है। इसमें व्यक्ति सामाजिक घटनाओं के संदर्भ में अपने आप को प्रभावहीन मानता है तथा सोचता है कि उसका निर्णय कोई अर्थ नहीं रखता। इसीलिए उसका अपने प्रति लगाव भी कम हो जाता है।
7. अलगाव की दशा में व्यक्ति आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्थापित व मान्य साधनों का अनुपालन नहीं करता। इसीलिए इस दशा को नियमहीनता की स्थिति भी कहा जाता है।

9.8 अलगाव से संबंधित अन्य विचार :

(Other ideas related to Alienation)

1. वेबर के अनुसार अलगाव नौकरशाही में विकसित होता क्योंकि इस व्यवस्था में नियमों एवं कानूनों पर अत्यधिक बल दिये जाने के कारण अधिकारियों की सृजनशीलता कम हो जागयी। वह मात्र नियमों का गुलाम बन कर रह जाएगा। फलस्वरूप उसमें अलगाव की भावना जन्म ले लेगी।
2. सी0डब्ल्यू0 मिल्स के अनुसार अलगाव की सर्वाधिक भावना सेवा क्षेत्रों में पायी जाती है क्योंकि क्षमतावान वस्तुओं का स्थान क्षमतावान व्यक्तियों ने ले लिया है।
अर्थात् अब वस्तु नहीं व्यक्ति बिकता है और उसे भी अपने व्यवहार को वस्तुओं की तरह करना पड़ता है। जैसे:-होटल उद्योग, एयर-होस्टेस, फ्रंट ऑफिस कर्मचारी, कॉल सेंटर आदि उद्योगों में अलगाव की भावना देखी जा सकती है।
3. मेल्विन सीमैन के अनुसार अलगाव के पांच कारण होते हैं। सीमैन ने अलगाव को आत्मगत प्रक्रिया माना।
(क) प्रतिमानहीनता – जब समाज में मूल्य प्रमाण टूट जाते हैं।
(ख) शक्तिहीनता – जब व्यक्ति किसी को प्रभावित नहीं कर पाता।
(ग) अर्थहीनता – व्यक्ति के जीवन का कोई अर्थ नहीं होता।
(घ) पृथक्करण – व्यक्ति के जीवन का कोई अर्थ नहीं होता।
(ङ) स्वअलगाव – व्यक्ति का मन उच्छ्रित जाना। जैसे देवदास।

रॉबर्ट ब्लूमर के अनुसार इंग्लैंड के औद्योगिक प्रतिष्ठानों में उन्होंने मशीनीकरण का प्रत्यक्ष संबंध अलगाव से देखा तथा उसे 'यू वक्र' से समझाने का प्रयत्न किया।

अर्थात् जितना मशीन

का उपयोग होता,

इतना ही अलगाव होगा।



इन्होंने कुटीर उद्योगों, हथकरघा उद्योगों में बड़े उद्योगों की अपेक्षा कम अलगाव की भावना देखी, इससे मार्क्स के सिद्धांत को बल मिलता है।

हर्बर्ट मारक्यूज के अनुसार अलगाव की भावना पूँजीवादी व्यवस्था में मात्र श्रमिकों में नहीं आएगी बल्कि विलासी वर्ग या पूँजीपतियों में भी आएगी। क्योंकि उनकी भी सृजनशीलता को अभिव्यक्ति नहीं मिलेगी। एरिकफॉर्म के अनुसार उत्पादन की प्रणाली से प्रत्यक्ष संबंध अलगाव का है। जहाँ भी सृजनहीनता या शोषण अस्तित्व में होगा अलगाव की भावना पाई जाएगी। इन्होंने भी मार्क्स का समर्थन किया।

विस्तृत अलगाव किसी न किसी रूप में प्रत्येक समाज में पाया जाता रहा है। जिसके कारण व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दोनों रहे हैं। समय, स्थान एवं व्यक्ति पर अलगाव की मात्रा या प्रभाव निर्भर करता है। मार्क्स ने मात्र उत्पादन की प्रणाली से इसे जोड़कर संकुचित किया है। मार्क्स का सिद्धांत गौतम बुद्ध, महावीर, देवदास जैसे व्यक्तियों के अलगाव का वर्णन नहीं कर पाता परन्तु उत्पादन के साधन से जिस प्रकार मार्क्स ने अलगाव को जोड़ा वह पूर्ववर्ती सिद्धांतों से अधिक तार्किक, वस्तुनिष्ठ एवं कार्य-कारण संबंधों पर आधारित है।

इस सिद्धांत की समकालीन परिपेक्ष में विवेचना करें तो स्पष्ट है कि औद्योगिक समाजों में वस्तुनिष्ठ शोषण समाप्त हुआ है। परन्तु सृजनहीनता के कारण अलगाव पर्याप्त मात्रा में देखे जा सकते हैं। अरमैती बोस ने गुड़गांव एवं दिल्ली के कॉल सेंटर कार्मियों का अध्ययन किया तथा सृजनशीलता के अभाव में अलगाव देखा।

ऐसा नहीं है कि औद्योगिक समाजों में ही अलगाव पाये जाते हैं। शोषण या सृजनहीनता के कारण ही अलगाव हो सकता है। किसी स्थान पर कोई एक विशेष कारक अधिक प्रभावी होता है। अलगाव समाजशास्त्र की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। जिसे मनोवृत्ति एवं परिस्थिति दोनों से जोड़कर देखा जाना चाहिए।

मार्क्स के वर्ग संघर्ष की तरह अलगाव पर विचार भी समाजशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वास्तव में, अलगाव की प्रवृत्ति बढ़ जाने के कारण सामाजिक वैज्ञानिक निरन्तर इस अवधारणा का अध्ययन कर रहे हैं। यद्यपि मार्क्स से पहले अलगाव की अवधारणा का प्रयोग जर्मनी के प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री हीगल ने किया था, परन्तु मार्क्स ने भौतिक जगत के संबंध में अलगाव की धारणा प्रस्तुत करके समाजशास्त्रीय अवधारणाओं में एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। कार्ल मार्क्स के अनुसार अलगाव व्यक्ति की वह दशा है जिसमें उसके अपने कार्य पराई शक्ति बन जाते हैं जोकि उसके द्वारा शासित न होकर उससे (व्यक्ति से) ऊँची परन्तु उसी के विरुद्ध होती है।

9.9 सारांश : (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ पायेगे कार्ल मार्क्स ने दार्शनिक आधार विरुद्ध रूप से भौतिक है। मार्क्स विचारों से पहले भौतिक पदार्थ ही उत्पत्ति को मानते हैं। उनके अनुसार “अनुष्य की चेतना उसे अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना को निर्धारित करता है।” मार्क्स भौतिक उन्नति और उत्पादन पर जोर देते हुए रोटी कपड़ा और मकान को मनुष्य का एक मात्र ध्येय मानते हैं वर्ग संघर्ष किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। सामाजिक जीवन में वर्ग संघर्ष की भाँति ही वर्ण सहयोग के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। समाज में केवल दो वर्ण पाये जाते हैं, पूंजीपति एवं श्रमिक वर्ग। मार्क्स ने समाज में अलगाव की बात भी कही है। मैक्स बेवर ने अलगाव के लिए नौकरशाही को जिम्मेदार बताया है जिसमें मनुष्य की स्वामित्वा का दमन है, फलस्वरूप मनुष्य के अन्दर अलगाव की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। मार्क्स ने अलग-अलग कार्ल में अलग वर्गों का वर्णन किया है।

9.10 शब्दावली : (Glossary)

(1) **वर्ग संघर्ष** :- ऐसे व्यक्तियों के समूहों में हिंसात्मक विरोध को वर्ग संघर्ष माना जाता है जो न्यूनधिक मात्रा में स्थाई रूप से सम्बन्धित होते हैं तथा जिन्हें सार्वजनिक रूप से उनके प्रभिक्षण सुविधाओं से अलग-अलग आता जाता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष अपरिहार्य मतभेद को प्रकट करता है जो अधिकांश समाजों के आर्थिक संगठनों के स्वरूप के कारण उत्पन्न होता है।

(2) **अलगाव** :- इसका सर्वप्रथम प्रयोग प्रसिद्ध दार्शनिक हीगल की कृतियों में देखने को मिलता है। अलगाव आत्म विमुखता की एक ऐसी भावना है जिसकी उत्पत्ति अपने कार्य की भूमिका को अर्थहीनता तथा स्वयं की शक्तिहीनता की धारणा में होती है।

9.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :

(Answer Questions of Practice)

1. “दास कैपिटल” कृति किसकी है?

- | | |
|-------------------|-------------------|
| (क) मैक्स बेवर | (ख) कार्ल मार्क्स |
| (ग) ईमाइल दुर्खीम | (घ) अगस्ट कोंट |

उत्तर – ब

2. कार्ल मार्क्स ने क्रांति का मूल कारण माना है—

- (क) उच्च वर्ग का शोषण
 (ख) निर्धनता
 (ग) सामाजिक अव्यवस्था के विरुद्ध प्रमुख लोगे का नेतृत्व
 (घ) उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन सम्बंधों के बीच असामंजस्य

उत्तर – घ

3. सामाजिक परिवर्तन में आर्थिक निर्धारणवाद की अवधारणा किस विद्वान ने दी है?

- (क) एडम स्मिथ (ख) कार्ल मार्क्स (ग) आर्गन (घ) सोरोकिन

उत्तर – ख

4. कार्ल मार्क्स ने आधुनिक युग के किन वर्गों में बाटा है—

- (क) पूंजीवादी (ख) श्रमिक वर्ग
 (ग) 'क' व 'ख' दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं

उत्तर – ग

5. अलगाव का सर्वप्रथम प्रयोग किस समाजशास्त्री ने किया?

- (क) हीगल (ख) कार्ल मार्क्स (ग) मर्टन (घ) पारमन्स

उत्तर – क

6. अलगाव से तात्पर्य है?

- (क) आत्म विमुखता (ख) आत्म समोहता
 (ग) आत्म मुक्ता (घ) इनमें से कोई नहीं

उत्तर – क

7. द सेन सोसाइटी पुस्तक है?

- (क) एरिक फ्राम (ख) मैक्स बेवर (ग) मर्टन (घ) पारमन्स

उत्तर – क

9.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची : (References)

1. लेविस ए० कोजर (1956) : मास्टर ऑफ सोशियोलोजिकल थॉट, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
 2. रेमण्ड ऐरो (1967) : मेन करेंटस इन सोशियोलोजिकल थॉट्स वाल्यूम-2, पेंगुन बुक्स, लन्दन।
-

9.13 सहायक/उपयोगी सामग्री : (Useful Contain)

1. हरिकृष्ण रावत (2011) : सामाजिक चिंतक एवं सिद्धांतकार, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
-

9.14 निबन्धात्मक प्रश्न : (Essay Type Questions)

- ✓ कार्ल मार्क्स के वर्ग संघर्ष से आप क्या समझते हैं?
- ✓ कार्ल मार्क्स की वर्ग वैमनस्यता की धारणा को समझाइये।
- ✓ पूंजीवादी उत्पादन रीति और वर्ग संघर्ष के बारे में कार्ल मार्क्स का विश्लेषण समझाइये।
- ✓ कार्ल मार्क्स के अलगाव के सिद्धांत को समझाइये।
- ✓ कार्ल मार्क्स के अलगाव अन्य समाजशास्त्रियों से कैसे अलग है।
- ✓ अलगाव क्या है?

**इकाई-10 : नवमार्क्सवाद की अवधारणा : डेहरेनडार्फ एवं क्रोजर
(Neo Marxism Concept : Dharendorf & Coser)**

इकाई की रूपरेखा

- 10.1 उद्देश्य
- 10.2 प्रस्तावना
- 10.3 नवमार्क्सवाद की अवधारणा
 - 10.3.1 राल्फ डेहरेनडार्फ का सैद्धांतिक उपागम
 - 10.3.2 राल्फ डेहरेनडार्फ का द्वन्द्वात्मक संघर्ष सिद्धांत
 - 10.3.3 राल्फ डेहरेनडार्फ की समाज की कल्पना
- 10.4 लेविस कोजर का संघर्ष सिद्धांत
 - 10.4.1 लेविस कोजर का सामाजिक संगठन की कल्पना
 - 10.4.2 लेविस कोजर के सामाजिक संघर्ष का उदगम और उसके प्रकार
- 10.5 सारांश
- 10.6 शब्दावली
- 10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 10.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 10.10 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 उद्देश्य : (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने में उपरान्त आप :-

- नवमार्क्सवाद के सिद्धांत को समझ जायेगे?
- डेहरेनडार्फ के सत्ता के संघर्ष के सिद्धांत को समझ पायेगे?
- डेहरेनडार्फ के सामाजिक संगठन के उपागम को समझ पायेगे?
- डेहरेनडार्फ के वर्ग संघर्ष के सिद्धांत को समझ पायेगे?
- लेविस कोजर के संघर्ष सिद्धांत को समझ सकते हैं?
- लेविस कोजर का सामाजिक संगठन के सिद्धांत को समझ सकते हैं?
- लेविस कोजर के सामाजिक संघर्ष के सिद्धांत एवं उदगम के प्रकारो को समझ सकते हैं?

10.2 प्रस्तावना : (Introduction)

डेहरेनडार्फ ने मार्क्स के वर्ग संघर्षवाद को नकारा है और इनकी गिनती नवमार्क्सवादी के रूप में की जाती है। जैसे—डेहरेनडार्फ व कोजर है। कार्ल मार्क्स जहाँ समाज में संघर्ष के लिये आर्थिक संसाधनों को उत्तरदायी मानते हैं।

जबकि डेहरेनडार्फ में समाज में संघर्ष के कारणों में सत्ता को मुख्य रूप से उत्तरदायी माना है। समाज में सम्बन्धों के लिए सत्ता उत्तरदायी होती है इसके लिये इन्होंने अपना सैद्धांतिक उपागम का निष्कर्ष किया है एवं डेहरेनडार्फ ने सत्ता के आधार पर समाज की कल्पना का उपागम निर्मित किया है।

लेविस कोजर भी नवमार्क्सवादीयों में गिने जाते हैं। ये संघर्ष को एक तरह से प्रकार्यवाद के रूप में जानने के लिए जाने जाते हैं इन्होंने संघर्ष के दो प्रकारों का वर्णन किया है जो इनही कारणों के आधार पर सामाजिक संगठन की कल्पना की है।

10.3 नवमार्क्सवाद की अवधारणा : (Concept of Neo-Marxism)

कार्ल मार्क्स जहाँ समाज की संरचना आर्थिक संसाधनों के आधार पर बनाते हैं एवं कार्ल मार्क्स से पहले हीगल ने समाज की संरचना विचारों पर आधारित होती है परन्तु नवमार्क्सवादी ने हीगल एवं कार्ल मार्क्स को नकार दिया और अपना अलग-अलग विचार रखा है।

परम्परागत मार्क्सवाद को नवीन दिशा देने के लिए नवमार्क्सवाद विकसित हुआ जो समाज के वर्गीय चरित्र को तो स्वीकार करता है लेकिन वर्ग संघर्ष को नहीं। नवमार्क्सवाद में सर्वप्रथम नाम डेहरेनडार्फ एवं कोजर का नाम प्रमुख है। डेहरेनडार्फ संघर्ष का कारण सत्ता को माना है इनमार्क्सवादी माना जाता है।

वर्तमान में समाजशास्त्र में दो विचारधाराएँ मुख्य हैं एक सन्तुलकारी जिसे संरचनात्मक-प्रक्रियात्मक विचारधारा भी कहते हैं और दूसरी, संघर्षवादी विचारधारा जिसे रेडिकल या आमूल-चल परिवर्तनवादी विचारधारा भी कहते हैं। पोलिविपस इनके अनुसार पशुओं की भाँति मनुष्यों में भी झुण्ड में रहने एवं संघर्ष करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। शासक वर्ग जब बिल्कुल ही अन्यायी और अत्याचारी हो जाता है तो शासित वर्ग उसे संघर्ष के द्वारा निर्मूल करने हेतु संगठित होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संघर्ष से सम्बन्धित सिद्धान्त का क्रम बहुत पुराना है। लेकिन डार्विन की उद्विकासीय सोच के पश्चात् हरबर्ट स्पेन्सर ने उसे एक वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप जीवित रहने के लिए संघर्ष का सिद्धान्त जिसका आधार प्राणिशास्त्रीय है, उभरकर सामने आया।

19वीं शताब्दी में जिन संघर्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों ने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया उनमें हीगल का दार्शनिक सिद्धान्त एवं कार्ल मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

संघर्ष की परिभाषाएँ : (Definition of Conflict)

- गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, “संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति या समूह अपने उद्देश्य की प्राप्ति अपने विरोधी को हिंसा की धमकी देकर करते हैं।”

- ग्रनी के अनुसार, “संघर्ष दूसरे या दूसरों की इच्छा के विरुद्ध, प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचारपूर्वक प्रयत्न को कहते हैं।”
- “प्रतियोगिता सदेव नैतिक नियमों से बँधी रहती है जबकि संघर्ष में ऐसी कोई विशेषता नहीं होती।”
- मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, “सामाजिक संघर्ष में ही सब क्रियाएँ सम्मिलित हैं, जिनके द्वारा मनुष्य किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक-दूसरे के विरुद्ध कार्य करते हैं।”
- डेविस के अनुसार, “प्रतिस्पर्द्धा के परिवर्तित रूप को संघर्ष कहा है।”
- मूले के अनुसार, “संघर्ष और सहयोग पृथक तत्व नहीं हैं बल्कि वह एक ही प्रक्रिया के विभिन्न चरण हैं जिनमें दोनों तत्वों का बराबर समावेश होता है।”

मार्क्स के एक प्रशंसक राल्फ डेहरेन्डॉफ जो कि मार्क्स से बहुत प्रभावित थे, ने अपने ग्रन्थ ‘क्लास एंड क्लास कान्फ्लिक्ट इन इंडस्ट्रियल सोसायटी’ में मार्क्स की क्रान्ति से सम्बन्धित भविष्यवाणी को झुटलाते हुए बताया कि ऐसा समाज में कभी भी संभव नहीं है। डेहरेन्डॉफ ने कहा कि ‘पूँजीवादी समाज’ के काद का समाज पूँजीवादोत्तर समाज’ होगा जिसमें निम्नलिखित गुण पाये जायेंगे—

(i) **पूँजी का पृथक्करण** :- पहले पूँजी पर कुछ विशेष लोगों का अधिकार था लेकिन इस समाज में पूँजी का बंटवारा हो जायेगा अर्थात् पूँजी के हिस्सेदार हो जाएंगे जिससे कुछ विशेष लोगों का एकाधिकार समाप्त हो जायेगा तथा निचले स्तर से कई लोग उठकर ऊपर जायेंगे।

(ii) **श्रम का विभेदीकरण** :- कार्यों के वृहद् विशिष्टीकरण की फलस्वरूप श्रम का विभेदीकरण हो जायेगा। एक ही फैक्ट्री में श्रम के भिन्न-भिन्न आयाम देखने को मिलेंगे। इस प्रकार श्रमिकों के एकीकरण का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

(iii) **मध्यम वर्गों का विकास** :- अधिक गतिशीलता के कारण समाज में कई मध्यम वर्ग विकसित हो जायेंगे। श्रमिक संघ ओर ऐसी कई एजेन्सियों के चलते श्रमिकों के जीवन-स्तर में काफी सुधार आ जाएगा। विवादों के निपटारे के लिए विभिन्न संस्थाओं का निर्माण होगा। अतः यदि कोई व्यक्ति या समूह हड़ताल पर जाना चाहो तो वह वैधानिक माना जाएगा और उसको पूरा संरक्षण देते हुए उसकी बात सुनी जाएगी और उचित फैसला किया जाएगा।

इस प्रकार डेहरेन्डॉफ ने समाज को सत्ता के आधार पर दो वर्गों में विभक्त किया है—

(i) सत्ताधारी अर्थात् जिनके पास सत्ता है और जो अल्पसंख्यक है।

(ii) सत्ताविहीन अर्थात् जिनके पास सत्ता नहीं है और जो बहुसंख्यक हैं।

इन दो वर्गों में विवाद चलता रहता है लेकिन मार्क्स की अवधारणा से परे इनमें विवाद गुप्त रूप से ही होता है।

डेहरेन्डॉफ का संघर्ष सिद्धान्त मूलतः सत्ता के सम्बन्धों पर आधारित सत्ता संरचना जो प्रत्येक सामाजिक संगठन का अभिन्न भाग होती है, अनिवार्य रूप से स्वार्थ समूह को संगठित करती है और उन्हें निश्चित स्वरूप प्रदान करते हैं और इस रूप में संघर्ष की सम्भावनाओं को जन्म देती है। वास्तव में सामाजिक सत्ता का बँटवारा समान नहीं होता इसलिए संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार डेहरेन्डॉफ का संघर्ष सिद्धान्त मूलभूत रूप से शक्ति और सत्ता के सिद्धान्त पर आधारित है। डेहरेन्डॉफ ने शक्ति की असमानता को ही संघर्ष का कारण माना है। डेहरेन्डॉफ ने मार्क्स के वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त की आलोचना की है। डेहरेन्डॉफ ने भी संघर्ष को समन्वयकारी तथा संरचनात्मक प्रकार्यत्मक दृष्टि से देखा है।

डेहरेनडॉफ समकालीन समाजशास्त्र में दो प्रकार के सिद्धान्तों में भेद करते हैं—

(i) समाज के समाजीकरण का सिद्धान्त इस सिद्धान्त को संरचनात्मक प्रकार्यवादी के समरूप माना जाता है।

(ii) समाज के बल प्रमेय का सिद्धान्त यह सिद्धान्त संघर्ष से सम्बन्धित।

डेहरेनडॉफ का संघर्ष सिद्धान्त जबरदस्ती के सिद्धान्त पर आधारित है। डेहरेनडॉफ ने संक्षेप में अपने सिद्धान्त को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(i) किसी भी आदेशसूचक समन्वित समाज के लोगों में वास्तविक समाज के बारे में जितनी अधिक चेतना होगी उतनी ही अधिक उनकी संघर्ष करने की सम्भावना होगी।

(ii) जितनी आर्थिक तकनीकी राजनैतिक और सामाजिक दशाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति संगठन में होगी उतना ही संघर्ष अधिक तीव्र होगा।

(iii) अधि-कोटि और अधीनस्थ समूहों में जितनी कम गतिशीलता होगी संघर्ष उतना ही तीव्र होगा।

(iv) संघर्ष जितना अधिक गहरा, सघन और हिंसात्मक होगा, उतना ही अधिक सामाजिक परिवर्तन होगा।

राल्फ डेहरेनडॉफ लेविस कोजर और रेन्डाल कोलिन्स विश्लेषणात्मक संघर्ष सिद्धान्तवेत्ताओं की कोटि के समाजशास्त्री हैं। क्योंकि इन तीनों विचारकों का मत है कि संघर्ष सिद्धान्त एक वैज्ञानिक समाजशास्त्र के विकास में केन्द्रीय संदर्श है। इतना होते हुये भी ये तीनों विचारक विवेचनात्मक सिद्धान्तवेत्ताओं से भिन्न हैं। पहला कारण तो यह है कि विवेचनात्मक सिद्धान्तवेत्ता समाज विज्ञान को तात्त्विक रूप से राजनीति गतिविधि का एक हिस्सा मानते हैं और इस बात को अस्वीकार करते हैं कि तथ्यों और मूल्यों को समाज विज्ञान से पृथक किया जाना चाहिये।

10.3.1 रॉल्फ डेहरेनडॉफ का सैद्धान्तिक उपागम (Ralf Dahrendorf's Theoretical Approach)

टर्नर ने डेहरेनडॉफ के सिद्धान्त का द्वन्द्वात्मक संघर्ष सिद्धान्त का नाम दिया है। द्वन्द्वात्मक इसलिये कि किसी भी समाज में दो समूहों में संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। एक समूह वह है जिसके पास अधिकतम शक्ति होती है और दूसरा समूह वह है जिसके पास न्यूनतम शक्ति होती है। किसी भी समूह के हितों की पूर्ति शक्ति से होती है। इसी कारण विभिन्न समूहों में शक्ति के पूनर्बटवारे के लिये संघर्ष चलता रहता है। रॉल्फ डेहरेनडॉफ के अनुसार यह संघर्ष अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिये होता है।

रॉल्फ डेहरेनडॉफ का तर्क था कि समाज के दो चेहरे हैं, एक, सर्वसम्मत और दूसरा, संघर्ष। उनका कहना है कि समाज के सदस्यों पर बराबर दबाव रहता है, संघर्ष होता है और परिवर्तन की दिशाएँ खुली रहती हैं। इस तरह सैद्धान्तिक रूप से जहाँ पारसंस समाज को सर्वसम्मत, एकीकृत और स्थैतिक मानते हैं, वहीं रॉल्फ डेहरेनडॉफ समाज को तनाव, संघर्ष और परिवर्तन के रूप में देखते हैं।

संघर्ष सिद्धान्तकारों का यह विचार था कि एक तरफा प्रकार्यवादी सिद्धान्त का विकल्प, एकतरफा संघर्ष सिद्धान्त से देना चाहिये। यह विकल्प भी डेहरेनडॉफ को पूरी तरह स्वीकार नहीं था। उनका तो एकमात्र यही कहना है कि संघर्ष सिद्धान्त प्रकार्यात्मक सिद्धान्त की कमियों, अभावों का पूरक है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में हमें समाज के उजले चेहरे के साथ-साथ भेदे चेहरे को भी देखना चाहिये। सर्वसम्मति और संघर्ष दोनों ही समाज के सिक्के के दो पहलू हैं।

सिद्धांत निर्माण के क्षेत्र में डेहरेन्डॉर्फ ने मार्क्स को नकारा नहीं है। बाद में चलकर हम देखेंगे कि डेहरेन्डॉर्फ का संघर्ष सिद्धान्त मार्क्स के संघर्ष सिद्धान्त के विश्लेषण को अन्तर्दृष्टि देता है। मार्क्स ही क्यों, डेहरेन्डॉर्फ ने थोड़ा बहुत वेबर से भी उधार लिया है। डेहरेन्डॉर्फ द्वारा प्रयुक्त शक्ति और सत्ता की अवधारणाएँ वस्तुतः वेबर से ली हैं।

वास्तव में, न डेहरेन्डॉर्फ का द्वन्द्वात्मक सिद्धांत शक्ति पर आधारित है। इसी कारण वे सामाजिक यथार्थता का विश्लेषण शक्ति के संदर्भ में करते हैं। उनका तर्क है कि प्रत्येक समाज की एक अन्तर्निहित प्रवृत्ति संघर्ष की होती है। वे समूह जिनके पास शक्ति है अपने हितों की पूर्ति करते हैं और वे समूह जिनके पास शक्ति नहीं है वे भी अपने हितों की पूर्ति के लिये भाग-दौड़ करते हैं। इस भाग-दौड़ या संघर्ष में जिनके पास अधिकतम शक्ति है वे अपनी यथास्थिति बनाये रखने में सफल होते हैं। लेकिन देर-सबेर ऐसा अवसर भी आता है जब न्यूनतम शक्ति वाला समूह शक्तिशाली समूह को उसके खंदक में गिरा देता है और सामाजिक परिवर्तन के रथ के पहिये, डेहरेन्डॉर्फ के अनुसार आगे बढ़ते रहते हैं। संघर्ष की कोख में ही सामाजिक परिवर्तन के बीच रहते हैं। इसी कारण डेहरेन्डॉर्फ मानते हैं कि मानव इतिहास में संघर्ष एक बहुत बड़ी सृजनात्मक शक्ति है।

10.3.2 राल्फ डेहरेन्डॉर्फ का द्वन्द्वात्मक संघर्ष सिद्धान्त

(Ralf Dahrendorf Dialectical Conflict Theory)

राल्फ डेहरेन्डॉर्फ का जन्म जर्मनी में 1929 में हुआ था। यूरोप के आधुनिक समाजशास्त्रियों में डेहरेन्डॉर्फ की प्रतिष्ठा बहुत अच्छी है। जिन्हें यूरोप ही नहीं उत्तरी अमेरिका में भी आदर की दृष्टि से देखा जाता है। उनका युवाकाल राजनीति के घेरे में कटा। वे पश्चिमी जर्मनी में वहाँ की पार्लियामेन्ट के सदस्य भी रहे। इन राजनैतिक गतिविधियों से हटकर उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा एक शिक्षाविद्, वैज्ञानिक और अनुसंधानकर्ता के रूप में भी स्थापित की है। उनके शैक्षणिक जीवन का बहुत बड़ा भाग जर्मनी के विश्वविद्यालयों में बीता। 1984 में वे कान्सटेंस विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बन गये थे। जर्मनी के अतिरिक्त डेहरेन्डॉर्फ ने अन्य देश ब्रिटेन व अमेरिका में भी काम किया है।

रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ को प्रतिष्ठा दिलाने वाली उनकी पुस्तक “क्लास एण्ड क्लास कन्फ्लिक्ट इन इण्डस्ट्रीयल सोसायटी” है। इस पुस्तक में उन्होंने संघर्ष सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। संघर्ष सिद्धान्त के बारे में डेहरेन्डॉर्फ के दो बहुत बड़े सरोकार जुड़े हैं। पहला तो यह कि उन्होंने समाज की यथार्थता के विश्लेषण के बारे में सामान्य सिद्धान्त बताये। इस सामाजिक विश्लेषण में उनका बहुत बड़ा तर्क यह है कि समाज में शक्ति का बहुत बड़ा महत्व है। इस शक्ति से उत्पन्न संघर्ष को कोई नहीं टाल सकता; संघर्ष अपरिहार्य है। दूसरा, मार्क्स की तरह के एक बुनियादी प्रश्न रखते हैं कि संघर्ष को निश्चित करने वाले कौन-कौन से कारक हैं? इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि समाज में कुछ ऐसी संस्थाएँ हैं जो व्यवस्थित रूप से ऐसे मूह को पैदा करती हैं जिनके हित या स्वार्थ संघर्ष की अवस्था को बढ़ाते हैं। अपने निजी या जातीय हितों वाले ये समूह बराबर इस बात के लिये संघर्ष करते हैं कि शक्ति का फिर से बंटवारा होना चाहिये। शक्ति किसी एक समूह की बपौती नहीं है कि वह समूह को उसकी यथास्थिति बनाये रखने में बराबर योगदान करती रहे। यह स्मरणीय है कि डेहरेन्डॉर्फ ने अपने संघर्ष सिद्धान्त को यूरोप और अमेरिका के औद्योगिक समाजों के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। मार्क्स के लेखन के समय यूरोप में पूंजीवाद अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। तब कारखानों के मालिक सामान्यताया पूंजीपति थे। डेहरेन्डॉर्फ जिस औद्योगिक

समाज की कल्पना करते हैं उसमें पूंजीवाद का स्वरूप कोरपोरेट व्यवस्था पर आधारित है। अब निजी स्वामित्व का स्थान शेयर होल्डर्स और कोरपोरेट समूह ले लेते हैं। इस तरह मार्क्स और डेहरेन्डॉर्फ दोनों ही पूंजीवादी व्यवस्था पर प्रहार करते हैं, पर दोनों के लिये पूंजीवादी व्यवस्था भिन्न है।

10.3.3 रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ की समाज की कल्पना :

(Society in the imagination of Ralf Dhrindorf)

आधुनिक समाज के बारे में रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ के कुछ निश्चित विचार हैं—एक कल्पना है। लेकिन यह कल्पना ठोस आधारों पर अवस्थित है। समाज में कई संस्थागत ढांचे हैं, यथा परिवार जाति, धार्मिक सम्प्रदाय, राजनैतिक दल और आर्थिक समूह। इन संस्थागत ढांचों में एकाधिक सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य की कई भूमिकाएँ होती हैं। वास्तव में परिवार में माता की भूमिका निश्चित है—वह गृह कार्य करती है, बच्चों का पालन पोषण करती है और ऐसी ही अनेक भूमिकाएँ निभाती है। पिता और बच्चों की भी अपनी-अपनी परिवार जाति, धार्मिक सम्प्रदाय, राजनैतिक दल और आर्थिक समूह। इन संस्थागत ढांचों में एकाधिक सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य की कई भूमिकाएँ होती हैं। वास्तव में परिवार में माता की भूमिका निश्चित है—वह गृह कार्य करती है, बच्चों का पालन पोषण करती है और ऐसी ही अनेक भूमिकाएँ निभाती है। पिता और बच्चों की भी अपनी-अपनी भूमिकाएँ हैं। यदि हम इस दृष्टि को आगे बढ़ायें तो धार्मिक सम्प्रदायों, राजनैतिक दलों, ग्रामीण विकास, आर्थिक समूहों आदि में सदस्यों की भूमिकाएँ निश्चित होती हैं। ये संस्थाएँ और अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण समाज सदस्यों की इन भूमिकाओं को वैधता देते हैं। वैधता का एक कारण और भी है कि प्रत्येक संस्था में कुछ निश्चित शक्ति होती है। इन्हीं सब तत्वों के आधार पर सामाजिक व्यवस्था चलती है। समाज की इस कल्पना को रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ अवधारणात्मक रूप में रखते हैं।

रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ कहते हैं कि समाज में कुछ प्रक्रियाएँ होती हैं, जो इन संस्थाओं को उनकी निरन्तरता को बांधी रखती हैं। इसे वे संस्था का रूप देना कहते हैं और इसकी प्रक्रियाओं में कुछ आदेशसूचक प्रक्रियाएँ होती हैं जिन्हें समन्वित करके समाज का ढांचा बनाया जाता है। इसे रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ आदेश सूचक समन्वित समाज या आसस कहते हैं। आखिर, डेहरेन्डॉर्फ के अनुसार सामाजिक व्यवस्था है क्या? इसके उत्तर में वे कहते हैं कि प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे आदेश सूचक यानि कुछ ऐसे दबाव डालने वाले मानवक व मूल्य हैं जिन्हें समन्वित करके ही समाज बनता है। वास्तव में, समाज या संसिी के सदस्य जो भी भूमिका अदा करते हैं उसके पीछे समाज का आदेश है और इन भूमिकाओं का ताल-मेल ही आसस (ICA) को बनाता है। दूसरे शब्दों में आसस और कुछ न होकर संस्था के विभिन्न सदस्यों की एक गठरी मात्र है।

सदस्यों की ये भूमिकाएँ ही वस्तुतः शक्ति सम्बन्ध हैं। इस दृष्टि से समाज की किसी भी छोटी से छोटी इकाई से लेकर, छोटे समूह और औपचारिक संगठन आसस कहलायेंगे। “आसस” की यह अवधारणा केवल विश्लेषण के लिये है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि संस्था में सदस्यों की भूमिकाएँ शक्ति से बंधी हुई हैं और इसलिये वे कभी भी समान नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्येक भूमिका के साथ जो शक्ति है उसका बंटवारा असमान है। बात यह है कि शक्ति हमेशा अपर्याप्त होती है और उसे पाने के लिये कई दावेदार दौड़ में हाते हैं। कुछ ऐसे जैसे एक अनार और सौ बीमार।

उनका कहना है कि सामाजिक संरचना का निर्धारण शक्ति के बंटवारे से होता है। वेबर ने इसकी परिभाषा में लिखा है कि किसी भी सामाजिक समूह में कर्ता दूसरों के विरोध के होते रहते भी अपनी इच्छाओं को पूरी कर लेता है। इस तरह की परिभाषा में महत्वपूर्ण तथ्य है कि कि जब किसी भूमिका के साथ में शक्ति जुड़ी हुई होती है तो ऐसी सम्भावना है कि समाज इसे वैधता देगा। इस भूमिका को समाज

स्वीकृत करता है, मान्यता देता है। यदि कोई जिलाधीश दंगाग्रस्त किसी शहर या कस्बे में कफरू लगाता है तो उसके इस भूमिका की वैधता कानून सम्मत हैं और यदि लोग कफरू का पालन नहीं करते तो जिलाधीश उन्हें जेल भी, यानि दण्ड भी दे सकता है। शक्ति तब तक शक्ति है जब तक उसकी समूह द्वारा वैधता है।

शक्ति में जब वैधता आ जाती है, तब उसे वेबर और डेहरेन्डॉर्फ दोनों ही सत्ता मानते हैं। तात्विक रूप से शक्ति में प्रभाव होता है। इस प्रभाव को मानना न मानना संस्था या समाज के सदस्यों में प्रभाव होता है। इस प्रभाव को मानना न मानना संस्था या समाज के सदस्यों पर निर्भर है। जब यह शक्ति किसी व्यक्ति या समूह को विधिवत संस्था से प्राप्त होती है तो यह प्राधिकार का रूप ग्रहण कर लेती है। विश्वविद्यालय में किसी विद्यार्थी को प्रवेश देना, नहीं देना, निष्कासित करना, ये सारे प्राधिकार कुलपति को हैं। उन्हें यह शक्ति विश्वविद्यालय के अधिनियम से प्राप्त है और इसलिये यह उनका प्राधिकार है, और समाज इसे वैधता भी देता है।

अब हम डेहरेन्डॉर्फ के द्वन्द्वात्मक संघर्ष सिद्धान्त को सहज रूप में रख सकते हैं। डेहरेन्डॉर्फ सामाजिक व्यवस्था की कल्पना एक ऐसे ढांचे के रूप में करते हैं जिसे विभिन्न प्रकार के प्राधिकार सम्बन्धों द्वारा एक समूह में बांधे रखा जाता है।

प्रत्येक संस्था की भूमिकाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है, एक सत्ताधारी भूमिका समूह और दूसरा शासित भूमिका समूह। अब होता यह है कि वह समूह जो सत्तारूढ़ है, जिसके पास अधिक मात्रा में प्राधिकार हैं उसकी बराबर यही कोशिश होती है कि यथास्थिति बनी रहे। दूसरी और भूमिकाओं का वह समूह जो शासित है, बराबर इस बात के लिये जूझता रहता है कि संस्था की सम्पूर्ण शक्ति या प्राधिकार का नये सिरे से वितरण होना चाहिये। धीरे-धीरे शासक व शासित के समूहों में ध्रुवीकरण होता है। यह दोनों समूह अपने वस्तुगत हितों की पूर्ति के लिए परस्पर टकराते हैं। इस संघर्ष का निदान यह होता है कि संस्था में निहित प्राधिकारों का पुनर्वितरण होता है। अब संस्था पर नये लोग काबिज होते हैं और नये शासित समूह आते हैं प्रत्येक संस्था में परिवर्तन का यह सिलसिला या चक्र बराबर चलता रहता है। पहले भी हमने कहा है कि जब किसी समजा में संघर्ष होता है तो इसका परिणाम अनिवार्य रूप से परिवर्तन होता है।

जिस तरह पारसंस सामाजिक परिवर्तन के लिये प्रकार्यात्मक आवश्यकतओं को आवश्यक समझते हैं, वैसे ही सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण में रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ संघर्ष को आवश्यक समझते हैं, वैसे ही सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण में डेहरेन्डॉर्फ संघर्ष को आवश्यक समझते हैं। इस तरह जब रॉल्फ रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ यह दावा करते हैं कि उनका सिद्धान्त आदर्शलोक के सुनहरे राजपथ को छोड़कर धरती से जुड़े जनपथ पर आ गया है तो हमें रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ पर संदेह होने लगता है। शायद डेहरेन्डॉर्फ की यह आलोचना जहर से भी अधिक कड़वी है, फिर भी डेहरेन्डॉर्फ का द्वन्द्वात्मक संघर्ष सिद्धान्त सामाजिक व्यवस्था की संघर्ष प्रक्रियाओं के विश्लेषण में बहुत आवश्यक व उपयोगी है। सामाजिक यथार्थता द्वन्द्वात्मक संघर्ष के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है और यहीं पर डेहरेन्डॉर्फ और अधिकांश संघर्ष सिद्धान्तवेत्ता गलत हो जाते हैं। इन सिद्धान्तवेत्ताओं को संघर्ष की प्रक्रियाओं का विश्लेषण अधिक गहराई से करना चाहिए था।

10.4 लेविस कोजर का संघर्ष सिद्धान्त (Conflict of Theory of Cover)

सामाजिक सिद्धान्त में लेविस कोजर का सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लेविस कोजर अपने सिद्धान्त को संघर्ष का प्रकार्यवाद कहते हैं। क्योंकि उन्होंने सामाजिक संघर्ष के

प्रकार्यात्मक पक्ष पर विशेष बल दिया है और यह बताया कि सामाजिक संघर्ष केवल विघटनात्मक परिणाम ही उत्पन्न करता है, यह धारणा गलत है। यथार्थ में सामाजिक संघर्ष का संगठनात्मक सिद्धान्त प्रकार्यों पर आधारित है।

लेविस कोजर के अनुसार, "सामाजिक संघर्ष के दो सम्भावित परिणाम हो सकते हैं, एक तो संगठनात्मक परिणाम और दूसरा विघटनात्मक परिणाम।" सामाजिक संघर्ष के संगठनात्मक परिणाम उस अवस्था में प्रकट होते हैं जबकि संघर्ष कर रहे विरोधी पक्षों की एक समान आस्था समाज के कुछ आधारभूत मूल्यों में होती है। उदाहरण के लिए लोकतन्त्र के कुछ आधारभूत मूल्यों के आधार पर ही शासक दल और विरोधी दल संसद या विधानसभा के अन्दर या बाहर एक-दूसरे से टकराते हैं। परन्तु इस प्रकार के टकराव से हानि के स्थान पर लाभ ही होता है क्योंकि टकराव, आलोचना के माध्यम से दोनों ही पक्षों को अपनी-अपनी कमियों का ज्ञान होता है और वे उन्हें दूर करके ऐसे कार्यों को करने का प्रयास करते हैं जिनसे अधिकाधिक लोकहित सम्भव हो। उसी प्रकार किसी बाहरी समूह से संघर्ष होने पर भी समूह के अन्दर सदस्यों में एकता पनपती है क्योंकि उनमें एकजुट होकर शत्रु के जवाब देने की समान इच्छा शक्ति उत्पन्न होती है।

लेविस कोजर ने अपनी पुस्तक "The Function of Social Conflict" में संघर्ष को प्रकार्यवादी दृष्टिकोण से देखा है इसलिए इनके सिद्धान्त को संघर्ष का प्रकार्यवाद कहा जाता है।

लेविस कोजर ने संघर्ष को दो भागों में विभाजित किया है—

- (i) यथार्थवादी
- (ii) अयथार्थवादी

(i) यथार्थवादी संघर्ष :- वे संघर्ष जो कि कुछ लक्ष्यों के आधार पर कुछ परिणामों को प्राप्त करने के लिए उत्पन्न होते हैं अथवा विफल हुए लक्ष्यों को पुनः प्राप्त करने की ओर निर्देशित होते हैं उन्हें यथार्थवादी संघर्ष कहते हैं।

(ii) अयथार्थवादी संघर्ष :- इसके विपरीत अयथार्थवादी संघर्ष में न तो लक्ष्य स्पष्ट होता है और न ही किन्हीं विशिष्ट परिणामों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष किया जाता है। ऐसे संघर्षों में परिणाम महत्वपूर्ण नहीं होते इनमें स्वयं विरोधी पक्ष पर प्रहार किया जाता है। जब संघर्ष का लक्ष्य विरोधी पक्ष को हानि पहुँचाना हो तो ऐसे संघर्ष को अयथार्थवादी संघर्ष सिद्धान्त दो विरोधी पक्षों के बीच होने वाले टकराव को चरम रूप देकर उन्हें अन्ततः शान्त करता है। नए आदर्शों, नियमों को स्थापित करने या पुराने नियमों को पुनर्जीवित करके अनेक शिकायतों को दूर करने में सहायक सिद्ध होता है।

इस प्रकार जहाँ रॉल्फ डेहरेनडॉफ शक्ति और सत्ता को सामाजिक सम्बन्धों का आधार मानते हैं, वहीं कॉलिन्स स्त्रोतों को शक्ति का आधार मानते हैं। ये स्त्रोत सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हो सकते हैं। इच्छित वस्तुओं की अधिक मात्रा प्राप्त करने के लिए समूहों या

सामाजिक स्तरों के बीच निरन्तर प्रतिस्पर्धा चलती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति को उसे और उसके प्रतिद्वन्द्वियों को उपलब्ध स्रोतों के अनुसार सर्वाधिक उच्च करने का प्रयत्न करता है।

संघर्ष सिद्धान्तवेत्ताओं ने प्रकार्यवाद पर यही आरोप दोहराया है कि उसकी समाज की कल्पना दोषपूर्ण है। सर्वसम्मति, एकता और एकीकरण यह सब समाज में व्याप्त नहीं है। समाज का एक पहलू संघर्ष का भी है। पूरे दो दशकों तक इसी तरह के आरोप भी कहा जा सकता है। दूसरी ओर प्रकार्यवाद का जो विकल्प संघर्ष सिद्धान्तवेत्ताओं ने दिया है उस प्रकार्यवाद के भी कई प्रकार हैं। निश्चित रूप से मार्क्स के संघर्ष का विकल्प डेहरेन्डॉर्फ से भिन्न है, और रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ का संघर्ष लेविस कोजर से भिन्न है। यद्यपि कोजर ने पारसंस के प्रकार्यवाद की आलोचना में बराबर कहा है कि यह प्रकार्यवाद समाज में संघर्ष की गुत्थी को नहीं सुलझा पाया। कोजर ने डेहरेन्डॉर्फ के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की आलोचना भी इसी मुद्दे पर की। फिर भी कोजर अपने विश्लेषण में संघर्ष सिद्धान्त को कोई अर्थपूर्ण संशोधन दे पाये हो, ऐसा नहीं है।

संघर्ष की प्रक्रिया को टर्नर प्रकार्यवाद इसलिये कहते हैं क्योंकि लेविस कोजर यह मानकर चलते हैं कि संघर्ष व्यवस्था के एकीकरण और अनुकूलन को बनाये रखता है। वस्तुतः उनका यह अभिमत है कि प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था की अपनी आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति संघर्ष द्वारा ही होती है यानि कोजर व्यवस्था को तो बनाये रखना चाहते हैं लेकिन व्यवस्था की इस निरन्तरता में संघर्ष प्रकार्यात्मक भूमिका अदा करता है। इसी कारण टर्नर कोजर के संघर्ष को प्रकार्यवादी मानते हैं। इधर मार्क्स व डेहरेन्डॉर्फ व्यवस्था को बनाये रखने का तर्क नहीं देते। वे तो कहते हैं कि व्यवस्था सड़-गल गई है और इसके स्थान पर नयी व्यवस्था का निम्नण करना चाहिये।

कोजर का जन्म जर्मनी के बर्लिन शहर में 1913 में हुआ था। वे अपने शैक्षणिक जीवन में सामाजिक नीति और राजनीति में रूचि रखते थे। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान कोजर ने अमेरिका के शिकागो और ब्रांडीज विश्वविद्यालयों में अध्यापन किया। उन्होंने अपनी डॉक्टरेट की उपाधि को अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय से प्राप्त किया। उन्होंने अपने शैक्षणिक जीवन का बहुत बड़ा भाग ब्रांडीज में बिताया। यहीं पर वे व्याख्याता के पद से प्रोफेसर के पद तक पहुँचे। 1968 के बाद न्यूयार्क विश्वविद्यालय में उन्होंने समाजशास्त्र के प्रोफेसर की तरह विशिष्टता प्राप्त की। अमेरिकी समाजशास्त्र परिषद् के 1975 में वे अध्यक्ष थे।

कोजर की कृतियों में हमें दो बातें बहुत स्पष्ट रूप में देखने को मिलती हैं। पहली बात तो यह कि उनकी राजनीति में गहररूचि थी। दूसरी यह कि वे तत्कालीन समाज की प्रकृति के साथ अपने विचारों को बराबर जोड़ते थे। उन्होंने पाया कि अमेरिकन समाज में मिलने वाला विभेदीकरण और सामाजिक टूटन है। फिर भी उनका दृढ़ विचार था कि किसभी भी अमेरिका जैसे खुले समाज को हर हालत में खुला ही रहने देना चाहिये। कोजर दृढ़तापूर्वक

इस तर्क को रखते हैं कि अब सामाजिक विश्लेषण में संघर्ष को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिये। हुआ यह है कि अब तक प्रकार्यात्मक सैद्धान्तिकरण ने शक्ति और हेतु के क्षितिजों को एकदम अनछुआ रखा है। मजेदार बात यह है कि कोजर संघर्ष के विश्लेषण में न तो मार्क्स के अनुयायी हैं और न डेहरेन्डॉर्फ को स्वीकारते हैं। उनके सिद्धान्त का दबाव या जो कुछ और है। वे डेहरेन्डॉर्फ के सिद्धान्त में संशोधन करना चाहते हैं और कहते हैं संघर्ष का परिणाम अनिवार्य रूप से हिंसात्मक होता हो, ऐसा नहीं है। डेहरेन्डॉर्फ तो तर्क देते हैं कि संघर्ष द्वारा ही सामाजिक व्यवस्था में अनुकूलन और एकीकरण आते हैं। कोजर के अनुसार इसलिये, संघर्ष की बहुत बड़ी भूमिका व्यवस्था में अनुकूलन और एकीकरण बनाये रखना है। यदि संघर्ष नहीं हुआ तो व्यवस्था स्वयं बेतरतीब हो जायेगी। इसी कारण संघर्ष व्यवस्था के लिये सकारात्मक प्रकार्य है। अतः कोजर प्रकार्यवाद की आलोचना में कहते हैं कि इसका उपागम प्रत्येक स्थिति में संघर्ष की उपेक्षा करना है।

10.4.1 लेविस कोजर की सामाजिक संगठन की कल्पना :

(Lavis Coser's Image of Social Organisation)

लेविस कोजर के बारे में बहुत विचित्र बात यह है कि वे एक तरफ तो संघर्ष की भूमिका व्यवस्था को बनाये रखने में देखते हैं, वहीं दूसरी ओर वे दुर्खाइम की आलोचना भी करते हैं। दुर्खाइम को प्रकार्यवाद का जनक कहा जा सकता है। इसी दुर्खाइम के सिद्धान्त को कोजर दकियानूस और रूढ़िवादी मानते हैं। कोजर का आरोप है कि दुर्खाइम ने हमेशा हिंसा और असहमति को विघटनकारी प्रक्रिया बताया है। मजेदार बात यह है कि कोजर एक ओर तो दुर्खाइम को नकारते हैं तथा दूसरी ओर उनके पद चिन्हों पर चलते हैं। जिस प्रकार दुर्खाइम समाज की तुलना सावयव से करते हैं, उसी तरह कोजर भी हिंसा को शरीर पर होने वाले दर्द की तरह मानते हैं। जैसे शरीर को कोई धाव शरीर को दर्द देता है, वैसे ही कोजर के तर्क में हिंसा समाज रूप शरीर को दर्द देती है। एक और दृष्टान्त है जिसमें कोजर असहमति को सामाजिक शरीर की बीमारी मानते हैं। इन सब मान्यताओं से स्पष्ट है कि दुर्खाइम का विरोध करते हुये भी कोजर सावयववाद को नकारते नहीं हैं।

अपनी पुस्तक "द फंक्शन्स ऑफ सोशल कन्प्लेक्ट" को समाज की एक कल्पना भी की है। उसकी एक प्रतिमा बनाई है। इसे हम निम्न बिन्दुओं में रखेंगे।

1. सामाजिक दुनिया को हम पारस्परिक रूप से जुड़े हुए विभिन्न भागों की एक व्यवस्था की तरह देख सकते हैं। इस व्यवस्था में आर्थिक क्रियाएं, राजनीतिक दल, शिक्षा पद्धति, विभिन्न व्यवसाय नगर-शहर समुदाय आदि परस्पर रूप से जुड़े हुए हैं। यही सामाजिक दुनिया है।
2. सभी सामाजिक व्यवस्थाएं किसी न किसी तरह असाम्यानुकूलन, तनाव और संघर्ष के शिकार हैं। ये तनाव व संघर्ष, सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों में देखने को मिलते हैं।
3. सामाजिक व्यवस्थाओं में ऐसी प्रक्रियाएं काम करती हैं जो एकीकरण व अनुकूलन को बढ़ाने के लिये सामाजिक परिवर्तन का प्रयास करती हैं।
4. सामाजिक व्यवस्था में काम करने वाली कई प्रक्रियाएं हिंसा, असहमति, विचलन और संघर्ष जो समाज को विघटनकारी बनाती हैं, उन्हें समाज की बुनियाद को सुदृढ़ करने वाली अनुकूलन और एकीकरण प्रक्रियाओं के रूप में देखा जाना चाहिये। मतलब हुआ कि हिंसा, असहमति, संघर्ष आदि

व्यवस्था के लिये केवल टूटन पैदा करने वाली प्रक्रियाएँ ही नहीं हैं, बल्कि कुछ निश्चित दशाओं में ये प्रक्रियाएँ व्यवस्था में अनुकूलन व एकीकरण लाने वाली भी हो सकती हैं।

इस भाँति लेविस कोजर समाज में संघर्ष का होना अपरिहार्य तो मानते हैं, लेकिन साथ में उनका यह तर्क भी है कि संघर्ष की इन प्रक्रियाओं द्वारा व्यवस्था के साथ ताल-मेल बिठाया जा सकता है। ताल-मेल बिठाने वाली ये प्रक्रियाएँ अनिवार्य रूप से अनुकूलन व एकीकरण हैं। समाज या सामाजिक व्यवस्था की इस स्थिति को स्वीकार करते हुए लेविस कोजर ठीक रॉल्फ डेहरेन्डॉर्फ की तरह कुछ प्रस्ताव रखते हैं। इन प्रस्तावों में वे यह बताते हैं कि किन्हीं विशेष दशाओं में संघर्ष समाज में असहमति और विघटन पैदा करता है। उदाहरण के लिये यह सही है कि गाँवों के लोग जब रोजगार के लिये शहर में आते हैं तो उनके पारम्परिक परिवार टूट जाते हैं। यह भी सही है कि आज समाज की जो दशाएँ हैं उनमें जाति व्यवस्था टूट रही है, यानि संघर्ष व तनाव से परिवार व जाति में विघटन हो रहा है।

लेविस कोजर के विश्लेषण को हम कुछ इस तरह देख सकते हैं (1) व्यवस्था के विभिन्न भागों में जब असंतुलन आता है, एकीकरण टूटता है, तब (2) व्यवस्था के विभिन्न भागों में कई तरह के संघर्ष देखने को मिलते हैं, (3) इसके परिणामस्वरूप व्यवस्था में एक प्रकार का एकीकरण लाया जाता है, जिससे (4) व्यवस्था की संरचना में लचीलापन आ जाता है। कोजर की समाज के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना दिखने में बहुत साफ-सुथरी है, लेकिन जब खुलासे से इस व्यवस्था का निर्वचन होता है तो हमारे समाने व्यवस्था के विश्लेषण की समस्याएँ आती हैं। जिसे कोजर अनुकूलन व एकीकरण कहते हैं, वास्तव में वे व्यवस्था की आवश्यकताएँ हैं। सच में देखा जाये तो यह व्यवस्था की स्वाभाविक प्रकृति है कि वह साम्यानुकूलन की अवस्था में आ जाये। किसी भाग दौड़ में यह मर्दन का दृष्टान्त है, छिपकली पीठ के बल उल्टी हो जाती है। यह संघर्ष की अवस्था है, लेकिन बिना किसी सहारे के छिपकली पेट के बल होने के लिये हर से जुझती है। इस तरह के संघर्ष तो व्यवस्था में अपने आप जुड़े होते हैं। और हर व्यवस्था की यह क्षमता होती है कि वह व्यवस्था को अपनी यथास्थिति में बनाये रखें, लेकिन यहाँ हम रूकेंगे। आगे चलकर हम लेविस कोजर के सिद्धान्त पर खुलकर विचार करेंगे। यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि संघर्ष की उपयोगिता कोजर के लिये, व्यवस्था में एकीकरण और अनुकूल लाने की है।

10.4.2 लेविस कोजर के सामाजिक संघर्ष का उद्गम और उसके प्रकार:

(Origin and Types of Social Conflict of Lavis Coser)

लेविस कोजर की एक विशेषता है कि जब वे संघर्ष के उद्गम की चर्चा करते हैं तो इस तथ्य पर अधिक जोर देते हैं कि संघर्ष का मूल कारण लोगों के संवेग हैं। इस बारे में वे सीमेल से सहमत हैं कि लोगों में आक्रामणशील या शत्रुतापूर्ण आवेग होते हैं। और इस तरह जिन व्यक्तियों के साथ लोगों के निकट सम्बन्ध होते हैं उन्हें वे प्यार व घृणा की दृष्टि से देखते हैं। बात यह है कि वे लोग जो हमारे बहुत नजदीकी होते हैं उनसे असहमति, संघर्ष या स्नेह के सम्बन्ध विकसित करना बहुत स्वाभाविक है। इस प्रकार के घृणा और प्रेम के आवेग किसी तरह यह नहीं बताते कि हमारे अपने नजदीकी लोगों के साथ सम्बन्ध टूट गये हैं। इस कारण सीमेल और संघर्ष से स्वरूपों को उनकी आवृत्ति को सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक भूमिकाओं के संदर्भ में देखना चाहिये। इसका बहुत अच्छा दृष्टान्त देते हुये कोजर कहते हैं कि विभिन्न देशों में बच्चे अपने माता-पिता से विभिन्न प्रकरणों व प्रसंगों में लड़ते हैं। माता-पिता व बच्चों के बीच की यह आक्रामणशीलता टाली नहीं जा सकती। बच्चे घड़ी में माँ-बाप से लड़ते हैं और घड़ी में स्नेह से निपट जाते

हैं। भाई-बहिन भी इसी तरह नोक-झोंक करते रहते हैं। इस तरह की आक्रमणशीलता को परिवार यानि माता-पिता और बच्चों के संदर्भ में देखा जाना चाहिये।

कोजर ने बुनियादी रूप में संघर्ष के दो प्रकार बताये हैं :- (1) वास्तविक और अवास्तविक। वास्तविक संघर्ष में, प्रायः लोग संघर्ष को अपनी इच्छाशक्ति का सशक्त साधन मानते हैं यदि उनकी इच्छा बिना संघर्ष किये पूरी हो जाये तो वे तुरन्त संघर्ष छोड़ देंगे। इस दृष्टि से संघर्ष को अपनाते का कारण तार्किक है—काई आवेग या संवेग नहीं। जब श्रमिक संगठन या छात्र संघ किसी संघर्ष का आह्वान करते हैं तो उसके पीछे निश्चित मांगें होती हैं। इन मांगों के पीछे तर्क होते हैं और इसी कारण इस प्रकार के संघर्ष को कोजर वास्तविक संघर्ष कहते हैं। इस संघर्ष का संदर्भ संस्थागत होता है।

अवास्तविक संघर्ष किसी मांग या इच्छा की पूर्ति का साधन न होकर केवल यही बतता है कि लोग तोड़-फोड़ कर सकते हैं। इस तरह के अवास्तविक संघर्ष में प्रायः लोग अपनी दबी हुई भावनाओं को अभिव्यक्ति देते हैं। ये एक तरह के लोगों के मन का रोष है। साम्प्रदायिक दंगों, प्रदर्शन आदि अवास्तविक संघर्ष के दृष्टान्त हैं।

कोजर जब सामाजिक संघर्ष का विश्लेषण करते हैं तब बार-बार कहते हैं तर्क देते हैं कि संघर्ष का परिणाम अन्ततोगत्वा सामाजिक परिवर्तन होता है। संघर्ष के कारण नवीनीकरण भी आता है। नये-नये हथियारों का आविष्कार संघर्ष की तैयारी के कारण ही होता है। हमारे देश में जमीन से जमीन पर मार करने वाले “अग्नि” प्रक्षेपास्त्र आविष्कार को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिये। कोजर ने संघर्ष के सिद्धान्त को बराबर इस तरह विकसित किया है कि इसकी भूमिका समाज की सुदृढ़ता को बनाये रखने में है। इससे कोजर का यह मतलब नहीं है कि किसी भी समूह के जीवित रहने के लिये संघर्ष का होना अनिवार्य है। वे दृढ़तापूर्वक केवल यही कहना चाहते हैं कि यदि संघर्ष की विघटनकारी भूमिका है तो निश्चित रूप से इसकी एक सशक्त सकारात्मक भूमिका समाज या समूह के सदस्यों को एक सत्र में बांधे रखना भी है।

कोजर ने संघर्ष का दोहरा वर्गीकरण एक-दूसरे संदर्भ में भी किया है। इसमें पहला प्रकार बाहरी संघर्ष का और दूसरा आंतरिक संघर्ष का है। बाहरी संघर्ष वह है जो समाज या समूह के बाहर से आता है। यदि हमारा देश किसी दूसरे देश के आक्रमण को झेलता है, जूझता है तो यह देश यानि समाज या समूह के बाहर का संघर्ष है। बाहरी संघर्ष समूह को सुदृढ़ करता है, समूह की शिनाख्त बनाये रखता है। कोजर का इस प्रकार का कथन न केवल सीमेल के साथ जुड़ा है, बल्कि मार्क्स से भी जुड़ा हुआ है। मार्क्स भी कहते हैं कि संघर्ष वर्ग के लोगों को सामाजिक चेतना देता है। यह संघर्ष ही है जो एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग कर देता है। सीमेल और मार्क्स की तरह कोजर का भी तर्क है कि बाहरी संघर्ष प्रायः समूह को सुदृढ़ता देता है। यह समूह के सदस्यों में इस बात की चेतना देता है कि उनके समूह की अपनी एक विशेष पहचान है और वह बनी रहनी चाहिये।

जब कोजर आंतरिक संघर्ष की चर्चा करते हैं तब वे दुखाईम, मीड और यहां तक कि मार्क्स का अनुसरण करते हैं। जब समूह का कोई सदस्य बुरी संगत में पड़ जाता है, समूह के मानवक व मूल्यों को नहीं मानता, इस तरह से जब विचलन हो जाता है वो सम्पूर्ण समूह को यह स्पष्ट हो जाता है कि समूह के मानकों की अवहेलना करना जोखिम से खाली नहीं है। जाति व्यवस्था में कुछ ऐसे विचलन होते हैं, जिनके करने पर सदस्य को बहिष्कार या दण्ड भुगतना होता है। हुक्का-पानी बन्द कर देना, जाति से निकाल देना, यह सब जाति द्वारा दिये गये दण्ड हैं। कोजर की मान्यता है कि आंतरिक संघर्ष समूह के जीवित रहने की शक्ति को बढ़ा देता है। यही आंतरिक संघर्ष समूह को सुदृढ़ता व स्थायित्व देता है।

10.5 सारांश : (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ पायेंगे :-

हीगल के संघर्ष के सिद्धांत के साथ कार्ल मार्क्स ने किस तरह से समाज के परिवर्तन के तरह वर्ग संघर्ष को उत्तरदायी माना है। ये वर्ग को अलग इतिहास के अलग-अलग वर्गों को माना है। इन्होंने हर समाज के इतिहास में दो वर्गों को माना है जैसे आधुनिक युग के पूंजीपति एवं श्रमिक वर्ग को वर्ग के सम के देखा है। हर समाज की संरचना इन दो वर्गों के रूप में होती है और इन वर्गों में संघर्ष होता है। यह संघर्ष ही समाज में परिवर्तन का कारण बनता है। नवमार्क्सवादियों में डेहरेन्डार्फ की गिनती होती है जो समाज में संघर्ष के लिये सत्ता के सम्बन्धों को उत्तरदायी मानते हैं एक जिनके पास सत्ता होती और एक वो जिनके पास सत्ता नहीं होती है।

लेकिन कोजर भी नवमार्क्सवादियों में गिने जाते हैं कोजर ने सत्ता और शक्ति की बात रही है संघर्ष के लिए वे कहते हैं कि समाज में संघर्ष प्रकार्य का काम करता है। इसमें पदके संघर्ष को सिर्फ तोड़ फोड़ माना जाता था।

10.6 शब्दावली : (Glossary)

(1) सत्ता :- सत्ता से तात्पर्य एक ऐसी शक्ति से है जिसको वैधानिक शक्ति प्राप्त होती है। इसको मैक्स बेबर ने अच्छी तरह से समझाया है।

(2) नवमार्क्सवाद :- नव मार्क्सवाद से तात्पर्य वह विचारधारा या सिद्धांत है जो मार्क्स के आर्थिक सिद्धांत से समाज की संरचना को नकारता है। डेहरेन्डार्फ संघर्ष के लिए सत्ता के संघर्ष की बात करते हैं और कोजर समाज में संघर्ष को ही प्रकार्यवाद के रूप में देखते हैं।

10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :**(Answer Questions of Practice)**

8. डेहरेनडार्फ संघर्ष के लिए किसे उत्तरदायी मानते हैं?
(क) जीवन स्तर (ख) सत्ता एवं शक्ति सम्बन्ध
(ग) आर्थिक सम्बन्धों की संरचना (घ) उपरोक्त सभी
उत्तर - ख
9. निम्नलिखित में कौन संघर्षवादी विचारक है?
(क) कोजर (ख) कॉलिस (ग) डेहरेनडार्फ (घ) ये सभी
उत्तर - घ
10. किसने समाज में सत्ता एवं शक्ति वितरण के आधार पर संघर्ष को सहमति (एकीकरण) तथा उत्पीड़न (बाध्यता) के रूप में प्रस्तुत किया।
(क) डेहरेनडार्फ (ख) कॉलिस
(ग) मार्क्स (घ) कोजर
उत्तर - क
11. कोजर के अनुसार संघर्ष कितने प्रकार का होता है?
(क) दो (ख) तीन (ग) तीन (घ) चार
उत्तर - क
12. कोजर ने किसके विचारों को आगे बढ़ाया?
(क) कालिन्स (ख) पारसन्स
(ग) सिमेव (घ) ये सभी

- उत्तर – ग
13. संघर्ष का प्रकार्यवादी सिद्धांत किसका है?
(क) मार्क्स (ख) पेंज (ग) कोजर (घ) पारसन्स
- उत्तर – ग
14. 'द फंक्शन्स ऑफ सोशल कॉन्फ्लिक्ट' पुस्तक किसकी है?
(क) कोजर (ख) पेज
(ग) कालिस (घ) मार्क्स
- उत्तर – क
15. कोजर आन्तरिक संघर्ष को क्या मानते हैं?
(क) आनन्द की दया (ख) सेपटी पंचर
(ग) सेपटी वाल्व (घ) सेपटी प्रेशर
- उत्तर – ग

10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची : (References)

1. रोमो ओरो (1959) : "मेन करेन्ट्स ऑफ सोशोलॉजिकल थॉट"
2. हरिकृष्ण रावत (2014) : "समाजशास्त्रीय चिन्तक एवं सिद्धांतकार",
रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

10.9 सहायक/उपयोगी सामग्री : (Useful Contain)

1. राल्फ डेहरेन्डार्फ (1959) : "क्लास एण्ड क्वास कन्फ्लिक्ट इन इण्डस्ट्रीयल सोसायटी"
2. लेविस कोजर (1956) : 'द फंक्शन ऑफ सोशल कन्फ्लिक्ट'

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न : (Essay Type Questions)

- ✓ राल्फ डेहरेन्डार्फ का द्वन्द्वात्मक संघर्ष सिद्धांत से आप क्या समझते हैं?
- ✓ डेहरेन्डार्फ के सिद्धांत उपागम से आप क्या समझते हैं?
- ✓ डेहरेन्डार्फ के सिद्धांत में समाज की क्या कल्पना है?
- ✓ डेहरेन्डार्फ ने समाज में संघर्ष के लिये किसे उत्तरदायी माना है?
- ✓ समाज की कल्पना सत्ता एवं शक्ति के आधार पर किसने दी है?
- ✓ कोजर का प्रकार्यवाद से आप क्या समझते हैं?
- ✓ कोजर के अनुसार सामाजिक संघर्ष में क्या परिणाम हो सकते हैं?
- ✓ कोजर ने संघर्ष के कितने प्रकारों का वर्णन किया है?

इकाई-11 : सामाजिक तथ्य : समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम
(Social Fact : Rules of Sociological Method)

इकाई की रूपरेखा

- 11.0 उद्देश्य
- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम
 - 11.2.1 असामाजिक तथ्यों की अवधारणा
 - 11.2.2 सामाजिक तथ्यों का अर्थ एवं परिभाषा
 - 11.3.3 सामाजिक तथ्यों की विशेषताएं
- 11.3 सामाजिक तथ्यों के प्रकार
- 11.4 सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के नियम
- 11.5 सारांश
- 11.6 शब्दावली
- 11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ की सूची
- 11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री
- 11.10 निबंधात्मक प्रश्न

11.0 उद्देश्य : (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने में उपरान्त आप :-

- ✓ समझ पायेंगे की दुर्खीम के समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम क्या है।
- ✓ सामाजिक तथ्य क्या है उसके विशेषताएं एवं प्रकार को समझ पायेंगे।
- ✓ सामाजिक तथ्यों के अवलोकन में नियम को समझ पायेंगी।

11.1 प्रस्तावना : (Introduction)

समाज शास्त्र के अध्ययन में दुर्खीम का एक विशेष स्थान है। दुर्खीम ने भी सामाजिक घटना के अध्ययन के लिये एक पद्धतिशास्त्र का विकास किया है जिसे समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम के नाम से जाना जाता है। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों को एक वस्तु के रूप में देखने को कहा एवं इसे वैज्ञानिक पद्धति के रूप में रखा। दुर्खीम का किसी भी सामाजिक घटना के अध्ययन में सामाजिक तथ्यों का विशेष स्थान है वे प्रत्येक घटना को तथ्य के रूप में देखते हैं इन्होंने आत्महत्या को भी तथ्य के रूप में देखा है एवं उनके प्रकारों को बताया है। सामाजिक तथ्यों की विशेषताओं एवं प्रकारों का वर्णन किया है एवं सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियमों को भी बताया है।

11.2 समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम :**(Rules of Sociological Method)**

समाजशास्त्र के अध्ययन में दुर्खीम का एक विशेष स्थान कौत के उत्तराधिकारी के रूप में आरक्षित है। अपने पद्धति-शास्त्र के निरूपण में वह अपने पूर्ववर्ती विचारों से काफी प्रभावित थे जिसमें कौत की विचारधारा ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया। कौत की भाँति दुर्खीम ने भी पद्धतिशास्त्र को निश्चित किया तथा सर्वप्रथम यह स्वीकार किया कि सामाजिक तथ्यों पर वस्तुओं के रूप में विचार किया जाना चाहिए। इस प्रकार दुर्खीम अपने पूर्ववर्ती विचारकों की पद्धतियों को दोषपूर्ण पाते हैं क्योंकि उन लोगों ने सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं के रूप में स्वीकार नहीं किया था। दुर्खीम सामाजिक तथ्यों को वैज्ञानिक पद्धति से देखना चाहते हैं। इसी आधार पर उन्होंने एक स्वस्तरीय प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो पूर्व के उपयोगितावादी प्रत्यक्षवाद के विपरीत है। अतः जहाँ दुर्खीम के प्रत्यक्षवादी के केन्द्रीय विषय-वस्तु सामाजिक तथ्य हैं, वहीं उपयोगितावाद में केन्द्रीय तथ्य व्यक्ति हैं। वस्तुतः दुर्खीम उपयोगितावाद के साथ-साथ व्यक्तिवाद का भी घोर विरोध करते हैं क्योंकि समाज व्यक्ति विशेष से नहीं बल्कि व्यक्ति समाज से है।

उपयोगितावाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की अपनी इच्छाएँ तथा आवश्यकताएँ हैं जो दूसरे व्यक्तियों से भिन्न होती है। इस प्रकार के भिन्न साध्यों को व्यक्ति भिन्न साधनों से प्राप्त करने की कोशिश करता है। उपयोगितावादी चाहे मार्शल हों या दुर्खीम, तथ्य को देखते हैं। जिस प्रकार प्राकृतिक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में तथ्यों (पदार्थों) को देखते हैं उसी प्रकार दुर्खीम भी उपयोगितावाद की इस व्यवस्था को अपनाते हैं जिससे उनके सामने काफी परेशानियाँ आती हैं जैसे कि उपयोगितावाद गुणात्मक तथ्यों की व्याख्या नहीं कर पाता। इस कारण दुर्खीम उपयोगितावाद की सामाजिक विज्ञानों में काफी सीमित भूमिका पाते हैं जिसकी विवशता से प्रेरित होकर दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के नाप-तौल का अलग तरीका निकाला है। दुर्खीम प्रत्यक्षवादी तो हैं, लेकिन उपयोगितावाद के व्यक्तिवादी नहीं। उनका कहना है व्यक्ति की अपेक्षा सामाजिक तथ्य जो समाज के ही अंग हैं, प्रत्यक्षवादी हैं।

11.2.1 सामाजिक तथ्यों की अवधारणा : (Concept of Social Fact)

दुर्खीम की पद्धतिशास्त्रीय विवेचना में सामाजिक तथ्यों का स्थान महत्वपूर्ण है। इसे स्पष्ट करते हुए दुर्खीम ने बताया है कि सामाजिक तथ्य, सामाजिक क्रिया, विचार आदि है।

ईमाइल दुर्खीम द्वारा अनुभूति का व्यावहारिक पक्ष हैं। ये मनुष्य की सामूहिक चेतना (Collective conscience) से सम्बन्धित हैं। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य की व्याख्या दिन-प्रतिदिन की घटनाओं के मद्देनजर की है। वे कहते हैं कि बाह्य कारकों का व्यक्ति पर केवल प्रभाव ही नहीं होता बल्कि इनमें शक्ति भी होती है जो व्यक्ति को उसकी इच्छाओं के विरुद्ध अपने सामने झुकने पर मजबूर करती है। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य को परिभाषित करते हुए लिखा है—“एक सामाजिक तथ्य कार्य करने का वह निश्चित या अनिश्चित तरीका है जो व्यक्ति पर बाह्य दबाव डालने की क्षमता रखता हो।”

दुर्खीम ने एक अन्य रूप में सामाजिक तथ्य की परिभाषा दी है—“ये कार्य करने, सोचने या अनुभव करने के वे तरीके हैं जिनमें व्यक्तिगत चेतना से बाहर भी अस्तित्व को बनाए रखने की उल्लेखनीय विशेषता होती है।”

समाजशास्त्र को एक स्वतंत्र व विशिष्ट विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले विद्वानों में दुर्खीम सबसे प्रमुख विद्वान् हैं। अगस्त कॉम्टे व हरबर्ट स्पेन्सर के विचारों के विपरीत उनका मत था कि

समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों का मात्र योग नहीं है अपितु एक स्वतंत्र विज्ञान है और इसलिए समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र भी स्पष्ट व सुनिश्चित होना चाहिए। जहाँ तक समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु का प्रश्न है, यद्यपि दुर्खीम ने इसकी अलग से कहीं चर्चा नहीं की है फिर भी उनके ग्रन्थों से स्पष्ट मत है कि समाजशास्त्र समस्त मानवीय क्रियाओं का अध्ययन नहीं करता है अपितु सामाजिक तथ्य ही समाजशास्त्र की वास्तविक अध्ययन-वस्तु है।

सामाजिक तथ्यों के सम्बन्ध में दुर्खीम स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "सर्वप्रथम यह बताना चाहते हैं कि हमारे शोध से यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि सामाजिक तथ्यों की उत्पत्ति में प्रमुख कारण प्रभाव है जिसे टार्डे अनुकरण से सम्बद्ध करते हैं। निसन्देह प्रत्येक सामाजिक तथ्य का अनुकरण किया जाता है। इसमें सामान्य होने की प्रवृत्ति होती है किन्तु ऐसा इस कारण है कि यह सामाजिक है अर्थात् अनिवार्य है। इसके विस्तार की शक्ति इसके सामजशास्त्रीय स्वरूप का कारण नहीं वरन् परिणाम है। फिर सामाजिक तथ्यों से यह परिणाम उत्पन्न होता है तो अनुकरण उनकी व्याख्या नहीं कर सकता, कम-से-कम उनकी परिभाषा करने में सहायक हो सकता था परन्तु यह व्यक्तिगत व्यवस्था जो कि प्रभावों की एक सम्पूर्ण शृंखला उत्पन्न करती है वस्तुतः व्यक्तिगत ही रहती है। इसके अलावा यह प्रश्न किया जा सकता है कि अनुकरण शब्द वस्तुतः उस प्रभाव को बनाने के लिए उचित है जो एक दमनात्मक प्रभाव के कारण उत्पन्न हुआ हो।

दुर्खीम यद्यपि ऑगस्त कॉम्ट के अनुयायी माने जाते हैं फिर भी ऑगस्त कॉम्ट के विपरीत इन्होंने समाजशास्त्र की सीमाएँ (विषय-वस्तु) निर्धारित करने का प्रयास किया जिसमें उन्हें काफी सफलता भी मिली। दुर्खीम का कहना है कि समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक तथ्यों की वैज्ञानिक विधि द्वारा व्याख्या करना है।

सामाजिक तथ्य की अवधारणा को स्पष्ट करने से पहले यह जान लेना जरूरी है कि किन तथ्यों को साधारण सामाजिक तथ्यों की श्रेणी में रखा जाता है। प्रत्येक समाज में घटनाओं का एक विशिष्ट समूह होता है जोकि उन तथ्यों से भिन्न होता है जिनका अध्ययन प्राकृतिक विज्ञान करते हैं। सामाजिक तथ्यों की श्रेणी में कार्य करने, सोचने तथा अनुभव करने के वे तरीके आते हैं जिनमें व्यक्तिगत चेतना से बाहर भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने की उल्लेखनीय विशेषता होती है।

11.2.2 सामाजिक तथ्यों का अर्थ एवं परिभाषा :

(Meaning of Social Fact & Definition)

दुर्खीम के अनुसार:-सामाजिक तथ्य व्यवहार (विचार, अनुभव या क्रिया) का वह पक्ष है जिसका निरीक्षण वैषयिक तौर पर सम्भव है और एक विशेष ढंग से व्यवहार को बाध्य है।

दुर्खीम के अनुसार समस्त मानव सामाजिक तथ्य है। श्री सिन्हा क्लोस्ट रमायर ने दुर्खीम के सामाजिक तथ्य की अवधारणा को अत्यन्त ही संक्षिप्त एवं सरल रूप में व्यक्त करते हुए लिखा है कि "सामाजिक तथ्य सामाजिक वास्तविकता के तत्व हैं।"

सामाजिक तथ्य कार्य करने, साचने तथा अनुभव करने के वो तरीके हैं, जिनमें व्यक्तिगत चेतना से बाहर भी अस्तित्व बनाए रखने की उल्लेखनीय विशेषता होती है। इस प्रकार के विचार तथा व्यवहार व्यक्ति के बाह्य मात्र ही नहीं होते अपितु अपनी दबाव शक्ति के कारण वे व्यक्ति की इच्छा से स्वतन्त्र अपने आपको उस पर लागू भी करते हैं। दुर्खीम के अनुसार, "सामाजिक तथ्यों को श्रेणी में कार्य करने, सोचने

तथा अनुभव करने के तरीके शामिल है जो व्यक्ति के लिए बाहरी होते हैं तथा जो अपनी दबाव की शक्ति के माध्यम से व्यक्ति को नियंत्रित करते हैं।”

इस परिभाषा से दो बातें स्पष्ट होती हैं—प्रथम, सामाजिक तथ्य कार्य करने (चाहे वह संस्थागत है या नहीं), सोचने तथा अनुभव करने के तरीके हैं तथा दूसरे, इन तरीकों में व्यक्तिगत चेतना से बाह्यता और दबाव की शक्ति की दो प्रमुख विशेषताएँ पाई जाती हैं। बाह्यता का अर्थ है कि सामाजिक तथ्यों का स्रोत व्यक्ति नहीं होता, अपितु समाज होता है चाहे वह पूर्ण राजनीतिक समाज हो या उसका कोई आंशिक समूह, जैसे धार्मिक समुदाय, राजनीतिक, साहित्यिक तथा व्यावसायिक संघ इत्यादि। दबाव की शक्ति का अर्थ है कि सामाजिक तथ्य व्यक्ति के व्यवहार पर नियंत्रण रखते हैं। जब हम कोई ऐसी बात करना चाहते हैं परंतु दूसरे उसे पसंद नहीं करते तथा न ही उसके करने की प्रशंसा करते हैं तो व्यक्ति वह कार्य सामान्य रूप से नहीं करता। व्यक्ति तब दबाव महसूस करता है जब वह किसी कार्य को करना चाहता है परन्तु कर नहीं पाता क्योंकि दूसरे व्यक्ति ऐसा नहीं चाहते।

इस प्रकार, दुर्खीम समाजशास्त्र के क्षेत्र को एक निश्चित रूप में परिभाषित एवं परिसीमित करते हैं। वह सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं के रूप में विचार करने पर बल देते हैं। अपनी पुस्तक समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम के प्रथम अध्याय के अन्त में दुर्खीम सामाजिक तथ्य की परिभाषा इन शब्दों में देते हैं—“एक सामाजिक तथ्य काम करने का वह प्रत्येक ढंग है जो निर्धारित अथवा अनिर्धारित है और जो व्यक्ति पर एक बाहरी दबाव डालने के योग्य है अथा काम करने का वह प्रत्येक तरीका है जो निर्दिष्ट समाज में सर्वत्र सामान्य है, और साथ ही व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों से स्वतन्त्र वह अपना अस्तित्व बनाए रखता है।

सामाजिक तथ्य के सम्बन्ध में दुर्खीम का विचार है कि “सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं के समान समझना चाहिए।” (Consider Social Facts as things) इस सम्बन्ध में दुर्खीम ने लिखा है कि “सामाजिक तथ्यों के अध्ययन पद्धति के सम्बन्ध में जानने के पूर्व यह जानना जरूरी है कि किन तथ्यों को सामान्यतया सामाजिक कहा जाता है, यह सोचना और भी अधिक जरूरी हो गया है क्योंकि सामाजिक विश्लेषण का प्रयोग अधिक अनिश्चित रूप में होता है। वर्तमान में इस शब्द का प्रयोग समाज में घटित होने वाली किसी भी घटना के लिए किया जाता है। चाहे उसकी सामाजिक चाह कितनी ही सीमित क्यों न हो, पर ऐसी कोई भी मानवीय घटनायें नहीं हैं जिन्हें कि सामाजिक न कहा जा सके। प्रत्येक व्यक्ति भोजन करता है, नींद लेता है तथा विचार करता है तथा यह समाज के हित में होता है कि यह सभी कार्य एक व्यवस्थित ढंग से किया जाये। यदि इन सभी तथ्यों को सामाजिक तथ्य मान लिया जाय तो समाजशास्त्र की अलग से कोई विषय—वस्तु नहीं होगी तथा मनोविज्ञान एवं प्राणिशास्त्र के क्षेत्र में एक भ्रान्ति उत्पन्न हो जायेगी।

सामाजिक तथ्य के सम्बन्ध में दुर्खीम का मत है कि “सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं के समान समझना चाहिए”, यद्यपि इस कथन का वास्तविक अर्थ उनके रचनाओं से अधिक स्पष्ट नहीं होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि ‘वस्तु’ शब्द का प्रयोग दुर्खीम ने चार अलग-अलग अर्थों में प्रयोग किया है। ये चार अर्थ निम्नलिखित हैं—

1. सामाजिक तथ्य एक ऐसी वस्तु है जिसमें कुछ विशेष गुण होते हैं जिन्हें (गुणों को) बाहरी तौर पर देखा जा सकता है।
2. सामाजिक तथ्य एक ऐसी वस्तु है जिसे केवल अनुभव के द्वारा देखा जा सकता है।
3. सामाजिक तथ्य एक ऐसी वस्तु है जिसका अस्तित्व मानव पर बिल्कुल ही निर्भर नहीं है।
4. सामाजिक तथ्य एक ऐसी वस्तु है जिसको केवल बाहरी तौर पर देखकर ही जाना जा सकता है।

‘वस्तु’ शब्द का प्रयोग अलग-अलग अर्थ में हो सकता है और चूँकि सामाजिक तथ्य ‘वस्तु’ के समान हैं इसलिए सामाजिक तथ्यों का अर्थ भी बदल सकता है। इस दृष्टिकोण से सामाजिक तथ्य कोई स्थिर धारणा नहीं, अपितु गतिशील धारणा है। सामाजिक तथ्यों की इस विशेषता पर किसी को आपत्ति नहीं होगी क्योंकि सामाजिक तथ्य सामाजिक परिस्थितियों के अत्यधिक घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं तथा सामाजिक परिस्थितियाँ समय-समय पर बदलती रहती हैं। इस कारण सामाजिक तथ्यों के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है। बाद फिर किसी एक व्यक्ति विशेष का नहीं रह जाता वह इस अर्थ में कि इसे एक स्वतंत्र वास्तविकता के रूप में अनुभव किया जाता है मौटे तौर पर दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य की अवधारणा को वैयक्तिक चेतना और सामूहिक चेतना के भेद पर आधारित किया है। दुर्खीम के अनुसार यदि हम वैयक्तिक चेतना के स्वरूप और संगठन का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि वैयक्तिक चेतना का मूल आधार संवेदनायें हैं। संवेदनायें विभिन्न स्नायुकोषों की अन्तःक्रिया का प्रतिफल है। किन्तु विभिन्न कोषों द्वारा उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं की अपनी विशेषतायें होती हैं जो संगठन अथवा उत्पत्ति के पहले स्नायुकोषों में से किसी में भी विद्यमान नहीं थी। सम्मिलन में ऐ नवीन वस्तु का जन्म होता है जिसे दुर्खीम 'Synthesis and Suigeneris' कहा है। कार्ल मार्क्स के 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' का सिद्धान्त भी यही कहता है। यह प्रक्रिया निरन्तर गतिशील रहती है, रूकती नहीं है। इस स्तर पर विभिन्न प्रकार की वैयक्तिक चेतनाओं में सम्मिलन और संगठन से एक नवीन चेतना का जन्म होता है जिसे दुर्खीम ने सामूहिक चेतना का नाम दिया है।

दुर्खीम का मत है कि जस प्रकार वैयक्तिक विचारों का मूलभूत आधार स्नायुमण्डल के विभिन्न कोष हैं, उसी प्रकार सामाजिक विचारों का मूल आधार समाज में सम्मिलित व्यक्ति होते हैं। सामूहिक चेतना का विकास वैयक्तिक चेतना के सम्मिलन तथा संगठन से होता है अर्थात् वैयक्तिक विचारों का जब संगठन होता है तो एक नये प्रकार के विचार सामूहिक विचार का विकास होता है जिसकी अपनी विशेषतायें होती हैं। दुर्खीम का कथन है कि सामूहिक विचार की उत्पत्ति सीमित स्थानों के कुछ ही व्यक्तियों से नहीं बल्कि अनेक व्यक्तियों के सहयोग से हुई है जिन्होंने पारस्परिक सहयोग द्वारा अपने विचारों और भावनाओं को संग्रहित किया है, अनेक पीढ़ियों ने अपने अनुभव और ज्ञान को इकट्ठा किया है। अतः इन विचारों में एक विशेष प्रकार की बौद्धिक प्रक्रिया निहित है जो व्यक्ति को बौद्धिक प्रक्रिया से कहीं अधिक पूर्ण और विषम है।

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार विकसित विचारों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है। इनमें परस्पर आकर्षण और निषेध की शक्ति होती है। सामाजिक संगठन एवं पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर इनमें अनेक प्रकार के सम्मिश्रण की शक्ति भी होती है। वास्तव में ये सामूहिक विचार व्यक्ति की परिधि से स्वतंत्र अपनी सत्ता रखते हैं। उदाहरणार्थ, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के संयोग से एक नवीन वस्तु पानी का निर्माण हो जाता है। पानी की अपनी एक विशेषता होती है जो न तो ऑक्सीजन में है न हाइड्रोजन में। सामान्य भौतिक विधियों द्वारा पानी को विभाजित करके ऑक्सीजन और हाइड्रोजन को अलग नहीं किया जा सकता है। उसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों की चेतना के विशेष संगठन योग से जब नये चेतना का विकास होता है तो उसे पुनः विभाजित करके व्यक्तियों की चेतनायें प्राप्त नहीं की जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि किस रूप में सामाजिक तथ्य वैयक्तिक चेतना से अलग एक अद्वितीय वास्तविकता है। दुर्खीम हमेशा इस बात पर जोर देते रहे कि जिस प्रकार विज्ञान अनेक मस्तिष्कों के सहयोग का प्रतिफल है और किसी एक व्यक्ति की मानसिक क्षमता व शक्ति से महान है, उसी प्रकार

सामाजिक तथ्यों का निर्माण भी विभिन्न वैयक्तिक विचारों के सहयोग से अवश्य होता है किन्तु वे व्यक्ति से अलग, पूर्ण व महान होते हैं।

11.2.3 सामाजिक तथ्यों की विशेषताएँ :

(Characteristic of Social Facts)

दुर्खीम ने अपने समाजशास्त्रीय अध्ययन में सामाजिक तथ्यों को महत्व दिया है। सामाजिक तथ्य की अवधारणा दुर्खीम के पद्धतिशास्त्रीय चिन्तन की मूल प्रतिस्थापन है। उनके अनुसार सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं के समान समझना चाहिए।

दुर्खीम की समाजशास्त्रीय पद्धति के अनुसार वैज्ञानिक को सामाजिक तथ्यों का वास्तविक निरीक्षण करने की स्वतंत्रता तो है परन्तु उसके विषय में किसी भी प्रकार की भावना को मस्तिष्क में स्थान देने की तनिक भी छूट नहीं है। वह तो सामाजिक वस्तु के रूप में वैसे ही देखता है जैसा की वास्तव में है। इसी वैज्ञानिक वैषयिकता को दुर्खीम ने अपनी समाजशास्त्रीय पद्धति का मुख्य आधार माना है। उनका कहना है कि इसके बिना कोई भी अध्ययन वैज्ञानिक हो ही नहीं सकता।

दुर्खीम ने स्पष्ट किया है कि सामाजिक तथ्य सामाजिक क्रिया विचार तथा अनुभूति के व्यावहारिक पक्ष है। अतः समाजशास्त्रीय को अपना अध्ययन तथ्यों से आरम्भ करना चाहिए ने कि अवधारणाओं के आधार पर। दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के सम्बन्ध में दो बातों को स्पष्ट किया है—

1. सामाजिक तथ्य में वास्तविकता का तथ्य होता है। इसकी उत्पत्ति का आधार व्यक्ति न होकर सामाजिक सहचर्य है। इसका अस्तित्व व्यक्तिगत विचारों से नहीं होता। यह सामाजिक चेतना से सम्बन्धित है।
2. सामाजिक तथ्य का विकास सामूहिक चेतना से होता है। इसकी शक्ति व्यक्तिगत चेतना से अधिक होती है लोग सामाजिक तथ्य के दबाव के अनुरूप व्यवहार करते हैं।

दुर्खीम का कथन है कि सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं के समान समझा जाना चाहिए। लेकिन उनका यह कथन उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों से प्रगट नहीं होता क्योंकि दुर्खीम ने इन सामाजिक तथ्यों को निम्नलिखित चार अर्थों में अलग-अलग प्रकार से प्रयोग किया है—

1. सामाजिक तथ्य वह वस्तु है जिसके विशेष गुणों को अनुभव के आधार पर ही देखा जा सकता है।
2. सामाजिक तथ्य वह वस्तु है जो मनुष्य से परे अपना अस्तित्व रखती है।

सामाजिक तथ्य वह वस्तु है जो केवल बाहरी तौर पर ही देख कर जानी जा सकती है। उपरोक्त चार अर्थों में जो प्रयोग किया गया है उसमें प्रथम दो तो बिल्कुल स्पष्ट है किन्तु अन्तिम दो को सामाजिक तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। तीसरे अर्थ को इसलिये नहीं स्वीकार कर सकते क्योंकि सामाजिक तथ्य सामाजिक होते हुए मानवीय अन्तः क्रियाओं से परे कैसे हो सकते हैं। इसी प्रकार सामाजिक तथ्य का चौथा अर्थ भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर उपयुक्त नहीं माना जा सकता क्योंकि इसके द्वारा सामाजिक तथ्यों को केवल बाहरी निरीक्षण तक ही सीमित कर दिया गया है। जबकि वास्तविकता यह है कि जीवन के अनेक पक्ष होते हैं जिनका मूर्त निरीक्षण संभव नहीं है और जिनका प्रयोग सिद्ध तर्कों के आधार पर अधिक सुविधापूर्वक समझा जा सकता है।

इमार्शल दुर्खीम ने अपनी पुस्तक *Rules of Sociological Method* में सामाजिक तथ्यों की विशेषताओं का वर्णन किया है।

- (क) सामाजिक तथ्य में बाह्यता (Externality) होती है।
 (ख) सामाजिक तथ्य में बाध्यता (Constraint) होती है।
 (ग) सामाजिक तथ्य में स्वतन्त्रता (Independence) होती है।
 (घ) सामाजिक तथ्य व्यापक (General) होती है, तथा

(1) बाह्यता से अर्थ व्यक्तिगत चेतना से बाहर। व्यक्तिगत चेतना और सामूहिक चेतना में सामूहिक व्यक्ति को प्रभावित करती है और परिणामस्वरूप सामूहिक चेतना एक प्रकार से व्यक्तिगत चेतना बन जाती है। व्यक्ति एक समाज में पैदा होता है जिसका पहले से ही एक ढांचा है। इसमें मूल्य, आदर्श, विश्वास, कार्य करने के तरीके आदि पहले से विद्यमान हैं जो मनुष्य को उसके जन्म लेते ही बनें बनाए मिल जाते हैं और जिसे वह सामाजीकरण द्वारा धीरे-धीरे सीखता है। चूँकी ये सामाजिक तथ्य मनुष्य के जन्म से पूर्व विद्यमान होते हैं तथा इसका एक वस्तुनिष्ठ यथार्थ (Objective Reality) होता है, निश्चित तौर पर ये तथ्य व्यक्ति विशेष से परे हैं।

सामूहिक सम्बन्ध, जो समाज का निर्माण करते हैं, में एक व्यक्ति केवल एक व्यक्ति (तत्व) है। इसका अस्तित्व उन सम्बन्धों पर ही आधारित है। इस संदर्भ में भी सामाजिक तथ्य मनुष्य से परे (बाध्य) हैं। ये सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं बनाए जा सकते बल्कि तमाम व्यक्तियों के बहुतेरे अन्योन्यक्रिया (Interaction) के परिणाम होते हैं।

(2) सामाजिक तथ्य व्यक्तिगत तथ्य न होने के कारण व्यक्ति विशेष के लिए बाहरी होते हैं। फलस्वरूप ये व्यक्ति के व्यवहार पर पर्याप्त दबाव डालते हैं सामाजिक तथ्यों की यह बाध्यता व्यक्ति के व्यवहार को समाज के आदर्श और मूल्यों के अनुरूप बनाने के लिए प्रेरित करती है। इसी कारण दुर्खीम कहते हैं कि सामाजिक तथ्य कार्य करने का वह तरीका है जो व्यक्ति पर बाहर से दबाव डालने की क्षमता रखता है।

जब व्यक्ति सामाजिक तथ्यों की अवहेलना करता है तो यह तथ्य अपने सत्ता की प्रभुता दिखाते हैं जो सामाजिक दण्ड के प्रतीक रूप में सामने आता है। यह दण्ड कई प्रकार का होता है। कानून एक प्रकार का सामाजिक तथ्य है। इसकी अवहेलना उस व्यक्ति को कारागृह पहुँचा सकती है या आर्थिक दण्ड का भागी बना सकती है। इसी प्रकार परम्पराओं और रीति-रिवाजों की अवहेलना उसे निन्दा का पात्र बना सकती है। शिक्षा का उदाहरण देते हुए दुर्खीम कहते हैं कि इसका प्रयास एक बच्चे के ऊपर देखने, एहसास करने, समझने तथा कार्य करने आदि के तरीके आरोपित करना है। संक्षेप में, शिक्षा का उद्देश्य मानव-जाति का सामाजीकरण करना है, शिक्षक और माँ-बाप तो सामाजिक वातावरण में प्रतिनिधि मात्र हैं।

सामाजिक तथ्य की 'बाध्यता' नामक विशेषता को एक अन्य रूप में समझा जा सकता है। सामाजिक तथ्य सामूहिक चेतना की श्रेणी में आता है और सामूहिक चेतना वैयक्तिक चेतना का सर्वोत्कृष्ट रूप है क्योंकि 'सामूहिक चेतना वैयक्तिक चेतनाओं के अस्तित्व और विशेषताओं की समष्टि चेतना है', यह चेतनाओं की चेतना है। इस प्रकार सामूहिक चेतना सामूहिक रूप में उस शक्ति की अधिकारिणी होती है जो कि वैयक्तिक इच्छा को सामूहिक इच्छा के सम्मुख झुका देती है। व्यक्ति उन शक्तियों के अनुरूप विचार करता, अनुभव करता और निर्णय लेता है जिनके सम्मुख उसे झुकना पड़ता है।

(3) दुर्खीम आगे कहते हैं कि सामाजिक तथ्यों को केवल उनकी सार्वभौमिकता के आधार पर परिभाषित नहीं किया जा सकता। इसीलिए किसी एक विचार को जब हम प्रत्येक व्यक्ति की चेतना में पाते हैं या कोई एक आन्दोलन सभी व्यक्तियों द्वारा दोहराया जाता है तो यह सामाजिक तथ्य नहीं है। यदि समाजशास्त्री कुछ इस प्रकार सामाजिक तथ्य की विशेषता को बताते हैं तो यह उनका भ्रम है। वास्तव में

सामूहिक जीवन के विश्वासों, अभिवृत्तियों और व्यवहारों का सामूहिक रूप (Collective aspect) ही सामाजिक तथ्य है। ये सामाजिक तथ्य हमें पिछली पीढ़ियों से धरोहर के रूप में सामाजिकरण के माध्यम से मिलते हैं।

(4) सामाजिक तथ्य केवल कुछ समाजों में ही पाये जाते हैं, ऐसा नहीं है। यह भी नहीं है कि ये केवल आदिम समाजों में ही पाये जाते हैं। दुर्खीम के अनुसार, ये सभी समाजों में पाये जाते हैं। यह हो सकता है कि कहीं इनकी बाध्यता कम हो, कहीं अधिक हो। ऐसा भी नहीं है कि इनमें परिवर्तन नहीं होता। समयानुकूल प्रत्येक पीढ़ी कुछ नए सामाजिक तथ्यों का निर्माण करती है जिससे आने वाली पीढ़ी के लिए इनकी 'बाध्यता' तथा 'बाध्यता' दोनों ही बढ़ जाती है। इस प्रकार सामाजिक तथ्य की उपस्थिति प्रत्येक समाज के लिए एक व्यापक प्रक्रिया है।

सामाजिक तथ्य को 'परिवार' के उदाहरण के साथ और आसानी से समझा जा सकता है। 'परिवार' एक सदस्य के लिए बाह्य होता है क्योंकि इसकी संरचना उस सदस्य के पैदा होने के पहले से विद्यमान थी। परिवार में रहने के कुछ निश्चित तौर तरीके होते हैं जिन्हें मनुष्य पैदा होने के बाद सामाजिकरण के द्वारा सीखता है। इन तौर-तरीकों की अवहेलना करने वालों के खिलाफ कुछ दण्ड निर्धारित किए गए हैं जो उन्हें परिवार से निष्कासित करके या उनकी भर्त्सना करके या परिवारिक सम्पत्ति से बेदखल करके, दिए जाते हैं। इस प्रकार के दण्ड सदस्यों पर ऐसा दबाव डालते हैं जो उन्हें इन निश्चित तौर-तरीकों का अनुसरण करने पर विवश करते हैं।

यह संरचना सामूहिक रूप से मान्य एक तथ्य जिसमें सामूहिक चेतना काम करती है। इस कारण इसकी एक स्वतंत्र सत्ता है जिसका अस्तित्व सदस्य पर निर्भर नहीं करता। 'परिवार' एक विश्व सार्वभौमिक सत्य है जो हर जगह किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। यह एक व्यापक प्रक्रिया है अतः यह एक सामाजिक तथ्य है।

11.3 सामाजिक तथ्यों के प्रकार : (Type of Social Facts)

दुर्खीम के अनुसार कुछ सामाजिक तथ्य एक सतत् कम में होते हैं जिसके एक सिरे पर संरचनात्मक अथवा स्वरूप संबन्धी सामाजिक घटनाएँ होती हैं जो सामाजिक जीवन के आधार का निर्माण करती हैं। यहाँ दुर्खीम का तात्पर्य समाज का निर्माण करने वाले मूलभूत भागों की प्रकृति व संख्या जिस क्रम में वे व्यवस्थित हैं, तथा उनके संयोजन के परिणाम से है। इस श्रेणी के सामाजिक तथ्यों में भौगोलिक क्षेत्रों में जनसंख्या का वितरण, आवासों की रचना, संचार-व्यवस्था की प्रकृति आदि सम्मिलित हैं।

सामाजिक तथ्यों की दूसरी श्रेणी वह है जो संस्थागत नहीं हो पाए हैं और सामाजिक तथ्यों का एक स्पष्ट रूप नहीं बन पाये हैं। वे समाज के संस्थागत आदर्शों से परे स्थित हैं साथ ही इस प्रकार के सामाजिक तथ्यों ने संस्थागत सामाजिक तथ्यों की तुलना में अभी तक पूर्णतया वस्तुपूरक व स्वतंत्र अस्तित्व नहीं प्राप्त किया है इसलिए व्यक्तियों पर उनकी बाध्यता पूर्ण रूप से स्थापित हो पायी नहीं है। इस प्रकार के सामाजिक तथ्यों को दुर्खीम ने "सामाजिक प्रवाह" कहा है। उदाहरण के लिए, विशिष्ट स्थितियों में उत्पन्न मत का यत्र-तत्र प्रवाह, साहित्य में उपजी विचारधारण, भीड़ में उत्पन्न लोगों का क्षणिक क्रोध, विशिष्ट घटनाओं द्वारा तिरस्कार या दया की भावना का उत्पन्न होना आदि को सामाजिक प्रवाह कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त, दुर्खीम ने सामान्य तथा व्याधिकीय प्रकार के सामाजिक तथ्यों में अंतर किया है। एक सामान्य सामाजिक तथ्य वह है जब वह उद्विकास की किसी निश्चित अवस्था में किसी निश्चित प्रकार

के समाज में सामान्य रूप से मिल जाता है। जबकि विचलित प्रकृति की असामान्य रूप से मिल जाता है। जबकि विचलित प्रकृति की असामान्य घटनाएँ व्याधिकीय हैं। उदाहरण के लिए किसी भी समाज में अपराध की कुछ मात्रा होना आवश्यक है। अतः दुर्खीम के अनुसार एक सीमा तक अपराध एक सामान्य सामाजिक तथ्य है। जबकि अपराध की दर में असामान्य वृद्धि होना व्याधिकीय सामाजिक तथ्य है।

दुर्खीम के अनुसार, यदि सामाजिक तथ्यों की सम्बद्धता और विघटनकारी दृष्टि से वर्गीकरण किया जाए तो ये तथ्य दो प्रकार के हैं :

(1) सामान्य तथ्य तथा (2) व्याधिकीय तथ्य।

यद्यपि इस तथ्यों की प्रकृति कुछ अर्थों में एक समान होती है, फिर भी इनमें भिन्नता है। जिस प्रकार शरीर में हमेशा रूग्णता बनी रहती है और सामान्य स्तर पर मनुष्य इनकी चिन्ता नहीं करता, वस्तुतः चिन्ता तब करता है जब स्थिति असामान्य हो जाती है, उसी प्रकार समाज में कुछ रूग्णताओं जैसे अपराध, चोरी, डकैती, अपहरण, बलात्कार आदि के होने के बावजूद सामाजिक व्यवस्था की या स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक ये रूग्णताएँ सामान्य स्तर की होती हैं। इस प्रकार, सामान्य सामाजिक तथ्य वे हैं जो समाज की यथास्थिति को बनाए रखते हैं और इनमें व्याधिकीय तत्त्व सामान्य दर में होते हैं। परन्तु जब ये व्याधिकीय तत्त्व अत्याधिक व्यापक हो जाते हैं जिससे समाज का सामान्य जीवन रूक सा जाता है तो ऐसे तथ्य व्याधिकीय तथ्य या असामान्य सामाजिक तथ्य होते हैं। उदाहरणार्थ, 'आत्महत्या' एक सामान्य सामाजिक तथ्य है (जबकि प्रत्येक समाज में इसे गलत और अनैतिक माना जाता है) लेकिन आत्महत्या दर में अचानक वृद्धि इसे व्याधिकीय तथ्य बना देती है। यही कारण है कि 19वीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में हुई आत्महत्या दर में वृद्धि ने दुर्खीम को इतना परेशान किया कि वह इस विषय पर एक पूर्ण अध्ययन करने पर विवश हो गए।

दुर्खीम ने अपनी पुस्तक "समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम (1895)" में सामान्य तथ्य व्याधिकीय तथ्यों में भेद करने की महत्ता पर बल दिया है तथा भेद करने के नियम भी बताए हैं। इन्होंने अपनी प्रथम पुस्तक "समाज में श्रम-विभाजन (1893)" में श्रम-विभाजन के व्याधिकीय प्रारूपों का वर्णन करके यह सिद्ध कर दिया है कि सामान्य श्रम-विभाजन को समझने के लिए इसके असामान्य प्रारूपों का ज्ञान होना जरूरी है।

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है प्रथम, सामान्य सामाजिक तथ्य तथा द्वितीय, असामान्य अथवा व्याधिकीय सामाजिक तथ्य। सामान्य सामाजिक तथ्यों की श्रेणी में वे तथ्य आते हैं जो अधिकांशतः समाजों अथवा किसी समाज में रहने वाले अधिकांश व्यक्तियों में पाये जाते हैं और समाज में संगठन बनाये रखने अथवा कोई अन्य आवश्यकता को पूरा करने में सहायता देते हैं। दूसरी तरफ, असामान्य तथ्य वे तथ्य हैं जिनकी उपयोगिता समाज में नहीं होती, न ही वे अपनी सामान्य भूमिका निभाते हैं और नही अधिकांश समाजों अथवा लोगों में पाये जाते हैं। इन दोनों प्रकार के सामाजिक तथ्यों में अन्तर करना एक कठिन कार्य है क्योंकि समाज की विभिन्न अवस्थाओं में समय तथा काल के अनुसार उनकी उपयोगिता में अंतर आता रहता है।

दुर्खीम के अनुसार समस्त समाजशास्त्रीय घटनाएँ भिन्न मामलों में अपनी विशेषताओं को सुरक्षित रखते हुए भिन्न-भिन्न रूप धारण कर सकती हैं। हम इस तरह के दो प्रकारों में भेद कर सकते हैं। इनमें कुछ वे हैं जो सम्पूर्ण जातियों में विस्तार से बँटी होती है, जो सभी लोगों में नहीं तो कम से कम उनके बहुमत में अवश्य पायी जाती हैं। उन सामाजिक अवस्थाओं को जो सर्वाधिक सामान्य रूप में वितरित है, सामान्य कहा जाता है, जबकि वे अवस्थाएँ जो सर्वाधिक उपयोगी नहीं है और नही सामान्य रूप से विपरीत है, असामान्य अथवा व्याधिकीय अवस्थाएँ कही जाती हैं।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य तथा व्याधिकीय शब्द सापेक्षिक हैं। दुर्खीम स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि कोई अवस्था निर्दिष्ट जातियों के संबंध में ही व्याधिकीय रूप से परिभाषित की जा सकती है। स्वास्थ्य तथा रोगग्रस्तता की अवस्थाएँ निरपेक्ष रूप से तथा कल्पना के आधार पर मिश्रित नहीं की जा सकती हैं। प्रत्येक जाति का अपना स्वास्थ्य होता है क्योंकि प्रत्येक का अपना औसत प्रकार होता है। चूँकि स्वास्थ्य तथा रोगग्रस्तता के बारे में भिन्न-भिन्न विचार विभिन्न जातियों के अनुसार भिन्न होते हैं अतः एक जाति के स्वयं परिवर्तित होने पर ये भी भिन्न हो जाते हैं।

दुर्खीम ने सामान्य तथा व्याधिकीय तथ्यों में अंतर करने की महत्ता पर भी प्रकाश डाला है इनका कहना है कि किसी भी सामाजिक तथ्य के सामान्य प्रारूपों को समझने के लिए उसके व्याधिकीय प्रारूपों को समझना जरूरी है बिना असामान्य प्रकारों अथवा प्रारूपों के ज्ञान के हम सामान्य प्रारूपों की व्याख्या नहीं कर सकते हैं। उदाहरण के लिए अगर स्वास्थ्य को ठीक प्रकार से समझना है तो बीमारियों (जोकि स्वास्थ्य की व्याधिकीय प्रारूप हैं) का ज्ञान होना जरूरी है। इसी प्रकार, दुर्खीम ने अपनी प्रथम पुस्तक समाज में श्रम-विभाजन (1893) के तीन खण्डों में से एक खण्ड में श्रम-विभाजन के व्याधिकीय प्रारूपों को बताया है। 'विश्रुंखल श्रम-विभाजन', आरोपित 'श्रम-विभाजन' तथा 'एक अन्य प्रकार' को समझे बिना हम श्रम-विभाजन के सिद्धांत को पूरी तरह से नहीं समझ सकते क्योंकि ये वे प्रारूप हैं जिनमें श्रम-विभाजन अपना सामान्य कार्य (समाज में सामाजिक संश्लिष्टता बनाए रखना) करना बन्द कर देता है। इसलिए तथ्यों के सामान्य तथा असामान्य प्रारूप में भेद करना अनिवार्य ही नहीं अपितु अति महत्वपूर्ण भी है।

दुर्खीम ने सामान्य तथ्यों अथवा प्रघटनाओं की सामान्यता स्थापित करने के तीन नियमों का उल्लेख किया है। ये हैं—

1. एक सामाजिक तथ्य प्रस्तुत सामाजिक प्रकार के विकास की एक निर्दिष्ट अवस्था के संबंध में तब सामान्य होता है जब यह उस जाति के औसत समाज के उद्विकास के समस्त पक्षों में विद्यमान हो।
2. इस पूर्वगामी पद्धति से प्राप्त परिणामों का सत्यापन यह दर्शाने पर होता है कि घटना की साधारणता। विचारधीन सामाजिक प्रकार के सामूहिक जीवन की साधारण अवस्थाओं से संबंधित होती है।
3. यह सत्यापन उस समय आवश्यक है जब विचारधीन तथ्य ऐसी सामाजिक जाति में पाया जाता है जो अब तक अपने पूर्ण उद्विकास को प्राप्त नहीं कर पायी है।

वैयक्तिक या सामाजिक जीवन से संबंधित सभी विज्ञानों का उद्देश्य सामान्य दशाओं को परिभाषित करना और उनकी व्याख्या करना है। साथ ही, उनका उद्देश्य सामान्य दशाओं को उनकी विपरीत अथवा असामान्य दशाओं से भिन्न करना है।

दुर्खीम अपराध को भी सामान्य मानते हैं क्योंकि कोई भी समाज ऐसा नहीं जो इसके बिना है। अपराध वह कार्य है जो किन्ही बहुत सशक्त सामूहिक भावनाओं पर किसी न किसी प्रकार का आघात होता है। अपराध सामाजिक जीवन की मूल अवस्थाओं से संबंधित है और इसलिए यह एक प्रकार से उपयोगी भी है क्योंकि वे अवस्थाएँ, जिनका यह एक भाग है, नैतिकता तथा कानून के स्वाभावित विकास के लिए अनिवार्य है।

क्योंकि एक निर्दिष्ट सामाजिक जाति से सापेक्षतया एक सामाजिक तथ्य की धारणा सामान्य अथवा असामान्य रूप से की जा सकती है इसलिए इसमें यह अर्थ निहित है कि समाजशास्त्र की एक शाखा इन जातियों के संगठन और वर्गीकरण से संबंधित होनी चाहिए। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक जातियों के अस्तित्व को समझने के लिए प्रत्येक विशिष्ट समाज का अध्ययन करने के अलावा कोई अन्य

कार्य विधि उपलब्ध नहीं है ताकि जहां तक सम्भव हो उसकता सम्पूर्ण वर्णन किया जाये तथा फिर इन सभी सर्वांगिण वर्णनों का तुलनात्मक अध्ययन करके यह पता लगया जाये कि उनमें क्या समानता है अथवा क्या भिन्नता हैं इन समानताओं तथा भिन्नताओं के सापेक्षिक महत्व के अनुसार जातियों को समूहों में वर्गीकृत किया जाये।

दुर्खीम का कहना है कि वर्गीकरण के लिए सर्वाधिक आवश्यक विशेषताओं को ही चुना जाना चाहिए तथा इन विशेषताओं का तभी पता चल सकता है जबकि तथ्यों की व्याख्या पर्याप्त उच्च स्तर की हो। दुर्खीम समाजशास्त्र की उस शाखा को सामाजिक रचनाशास्त्र कहते हैं जिसमें सामाजिक प्रकारों की रचना तथा वर्गीकरण का अध्ययन किया जाता है। वर्गीकरण का निश्चित सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए इनका कहना है कि प्रत्येक समाज का निर्णायक भाग ऐसा समाज माना जा सकता है जो कुल समाज की तुलना में अधिक सरल होता है। यदि हम सबसे सरल समाज, जिनका कभी अस्तित्व रहा हो, को समझ जाते हैं तो वर्गीकरण करने के लिए हमें केवल उस तरीके का अनुसरण करना होगा जिससे ये सरल समाज मिश्रित समाजों में बदल जाते हैं तथा पुनः यह मिश्रित समाज अधिक जटिल सम्पूर्ण समाजों में बदल जाते हैं। स्पेन्सर के भी यही विचार थे परन्तु वह सरल समाज की कोई अधिक उपयुक्त परिभाषा नहीं दे पाये। दुर्खीम ने सरल समाज की परिभाषा इस प्रकार की है, “एक सरल समाज वह समाज है जिसमें स्वयं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, ताकि जिसमें किसी पूर्वगामी विभाजन का चिह्न नहीं है।” घुमक्कड़ों को झुंड इसका उदाहरण है। इसके बाद हमें जत्थों अथवा गोत्रों के सरल संयोग से बने हुए समूह दिखाई देंगे जोकि एक झुण्ड के व्यक्तियों के समान ही परस्पर सरल रूप से एक-दूसरे के निकट जनजातियाँ उनका उदाहरण हैं। इसके ऊपर पूर्वगामी जातियों के समाजों के एक संघ से निर्मित समाज रखे जा सकते हैं जिन्हें सरल रूप से मिश्रित बहुवृत्तखण्डीय समाजों की एकता अथवा निकटता के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। उनका उदाहरण नगर-राज्य है। इस प्रकार, दुर्खीम समाजों को चारण श्रेणियों में विभाजित करते हैं—

1. सरल समाज (Simple societies)।
2. सरल बहुवृत्तखण्डीय समाज (Simple polysegmental societies)।
3. सरल रूप से मिश्रित बहुवृत्तखण्डीय समाज (Polysegmental societies, doubly compound)।
4. दोहरे रूप से मिश्रित बहुवृत्तखण्डीय समाज (Polysegmental societies, doubly compound)।

सामाजिक घटनाओं में रचना के आधार पर भी अन्तर हो सकता है चाहे वे अपना स्थानीय जीवन बनाए रखती हैं अथवा एक सामान्य जीवन में घुल-मिल जाती हैं। इस प्रकार, समाजों के वर्गीकरण को संगठन की उस मात्रा के अनुसार प्रारम्भ करेंगे जिसे वे प्रस्तुत करते हैं और इसमें पूर्णतः सरल समाज अथवा एक वृत्तखण्डीय समाज को आधार मानेंगे। इन प्रकारों के भीतर हम विभिन्न प्रकारों में इस आधार पर भेद करेंगे कि क्या उनमें प्रारंभिक वृत्तखण्डों का पूर्ण विलय हुआ है अथवा नहीं।

दुर्खीम का वर्गीकरण का आधार ऑगस्ट कॉम्ट, हरबर्ट स्पेन्सर तथा कार्ल मार्क्स के वर्गीकरण से थोड़ा बहुत मिलता-जुलता है क्योंकि इन सब ने सामाजिक उद्विकास के चरणों को ही सामाजिक वर्गीकरण का आधार माना है तथा इन वर्गीकरणों की श्रेणियों में सरलता से जटिलता की तरफ बढ़ने की झलक स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है।

अधिकांश समाजशास्त्रियों का यह कहना है कि सामाजिक तथ्य अपने प्रकार्य द्वारा ही अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं अर्थात् कुछ विद्वान सामाजिक तथ्यों की व्याख्या उनकी भूमिका द्वारा करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। उदाहरण के लिए ऑगस्ट काम्ट मानव जाति की सम्पूर्ण प्रगतिशील शक्ति का संबंध इस मौलिक प्रवृत्ति से जोड़ते हैं जो सीमा परिस्थितियों में मनुष्य को निरंतर अपनी स्थिति में सुधार करने के लिए प्रेरित करती है। हरबर्ट स्पेंसर इस शक्ति को अधिकाधिक सुख की आवश्यकता से संबंधित करता है।

परन्तु दुर्खीम इस प्रकार की व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं होते। इनका कहना है कि यह बताने के लिए कि एक तथ्य क्यों उपयोगी है, यह व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है कि उसकी उत्पत्ति कैसे हुई अथवा वह आज जैसा है वैसा क्यों है? सामाजिक तथ्य उपयोगिता के बिना भी हो सकते हैं अथवा हो सकता है कि किसी समय उनकी उपयोगिता रहने के बाद अब उनकी उपयोगिता समाप्त हो गई हो और केवल आदत की जड़ता के कारण उसका अस्तित्व बना हुआ हो।

दुर्खीम सामाजिक तथ्यों की व्याख्या के लिए एक नियम का उल्लेख करते हैं। यह है, “तब, जब किसी सामाजिक घटना की व्याख्या की जाती है तो हमें उसको उत्पन्न करने वाले मौलिक कारण को तथा उसके द्वारा किये जाने वाले प्रकार्य को पृथक्-पृथक् खोजना चाहिए।” इस प्रकार इनके अनुसार व्याख्या को निम्न रूप से स्पष्ट किया जा सकता है—

इस प्रकार, दुर्खीम व्याख्या को केवल प्रकार्य अथवा घटना की उपयोगिता तक ही सीमित नहीं रखना चाहते अपितु उस घटना के विकास के कारण को भी व्याख्या का ही एक अंग मानते हैं। अपने श्रम-विभाजन के अध्ययन में दुर्खीम ने तीन खण्डों में से एक खण्ड में प्रकार्य तथा दूसरे में उन कारणों तथा कारकों का उल्लेख किया है जिनसे श्रम-विभाजन का विकास होता है। तीसरे खण्ड में श्रम-विभाजन के सामान्य प्रारूपों का वर्णन किया गया है।

दुर्खीम सामाजिक तथ्यों की व्याख्या में समाजशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की भी आलोचना करते हैं। इनके अनुसार ऑगस्ट कॉम्टे तथा हरबर्ट स्पेंसर द्वारा दी गई व्याख्याएँ मनोवैज्ञानिक हैं। इनका कहना है कि सामूहिक प्रतिनिधान, संवेग तथा प्रवृत्तियाँ व्यक्तिगत चेतना की कतिपय विशिष्ट अवस्थाओं का परिणाम नहीं हैं अपितु उन अवस्थाओं का परिणाम होती हैं जिसमें कि सामाजिक समूह सम्पूर्ण रूप से स्थिर होता है।

11.4 सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के नियम

(Rules of the Observation of Social Facts)

प्रथम नियम जो दुर्खीम हमें देते हैं वह है—“सामाजिक तथ्यों पर वस्तुओं के रूप में विचार किया जाए।” तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान प्राकृतिक वस्तुओं का अध्ययन करते हैं उसी प्रकार सामाजिक विज्ञानों को भी सामाजिक वस्तुओं का अध्ययन करना चाहिए। यह अध्ययन बिना किसी पूर्वाग्रह के होना चाहिए लेकिन समाजशास्त्रियों के साथ बड़ी समस्या यही होती है कि वे पहले से किसी वस्तु के बारे में एक अवधारणा सी बना लेते हैं। यह अवधारणा यथार्थ नहीं होती। दुर्खीम सामाजिक तथ्य को, यहाँ तक कि संवेग और मनोभाव को वैज्ञानिक पद्धति से देखना चाहते हैं। वह कहते हैं कि कई सामाजिक तथ्य मनोवैज्ञानिक होते हैं लेकिन इनका उदगम समाज की यथार्थता होती है। इसी कारण ये तथ्य सामाजिक

तथ्य हैं। सामाजिक तथ्यों का वस्तुओं के रूप में अध्ययन करते समय निम्नलिखित तीन नियमों का पालन जरूरी है जिससे उनकी वस्तुनिष्ठता (Objectivity) बनी रहे—

- ✓ सभी पूर्वाग्रहों का उन्मूलन करना चाहिए।
- ✓ अध्ययन की विषय-सामग्री (Subject-matter) को परिभाषित करना चाहिए।
- ✓ सामाजिक तथ्यों को व्यक्तिगत प्रकटीकरणों से पृथक करके अध्ययन करना चाहिए।

1. यदि सामाजिक तथ्यों को हम विज्ञान के समानतर रखना चाहते हैं तो इनका अवलोकन होना आवश्यक है। हम बरसों से तमाम कहानियाँ सुनते चले आ रहे हैं जिनका सच्चाई या यथार्थता से कोई लेना देना नहीं है। फिर भी ये हमें अच्छे लगते हैं क्योंकि इस तरह की तमाम अवधारणाएँ हमारे मन-मस्तिष्क पर छायी हुई हैं। वास्तव में ये अवधारणाएँ मिथक मात्र हैं जिनमें न कोई व्यवस्था होती है और न ही कोई तर्क, यही हमारे 'पूर्वाग्रह' हैं। उदाहरण के लिए प्रत्येक व्यक्ति सपने देखता है। लेकिन ऐसा क्यों होता है कि ये सपने हमें एक ऐसी दुनिया में पहुँचा देते हैं जिनका वास्तविकता से कोई सरोकार नहीं है? ऐसा कदाचित् इसलिए होता है क्योंकि जाग्रत बाहर हैं। दूसरी बात यह कि वस्तु की प्राप्ति या हानि हो सकती है। ऐसी परिकल्पनाएँ मिथक नहीं तो और क्या हैं जिनके अध्ययन का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है? इन्हें सामाजिक नहीं तो और क्या हैं जिनके अध्ययन में ऋणात्मक भूमिका निभाती हैं। इसलिए बेहतर तो यही होगा कि इन पूर्वाग्रहों का उन्मूलन किया जाए।

हालांकि दुर्खीम ने 'टोटम' को एक सामाजिक तथ्य माना है, बावजूद इसके कि यह भी हमें एक विचित्र सी दुनिया में ले जाता है। लेकिन दुर्खीम को टोटम को सामाजिक तथ्य मानने के पीछे उद्देश्य यह है कि इस मान्यता से हमारे कुछ सामाजिक कार्यों की पूर्ति हो जाती है तथा कुछ की पूर्ति के लिए हमें एक बड़ा सहारा मिल जाता है। इस प्रकार इसके अध्ययन का एक वैज्ञानिक आधार है। इसमें से भी कुछ पूर्वाग्रहों को निकालकर एक और सुदृढ़ आधार आधार दिया जा सकता है।

2. समाजशास्त्री के लिए यह आवश्यक है कि वह जिस विषय-सामग्री का अध्ययन करता है, उस सामग्री को स्पष्ट रूप से परिभाषित करे। इसके लिए उसे अपने विषय-वस्तु को भलीभाँति उनके बाहरी लक्षणों के आधार पर, जिनका अवलोकन सम्भव है, परिकल्पित करना चाहिए। इस प्रकार 'श्रम-विभाजन' किसी भी समाज के अन्दर की सुदृढ़ता (Solidarity) को निवर्तमान कानून-दमनकारी या प्रतिकारी, फौजदारी या सिविल के आधार पर समझा जा सकता है।
3. व्यक्तिगत अभिरूचियाँ बाह्यता के अभाव में सामाजिक तथ्य नहीं हो सकतीं। अतः समाजशास्त्री को चाहिए कि अपने अध्ययन के दौरान अपनी इन अभिरूचियों को त्याग दे। विवेचन केवल उन विशेषताओं का होना चाहिए जो मूलतः सामाजिक प्रघटनाओं के निहित गुण हैं।

दुर्खीम ने समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र को परिसीमित करने तथा इसे विज्ञान बनाने में विशेष योगदान दिया है। इनके अनुसार समाजशास्त्र में सामाजिक तथ्यों का अध्ययन किया जाना चाहिए तथा उन्होंने स्वयं अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक तथ्यों जैसे श्रम-विभाजन, आत्महत्या, धर्म, शिक्षा इत्यादि का अध्ययन किया है।

सामाजिक तथ्यों के अवलोकन के लिए सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक तथा सर्वाधिक मौलिक नियम देते हुए दुर्खीम ने कहा है कि सामाजिक तथ्यों पर वस्तुओं के रूप में विचार यिका जाए। इनका कहना है कि यह ठीक है कि व्यक्ति पर्यावरण में तब तक नहीं रह सकता जब तक कि वह उसके बारे में कुछ विचार न बना ले जिनसे कि वह अपने व्यवहार का नियमन करता है। परन्तु क्योंकि विचार वास्तविकता से अधिक

नजदीक होते हैं इसलिए वस्तुओं का प्रेक्षण, वर्णन तथा तुलना करने के स्थान पर हमें अपने विचारों पर अपनी चेतना को केन्द्रित करने, उसका विश्लेषण करने और उनसे मेल बढ़ाने मात्र से सन्तोष हो जाता है। अतः यथार्थता से सम्बन्धित विज्ञान के स्थान पर हम केवल विचारकीय विश्लेषण उत्पन्न करते हैं। ऐसा विज्ञान विचारों से वस्तुओं की तरफ बढ़ता है न कि वस्तुओं से विचारों की तरफ परन्तु दुर्खीम इस विधि द्वारा अध्ययन का समर्थन नहीं करते क्योंकि इससे वस्तुओं का स्थान ग्रहण करने के लिए विधि सम्मत नहीं है।

दुर्खीम की सामाजिक तथ्यों की परिभाषा से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें एक ऐसा गुण पाया जाता है जिसके कारण इसका अध्ययन वैज्ञानिक विधि द्वारा करना सम्भव है। यह गुण इनकी बाह्य की विशेषता है।

सामाजिक तथ्य व्यक्तिगत चेतना से बाहर हैं इसलिए इनका वैज्ञानिक विधि से सूक्ष्म अवलोकन हो सकता है गुणों को देखा और परखा जा सकता है तथा साथ ही अनुभव भी किया जा सकता है। बाह्यता की विशेषता के कारण ही दुर्खीम सामाजिक तथ्यों को वस्तु के रूप में देखने पर बल देते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि दुर्खीम मूर्त वस्तुओं से अमूर्त की ओर बढ़ने अर्थात् वस्तुओं से उनके बारे में धारणाओं के अध्ययन के पक्ष में थे ताकि वस्तुनिष्ठ रूप में इनका विश्लेषण किया जा सके। इस प्रकार, दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों को वस्तु के रूप में अध्ययन किये जाने पर बल देकर समाजशास्त्र को एक ठोस आधार प्रदान किया ताकि इसमें वस्तुनिष्ठ अध्ययन किये जा सके तथा इसे विज्ञान बनाया जा सके।

दुर्खीम का कहना है कि यद्यपि ऑगस्त कॉम्ट ने सामाजिक घटनाओं को प्राकृतिक तथ्य कहकर वस्तुओं के रूप में स्वीकार किया परन्तु उन्होंने अपने अध्ययन की विषय-वस्तु के लिए विचारों को ही ग्रहण किया। स्पेन्सर ने तो यह कहकर कि एक समाज तभी बनता है जबकि सन्निद्धता के साथ सहयोग भी हो, समाज को अदृश्य रूप में मान लिया। दुर्खीम इस पर बल देते हैं कि सामाजिक घटनाएँ वस्तुएँ हैं तथा उन्हें वस्तुओं की तरह ही स्वीकार किया जाना चाहिए। घटनाओं की वस्तु के रूप में स्वीकार करने का अर्थ है उन्हें आँकड़ों के रूप में स्वीकार करना। सामाजिक घटनाओं को स्वयं उन विचारों से भिन्न समझना चाहिए जिनसे सचेत रूप से निर्मित प्रतिनिधान हमारे मस्तिष्क में बन जाते हैं। हमें उनका अध्ययन बाह्य वस्तुओं के अध्ययन के उद्देश्य से करना चाहिए क्योंकि उनकी यही विशेषता होती है जो वे हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

दुर्खीम का कहना है कि समाजशास्त्र का प्रयत्न उन वस्तुओं की परिभाषा करना होना चाहिए जिनसे उसका संबंध है ताकि उसका विषय-वस्तु का ज्ञान हो सके। अध्ययन को उद्देश्यपूर्ण बनाने के लिए हमें घटनाओं का विचारों की तरह नहीं अपितु उनके निहित गुणों का अध्ययन करना चाहिए। यह आवश्यक है कि इस मूल परिभाषा में जो सामग्री सम्मिलित की जायेगी उसे सामाजिक घटनाओं का बाह्य विशेषताओं में से प्राप्त किया जायेगा।

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के अवलोकन का दूसरा नियम इस प्रकार दिया है—प्रत्येक समाजशास्त्रीय अध्ययन की विषय-वस्तु कुछ सामान्य बाह्य विशेषताओं के आधार पर परिभाषित इस समूह में को ग्रहण करे तथा इस परिभाषा के दायरे में आने वाली सभी घटनाओं को इस समूह में सम्मिलित किया जाये। दुर्खीम इस बात पर भी बल देते हैं कि जब समाजशास्त्री कुछ सामाजिक तथ्यों के सामाजिक क्रम के अन्वेषण का प्रयत्न करता है तो उसे उनके व्यक्तिगत प्रकटीकरण से स्वतन्त्र दृष्टिकोण से उनका अध्ययन करने का प्रयत्न करना चाहिए इस प्रकार, दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों को वस्तुओं के रूप में माने जाने पर बल देकर यह सिद्ध कर दिया कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन भी वैज्ञानिक विधि द्वारा वस्तुनिष्ठ रूप से किया जा सकता है।

11.5 सारांश : (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके हैं कि ईमाइल दुर्खीम ने किस तरह से सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में अपनी नयी अध्ययन पद्धति का विकास किया है और वो समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान बनाना चाहते थे। उनकी पुस्तक (Rules of Sociological Methods) में इसको अच्छी तरह से बताया है कि कोई घटना वस्तु या विचार के रूप में ही देखी जा सकती है सामाजिक तथ्य की वास्तविक अवधारणा क्या है क्या हो सकती है सामाजिक तथ्य एक वस्तु के समान है इनकी विशेषताएँ एवं इनके प्रकार से अवलोकन के नियमों को विस्तार से बताया है, एवं उन पर चर्चा की गयी है। सामाजिक तथ्यों को एक तरह से दुर्खीम ने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन का तरीका माना है।

11.6 शब्दावली : (Glossary)

- 1. सामूहिकः**—जब व्यक्ति पर स्पष्ट कर रहे हो तो उससे निर्मित एक संयुक्त क्रिया, विचार, आदि था।
- 2. अनुभव सिद्धः**—वस्तुपरक तरीके से जब आकड़ों को समाज से इक्टा करने के लिए अवलोकन तथा अन्य परीक्षित पद्धतियों का प्रयोग।
- 3. सुई जनेरिसः**—वह जो स्वयं से उत्पन्न हो तथा जिनका अस्तित्व समाज में स्वयं में हो जो अस्तित्व तथा उदयन के लिए दूसरी वस्तुओं पर निर्भर न हो उसे समाज के दुर्खीम ने सुई जनेरिस माना है।

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :

(Answer Questions of Practice)

- 1. समाजशास्त्रीय व्याख्या में सामूहिकता पर बल किस समाजशास्त्री ने दियाः—**
 (क) दुर्खीम (ख) जिन्सवर्ग
 (ग) टी पारसन्स (घ) मैक्स वेबर
 उत्तर — (क)
- 2. सामाजिक तथ्य वस्तु के समान है किसने कहा हैः—**
 (क) ऑगस्ट कौंत (ख) कार्ल मार्क्स
 (ग) ईमाइल दुर्खीम (घ) डेविस
 उत्तर — (ग)
- 3. सामाजिक तथ्यों की विशेषता हैः—**
 (क) बाह्य (ख) बाध्यता
 (ग) स्वतंत्रता (घ) उपर्युक्त तीनों
 उत्तर — (घ)
- 4. सामाजिक तथ्य की अवधारणा दी हैः—**
 (क) मैक्स वेबर (ख) ईमाइल दुर्खीम
 (ग) टी पारसन्स (घ) मर्टन
 उत्तर — (ख)
- 5. ईमाइल दुर्खीम का सम्बन्ध किस देश से हैः—**

(क) इटली (ख) इंग्लैंड (ग) फ्रांस (घ) जर्मनी

उत्तर – (घ)

6. दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों का साम्प्रत्ययीकरण किस रूप में किया है:—

(क) हमारी जैविक प्रेरणाओं में वृद्धि

(ख) व्यक्ति के अपने उद्दीपन एवं प्रेरणाएँ

(ग) ऐसे सामाजिक प्रतिमान जो व्यक्ति से बहार के हैं।

(घ) इनमें स्वतन्त्र नहीं पायी जाती है।

उत्तर – (ग)

7. सामाजिक प्रवाह एवं सामाजिक तथ्य में भेद किया है:—

(क) मर्टन

(ख) दुर्खीम

(ग) मैक्स वेबर

(घ) पारसन्स

उत्तर – (ख)

8. ईमाइल दुर्खीम का पद्धतिशास्त्रीय नियम कौन सा है:—

(क) सामाजिक तथ्य

(ख) प्रघटनाविज्ञान

(ग) सामाजिक क्रिया

(घ) उपरोक्त तीनों

उत्तर – (क)

9. दुर्खीम की पुस्तक (Rules of Sociological Method) की रचना कितने अध्याय में की है:—

(क) पाँच

(ख) छः

(ग) सात

(घ) आठ

उत्तर – (क)

10. सामाजिक तथ्य को दुर्खीम ने किस रूप में देखा है:—

(क) घटना के रूप में

(ख) वस्तु के रूप में

(ग) विचार के रूप में

(घ) उपरोक्त सभी

उत्तर – (घ)

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ की सूची : (References)

1. ईमाइल दुर्खीम (1895) : “द रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मैथड”, द फ्री प्रेस ऑफ ग्लोनको, न्यूयार्क
2. ओरो रेंमो (1967) : मेन करेंटस इन सोशियोलॉजिकल थॉट, वाल्यूम-2, पेग्विन बुक्स, लंदन
3. दोषी एण्ड जैन (1996) : “उच्च स्तरीय समाजशास्त्रीय सिद्धान्त”,

रावत पब्लिकेशन, जयपुर, दिल्ली

11.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री : (Useful Contain)

लेविस ए कोजर (1996) : "मास्टर ऑफ सोशियोलॉजिकल थॉट्स", रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली

11.10 निबन्धात्मक प्रश्न : (Essay Type Questions)

1. दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित सामाजिक तथ्यों की प्रकृति क्या है?
2. दुर्खीम के समाजशास्त्रीय विश्लेषण योगदान का केन्द्र बिन्दु क्या है? उनके योगदान के सामाजिक तथ्य क्या हैं।
3. दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों में अवलोकन का क्या नियम बताइये।
4. दुर्खीम के सामाजिक तथ्यों की क्या विशेषताएँ हैं?
5. दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के कितने प्रकार बताये हैं?
6. दुर्खीम के सामाजिक तथ्यों का सिद्धान्त क्या है?

इकाई-12 : आत्महत्या और समाज (Suicide & Society)

इकाई की रूपरेखा

- 12.0 उद्देश्य
- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 आत्महत्या एवं समाज
 - 12.2.1 आत्महत्या की अवधारणा
 - 12.2.2 आत्महत्या का अर्थ एवं परिभाषा
- 12.3 आत्महत्या के प्रकार
 - 12.3.1 अहमवादी आत्महत्या
 - 12.3.2 परार्थवादी आत्महत्या
 - 12.3.3 मानयकशून्य या प्रतिमानहीनता आत्महत्या
- 12.4 सारांश
- 12.5 शब्दावली
- 12.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 12.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 12.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 12.9 निबंधात्मक प्रश्न

12.0 उद्देश्य : (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप:-

- ✓ आत्महत्या के कारणों को समझ पायेगे।
- ✓ आत्महत्या के लिए कौन जिम्मेदार होता है।
- ✓ आत्महत्या के प्रकारों को जान सकेंगे।
- ✓ आत्महत्या का सम्बन्ध समाज से कैसे है, जान पायेगे।
- ✓ दुर्खीम के आत्महत्या के सिद्धांत को समझ पायेगें।
- ✓ अहमवादी आत्महत्या से आप क्या समझते हैं?
- ✓ परार्थवादी आत्महत्या से आप क्या समझते हैं?
- ✓ मानक शून्यता आत्महत्या से आप क्या समझते हैं?

12.1 प्रस्तावना : (Introduction)

सामान्य रूप से आत्महत्या को एक तरह से व्यक्ति की वह सचेतन तथा निराशपूर्ण क्रिया है जिसमें कर्ता को यह ज्ञात होता है कि इस क्रिया के पश्चात् उसकी जान चली जायेगी।

आत्महत्या सभी समाजों में पायी जाती है तथा इसमें अपने-अपने कारण होते हैं। दुर्खीम ने अध्ययन से पूर्व आत्महत्या को मनोविज्ञान का विषय-वस्तु माना जाता है, व्यक्ति के मनोवृत्ति उसके सोचने की क्षमता, दबाव को सहने की उसकी सीमाएँ कई ऐसे मनोवैज्ञानिक पक्ष थे जिससे समाज में आत्महत्या का अध्ययन होता है। इन्होंने अपनी पुस्तक *The Suicide* में आत्महत्या के चार प्रकारों का वर्णन किया है। दुर्खीम से पहले आत्महत्या को व्यक्तिगत मानते थे परन्तु दुर्खीम ऐसे पहले समाजशास्त्री थे जिन्होंने आत्महत्या को करने के लिए समाज को जिम्मेदार माना है। आत्महत्या के चारों प्रकारों को समाज के द्वारा उत्पन्न कारणों को माना है।

12.2 आत्महत्या एवं समाज : (Suicide & Society)

इसका अध्ययन इसलिए किया कि इसका संबंध समाज के उच्च एवं मध्यवर्ग से था जबकि अन्य दूसरे प्रकार की समस्याओं का संबंध मजदूर वर्ग, वर्ग संघर्ष आदि से था जिसका अध्ययन कर दुर्खीम मार्क्सवादी विचारकों की कोटि में आ जाता। मार्क्सवादी खेमे से अपने को अलग रखने के लिए दुर्खीम ने आत्महत्या जैसी समस्या को अपने अध्ययन-विषय के रूप में चुना। साथ ही उसने यह भी सोचा कि इस प्रकार के अध्ययन से तत्कालीन समाज की बुराईयों एवं कुसमायोजन के संबंध में सुझाव के रूप में कुछ कारक मिल जाएंगे जिसके आधार पर वह समाज में एक नैतिक बल की चर्चा कर सकेगा।

रेमण्ड एरॉ का कहना है कि अपने अन्य सिद्धांतों की तरह इस सिद्धांत में भी दुर्खीम ने सबसे पहले आत्महत्या की परिभाषा दी है।

आत्महत्या की घटना में दुर्खीम ने सर्वप्रथम मृत्यु की समस्त घटनाओं को शामिल किया है जो स्वयं उस व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित हैं जो कि अपनी हत्या करता है, उसके वांछित एवं अवांछित कार्यों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष फल होता है तथा जिसका परिणाम भी व्यक्ति जानता रहता है। दुर्खीम ने आत्महत्या की श्रेणी में मृत्यु से संबंधित उन सभी घटनाओं को शामिल किया है जो स्वयं उस व्यक्ति के सकारात्मक या नकारात्मक क्रिया के परिणाम हैं। द्वितीय स्तर पर दुर्खीम ने आत्महत्या से संबंधित पूर्व-प्रचलित सभी सिद्धांतों का खण्डन किया है और बतलाया है कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है। जीववैज्ञानिकों, चिकित्सकों एवं मनोवैज्ञानिकों के इस निष्कर्ष को, कि बहुत से लोग मानसिक विक्षिप्तता की अवस्था में आत्महत्या कर लेते हैं, दुर्खीम ने स्वीकार नहीं किया है। इनके अनुसार आत्महत्या एक मनोवैज्ञानिक घटना नहीं है, बल्कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है क्योंकि इसके कारण समाज में ही उपस्थित होते हैं और इसका विश्लेषण भी सामाजिक तथ्य के आधार पर किया जाना चाहिए।

दुर्खीम ने आत्महत्या का अध्ययन करने एवं इसके लिए एक विशेष सिद्धांत प्रतिपादित करने के उद्देश्य से मोनोग्राफिक आँकड़ों का सहारा लिया और सैनिक, असैनिक, विवाहित,

अविवाहित, यहूदी, प्रोटेस्टेंट, कैथोलिक एवं स्वतंत्र विचारकों की आत्महत्या का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि 'आत्महत्या एक सामाजिक घटना है जिसका मूल कारण सामाजिक तथ्य है। अपने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के आधार पर दुर्खीम ने कहा कि समूह कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है जिसके प्रभाव से विवश होकर व्यक्ति आत्महत्या कर सकता है। यदि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कम आत्महत्या करती हैं तो इसलिए कि वे सामाजिक जीवन में पुरुषों की अपेक्षा कम भाग लेती हैं। दुर्खीम ने पाया कि स्वतंत्र विचारकों में सामूहिकता का अभाव पाया जाता है, इसलिए उनमें आत्महत्या की दर अधिक होती है। स्पष्टतः दुर्खीम के अनुसार आत्महत्या व्यक्तिगत कार्य नहीं बल्कि एक सामाजिक घटना है और इसका मूल कारण सामाजिक तथ्य है।

तीसरे स्तर पर दुर्खीम ने आत्महत्या को तीन भागों में बांटा है जिसके मूल में तीन सामाजिक तथ्य हैं। दुर्खीम के अनुसार ये तीन तरह की आत्महत्याएं क्रमशः अहंवादी आत्महत्या, परार्थवादी आत्महत्या तथा आदर्शविहीन आत्महत्या है। इसके पीछे तीन सामाजिक तथ्य क्रमशः अहंवाद, परार्थवाद एवं आदर्शविहीनता है। इन तीन के अलावा कुछ ऐसी आत्महत्याओं का भी दुर्खीम ने उल्लेख किया है जिन्हें वे भाग्यवादी आत्महत्या कहते हैं।

दुर्खीम का आत्महत्या सम्बन्धी विचार उसकी प्रख्यात कृति *Le Suicide* में है। आत्महत्या जैसे ज्वलन्त समस्या पर उसने गहन अध्ययन किया है तथा इस समस्या की तह में मूल पोषण तत्व क्या है उन्हें खोजने का प्रयास किया है। दुर्खीम यह मानते हैं कि आत्महत्या एक सामाजिक घटना है। इसलिए उसने अपने पूर्ववर्ती विचारकों के आत्महत्या सम्बन्धी विचार को अस्वीकार कर दिया है। जिसमें वंशानुक्रम, जलवायु, मनोवैज्ञानिक कारक तथा वैयक्तिक कारक को उत्तरदायी ठहराया गया था। दुर्खीम इनसे सम्बन्धित विचारों से सहमत नहीं है अपितु इसका खण्डन करते हैं। उनका मानना है कि उपर्युक्त कारकों के माध्यम से आत्महत्या जैसी गम्भीर समस्या के मूल कारणों का पता नहीं लगाया जा सकता है। आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है इसलिए इसके कारणों की खोज सामाजिक संरचना और संगठन में ही करनी चाहिए।

दुर्खीम इस बात से सहमत नहीं है कि कतिपय वैयक्तिक अवस्थाओं पर ही आत्महत्या की घटना निर्भर करती है। उनका स्पष्ट मत है कि आत्महत्या की घटना को सामाजिक तत्व या कारक के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। दुर्खीम के ही शब्दों में सामाजिक पर्यावरण की कुछ अवस्थाओं का आत्महत्या के साथ सम्बन्ध अत्यधिक प्रत्यक्ष तथा स्थायी है, जबकि आत्महत्या का प्राणिशास्त्रीय तथा भौतिक कारकों के साथ सम्बन्ध उतना ही अनिश्चित तथा अस्पष्ट होता है। दुर्खीम का कथन है कि सामाजिक या समाजशास्त्रीय कारकों की सहायता से हमें आत्महत्या की उन घटनाओं की भी व्याख्या मिलती है जिनकी अभी तक भौतिक कारणों का प्रभाव बताया गया था। यदि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कम आत्महत्या करती हैं तो इसका कारण यह नहीं है कि वे स्त्रियाँ हैं। अपितु इसका वास्तविक कारण तो यह है कि वे

पुरुषों की अपेक्षा सामूहिक जीवन में कम भाग लेती हैं, इसलिए वे इसके अच्छे या बुरे प्रभाव को भी कम अनुभव करती हैं। यही बात अधिक उम्र के व्यक्तियों तथा बच्चों के सम्बन्ध में भी लागू होती है; रूद्यपि इन पर सामूहिक जीवन का कम प्रभाव कुछ अन्य कारणों से पड़ता है। इसी प्रकार यदि जनवरी से जून तक आत्महत्या की दर बढ़ती है और तत्पश्चात् घटनी शुरू हो जाती है तो इसका कारण यह है कि सामाजिक क्रियाओं में भी इसी के अनुसार मौसमी उतार-चढ़ाव देखने को मिलता है। इसलिए यह स्वाभावित ही है कि सामाजिक क्रियाओं के विभिन्न प्रकार भी ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ समान रूप से बदलें और इसके फलस्वरूप इन दोनों कालों में से प्रथम काल में (जनवरी से जून तक) सामाजिक प्रभाव अपेक्षाकृत निश्चित या स्पष्ट हो, आत्महत्या भी इन्हीं प्रभावों में से एक है।

दुर्खीम के अनुसार उपर्युक्त तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि समाज में घटित होने वाली आत्महत्या की दर का विश्लेषण केवल समाजशास्त्रीय आधारों पर ही किया जा सकता है। एक निश्चित समय पर समाज का नैतिक संगठन ऐच्छिक मृत्युओं के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने ऊपर विशेष शक्ति की मात्रा लिए हुए एक सामूहिक शक्ति का दबाव अनुभव करता है जो कि उसे आत्महत्या करने को बाध्य करती है। आत्महत्या करने वालों के कार्य जो कि प्रथम बार केवल उसके व्यक्तिगत स्वभाव को व्यक्त करते प्रतीत होते हैं, वास्तविक रूप में एक सामाजिक अवस्था के पूरक और विस्तार होते हैं जिनकी कि बाहरी अभिव्यक्ति आत्महत्या के रूप में होती है। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक सामाजिक समूह में आत्महत्या के लिए अपने ढंग की एक सामूहिक प्रवृत्ति पायी जाती है जो कि वैयक्तिक प्रवृत्तियों को प्रभावित करती हैं, उन्हें आत्महत्या का सर्वप्रमुख कारण माना जाता है। व्यक्ति अपने जीवन में उदासीनता को समझाने के लिए अपने चारों तरफ की परिस्थितियों को दोषी मानता है, उसका जीवन दुःखी है क्योंकि वह दुःखी है। परन्तु ये बाहरी परिस्थितियाँ उसके जीवन की यह या वह घटना नहीं अपितु वही समूह है जिसका कि वह सदस्य है। यही कारण है कि ऐसी कोई सामाजिक परिस्थिति नहीं होती जो कि आत्महत्या के लिए अवसर का काम न कर सके। यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि आत्महत्या की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाले कारण कितीन तीव्रता से व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। इस तरह स्पष्ट है कि आत्महत्या एक सामाजिक घटना है जिसे कि सामाजिक कारक के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में यह प्रश्न किया जा सकता है कि सामाजिक शक्तियाँ समाज में रहने वाले सभी व्यक्तियों को समान रूप में क्यों नहीं प्रभावित करती; इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दुर्खीम ने बताया है कि यद्यपि आत्महत्या को प्रेरित करने वाली ये शक्तियाँ समाज में क्रियाशील रहती हैं फिर भी इनका प्रभाव किसी व्यक्ति पर तब तक नहीं पड़ता है जब तक स्वयं व्यक्ति का व्यक्तित्व उसे अपना न ले। यही कारण है कि गरीबी अथवा दुःखी वैवाहिक जीवन के कष्ट को कुछ लोग तो सहन कर लेते हैं जबकि कुछ ऐसे भी होते हैं जिनके लिए

यह स्थिति असहनीय बन जाती है। उसी भाँति कुछ लोग अपने सामाजिक कर्तव्य के प्रति उदासीन हो सकते हैं पर कुछ लोग उन्हीं कर्तव्यों के प्रति इतने निष्ठावान हो सकते हैं कि अपने प्राणों की आहुति देने में भी पीछे नहीं हटते। अतः स्पष्ट है कि आत्महत्या घटित होने के लिए सामूहिक प्रवृत्ति के साथ-साथ उसके प्रति वैयक्तिक प्रति उत्तर भी आवश्यक है। दुर्खीम के अनुसार यह निश्चित ही प्रतीत होता है कि कोई भी सामूहिक भावना व्यक्ति को प्रभावित नहीं कर सकती है यदि वे उसके प्रति पूर्णतया विमुख रहें।

दुर्खीम के उपर्युक्त विश्लेषण से उनका आत्महत्या सम्बन्धी सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने इस विषय पर तमाम आँकड़े एकत्रित किये हैं जिसके आधार पर उनके विश्लेषण के निष्कर्ष निम्न प्रकार हैं—

1. आत्महत्या की दर प्रत्येक वर्ष लगभग एक जैसी रहती है।
2. सर्दियों की तुलना में गर्मियों में आत्महत्या अधिक होती है।
3. स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष आत्महत्या अधिक करते हैं।
4. कम आयु की अपेक्षा अधिक आयु के लोगों में आत्महत्या की दर अधिक हैं।
5. नगरों में आत्महत्यायें अधिक हैं अपेक्षाकृत गांवों के।
6. आम जनता की अपेक्षा सैनिक लोग अधिक आत्महत्या करते हैं।
7. प्रोटेस्टेंट धर्म के अनुयायी आत्महत्या अधिक करते हैं अपेक्षाकृत कैथोलिक के।
8. अविवाहित, विवाह-विच्छेद, विधवा तथा विधुर लोगों में विवाहितों की अपेक्षा आत्महत्या की दर अधिक पायी जाती है।
9. विवाहितों में भी बच्चे वालों की तुलना में वे लोग अधिक आत्महतया करते हैं, जिनके यहाँ बच्चे पैदा नहीं होते या मर जाते हैं।

12.2.1 आत्महत्या की अवधारणा : (Concept of Suicide)

सामान्य रूप से किसी व्यक्ति द्वारा अभिप्राय अपनी ही जान लेने की क्रिया आत्महत्या कहलाती है। समाजशास्त्र में इस अवधारणा को स्पष्ट करने का श्रेय ईमाइल दुर्खीम को जाता है। दुर्खीम ने अपनी पुस्तक (दि सुसाइड 1897) में बताया है कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है। अतः इसमें कारणों को सामाजिक तथ्यों में खोजा जाना चाहिए। दुर्खीम के अनुसार ऐसी कोई मृत्यु जो आत्म विनाश के लिए जानबुझकर की गई क्रिया का परिणाम है। जिनमें भयंकर परिणाम के विषय में इसे पहले से ही ज्ञान है आत्महत्या की श्रेणी में आता है। इन्होंने आत्महत्या के तीन प्रकार बताये हैं।

आत्महत्या से तात्पर्य व्यक्ति की वह सचेतन तथा निराशपूर्ण क्रिया है जिसमें कर्ता को यह ज्ञात होती है इस क्रिया के पश्चात् उसकी जान चली जायेगी। आत्महत्या सभी समाजों में पाया जाता है तथा उसके अपने-अपने कारण होते हैं। दुर्खीम के अध्ययन के पूर्व आत्महतया

को मनोविज्ञान का विषयवस्तु माना जाता था व्यक्ति के मनोवृत्ति उसके सोचने की क्षमता, दबाव को सहने की उसकी सीमाएँ कई ऐसे मनोविज्ञानिक पक्ष थे जिसके आलोक में आत्महत्या का अध्ययन होता है।

दुर्खीम ने अपने अनुभव में यह देखा की फ्रांस में प्रतिवर्ष आत्महत्या की दर लगभग समान है। इस अनुभव ने उन्हें प्रेरित किया की यह समझने की कोशिश की जाए की क्या इसका संबंध समाज तथा सामाजिक परिवेश से हैं इस क्रम में उन्होंने फ्रांसीसी पुलिस फाइल से आत्महत्या के 2000 केशों का अध्ययन किया तथा निश्चित और निम्न निष्कर्ष पर पहुँचे—

महिला, पुरुष

ग्रामीण, शहरी

विवाहित, अविवाहित तथा तलाकशुदा

सिविलियन सैनिक

कैथलिक प्रोटेस्टेंट

सर्दी में, गर्मी में

संकेत कम ज्यादा

उपरोक्त निष्कर्ष के आधार पर दुर्खीम ने माना की आत्महत्या पर बाह्यता, बाध्यता तथा सामान्यता के नियम लागू होते हैं इसलिए इनका अध्ययन भी व्यक्ति सापेक्षिक न होकर समाज समाज सापेक्षिक होने चाहिए।

12.2.2 आत्महत्या का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning of Suicide & Definition)

दुर्खीम अपनी कृति 'आत्महत्या' में आत्महत्या को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि "आत्महत्या वह होती है जिसमें व्यक्ति सकारात्मक या नकारात्मक रूप से ऐसा काम करता है जिसका परिणाम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वह जानता है, उसके शरीर के नष्ट होने में है। इस प्रकार एक तरफ तो दुर्खीम आत्महत्या के व्यधिकीय पहलुओं को देखते हैं, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति और समूह के सम्बन्धों को भी प्रस्तुत करते हैं। अतः दुर्खीम यह बताते हैं कि किस सीमा तक व्यक्तियों के व्यवहार को सामूहिक वास्तविकता निश्चित करती है।

आत्महत्या का सीधा सा अर्थ यह है कि व्यक्ति ने समाज के दबाव को स्वीकार नहीं किया और आत्महत्या कर ली। इस प्रकार आत्महत्या व्यक्ति और समाज के बीच के सम्बन्धों के दरार की अभिव्यक्ति है। इसीलिए दुर्खीम इसे व्यक्तिगत घटना नहीं मानते हैं बल्कि समाज द्वारा व्यक्ति को दी गयी मौत मानते हैं। इस तरह दुर्खीम यह स्थापित करते हैं कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है और इसे करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं है। यह तो निश्चित रूप से समाज का दबाव है जो व्यक्ति को अपने स्वयं के शरीर को नष्ट करने के लिए बाध्य करता है।

दुर्खीम पहले समाजशास्त्री हैं जिन्होंने अपने अध्ययन 'आत्महत्या' में सांख्यिकीय पद्धति को अपनाया है। दुर्खीम का मानना है कि इन सांख्यिकीय आंकड़ों ने ही एक प्रबल सिद्धान्त के प्रतिपादन में उनकी मदद की है। अपनी पुस्तक 'आत्महत्या' की रचना उन्होंने अपनी कृति 'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम' के तुरन्त बाद की, जिसकी झलक 'आत्महत्या' में साफ देखने को मिलती है। आत्महत्या को दुर्खीम ने एक सामाजिक तथ्य माना है। दुर्खीम कहते हैं कि इसमें 'बाह्यता' और 'बाध्यता' दोनों हैं। दूसरी बात यह है कि 'आत्महत्या' का अध्ययन दुर्खीम ने 'प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त' की पृष्ठभूमि में किया है। इसीलिए काफी हद तक यह एक वैज्ञानिक अध्ययन है।

दुर्खीम के आत्महत्या सम्बन्धी विवरण के आधार पर तीन प्रस्ताव रखे जा सकते हैं:—

- (i) जिस भी धर्म-प्रधान समाज में एकीकरण अधिक होगा, उस समाज में उतनी ही कम आत्महत्याएं होंगी। इसी प्रकार जिस धर्म-प्रधान समाज में एकीकरण जितना अधिक कमजोर होगा, आत्महत्याएं उतनी ही अधिक होंगी। उदाहरणार्थ—कैथेलिक धर्मावलम्बियों में, जिनमें रूढ़िवादिता होती है, धर्म का व्यक्ति पर नियंत्रण अधिक होता है और आत्महत्याएं कम होती हैं। दुर्खीम ने देखा कि प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बियों में जिनमें व्यक्ति पर अनुशासन कम होता है, आत्महत्याएं अधिक होती हैं। निष्कर्ष यह है कि आत्महत्या और एकीकरण में विपरीत सम्बन्ध है।
- (ii) जिस भी समाज में पारिवारिक और नातेदारी एकीकरण अधिक होगा, उसमें आत्महत्याएं उतनी ही कम होंगी। इसी प्रकार ऐसे समाज में जहाँ एकीकरण कम होगा, आत्महत्याएं उतनी ही अधिक होंगी। उदाहरण के लिए विकसित देशों एवं महानगरों में पारिवारिक तथा नातेदारी एकीकरण कम होने से आत्महत्याएं अधिक देखने को मिलती हैं। ऐसे समाजों में परिवार काफी बिखरे हुए हैं। इसके ठीक विपरीत, साधारण समाजों में पारिवारिक बन्धन काफी सुदृढ़ होने से आत्महत्या दर नगण्य है।
- (iii) ऐसे समाज जिनमें राजनैतिक एकीकरण तथा सुदृढ़ता अधिक है, उनमें आत्महत्याएं कम होती हैं, जबकि उन देशों में जिनमें राजनैतिक अस्थिरता है और हिंसा की घटनाएं अधिक होती हैं, आत्महत्या दर अधिक है।

यहाँ भी दुर्खीम यही पाते हैं कि एकीकरण जितना अधिक होगा, आत्महत्याएं उतनी ही कम होंगी।

12.3 आत्महत्या के प्रकार (Type of Suicide)

दुर्खीम ने अपने समाजशास्त्रीय अध्ययन में आत्महत्या के प्रकारों का वर्णन किया है और आंकड़ों के आधार पर आत्महत्या के तीन प्रकार बताये हैं—

1. अहमवादी आत्महत्या (Egoistic Suicide)
2. परार्थवादी आत्महत्या (Altruistic Suicide)

3. मानकशून्यता या प्रतिमानहीनतामूलक आत्महत्या (Anomie Suicide)

दुर्खीम का यह विश्वास था कि आत्महत्या मनोवैकारकीय, मनोवैज्ञानिक या प्राकृतिक कारकों के द्वारा नहीं, बल्कि कतिपय सामाजिक कारकों के कारण ही घटित होते हैं। आत्महत्या एक सामाजिक घटना है, अतः इसको जटिल करने में सामाजिक कारक ही महत्वपूर्ण हैं। अपने इस विचार को सिद्ध करने के लिए दुर्खीम ने आत्महत्या के तीन प्रकार बतलाये हैं—(1) अहमवादी आत्महत्या (2) परमार्थी आत्महत्या और (3) अस्वाभाविक या असामान्य आत्महत्या।

12.3.1 अहमवादी आत्महत्या : (Egotic Socide)

जिन व्यक्तियों की व्यक्तिगत चेतना का तालमेल सामाजिक चेतना के साथ नहीं बैठता तथा जो अपने आप को समाज से ऊँचा समझने लगते हैं, वहीं लोग प्रायः अहंवादी आत्महत्या करते हैं। ऐसे व्यक्ति सामान्यतया स्वार्थी प्रवृत्ति के होते हैं जिसके फलस्वरूप इनका जीवन उपेक्षित एकाकी तथा तिरस्कृत हो जाता है। इस बात का एहसास होते ही समाज में रहकर भी वे तिरस्कृत हैं, आत्महत्या करने पर वे व्यक्ति मजबूर हो जाते हैं। अहंवादी आत्महत्या की घटनाएं पूरे यूरोप में मिलती हैं। दुर्खीम के अनुसार अहंवादी आत्महत्या के निम्नलिखित चार मुख्य कारण हैं:—

1. धर्म
2. शिक्षा
3. परिवार और विवाह
4. राजनीतिक अवस्था

यूरोप में तीन मुख्य धर्म मिलते हैं—(अ) कैथोलिक, (ब) प्रोटेस्टेन्ट (स) यहूदी। इन तीनों में तुलनात्मक अध्ययन से दुर्खीम ने देखा कि प्रोटेस्टेन्ट की तुलना में कैथोलिक और यहूदी धर्मों में आत्महत्या की दर बहुत कम है। अब प्रश्न यह उठता है कि यहूदी और कैथोलिक धर्मावलम्बियों के धर्म में ऐसी कौन सी बातें हैं जिनके कारण इनमें आत्महत्या दर निम्न है? इसके उत्तर में दुर्खीम कहते हैं कि यहूदी धर्म में चर्च की धार्मिक क्रियाएं यन्त्रवत् की जाती हैं तथा कैथोलिक यह स्वीकार करते हैं कि उनका धर्म बना बनाया है और उसमें कोई काट-छाँट नहीं की जा सकती। दुर्खीम आगे बताते हैं कि प्रोटेस्टेन्ट धर्म की संरचना काफी लचीली है। इनके हाथ में बाईबिल दे दी जाती है तथा उस ग्रन्थ का कोई भी अंश उन पर थोपा नहीं जाता। यहाँ व्यक्तिवाद को पूरी छूट है। इस प्रकार इन धर्मों की तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर दुर्खीम पाते हैं कि कैथोलिक और यहूदी धर्मों में रूढ़िवादिता अधिक है। व्यक्ति को किसी प्रकार की कोई स्वतन्त्रता नहीं है जबकि प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बी सापेक्षिक रूप से स्वतंत्र होते हैं।

इसी कारण दुर्खीम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी धार्मिक समाज में यदि सुदृढ़ता है, जैसा कि कैथोलिक और यहूदी धर्मावलम्बियों में है तो उनमें आत्महत्या दर कम होगी। इसके विपरीत प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बियों में सुदृढ़ता की पकड़ ढीली है, इसी कारण उनमें आत्महत्या दर अधिक है।

(i) आँकड़े बताते हैं कि अधिक शिक्षा या ज्ञान प्राप्ति से आत्महत्या करने की प्रवृत्ति बढ़ती है। दुर्खीम कहते हैं कि अधिक शिक्षा से समाज के सामान्य विश्वासों, संवेगों और विशेषकर धर्म की मान्यताओं में व्यक्ति की आस्था कमजोर हो जाती है। चूँकि यहूदी अधिक पढ़े-लिखे होते हैं, इस कारण उनमें आत्महत्या करने की प्रवृत्ति अधिक होती है।

दुर्खीम आगे कहते हैं कि स्त्रियों की तुलना में पुरुषों में आत्महत्या करने की दर अधिक होती है। कारण है—पुरुषों में शिक्षा का अधिक होना।

(ii) आँकड़ों के आधार पर दुर्खीम बताते हैं कि विवाहित व्यक्तियों की अपेक्षा अविवाहित व्यक्तियों में आत्महत्या की दर कम होती है। इसका कारण परिवार में बिखराव का होना है।

दुर्खीम यह भी बताते हैं कि विवाहित व्यक्तियों की तुलना में विधुर आत्महत्या अधिक करते हैं। इसका कारण यह है कि वे परिवार से अलग हुए रहते हैं तथा एकाकी जीवन उन्हें आत्महत्या के मार्ग पर ले जाता है।

(iii) दुर्खीम कहते हैं कि जब किसी देश की राजनीतिक सुदृढ़ता में कमी आती है, तब आत्महत्या—दर बढ़ जाती है। उदाहरणस्वरूप, रोम और ग्रीस में परम्परागत राजनीतिक व्यवस्था में जब उतार आया, तब अपने आप उनमें आत्महत्या—दर बढ़ गयी।

लेकिन जब कोई राष्ट्र आपातकालीन अवस्था में होता है, आत्महत्या दर में अचानक कमी आ जाती है। ऐसा इसलिए होता है कि कुछ समय के लिए लोगों में देशभक्ति की भावना आ जाती है जिससे एकीकरण को बढ़ावा मिलता है।

अहम्वादी आत्महत्या का तात्पर्य है व्यक्ति को अपने आप में केन्द्रित हो जाना उसका समाज से अलगाव हो जाना। वह समाज से अलग—थलग पड़ जाये। उसका सामाजिक जीवन में सहभागिता न रह जाये। मात्र वह अपने स्वार्थों की पूर्ति तक ही समाज से सम्बन्ध स्थापित करता है। ऐसी स्थिति में वह दूसरों की दृष्टि में अपना महत्व खो देता है। वह धीरे-धीरे समाज से इतना अलग हो जाता है कि अकेला पड़ जाता है। निराशायुक्त वातावरण उसे आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करती है क्योंकि उसका अलगाव प्राथमिक समूहों से भी हो जाता है तथा दूसरी भी बढ़ जाती है। इलियट एवं मैरिल ने अहम्वादी आत्महत्या के सन्दर्भ में लिखा है कि “जब व्यक्ति और समूह का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यधिक ढीला और अप्रभावित हो, सामाजिक स्थिरता और सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में सामूहिक एकमतता की भावना टूट चुकी हो, व्यक्ति प्राथमिक समूह के सामूहिक स्वाभाविक जीवन से अलग हो चुका हो और समाज में स्वयं को अकेला पाये। जब समूह इस रूप में टूट चुका हो तो अहम्वादी आत्महत्या की घटनायें सामाजिक रूप से पृथक् और विघटित व्यक्तियों के लिए वैयक्तिक समीकरण की समस्या को हल करने के मुख्य स्वरूपों में प्रकट होती है। दुर्खीम इस

आत्महत्या के सम्बन्ध में कहते हैं कि क्योंकि अहम्वादी आत्महत्या में सामूहिक क्रिया का अभाव हो जाता है, इस प्रकार व्यक्ति उद्देश्य और अर्थ से वंचित हो जाता है।

12.3.2 परार्थवादी आत्महत्या : (Altruistic Suicide)

परार्थवादी आत्महत्या को कई बार सुखपरक आत्महत्या भी कहते हैं। दुनिया में ऐसे तमाम लोग होते हैं जो समुदाय के सुख के लिए स्वयं को बलि चढ़ा देते हैं यही परार्थवादी आत्महत्या है।

साधारण तौर पर यह माना जाता है कि अहंवादी आत्महत्या साधारण और आदिम समाजों में नहीं होती क्योंकि वहाँ व्यक्तियों की पहचान समाज से है। इन समाजों में व्यक्ति का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता, इसलिए अहंवादी आत्महत्या होने का तो प्रश्न ही नहीं है।

फिर भी इन समाजों में आत्महत्या तो होती है। यह आत्महत्या परार्थवादी होती है। दुर्खीम कहते हैं कि जब कोई स्त्री विधवा हो जाती है तब परम्परा से यह समाज इस विधवा से यह अपेक्षा करता है वह अपने पति के साथ चिंता में जल मरे। इसमें पत्नी का अपना कोई निर्णय नहीं बल्कि समाज का निर्णय होता है। विधवा यह जानती है कि यदि वह सती नहीं होगी तो उसका शेष जीवन समाज के कारण दुःखी हो जाएगा। अतः उसके सती होने का निर्णय वस्तुतः समाज का निर्णय है। समाज ऐसा समझता है कि उसके सती होने से उसकी पवित्रता बनी रहेगी। सती होना वस्तुतः आत्महत्या है। इसी प्रकार मध्यकालीन युग में स्त्रियाँ जौहर व्रत करती थीं। यह भी एक प्रकार की परार्थवादी आत्महत्या है।

दुर्खीम कहते हैं कि इन आत्महत्याओं के पीछे एक बहुत बड़ा उद्देश्य अपने धर्म का पालन करना है। और यदि कोई इस धर्म का पालन नहीं करता तो समाज किसी न किसी रूप में दण्ड अवश्य देता है। अतः ऐसी आत्महत्या समाज द्वारा थोपी हुई आत्महत्या है।

दुर्खीम परार्थवादी आत्महत्या से सम्बन्धित कुछ तथ्यों का हवाला देते हैं। वह कहते हैं कि अधिकारियों की अपेक्षा सामान्य सैनिकों में आत्महत्या करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। यहाँ इसका कारण व्यक्तिवाद या अहम न होकर कुछ और है क्योंकि सैनिकों को सामूहिक जीवन यापन करना पड़ता है। अतः यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की आत्महत्या व्यक्ति केवल स्वार्थ के लिए न करके, कभी-कभी परोपकार के लिए भी करता है। यह परार्थवादी आत्महत्या है। उदाहरणार्थ जापान में समुराई सन्तों द्वारा अपने अपमान के विरुद्ध की जाने वाली सामूहिक आत्महत्या (हाराकिरी)। इसी प्रकार स्वतंत्रता आंदोलन में जब किसी सैनिक की मौत होती है, वह परार्थवादी आत्महत्या है।

परमार्थी आत्महत्या अपने लिए नहीं अपितु दूसरों के लिए या परमार्थ के लिए की गई आत्महत्या है। दुर्खीम ने परमार्थी आत्महत्या के सम्बन्ध में लिखा है कि जब व्यक्ति ओर समाज में इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है कि व्यक्ति अपने को समाज में इतना घुला-मिला समझता है कि उसका व्यक्तित्व अलग रूप में कुछ भी नहीं है अपितु समाज

अथवा समूह उसके व्यक्तित्व को निगल जाता है। आत्महत्या की यह वह स्थिति है जब व्यक्ति स्वयं के लिए नहीं बल्कि समाज के लिए सोचता है। समाज या समूह का हित प्रमुख होता है, समाज के कल्याण के लिए वह सब कुछ तयाग सकता है। इस प्रकार की भावना के वशीभूत होकर जो आत्महत्या की जाती है उसे ही दुर्खीम ने परमार्थवादी आत्महत्या का नाम दिया है। उदाहरणार्थ, युद्ध में अपने राष्ट्र के लिए शहादत देना या बलिदान हो जाना परमार्थवादी आत्महत्या की श्रेणी में आता है। डेनमार्क के बहादुर सिपाही रोगग्रस्त होकर बिस्तर पर पड़े रहने से अच्छा आत्महत्या करना अधिक उपर्युक्त समझते हैं। इस तरह से जापानियों में पायी जाने वाली हाराकिरी पृथा और राजस्थान राजपूताना स्त्रियाँ अपने समाज का गौरव बढ़ाने के लिए आग में कूदकर आत्महत्या करती रही हैं। जिसे राजस्थान में जौहर प्रथा कहा जाता रहा है। इस प्रकार के आत्महत्या के सम्बन्ध में पारसन्स ने कहा है कि “यह वैयक्तिकता की माँग के आधार पर समूह के दबाव के रूप में सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति है।” परमार्थी आत्महत्या की प्रकृति को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से दुर्खीम ने इसके प्रमुख तीन स्वरूपों का उल्लेख किया है:—

(i) **अनिवार्य परमार्थी आत्महत्या** :— दुर्खीम के अनुसार जब व्यक्ति सामाजिक या धार्मिक काग्र के रूप में आत्महत्या करता है अथवा जब उसे ऐसा करना जरूरी हो जाता है तो इस प्रकार के आत्महत्या को परमार्थी आत्महत्या कहा जाता है। वास्तव में इसप्रकार की आत्महत्या तब होती है जबकि व्यक्ति और व्यक्तित्व समाज में विलीन हो जाता है और स्वयं का कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति की अपनी इच्छा का कोई महत्व नहीं रह जात और उसे समूह या समाज की इच्छानुसार ही कार्य करना पड़ता है। समूह या समाज उसे आत्महत्या करने को भी कहता है उसे अनिवार्य रूप से करनी ही पड़ती है। जैसे भारत में पायी जाने वाली सती प्रथा इस प्रकार की आत्महत्या का सर्वोत्तम उदाहरण है।

(ii) **ऐच्छिक परमार्थी आत्महत्या** :— जब व्यक्ति परमार्थ के लिए स्वयं की इच्छा के अनुरूप आत्महत्या करता है तो उसे ऐच्छिक परमार्थी आत्महत्या कहा जाता है। उदाहरणार्थ, पालिनिशिया में एक साधारण से अपराध करने पर ही अनेक लोग आत्महत्या करने की बात सोच लेते हैं दुर्खीम के अनुसार ऐच्छिक परमार्थी आत्महत्या में समाज औपचारिक रूप से व्यक्ति से आत्महत्या की माँग नहीं करता और न ही उसे ऐसा करने के लिए विवश करता है। फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियों में आत्महत्या करना जनमत की दृष्टि से या नैतिक दृष्टि से उचित माना जाता है। अतः स्पष्ट है कि ऐच्छिक परमार्थी आत्महत्या के साँ एक सामाजिक प्रतिष्ठा जुड़ी होती है जिसके कारण व्यक्ति आत्महत्या करने के लिए प्रेरित होता है।

(iii) **उग्र परमार्थवादी आत्महत्या** :— दुर्खीम के अनुसार “इस प्रकार की आत्महत्या में व्यक्ति बलिदान का सम्पूर्ण सुख या आनन्द प्राप्त करने के लिए अपने को मार डालता है क्योंकि कोई विशेष कारण न होते हुए भी संसार से छुटकारा प्रशंसनीय माना जाता है।”

दुर्खीम ने इस प्रकार की आत्महत्याओं के अनेक उदाहरण भारतीय समाज के सन्दर्भ में दिये हैं। हिन्दू जीवन में 'मोक्ष' की धारणा इस प्रकार की आत्महत्या को प्रोत्साहित करती है।

(3) अस्वाभाविक या असामान्य आत्महत्या :- अस्वाभाविक आत्महत्या वह है जो व्यक्ति के जीवन में आकस्मिक परिवर्तनों के फलस्वरूप अस्वाभाविक परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने के कारण घटित होती है। इस प्रकार की आत्महत्या उस समय घटित होती है जबकि व्यक्ति के जीवन परिस्थिति में अस्वाभाविक रूप से कोई परिवर्तन आ जाता है और व्यक्ति को उससे अनुकूलन करना होता है। यदि व्यक्ति यह अनुकूलन करने में असफल होता है तो जिस मानसिक तनाव या अशांति का वह अनुभव करता है उससे अपने को मुक्त करने के लिए आत्महत्या कर लेता है। जैसे एकाएक दिवालिया हो जाने पर, भारी आटरी आ जाने पर, अत्यधिक दुःख या खुशी में व्यक्ति द्वारा आत्महत्या कर लेना अस्वाभाविक आत्महत्या का उदाहरण है।

औद्योगिक विकास से परिणामस्वरूप एक ऐसी समाज व्यवस्था उत्पन्न होती है जिसमें परम्परागत मूल्य, आदर्श प्रतिमान, मान्यतायें आदि का विघटन होता है। इस विघटन के कारण समाज में आदर्श शून्यता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। व्यक्ति इस समाज में स्वतंत्र और मुक्त होता है। सामाजिक नियंत्रण का दबाव उस पर नहीं होता। अपने लक्ष्य को भी प्राप्त करने में वह इस विहीन समाज में असफल रहता है। इस असफलता की निराशा उसे आत्महत्या के लिए प्रेरित करती है।

12.3.3 मानकशून्यता या प्रतिमानहीनतामूलक आत्महत्या :(Anomie Suicide)

सामाजिक जीवन में अत्यधिक विभेदीकरण तथा विशिष्टीकरण के कारण अपेक्षित सामाजिक चेतना तथा प्रकार्यात्मक निर्भरता की क्षमता का अभाव हो जाता है। व्यक्ति इन परिस्थितियों में अलग-थलग हो जाता है। दुर्खीम इसे प्रतिमानहीनता या मानकशून्यता की स्थिति कहते हैं। अतः सामाजिक पार्थक्य और समूहगत सम्बन्ध के अभाव के कारण की गयी आत्महत्या प्रतिमानहीनतामूलक आत्महत्या है।

आंकड़ों के आधार पर दुर्खीम ने आत्महत्या—दर और आर्थिक संकट में यह सम्बन्ध पाया है। आर्थिक संकट की अवधि में और इससे अधिक रोचक रूप से अनरत समृद्धि की स्थिति में आत्महत्या की दर बढ़ जाती है। एक और तथ्य के अनुसार जब राजनीतिक घटनाओं में तीव्रता से उलटफेर होता है, तब भी आत्महत्या की दर में कमी आ जाती है। जैसे युद्धकाल में आत्महत्या की दर हो जाती है।

दुर्खीम आगे कहते हैं कि विधुर व्यक्तियों में परित्यक्त स्त्री की तुलना में आत्महत्या करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। वैवाहिक जीवन में स्त्री की तुलना में पुरुष को अधिक स्वतंत्रता रहती है। तुलनात्मक रूप से स्त्रियाँ वैवाहिक जीवन में अधिक अनुशासित होती हैं जो उनके विधवापन की स्थिति में भी देखने को मिलता है, लेकिन जब व्यक्ति विधुर हो जाता

है तब उसमें अनुशासनहीनता आ जाती है। उसकी इच्छाओं और संतोष में खाई आ जाती है। फलस्वरूप वह आत्महत्या कर लेता है।

दुर्खीम कहते हैं कि मानक शून्यहीनता आत्महत्या में जीवित रहने की दशाएं आधुनिक समाज में बिगड़ जाती है। ऐसे समाज में सामूहिक अस्तित्व पर रीति रिवाज का नियंत्रण नहीं रहता, व्यक्ति दिन-रात भाग-दौड़ में लगा रहता है और इस भाग-दौड़ में उसकी महत्वाकांक्षाएं और उसका संतोष धरे रह जाते हैं। व्यक्ति बेचैन हो जाता है और अंत में आत्महत्या के लिए विवश हो जाता है।

अहंवादी आत्महत्या (Egoistic Suicide) की व्याख्या करते दुर्खीम ने बताया है कि इसका मूल कारण अहंवाद है। जब व्यक्ति अपने समूह या समाज से घनिष्ठ सम्बद्ध नहीं रखता है तो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को ही सर्वोपरि समझता है तो उसे अहंवाद कहते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने समूह या समाज से अलग-थलग महसूस करता है क्योंकि वह अहंवाद की भावना से ग्रस्त होता है। वह सोचने लगता है कि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति समाज नहीं कर सकता है और न ही उसके ऊपर समाज का कोई उत्तदायित्व है। ऐसी स्थिति में वह निराश होकर आत्महत्या कर लेता है। दुर्खीम ने अपने मोनोग्राफिक अध्ययन के दौरान यह पाया कि अविवाहितों के बजाय विवाहितों पर अधिक उत्तरदायित्व होता है। अविवाहित व्यक्ति सामाजिक सामाजिक एवं भावनात्मक दोनों ही दृष्टिकोण से ज्यादा अलगाव महसूस करता है। अतः विवाहितों की अपेक्षा अविवाहितों में आत्महत्या की दर अधिक पायी जाती है। इसी तरह दुर्खीम का अन्य निष्कर्ष था कि तलाक प्राप्त स्त्रियों की अपेक्षा तलाक प्राप्त मर्दों में आत्महत्या की दर अधिक पायी जाती है क्योंकि तलाक प्राप्त मर्दों में अनुशासनहीनता अधिक बढ़ जाती है। उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति में दूरी बढ़ जाने के कारण अहंवाद का विकास तेजी से होता है। दुर्खीम का यह भी कहना है कि शांति के समय आत्महत्या की दर अधिक पायी जाती है जबकि युद्ध के समय इसमें कमी हो जाती है। इन सब निष्कर्षों के आधार पर दुर्खीम का कहना है कि अहंवाद की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब व्यक्ति का समाज में संतुलन बिगड़ जाता है।

परार्थवादी आत्महत्या (Altruistic Suicide) का आधार परार्थवाद है। जब व्यक्ति समाज या समूह से इतना घुल-मिल जाता है कि वह अपने को समाज से अलग नहीं कर पाता बल्कि सामाजिक हित में ही अपना हित समझने लगता है तो परार्थवाद की भावना का विकास होने लगता है। ऐसी परिस्थिति में जब समूह पर विपत्ति आती है तो वह समाज के लिए अपनी जान भी देने को तैयार हो जाता है, दूसरे शब्दों में परार्थवादी आत्महत्या उस परिस्थिति की देन है जब व्यक्ति का अपने समूह से या उसके मूल्यों से घनिष्ठ संबंध होता है। हिन्दू समाज में सामाजिक मूल्यों की रक्षा के लिए हिन्दु स्त्रियों द्वारा पति की चिंता के साथ सती हो जाना परार्थवादी आत्महत्या का उदाहरण है। युद्ध के समय सैनिकों द्वारा की गई आत्महत्या को भी दुर्खीम ने इसी प्रकार की आत्महत्या माना है।

तीसरे प्रकार की आत्महत्या आदर्शविहीन आत्महत्या (Fatalistic Suicide) के लिए उत्तरदायी कारक अधिक नियंत्रण, आदर्शवादिता और कठोर नियमपालन है, जिससे तंग होकर व्यक्ति मुक्ति पाने के लिए आत्महत्या कर लेता है। उदाहरणार्थ कोई स्त्री जो संतानहीन है और समाज उसे दूसरे पुरुष से यौन संबंध स्थापित करके गर्भ-धारण को इजाजत नहीं देता है तो ऐसी स्थिति में निःसंतान जीने के बदले वह आत्महत्या कर लेना ही एक उपाय मानती है। इसी तरह, कोई गुलाम भी जब मालिकों के अत्याचार से तंग आकर आत्महत्या कर लेता था तो वह इसी श्रेणी की आत्महत्या कही जाएगी।

उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आत्महत्या का सिद्धांत समाजशास्त्रीय चिंतन के क्षेत्र में दुर्खीम की एक महत्वपूर्ण देन है। दुर्खीम से पहले निराशा, मानसिक दुर्बलता आदि कारणों को ही आत्महत्या के लिए उत्तरदायी माना जाता था। परन्तु दुर्खीम ने तार्किक आधार पर इन सभी पूर्व-प्रचलित मान्यताओं का खण्डन करके आत्महत्या का समाजशास्त्रीय सिद्धांत प्रस्तुत किया और दुर्खीम ने अपने सिद्धांत में यह सिद्ध करते हुए बताया कि सामाजिक समस्याएं सामाजिक परिस्थितियों की देन हैं। व्यक्ति समाज की प्रतिष्ठाया मात्र है, व्यक्ति वही करता है जो समाज उसे करने के लिए विवश करता है।

“आदर्शहीनता का अर्थ है—आदर्श के अभाव की दशा, एक नैतिक शून्यता, नियमों का निलम्बन, एक ऐसी स्थिति जिसे कभी-कभी अराजकता के रूप में व्यक्त किया जाता है।” दुर्खीम के अनुसार असामान्य आत्महत्या न तो अहम्वादी परिस्थितियों के कारण घटित होती है और न ही इसकी प्रकृति परमार्थी आत्महत्या की भाँति होती है। इस प्रकार की आत्महत्या तब घटित होती है जब व्यक्ति के सामाजिक जीवन में होने वाले आकस्मिक व अस्वाभाविक परिवर्तन उसके कष्टों को बढ़ाते हैं जिन्हें वह सहन नहीं कर पाता और उनसे छुटकारा पाने के लिए आत्महत्या की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार की उत्पत्ति के कारण ही दुर्खीम ने इसे अस्वाभाविक या असामान्य आत्महत्या की संज्ञा दी है। दुर्खीम ने अस्वाभाविक आत्महत्या के तीन स्वरूपों की चर्चा करके यह समझाने का प्रयास किया है कि ये किस प्रकार आत्महत्या की प्रवृत्ति को बढ़ावा देते हैं। ये तीनों स्वरूप निम्न प्रकार हैं—

(i) आर्थिक अस्वाभाविकता :- दुर्खीम ने अस्वाभाविक आत्महत्या की व्याख्या के दौरान यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि आर्थिक अस्वाभाविकता की परिस्थिति भी आत्महत्या की दर को बढ़ाने का कार्य करती है। जैसे दुर्भाग्यपूर्ण आर्थिक संकट द्वारा एकाएक गरीब हो जाना अथवा एकाएक आर्थिक समृद्धि अर्थात् अमीर हो जाना। इन दोनों ही परिस्थितियों में व्यक्ति के सम्मुख एक नयी परिस्थिति पैदा होती है जिसके साथ उसे अपना अनुकूलन करना आवश्यक हो जाता है और जब व्यक्ति ऐसी स्थिति में असंतुलित हो जाता है तो वह आत्महत्या भी कर सकता है।

(ii) “पारिवारिक अस्वाभाविकता :- दुर्खीम के अनुसार पारिवारिक जीवन में अस्वाभाविकता पति या पत्नी के मृत्यु के फलस्वरूप अथवा तलाक के कारण उत्पन्न हो

सकती है। परिवार में पति या पत्नी के मृत्यु अथवा विवाह-विच्छेद के कारण परिवार में एक ऐसा संकट उत्पन्न हो जाता है जिसकी कल्पना पहले से ही व्यक्ति को नहीं रहती। इस संकट में उसके सम्मुख नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे कि उसे अनुकूलन करना पड़ता है। किन्तु अनेक लोग यह अनुकूलन करने में असफल रहते हैं इसलिए आत्महत्या करने को प्रेरित होते हैं।

(iii) **यौन-अस्वाभाविकता** :- दुर्खीम के अनुसार आर्थिक और पारिवारिक अस्वाभाविकता की तरह यौन अस्वाभाविकता भी आत्महत्या की दर में वृद्धि करती है। यौन अस्वाभाविकता की स्थिति में व्यक्ति के वैवाहिक जीवन में यौन सम्बन्धों का नियमन व नियंत्रण समाप्त हो जाता है जो कि आत्महत्या को प्रेरित कर सकता है।

12.4 सारांश : (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके हैं कि आत्महत्या को दुर्खीम ने अपनी पुस्तक (द सुसाइड 1897) में परिभाषित किया है, दुर्खीम से पहले आत्महत्या को एक व्यक्तिगत माना जाता था परन्तु दुर्खीम ने अपने आत्महत्या के अध्ययन में बताया कि यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करता है तो वह व्यक्तिगत न होकर सामाजिक होता है। आत्महत्या के लिए समाज जिम्मेदार होता है और व्यक्ति आत्महत्या करता है।

दुर्खीम ने आत्महत्या के कुछ कारणों को भी बताया है कि आत्महत्या के प्रकारों का वर्णन किया है आत्महत्या के निम्न प्रकार बताये हैं-

(1) अहंमवादी (2) परार्थवादी (3) प्रतिमानहीनता आदि का वर्णन किया है। अब समाज को ही लोक आत्महत्या के लिए जिम्मेदार मानते हैं।

12.5 शब्दावली : (Glossary)

1. **आत्महत्या** :- आत्महत्या से तात्पर्य है कि व्यक्ति की वह समग्र तथा न्यायपूर्ण क्रिया है जिसमें कर्ता को यह ज्ञात होता है कि इस क्रिया के पश्चात् उसकी जान चली जाती है।

2. **अहंवादी आत्महत्या** :- जब कोई व्यक्ति किसी व्यक्तिगत असफलता कष्ट घृणा, व्यर्थता, नुकसान आदि के कारण आत्महत्या करता है तो उसे अहंमवादी आत्महत्या कहते हैं।

3. **परार्थवादी आत्महत्या** :- अहंमवादी आत्महत्या के विपरीत जब कोई व्यक्ति समाज या राष्ट्रहित में उसके भावात्मक संलग्नता के कारण आत्महत्या करता है।

4. **मानक शून्यतावादी आत्महत्या** :- जब समाज में अराजकता की स्थिति आ जाती है या क़िफर समाज में नियम मान पारी तरह से ध्वस्त हो जाते हैं जिसे वह आत्महत्या करता है।

12.6 अभ्यास प्रश्न के उत्तर :

(Answer Questions of Practice)

1. जिन समाजों में अत्यधिक या अत्यन्त कम विनियमन होता है उसमें आत्महत्या की दरे अधिक होती है।

- (क) दुर्खीम (ख) मर्टन
(ग) मार्क्स (घ) मैक्स वेबर

उत्तर – क

2. 'द सुसाइड' कृति किसकी है?

- (क) मार्क्स (ख) मर्टन
(ग) पारसन्स (घ) दुर्खीम

उत्तर – घ

3. मानसिक उदमिता का सिद्धांत दिया है?

- (क) गारफिंकल (ख) दुर्खीम
(ग) पारसन्स (घ) स्पेंसर

उत्तर – ख

4. ईमाइल दुर्खीम जाने जाते हैं?

- (क) प्रकार्यवाद (ख) विनियम सिद्धांत
(ग) संघर्ष सिद्धांत (घ) प्रतीकात्मक अन्तरक्रियावाद

उत्तर – क

आत्महत्या का Concept दिया है।

- (क) पारसन्स (ख) दुर्खीम
(ग) स्पेंसर (घ) मर्टन

उत्तर – ख

5. दुर्खीम के अनुसार कौन-सा समाज का वर्गीकरण नहीं है?

- (क) यौगिक (ख) साधारण
(ग) बहुखण्डीय (घ) द्वियौगिक बहुखण्डीय

उत्तर – ख

6. अहंवादी आत्महत्या का Concept दिया है।

- (क) मर्टन (ख) पारसन्स
(ग) स्पेंसर (घ) दुर्खीम

उत्तर – घ

7. परार्थवादी आत्महत्या है।

- (क) अपने लिये करना (ख) दूसरो के लिये करना।
(ग) उर्पयुक्त दोनो (घ) इनमे से कोई नहीं

उत्तर – क

12.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची : (References)

1. ईमाइल दुर्खीम (1896) : द सुसाइड, पेग्विन पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
2. लेविस ए० कोजर (1996) : मास्टर ऑफ सोसियोलॉजिकल थॉट, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
3. अब्राहम एम० फ्रांसेस (1985) : मार्डन सोसियोलॉजिकल थ्योरी, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस, दिल्ली।

12.8 सहायक/उपयोगी सामग्री : (Useful Contain)

1. धर्मेन्द्र कुमार (2011) : 'समाजशास्त्र' टाटा मैग्राहिल पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

12.9 निबन्धात्मक प्रश्न : (Essay Type Questions)

- ✓ आत्महत्या का समाज से क्या सम्बन्ध है?
- ✓ आत्महत्या व्यक्तिगत न होकर सामाजिक तत्व है?
- ✓ आत्महत्या की क्या विशेषताएँ हैं?
- ✓ आत्महत्या के प्रकारों का वर्णन करो।
- ✓ परार्थवादी आत्महत्या क्या है इसकी विशेषताएँ क्या हैं?
- ✓ अहंमवादी आत्महत्या क्या है इसकी विशेषताएँ क्या हैं?
- ✓ आदर्श शून्यहीनता क्या है? इसकी विशेषताएँ क्या हैं?
- ✓ दुर्खीम के आत्महत्या के कारण क्या हैं?
- ✓ दुर्खीम के आत्महत्या के सिद्धांत का वर्णन करो।

इकाई-13 : सामाजिक सुदृढ़ता और नियमहीनता
(Social Solidarity & Anomie)

इकाई की रूपरेखा

13.0 प्रस्तावना

13.1 प्रस्तावना

13.2 सामाजिक श्रम विभाजन

13.2.1 सामाजिक सुदृढ़ता की अवधारणा

13.2.2 सामाजिक सुदृढ़ता का अर्थ एवं परिभाषा

13.2.3 श्रम विभाजन के कारण

13.2.4 श्रम विभाजन के प्रकार्य

13.2.5 श्रम विभाजन के सामाजिक परिणाम

13.3 सामाजिक सुदृढ़ता के प्रकार

13.3.1 यांत्रिक सुदृढ़ता

13.3.2 सावयवी सुदृढ़ता

13.3.3 यांत्रिक समाज एवं सावयवी समाज की तुलना

13.3 सामाजिक नियमहीनता की अवधारणा एवं परिभाषा

13.4 सारांश

13.5 शब्दावली

13.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

13.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

13.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

13.9 निबंधात्मक प्रश्न

13.0 उद्देश्य : (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने में उपरान्त आप :- प्रस्तावना

- ✓ समझ पायेगे की दुर्खीम ने सामाजिक एकता और नियमहीनता क्या है?
- ✓ सामाजिक सुदृढ़ता की अवधारणा क्या है, उसे समझ पायेगे।
- ✓ दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन क्या है, समझ पायेगे।
- ✓ समाज के सामाजिक सुदृढ़ता के प्रकारों को समझ पायेगे।
- ✓ यांत्रिक सुदृढ़ता से आप क्या समझते हैं?
- ✓ सावयवी सुदृढ़ता से आप क्या समझते हैं?
- ✓ यांत्रिकी एवं सावयवी सुदृढ़ता में क्या अन्तर है?
- ✓ नियमहीनता से आप क्या समझते हैं?

13.1 प्रस्तावना : (Introduction)

दुर्खीम ने सामाजिक एकता, जिसे सामाजिक संश्लिष्टता भी कहा जाता है इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम अपनी पुस्तक “दि डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी” में किया है। दुर्खीम के द्वारा इस पुस्तक में मानव कैसे साधारण समाज या (पुरातन समाज) से आधुनिक समाज की तरफ बढ़ा है। कैसे उसका श्रम विभाजन अलग-अलग समाज में था। दुर्खीम के अनुसार समाज में सामूहिकता एवं व्यक्तिवादिता के प्रकार की भावनाएँ एक साथ देखने को मिलती हैं। मानव समाज के दोनो प्रकार की प्रक्रियाएँ देखी जा सकती हैं। वहाँ मिल-जुलकर कार्य करने की प्रवृत्ति भी है और न मिलकर कार्य करने की भी। सामाजिक व्यवस्था के अनुसार अपने आपको ढालना, उसी के अनुसार व्यवहार करना, अपने व्यवहार पर नियंत्रण रखना आदि व्यक्तियों के बहकावे से एक व्यवहार भी सामान्य संरचना अथवा प्रतिमान बनता है जो सामाजिक एकता को प्रकट करता है।

13.2 सामाजिक श्रम विभाजन :

(Social Division of Labour)

दुर्खीम ने इस विचारधारा का उल्लेख “सोशल डिजीवन ऑफ लेबर” के द्वितीय खण्ड में किया। दुर्खीम के अनुसार प्राचीनकाल में श्रम विभाजन स्त्री पुरुष के भेद पर आधारित था। प्रायः सभी मिलकर काम करते थे। यहाँ श्रम विभाजन नहीं था। अतः विशेषीकरण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। दुर्खीम के अनुसार इस प्रकार के समाज में यांत्रिक एकता थी क्योंकि सभी लोग सामूहिक रूप से बँधे होते थे।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ सामाजिक उत्पादन कार्यो में विविधता अनुभव की गयी। इस श्रम विभाजन ने प्राचीन समाजों में पायी जाने वाली भौतिक एकता को सावयवी एकता में बदल दिया। जब समाज की विभिन्न इकाइयों में कार्यो का विभाजन होते हुए भी वे एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं होते हैं और उमें अन्तःसम्बन्ध और अन्तःनिर्भरता बनी रहती है तब सावयवी एकता उपस्थित होती है। दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन का सीधा सम्पर्क जनसंख्या के घनत्व से है।

प्राचीनकाल में अल्प जनसंख्या थी इसीलिए सामाजिक कार्य भी सीमित थे। अतः श्रम विभाजन की विशेष जरूरत नहीं थी। जनसंख्या में वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक आवश्यकता भी बढ़ी। आर्थिक उत्पादन बड़े पैमाने पर होना आवश्यक हो गया। इसलिए श्रम विभाजन लागू करना आवश्यक हो गया। जनसंख्या में वृद्धि श्रम विभाजन का एक प्रमुख कारण है।

दुर्खीम की सर्वप्रथम पुस्तक “दि डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी” ही है जोकि 1893 में फ्रेंच भाषा में प्रकाशित हुई तथा बाद में 1933 में उसका अंग्रेजी में अनुवार किया

गया। वास्तव में, दुर्खीम की यह पुस्तक सामान्य जीवन के तथ्यों का वैज्ञानिक विधि द्वारा विश्लेषण का प्रथम प्रयास था। इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा इनको अर्थशास्त्री एडम स्मिथ के विचारों से मिली।

सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने जब श्रम-विभाजन के बारे में अपने विचार प्रस्तुत किये जो दुर्खीम का ध्यान इस तरफ केन्द्रित हुआ। एडम स्मिथ ने श्रम-विभाजन को आर्थिक घटना के रूप में देखते हुए इसके दो प्रमुख परिणामों—उत्पादन में वृद्धि तथा वस्तुओं की श्रेणी में श्रेष्ठता का उल्लो किया। परन्तु दुर्खीम ने श्रम-विभाजन को एक सामाजिक तथ्य के रूप में देखते हुए इसके प्रमुख सामाजिक परिणाम—समाज में एकता बनाए रखने पर बल दिया। इससे हमें यह पता चलता है कि एक विषय के विकास से किस प्रकार अन्य विषय भी प्रभावित होते हैं।

दुर्खीम श्रम-विभाजन पर लिखी अपनी इस पुस्तक की प्रस्तावना में स्पष्ट रूप से विकासवादी विचारधारा का ही खण्डन नहीं करते अपितु इस बात पर भी बल देते हैं कि समाजशास्त्र का उद्देश्य समाज सुधार नहीं है। वह नैतिकता को भी वैज्ञानिक आधार पर समझने के पक्ष में थे।

श्रम विभाजन केवल आर्थिक जगत तक ही सीमित नहीं है अपितु आज समाज के सभी क्षेत्रों में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। इसी के परिणामस्वरूप आज राजनीतिक, प्रशासनिक तथा न्यायायिक कार्य अधिकाधिक विशेषीकृत होते जा रहे हैं। श्रम-विभाजन से अभिप्राय कार्यो (भूमिकाओं) का वितरण है। जैसे-जैसे विभाजन बढ़ता जाता है कार्यो में विशेषीकरण आता जाता है। दुर्खीम का कहना है कि श्रम-विभाजन का अभिप्राय केवल भूमिकाओं में विभिन्नीकरण तथा विशेषीकरण नहीं है अपितु इन भूमिकाओं में समन्वय भी है। प्राचीन समाजों में श्रम-विभाजन न के बराबर था तथा लोगों में केवल लिंग के आधार पर ही थोड़ा बहुत अन्तर पाया जाता था परन्तु अधिक विशेषीकरण नहीं था। इसलिए प्राचीन समाजों में सामाजिक एकता का आधार समानता था। परन्तु जैसे-जैसे समाज में जटिलता आती जाती है तथा समाज परम्परा से आधुनिकता की ओर बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे कार्यो में वितरण बढ़ता जाता है। इससे कार्यो में विशेषीकरण बढ़ता जाता है तथा इस विशेषीकरण के कारण समाज के व्यक्ति एक-दूसरे पर आश्रित होते जाते हैं। इस प्रकार, समाज में रहने वलो व्यक्तियों में अन्योन्याश्रितता बढ़ती जाती है। इसलिए आधुनिक समाजों में सामाजिक एकता का प्रमुख आधार श्रम-विभाजन (अर्थात् विशेषीकरण तथा अन्योन्याश्रितता) है। दुर्खीम ने इन दोनों प्रकार संश्लिष्टता अथवा एकता के लिए क्रमशः यान्त्रिक एकता तथा सावयविक एकता शब्दों का प्रयोग किया है।

यांत्रिक एकता प्राचीन समाजों में पायी जाती है। यांत्रिक शब्द यंत्र से बना है। जिस प्रकार किसी एक यंत्र द्वारा उत्पादित सभी वस्तुएँ एक जैसी होती है ठीक उसी प्रकार प्राचीन समाजों के व्यक्ति एक जैसे होते हैं अर्थात् एक जैसी भूमिकाएँ निभाते हैं।

13.2.1 सामाजिक सुदृढ़ता की अवधारणा :

(Concept of Social Solidarity)

दुर्खीम ने सामाजिक एकता का विश्लेषण अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Social Division of Labour in Society" के प्रथम भाग के किया है, दुर्खीम के अनुसार सामाजिक जीवन में सामूहिकता एवं व्यक्तिवादीता एक साथ देखी जा सकती है। व्यक्ति अपने कार्य क्षेत्र में स्वतन्त्र है किन्तु वह ऐसा कोई कार्य नहीं करता जिससे समूह को हानि पहुँचे। समाज में मिलजुलकर कार्य करने की प्रवृत्ति भी है और नहीं करने की भी प्रवृत्ति है। दुर्खीम सामाजिक एकता को समाज के लिए विधेयक मानते हैं।

दुर्खीम ने सामाजिक एकता का विश्लेषण अपनी प्रख्यात कृति के प्रथम भाग में किया है। दुर्खीम का सामाजिक एकता का विश्लेषण समाजशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक जीवन में सामूहिकता और व्यक्तिवादीता दो प्रकार की भावनाएँ एक साथ देखी जा सकती हैं। व्यक्ति अपने कार्यक्षेत्र में स्वतंत्र है किन्तु वह ऐसा कोई कार्य नहीं करता जिससे समूह अथवा अन्य किसी को हानि पहुँच सके। सामाजिक एकता का सिद्धान्त दुर्खीम के श्रम विभाजन की अवधारणा में देखने को मिलता है। मानव समाज में दोनों प्रकार की प्रक्रियाएँ देखी जा सकती हैं। वहाँ मिल-जुलकर कार्य करने की प्रवृत्ति भी है और न मिलकर कार्य करने की भी। सामाजिक व्यवस्था के अनुसार अपने आपको ढालना, उसी के अनुसार व्यवहार करना, अपने व्यवहार पर नियंत्रण रखना आदि व्यक्तियों के व्यवहारों से एक व्यवहार की सामान्य संरचना अथवा प्रतिमान बनता है जो सामाजिक एकता को प्रकट करता है। इसके विपरीत कार्यों की विभिन्नताएँ जो श्रम विभाजन में देखने को मिलती हैं वे व्यक्तियों को परस्पर निकट भी लाती हैं और मिलकर कार्य करने की प्रेरणा भी देती हैं तथा दबाव भी डालती हैं। अन्ततः इनमें एक प्रकार की सामाजिक एकता की भावना परिलक्षित होती है। दुर्खीम के शब्दों में "प्रथम एकता तब ही सम्भव होती है जब व्यक्ति का व्यक्तित्व सामूहिक व्यक्तित्व में समाहित हो जाता है और दूसरी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का अस्तित्व अलग-अलग मान्य हो जाता है।" अतः सामाजिक एकता के दो भिन्न रूप हैं—प्रथम यान्त्रिक एकता तथा द्वितीय सावयवी एकता, जिसकी विवेचना अग्रलिखित रूप से की जा रही है।

13.2.2 सामाजिक सुदृढ़ता का अर्थ एवं परिभाषा :**(Meaning of Social Solidarity & Definition)**

दुर्खीम के शब्दों में "प्रथम स्थिति में सामाजिक एकता तब ही सम्भव है तब व्यक्ति का व्यक्तित्व सामूहिक व्यक्तित्व से समाहित हो जाता है और दूसरी स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का अस्तित्व अलग-अलग मान्य हो।

सामाजिक एकता की प्रकृति के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि एकता एक अमूर्त अवधारणा है क्योंकि स्वयं सामने नहीं देखा जा सकता है। सामाजिक एकता एक सापेक्ष अवधारणा है, दुर्खीम ने श्रम विभाजन को भी एक सामाजिक तथ्य के रूप में देखा है।

13.2.3 श्रम विभाजन के कारण : (Factor of Division Labour)

दुर्खीम ने इस श्रम-विभाजन के दो कारणों का उल्लेख किया है—

1. जनसंख्या के भौतिक घनत्व में वृद्धि तथा
2. जनसंख्या के नैतिक घनत्व में वृद्धि।

दुर्खीम के अनुसार प्रारम्भ में मानव समाज में जनसंख्या कम भी थी। फलतः सदस्यों की आवश्यकताएँ भी कम एवं समान थी और उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे। सभी व्यक्ति सभी कार्यों को करते हुए अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम थे और श्रम-विभाजन का प्रायः अभाव सा था परन्तु यह व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं चली। जनसंख्या में वृद्धि के साथ लोगों की आवश्यकताएँ बढ़ी और इनकी पूर्ति के साधन कम पड़ गये। फलतः प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष का उद्भाव हुआ और समाज का नैतिक दायित्व बढ़ गया (नैतिक घनत्व में वृद्धि)। समाज का यह नैतिक उत्तरदायित्व बन गया कि बढ़े हुए लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने और प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष की जगह सामंजस्य स्थापित करने हेतु उनके बीच कार्यों का बँटवारा किया जाए। समाज की इसी आवश्यकता ने श्रम-विभाजन एवं उस पर आधारित सहयोग और सामंजस्य को उत्पन्न किया। सर्वप्रथम श्रम-विभाजन लिंग एवं आयु के आधार पर होता था, परन्तु बाद के समाजों में श्रम-विभाजन परिवार एवं अन्य व्यवसायों के आधार पर होता चला गया जिसका जटिल स्वरूप आद्योगिक समाज में दृष्टिगत हुआ।

दुर्खीम श्रम विभाजन के कार्य (अथवा प्रकार्य) को बताने से पहले प्रकार्य शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं। वह 'उद्देश्य' अथवा 'लक्ष्य' शब्द का प्रयोग न करके प्रकार्य शब्द का प्रयोग करना अधिक उचित समझते हैं। दुर्खीम के अनुसार—“प्रकार्य शब्द को दो काफी विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। कई बार प्रकार्य शब्द किसी क्रिया अथवा प्राणमय गतिविधियों की व्यवस्था का बोध बिना इनके परिणामों के कराता है, जबकि कई बार इसके द्वारा इन गतिविधियों तथा

जीवन की आवश्यकताओं में संबंध का ज्ञान होता है।" उदाहरण के लिए हम पाचन प्रक्रिया अथवा श्वसन प्रक्रिया को ले सकते हैं। इन प्रक्रियाओं के परिणाम से हमारा कोई तात्पर्य नहीं रहता। परन्तु दुर्खीम प्रकार्य शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में करते हैं। प्राचीन प्रक्रिया से जो रस निकलते हैं यदि उनसे शरीर की खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त हो जाती है तो पाचन प्रक्रिया का प्रकार्य ठीक है और यदि नहीं प्राप्त होती तो पाचन प्रक्रिया में कोई दोष है।

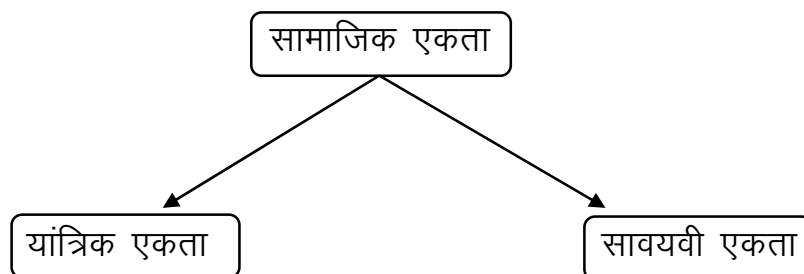
श्रम-विभाजन का कार्य सभ्यता का निर्माण करना नहीं है अपितु इसका कार्य मुख्यतः समूहों तथा व्यक्तियों को एक सूत्र में बाँधकर समाज में एकता लाना है तथा समूहों और व्यक्तियों में यह एकता श्रम-विभाजन के बिना नहीं आ सकती। दुर्खीम सामाजिक एकता के दो प्रकार बताते हैं-यांत्रिक एकता तथा सावयविक एकता। प्राचीन समाजों में श्रम-विभाजन न के बराबर है तथा केवल लिंग एवं आयु के आधार पर थोड़ा बहुत श्रम-विभाजन देखा जा सकता है। इस प्रकार के समाजों में पाई जाने वाली एकता को दुर्खीम यांत्रिक एकता की संज्ञा देते हैं। आधुनिक समाजों में कार्यों का वितरण तथा विशेषीकरण पाया जाता है। इस विभिन्नीकरण तथा विशेषीकरण के कारण समाज की विभिन्न इकाइयों में अन्तर्संबंध और अन्तर्निर्भरता अत्यधिक बढ़ जाती है इन कार्यों में समन्वय होने के कारण सावयविक एकता आती है। अतः श्रम-विभाजन समाज के एक अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकता को पूरा करता है अर्थात् समाज में एकता जाने में सहायता देता है।

दुर्खीम का कहना है कि श्रम-विभाजन का कारण समाज के नैतिक घनत्व में वृद्धि है जिसका सूचक भौतिक घनत्व है। समयानुसार खडात्मक प्रकार की संरचना का लोप होना शुरू हो जाता है और सामाजिक आयतन में वृद्धि होनी शुरू हो जाती है। इस प्रकार समाजों के आयतन तथा घनत्व में वृद्धि द्वारा भौतिक घनत्व बढ़ता है जिसके द्वारा यांत्रिक रूप से श्रम-विभाजन की प्रगति निर्धारित होती है तथा अस्तिव के लिए संघर्ष शुरू हो जाता है। इसके कारण अधिक उत्पादन तथा अच्छी वस्तुओं की माँग बढ़ने के साथ-साथ विशेषीकरण भी बढ़ने लगता है। दुर्खीम का कहना है कि श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण तभी विकसित हो सकता है जबकि व्यक्तिगत भिन्नताएँ बढ़ जाती हैं।

दुर्खीम स्पेन्सर के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है कि आयतन में वृद्धि व्यक्तिगत भिन्नताओं को बढ़ावा देती है। इनका कहना है कि भिन्नताओं का बढ़ना श्रम-विभाजन का विरोधी है। भिन्नताओं को बढ़ावा देती हैं इनका कहना है कि भिन्नताओं को बढ़ावा देती है। इनका कहना है कि भिन्नताओं का बढ़ना श्रम-विभाजन का विरोधी है। इस प्रकार, दुर्खीम श्रम-विभाजन की दशाएँ भौगोलिक पर्यावरण में नहीं अपितु सामाजिक संबंधों में देखते हैं। इनका कहना है कि पैतृकता श्रम-विभाजन के विकास में एक बाधा है।

13.2.4 श्रम विभाजन के प्रकार्य : (Function of Division Labour)

दुर्खीम ने श्रम विभाजन के प्रकार्यात्मक विश्लेषण करते हुए इसको सामाजिक एकता लाने वाली शक्ति के रूप में दर्शाया है और इसके संदर्भ में सामाजिक एकता के दो स्वरूपों की चर्चा की है। यांत्रिक एकता तथा सावयवी एकता।



दुर्खीम के अनुसार प्रारंभिक समाज का स्वरूप सरल एवं समरूप था, आवश्यकताएं कम एवं समान थीं और सभी लोग हर प्रकार के काम कर लेते थे। श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण की सरल प्रकृति के कारण समाज से अलग व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्व प्राप्त नहीं था और सामूहिक चेतना (समाज के सामान्य विश्वास एवं संवेग) का व्यक्ति पर प्रभाव प्रबल था क्योंकि व्यक्ति और समाज के बीच प्रत्यक्ष संबंध था। फलतः व्यक्ति लोक-प्रथाओं, जनमत, परम्पराओं और धर्म के नियंत्रण में यंत्रवत कार्य करते थे तथा सामाजिक एकता बनी हुई थी। एकता के इस स्वरूप को दुर्खीम ने यांत्रिक एकता (समरूपता पर आधारित एकता) की संज्ञा दी है। ऐसे समाज में व्यक्ति द्वारा किया गया सामाजिक नियमों का उल्लंघन या अपराध पूरे समूह अथवा समाज के विरुद्ध अपराध माना जाता था और इस अपराध का बदला अपराधी से पूरा समाज या समूह लेता था और इस रूप में यहा दमनकारी कानून प्रचलित था।

परन्तु जनसंख्या में वृद्धि के साथ श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण अस्तित्व में आया। फलतः समूह से पृथक व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्व प्राप्त हुआ, (व्यक्तिवाद में वृद्धि हुई) और व्यथकत पर सामूहिक चेतना का प्रभाव कमजोर होता चला गया। बावजूद इसके दुर्खीम का कहना है कि सामाजिक एकता भंग नहीं होती है और एकता का एक नया स्वरूप उभरकर सामने आ जाता है जिसे दुर्खीम ने सावयवी एकता की संज्ञा दी है और आधुनिक औद्योगिक समाज का लक्षण बताया है। चूंकि यहां बढ़ता हुआ श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण पारस्परिक निर्भरता को बढ़ाता है, फलतः इस पारस्परिक निर्भरता एवं अनुबंधों पर आधारित एक नए प्रकार के सहयोग का जन्म होता है, जिससे सामाजिक एकता बनी रहती है। दुर्खीम कहता है कि ऐसे समाज में व्यक्ति द्वारा किया गया अपराध संपूर्ण समाज के विरुद्ध अपराध न मानकर व्यक्ति के विरुद्ध अपराध माना जाता है तथा व्यक्ति को पुनः समाज का सामान्य बनाने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार इन समाजों में प्रतिकारी कानून का प्रचलन होता है।

इस तरह दुर्खीम के अनुसार “श्रम विभाजन” के वल एक आर्थिक घटना न होकर एक सामाजिक घटना है जो आधुनिक विभेदीकृत समाज में एकता का प्रमुख स्रोत है और यह कई रूपों में समाज हेतु प्रकार्यकारी भूमिका अदा करता है।

श्रम विभाजन के कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक प्रकार्यों को निम्नरूपेण देखा जा सकता है—

1. इसमें व्यक्ति को कोई विशेष कार्य करना होता है जिससे व्यक्ति उस कार्य में विशेषज्ञता प्राप्त करता है और कार्य का श्रेष्ठ सम्पादन सम्भव होता है।
2. श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण से नीवन आविष्कारों की सम्भावनाएं बढ़ती हैं तथा प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है।
3. इसमें सामाजिक आवश्यकताओं के आधार पर अंतः सम्बन्ध एवं अन्तः निर्भता (सावयवी एकता) बनी रहती है।
4. यह पारस्परिक निर्भरता को बढ़ाकर व्यक्ति को दूसरों के लिए सोचने को बाध्य करता है फलतः व्यक्तिवादी प्रवृत्ति घटती है व सामाजिक एकता को बढ़ावा मिलता है।
5. यह व्यक्तिगत गुण एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बढ़ाता है।

इससे जीवित रहने के लिए किया जाने वाला संघर्ष सरल हो जाता है, क्योंकि इससे कार्य की गुणवत्ता में वृद्धि होती है। यह मशीनी और बृहद् उत्पादन को प्रोत्साहित करता है, जिससे समाज को सस्ती एवं पर्याप्त वस्तुएं प्राप्त हो जाती हैं। इससे उत्पादन के तरीके में वैज्ञानिकता आती है जिससे समय एवं धन दोनों की बचत होती है।

13.2.5 श्रम विभाजन के सामाजिक परिणाम :

(Social Result of Division Labour)

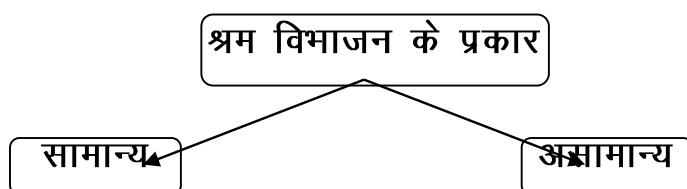
- समाज में सावयवी एकता एवं संगठन का उदय।
- श्रम का विशेषीकरण।
- व्यक्तिवादी गुण और व्यक्तिवादी स्वतंत्रता को महत्व।
- समाज का अनेक हित समूहों तथा व्यावसायिक समूहों में विभाजन।
- यह एक गतिशील धारणा है, जिसमें प्रगति के तत्व निहित है।
- समाज में आपसी भेदभाव का उत्पन्न होना।
- समाज में व्यक्ति की परस्पर निर्भरता में वृद्धि।
- अधिक धन तथा उच्च जीवन स्तर प्राप्ति की इच्छा में वृद्धि

दुर्खीम कालीन यूरोप में औद्योगिक समाज का विकास हो चुका था और श्रम-विभाजन उस समाज की एक प्रमुख आर्थिक घटना के रूप में चर्चा का विषय था जिसका विश्लेषण दो

रूपों में किया जा रहा था—एडम स्मिथ जैसे अर्थशास्त्री किसी समाज के आर्थिक विकास एवं उत्पादकता में वृद्धि हेतु श्रम—विभाजन को आवश्यक मान रहे थे तो कार्ल मार्क्स श्रम—विभाजन की घटना को असमानता में वृद्धि एवं श्रमिकों में अलगाव के लिये उत्तरदायी ठहरा रहे थे।

इमाईल दुर्खीम ने व्यक्ति एवं समाज के बीच संबंध और सामाजिक एकता की समस्या पर विचार करते हुए औद्योगिक समाज की प्रमुख घटना श्रम—विभाजन को सामाजिक तथ्य के रूप में स्वीकार किया है और मार्क्स के विचारों के विपरीत न केवल इसका प्रकार्यवादी विश्लेषण प्रस्तुत किया है बल्कि इसके माध्यम से व्यक्ति एवं समाज के मध्य संबंधों तथा सामाजिक एकता की समस्या पर भी अपने विचारों को रखा है।

सामान्यतः श्रम—विभाजन से तात्पर्य “किसी भी स्थायी संगठन में मिलजुलकर काम करने वाले व्यक्ति या समूहों द्वारा भिन्न किंतु समन्वयात्मक क्रियाओं के संपादन से है।” परन्तु अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त उपरोक्त अर्थ से भिन्न दुर्खीम के अनुसार श्रम—विभाजन का आर्थ “सामाजिक विभेदीकरण” है जो व्यवसाय के विभेद एवं औद्योगिक क्रियाकलापों के बहुगणन से संबंधित है। यह विभाजन पूरे समाज की रचना करता है और आर्थिक श्रम—विभाजन इसकी अभिव्यक्ति मात्र है।



दुर्खीम का मानना है कि श्रम—विभाजन का सामान्य स्वरूप ही समाज में उच्चतर एकता कायम करने में सहायक हो सकता है। यदि समाज में असामान्य प्रकार का श्रम—विभाजन हो रहा है (जैसा कि तत्कालीन यूरोप में हो रहा था) तो वह समाज के लिये दुष्प्रकार्यात्मक होता है। इस तरह दुर्खीम ने श्रम—विभाजन को दो रूपों में बांटा है—

1. सामान्य श्रम—विभाजन – श्रम विभाजन का वह रूप जो सामाजिक एकता में वृद्धि करता है, सामान्य श्रम—विभाजन है।
2. व्याधिकीय या असामान्य श्रम—विभाजन—श्रम—विभाजन का वह रूप जो सामाजिक एकता को कमजोर करता है, वह असामान्य श्रम—विभाजन है।

दुर्खीम ने असामान्य श्रम—विभाजन के दो रूपों की पहचान की है— 1. अप्रतिमानित श्रम—विभाजन (Anomic division of labour) 2. विवशतामूलक श्रम—विभाजन (Forced division of labour)

जब श्रम-विभाजन को बिल्कुल अतिवादी ढंग से लागू किया जाए जिससे मजदूर पूरी उत्पादन प्रक्रिया से अलग हो जाता है और कर्मचारी तथा मालिक के बीच स्थाई तौर पर अलगाव उत्पन्न हो जाता है दुर्खीम ने इसे अप्रतिमानिक श्रम-विभाजन कहा है।

जब किसी वैकल्पिक रोजगार के अभाव में मजदूर कोई भी कार्य करने को मजबूर हो जाता है। (जैसे-दास प्रथा, बंधुओ मजदूरी आदि) तो दुर्खीम इसे विवशतामूलक श्रम-विभाजन कहता है। आधुनिक औद्योगिक समाज में नौकरी की जरूरत और व्यावसायिक योग्यता के बीच तालमेल के अभाव के कारण भी यह समस्या उत्पन्न होती है।

इस तरह, दुर्खीम अपने विश्लेषण में श्रम-विभाजन के नकारात्मक पहलुओं को भी रेखांकित करता है और कहता है कि कभी-कभी श्रम-विभाजन की चरम स्थिति कई समस्याओं को जन्म देती है, जैसे-(1) व्यक्तिवाद का विकास, (2) सामूहिक एवं पारस्परिक निर्भरता की भावना का ह्रास, (3) प्रतिमानहीनता आदि।

दुर्खीम ने असामान्य श्रम-विभाजन की समस्या से समाधान हेतु निम्नलिखित सुझावों को प्रस्तावित किया है-

1. व्यावसायिक संघों एवं निकायों का गठन किया जाए जिससे मजदूरों के बीच नियमित सम्पर्क कायम रहे। ये संघ अलगाव की समस्या का समाधान दो तरह से कर सकते हैं-प्रथम, ये विभिन्न व्यक्तियों को अपने संघ की सदस्यता प्रदान कर उन्हें सामाजिक समूह से जोड़ेंगे जिससे सामाजिक नियंत्रण सीपित हो सकेगा और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को रोका जा सकेगा। दूसरे, ये संघ एक आचरण संहिता बनाएंगें जिसमें उनके अधिकार और पूरे समुदाय के प्रति जिम्मेदारियों का वर्णन होगा।
2. एक ऐसी एजेंसी का निर्माण किय जाए जिसके द्वारा मजदूरों और नियोक्ताओं के बीच होने वाले विवादों को शांत किया जा सके तथा
3. विवशतामूलक श्रम-विभाजन से उत्पन्न समस्याओं के समाधान के लिए मजदूरों के बीच सामान्य व्यावसायिक शिक्षा और तकनीकी प्रशिक्षण के अवसरों का विस्तार किया जाए।

13.3 सामाजिक दृढ़ता के प्रकार :

(Type of Social Solidarity)

दुर्खीम समाजों को मुख्यतया अविभेदीकृत (Undifferentiated) और विभेदीकृत (Differentiated) श्रेणियों में रखते हैं। अविभेदीकृत समाज यांत्रिक (Mechanical) समाज है जबकि विभेदीकृत समाज सावयवी (Organic) समाज है। इन दोनों समाजों में, दुर्खीम उन कारकों को जानना चाहते हैं जिनके कारण इनकी एकता और सुदृढ़ता बनी रहती है। दुर्खीम की जिज्ञासा इसलिए भी है क्योंकि दानों में श्रम-विभाजन बिल्कुल भिन्न होने के बावजूद भी दोनों में ही

सुदृढ़ता पायी जाती है। इसलिए दुर्खीम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रम-विभाजन समाज के सदस्यों में सम्बद्धता (Cohesion) लाता है।

विभिन्न समाजों में मौजूदा सुदृढ़ताओं का तुलनात्मक अध्ययन करके दुर्खीम पूरे समाज को सुदृढ़ता के आधार पर दो भागों में बांटते हैं—यांत्रिक सुदृढ़ता और सावयवी सुदृढ़ता।

13.3.1 यांत्रिकी सुदृढ़ता : (Mechanical Solidarity)

यांत्रिक समाज वस्तुतः अविकसित या आदिम समाज है। आदिम समाजों में उनका संगठन छोटे आकार का होता था। उसकी आवश्यकताएं बहुत कम थीं और लगभग एक सी थीं। भिन्नताएँ नहीं के बराबर थीं। यहाँ सदस्यों में मानसिक तथा वास्तविक आधारपर अत्यधिक समानता थी। साथ ही उन पर परम्परा, धर्म आदि का भाव रहता था। इन सबके फलस्वरूप उस समय व्यक्तिगत समानता के आधार पर एक ठोस एकता होती थी। इस ठोस एकता को ही दुर्खीम ने यांत्रिक एकता कहा है क्योंकि उस समय सब लोग जनमत, परम्परा, धर्म और राजा के दबाव से आँख मूँदकर या यन्त्रवत् कार्य करते थे। इसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व मिट जाता था और वह समाज के साथ यन्त्रवत् सोचता, काम करता और आदेशों का पालन करता था। इसीलिए इसे यांत्रिक समाज कहते हैं।



इसे यांत्रिक समाज क्यों कहा गया? इसे हम एक वृत्त की मदद से भी समझ सकते हैं। इस समाज को स्थापित करने वाले विभिन्न अवयवों जैसे, राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था आदि को हम वृत्तखण्डों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ये भिन्न वृत्तखण्ड सजातीय (Homogenous) होते हैं तथा उस सामाजिक संरचना का अभिन्न हिस्सा होते हैं। ये इस प्रकार एक दूसरे के ऊपर आरोपित रहते हैं कि इन्हें एक दूसरे से अलग कर पाना नामुमकिन होता है। इसलिए ये सब वृत्तखण्ड (अवयव) मिलकर एक सांस्कृतिक इकाई (Cultural Unit) का निर्माण करते हैं, जिससे समाज में एक प्राकृतिक सजातीयता आ जाती है और सभी लोग एक जैसे दिखते हैं तथा एक निश्चित परम्परा, विश्वास के आधार पर काम करते हैं। इसलिए यह यांत्रिक समाज है।

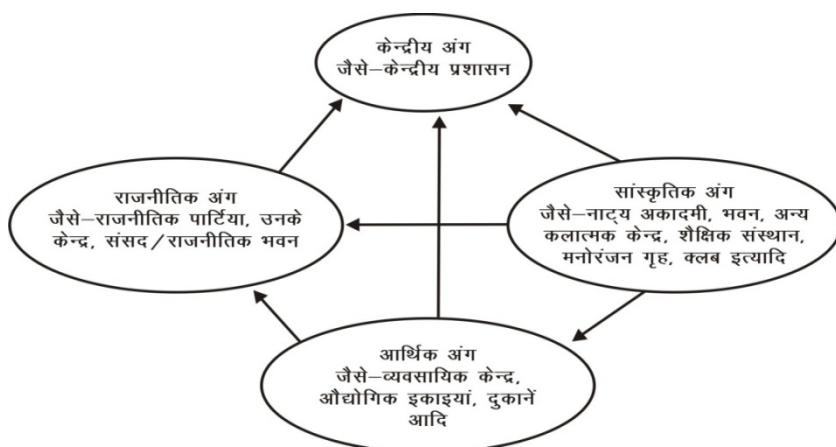
इन समाजों में श्रम-विभाजन नाममात्र का होता है जैसे उम्र और लिंग के आधार पर। मूलतः यह समाज गोत्रों (Clans) पर आधारित था जो अविकसित समाजों में एक प्राकृतिक सजातीयता आ जाती है और सभी लोग एक जैसे दिखते हैं तथा एक निश्चित परम्परा, विश्वास के आधार पर काम करते हैं। इसीलिए यह यांत्रिक समाज है।

इन समाजों में श्रम-विभाजन नाममात्र का होता है जैसे उम्र और लिंग के आधार पर। मूलतः यह समाज गोत्रों (Clans) पर आधारित था जो अविकसित समाजों में बहुलता में पाये

जाते थे, लेकिन विकास की प्रक्रिया में ये समाज गोत्रों के अलावा क्षेत्रीयता के आधार पर भी बढ़ने लगे। परिणामस्वरूप समाज के वर्गीकरण का आधार केवल संगोत्रता सम्बन्ध नहीं रहा बल्कि क्षेत्रीयता भी हो गया। दुर्खीम समूहवाद की अवधारणा को यांत्रिक एकता में भी प्रयोग करता है। उसका कथन है कि आदिकालीन समाज यांत्रिक एकता में बंधा हुआ था किन्तु धीरे-धीरे परिस्थितियों के बदलने के साथ इस यांत्रिक एकता का स्वरूप बदलकर आधुनिक समाज में सावयवी एकता के रूप में स्पष्ट हो गया है। इस परिवर्तन को समझने के लिए आदिकालीन और आधुनिक समाज की प्रमुख विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा। आदिकालीन समाजों में उसका संगठन छोटे आकार का होता था, आवश्यकतायें सीमित थीं। और वह भी सभी सदस्यों की आवश्यकतायें प्रायः समान होती थीं, उनके सामाजिक-आर्थिक कार्य, जीवन के ढंग, आचार-विचार धारणा आदि में भिन्नतायें बहुत कम थीं। लेकिन उनके सदस्यों में मानसिक तथा नैतिक आधार पर अत्यधिक समानता थी। साळी ही उन पर जनमत, परम्परा और धर्म आदि का दबाव रहता था। इन सबके परिणामस्वरूप उस समय व्यक्तिगत समानता के आधार पर एक ठोस एकता होती थी, क्योंकि सामाजिक या वैयक्तिक जीवन के किसी भी पहलू में उल्लेखनीय भिन्नतायें शायद ही मिलती हो। इस ठोस एकता को ही दुर्खीम ने यांत्रिक एकता कहा है क्योंकि इस समय सभी लोग जनमत, परम्परा, धर्म और राजा के दबाव से आँख मूंदकर या यंत्रवत् कार्य करते रहते थे। इन जनमत, परम्परा आदि का प्रभाव इतना होता था कि व्यक्ति के रूप में किसी का भी कोई महत्व नहीं था, उसके अपने व्यक्तित्व का अस्तित्व तक मिट जाता था। वह समाज के साथ यंत्रवत् सोचना, काय्य करना और आदेशों का पालन करता था। इस समूह की एकता यंत्रों के पुर्जों की तरह जुड़ी और परस्पर बँधी होती है। जैसे मशीन एक तरह काय्य करती है, समूह के व्यक्ति भी वैसा ही मिलकर काय्य करते हैं। इसी कारण इसे यान्त्रिक एकता का नाम दिया गया है।

13.3.2 सावयवी सुदृढ़ता : (Organic Solidarity)

यह समाज छोटे-छोटे खण्डों में बंटा होता है। ऐसे समाजों की एक विशेषता है—अन्योन्याश्रयन की कमी (Low degree of interdependence)। इसलिए एक समाज में जो कुछ होता है उसका शायद ही कोई प्रभाव दूसरे समाज में लक्षित होता है। इसकी एक अन्य विशेषता, जो पहले से सम्बन्धित है, वह है जनसंख्या के नैतिक तथा भौतिक घनत्व (Moral and Material Density) में कमी। इसका तात्पर्य यह है कि समाज में सम्पर्क (Interaction) बहुत ही सीमित लोगों की बीच होता है। यह सुव्यवस्थित सामाजिकसंरचना अलग-अलग खण्डों या अंगों (Organs) में विभाजित होती है। प्रत्येक अंग का एक निश्चित कार्य होता है। ये अंग विभिन्न



अवयवों या तत्वों से मिलकर बने होते हैं तथा एक केन्द्रीय अंग के माध्यम से एक सूत्र में बंधे होते हैं। इसी कारण दुर्खीम ने इसे 'सावयवी समाज' का नाम दिया। इसे निम्न रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है।

इस समाज में व्यक्तियों का वर्गीकरण उनकी वंश-परम्परा के आधार पर न होकर उनके निश्चित क्रिया-कलापों के आधार पर होता है। इसका कारण यह है कि वर्तमान सामाजिक दशाएं तथा कार्य-पद्धति व्यक्तियों को उन जन्म स्थान पर केन्द्रित न करके कार्य-स्थल पर खींच लाता है। इस प्रकार लोग एक दूसरे से मिलते हैं और उनमें अन्योन्याश्रयन की वृद्धि होती है।

समाज में औद्योगीकरण की वृद्धि के कारण 'श्रम-विभाजन' विकसित होता जाता है तथा साथ ही 'नगरीकरण' में भी वृद्धि होती है क्योंकि रोजगार के नये आयाम दूर-दराज से लोगों को खींचकर शहरों की तरफ लाते हैं, जिससे शहर या सावयवी समाज की जनसंख्या में लगातार वृद्धि होती रहती है। कार्यों का विशेषीकरण होता है जिससे विशेष योग्यता वाले व्यक्ति ही उन विशेष कार्यों को कर सकते हैं। यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि एक व्यक्ति अधिक से अधिक एक या दो क्षेत्रों में विशेषता हासिल कर सकता है, लेकिन उसकी आवश्यकताएं बहुतायत हैं जिसके लिए उसे अन्य लोगों या एजेन्सियों की मदद लेनी पड़ती है। इस प्रकार व्यक्तियों में सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं जिन्हें अन्योन्याश्रयन (Interdependence) कहते हैं।

उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति फैक्ट्री में कुछ चीजों का उत्पादन करता है जो बाजार में बिकती हैं। इस प्रकार लोग उस उत्पाद के माध्यम से फैक्ट्री तथा उस उत्पादक व्यक्ति से सम्बन्धित हो जाते हैं। दूसरी तरफ, उस व्यक्ति की अपनी आवश्यकताएं हैं, जैसे—रोटी, कपड़ा, मकान, बच्चों की शिक्षा, मनोरंजन आदि। इनकी पूर्ति के लिए वह दूसरी एजेन्सियों पर निर्भर है। इस प्रकार दोनों तरफ के सम्पर्क और सम्बन्ध अन्योन्याश्रयन को जन्म देते हैं। इसलिए ऐसे समाजों में जनसंख्या का 'नैतिक घनत्व' तथा 'भौतिक घनत्व' बहुत अधिक होता है। जनसंख्या घनत्व के इसी अधिक्य के कारण इस समाज में सुदृढ़ता बढ़ती है क्योंकि सबकी जरूरतें आसानी से पूरी हो जाती हैं। श्री-विभाजन ने एक ओर तो व्यक्तियों और समूहों को नाना प्रकार से विभाजित कर दिया है, लेकिन दूसरी ओर उनकी आवश्यकताओं के आधार पर उसी श्रम-विभाजन ने उनको एक दूसरे पर अत्यधिक निर्भर और एक दूसरे से सम्बन्धित भी कर दिया है। यही सावयवी एकता की स्थिति है। इस प्रकार की एकता का नाम दुर्खीम ने सावयवी एकता इसलिए दिया है क्योंकि यह एकता प्राणी के शरीर में पायी जाने वाली एकता से मिलती जुलती है। शरीर में हाथ, पाँव, आँख, नाक, मुँह, पेट आदि अंग एक निश्चित, पूर्व-निर्धारित कार्य करते हैं। एक का कार्य दूसरा नहीं कर सकता। इस प्रकार इन अंगों में एक विशेषीकरण है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इनका आपस में कोई सम्बन्ध

नहीं है। वास्तव में ये एक दूसरे पर अधिक निर्भर हैं। इस प्रकार आधुनिक समाज में श्रम-विभाजन और विशेषीकरण होते हुए भी व्यक्ति और व्यक्ति में, व्यक्ति और समूह में, समूह और समूह में एक पारस्परिक निर्भरता एवं एकता है। यही 'सावयवी एकता' की स्थिति है।

इस सुदृढ़ता की झलक हमें यहाँ के कानून में भी देखने को मिलती है जो यांत्रिक समाज के दमनकारी कानून से भिन्न प्रतिकारी कानून (Restitutive Law) होता है। इस समाज में अपराध को समाज के विरुद्ध कार्य या सामूहिक इच्छा का उल्लंघन न समझकर व्यक्ति के विरुद्ध कार्य समझा जाता है। इस कारण प्रतिकारी कानून का उद्देश्य नुकसान प्राप्त व्यक्ति की हानि को पूरा करना या व्यक्ति को वह सब कुछ लौटा देना होता है जो अनुचित रूप से उससे छीन लिया गया है। दूसरी तरफ अपराधी को भारी दण्ड न देकर उसके लिए पुर्नस्थापना की व्यवस्था की जाती है जिससे वह समाज में एक सामान्य जीवन व्यतीत कर सके। इसीलिए दुर्खीम ने इसे सहकारी कानून (Pathological Aspects) या असामान्य तत्व होते हैं जिनकी उपस्थिति में हमें विपरीत परिणाम देखने को मिलते हैं, जैसे-भ्रष्टाचार, कालाबाजारी, तस्करी, आतंकवाद आदि। सावयवी समाज का यह विकृत रूप को एनामिक (Anomic) यानि असामान्य कहा है। यह प्रतिमानहीनता (Anomie) व्यक्ति के अन्दर विचलन (deviance) को बढ़ाता है।

सावयवी समाज के श्रम-विभाजन का एक और असामान्य स्वरूप 'पूँजी' और 'श्रम' के क्षेत्र में देखने को मिलता है। औद्योगिक कार्यों के विशिष्ट होने पर सावयवी एकता और अधिक संकटग्रस्त हो जाती है क्योंकि समाज में पूँजी के केन्द्रीयकरण के साथ श्रमिक वर्गों में असंतोष व्याप्त होने लगता है। इसका परिणाम समाज के लिए विघटनात्मक होता है।

दुर्खीम ने माना है कि प्रतिमानहीनता व्याधिकीय होता है। इसलिए कुछ सीमाओं के अन्दर इसका निदान सम्भव है, जैसे प्रत्येक उत्पादन केन्द्र में व्यावसायिक संगठन (Occupational Organisations) होने चाहिए जिनका उद्देश्य नैतिक मूल्यों को वापस लाना है, परिणामस्वरूप यह लोगों की इच्छाओं के साथ उनके व्यवहारों को भी नियंत्रित करता है, जिससे उनमें सुरक्षा की भावना तथा खुशहाली आती है। इस प्रकार दुर्खीम कहते हैं कि अगर इन विघटनकारी तत्वों का निदान कर दिया जाए तो सुदृढ़ता और सम्बद्धता आदि अच्छाइयाँ दिखायी देती है।

सावयवी एकता औद्योगीकृत और जटिल समाजों की विशेषता है। इस प्रकार के समाज में श्रम विभाजन जटिल होता है। सम्बन्ध औपचारिक होते हैं, यह विभिन्नताओं का समाज होता है जहाँ श्रम विभाजन का आधार विशेषीकरण, विशिष्ट योग्यता, कुशलता तथा क्षमता आदि हो जाते हैं। ऐसे समाज उसी समय तक जुड़े होते हैं जब तक उनकी आवश्यकतायें पूर्य होती रहती हैं। इस समाज में व्यक्ति सभी प्रकार के कार्य स्वयं नहीं कर सकता है।

इसलिए वे सावयवी एकता, आत्मनिर्भरता के कारण उत्पन्न होती है। सावयवी एकता का नाम इसे इस कारण दिया गया कि जैसे शरीर के विभिन्न अंग हाँ, पैर, नाक, कान, मुँह स्वतंत्र रूप से अपने विशेष प्रकार के कार्यों को करते हैं। परन्तु ये तभी समीप है जब वे परस्पर रूप से संयुक्त रूप में जुड़े रहते हैं। शरीर का कोई अलग अंग शरीर से अलग होकर कार्य नहीं कर सकता है जैसे आँख, नाक, हाथ, पैर आदि। यह एक तरह की सावयवी एकता है। दुर्खीम का मत है कि समाज का स्वरूप तेजी से परिवर्तित हो रहा है, इस परिवर्तन की दिशा यांत्रिक एकता की स्थिति से पृथक होकर सावयवी एकता की ओर अग्रसर है। दुर्खीम के अनुसार, श्रम विभाजन के विकास को एक ऐतिहासिक रूप से आवश्यक प्रक्रिया है, उसने उच्चतम एकता को स्थापित किया है जो कभी नहीं थी। निश्चित ही यह बदलते हुए समाज की सामाजिक एकता को दर्शाता है जहाँ पारस्परिक निर्भरता निरन्तर बढ़ती जाती है। लेविकस ए० कोजर के अनुसार यांत्रिक एकता के समाज में व्यक्तियों के विचारों और प्रवृत्तियों में समानता होती है। अर्थात् यांत्रिक एकता वहाँ विकसित होती है जहाँ व्यक्तियों के बीच पारस्परिक मतभेद कम होते हैं तथा व्यक्ति जनहित के लिए समर्पित होता है। सावयवी एकता ठीक इसके विपरीत है यह मतभेदों से उत्पन्न होती है तथा यह श्रम विभाजन की उत्पत्ति है।

13.3.3 यांत्रिक समाज और सावयवी समाज की तुलना : (Comparison of Mechanical Solidarity & Organic Solidarity)

| यांत्रिक समाज | सावयवी समाज |
|---|---|
| 1. यांत्रिक समाज में भेदभाव नहीं होता है। | 1. सावयवी समाज में पर्याप्त विभेदीकरण होता है। |
| 2. यांत्रिक समाज में व्यक्तिवाद का अभाव होता है। | 2. सावयवी समाज में वैयक्तिक चेतना की स्वतंत्रता होती है। |
| 3. यांत्रिक समाज की सुदृढ़ता समाहित चेतना द्वारा बनी रहती है। | 3. सावयवी समाज की सुदृढ़ता बनी रही है। |
| 4. यांत्रिक समाज में दमनकारी कानून होता है। | 4. सावयवी समाज में प्रतिकारी कानून होता है। |
| 5. यांत्रिक समाज की सुदृढ़ता नैतिकता के आधार पर होती है। | 5. सावयवी समाज की सुदृढ़ता अनबंध पर निर्भर होती है। |
| 6. यांत्रिक समाज अपने सदस्यों को प्रत्यक्ष रूप से जोड़ता है। | 6. सावयवी समाज में यह या एकता प्रकार्यात्मक निर्भरता द्वारा आती है। |
| 7. यांत्रिक समाज की संरचना संबद्धता में बँधी रहती है। | 7. सावयवी समाज की व्यवस्था खण्डात्मक होती है। |
| 8. यांत्रिक समाज में संरचना प्रायः सामान्य होती है। | 8. सावयवी समाज में संरचना प्रायः असामान्य होती है। |

दुर्खीम ने यान्त्रिक एकता एवं सावयवी एकता में अन्तर किया है। उन्होंने तीन प्रमुख आधार पर अन्तर किया है।

1. **यान्त्रिक एकता** व्यक्ति को समाज के साथ बिना किसी मध्यस्थ से सीधे जोड़ देती है। **सावयवी एकता** में व्यक्ति समाज पर इसलिये आश्रित हो जाता है क्योंकि वह उसका निर्माण करने वाले अंगों अर्थात् अन्य सदस्यों पर आश्रित रहता है।
2. **यान्त्रिक एकता** समाज के सामूहिक स्वरूप को प्रकट करती है, जिसमें समूह के सदस्यों में सामान्य रूप में जाए जाने वाले विश्वासों और भावनाओं का दृढ़ संगठन होता है। **सावयवी एकता** में भिन्न-भिन्न विशिष्ट कार्यों तथा निश्चित सम्बन्धों की व्यवस्था होती है।
3. तीसरा अन्तर दुर्खीम ने दूसरे अन्तर का परिणाम बताया है। दूसरे शब्दों में यह अन्तर सामान्यता एवं एकता के आधार पर इनके नामों का अनन्तर है। समानताओं से सम्बन्धित एकता को **यान्त्रिक एकता** तथा विशिष्टताओं और विभिन्नताओं से सम्बन्धित संश्लिष्टता को **सावयवी एकता** कहा जाता है।

इनके अलावा अन्य अन्तर हैं:-

- (क) यान्त्रिक एकता समानताओं पर आधारित होती है, जबकि **सावयवी एकता** का आधार श्रम-विभाजन है।
- (ख) यान्त्रिक एकता की शक्ति सामूहिक चेतना में पाई जाती है, जबकि **सावयवी एकता** वाले समाजों में दमनकारी के स्थान पर प्रतिकारी एवं सहकारी कानूनों की प्रमुखता दिखाई देती है।
- (ग) यान्त्रिक एकता की अभिव्यक्ति "दमनकारी कानूनों" में होती है, जबकि सावयवी एकता वाले समाजों में दमनकारी के स्थान पर प्रतिकारी एवं सहकारी कानूनों की प्रमुखता दिखाई देती है।
- (घ) यान्त्रिक एकता व्यक्ति व समाज के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करती है, जबकि सावयवी एकता में समाज के साथ व्यक्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, सामान्य जीवन में व्यक्ति यहाँ समाज की शक्ति का अनुभव भी नहीं कर पाता है।
- (ङ) यान्त्रिक एकता व्यक्तित्व के विकास के प्रतिकूल है। इसके विपरीत सावयवी एकता व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर प्रदान करती है। दुर्खीम ने स्वयं लिखा-प्रत्येक व्यक्ति का अपना कार्यक्षेत्र होता है, जो उसके लिए विशिष्ट है, अर्थात् एक व्यक्तित्व।
- (च) यान्त्रिक एकता की उपमा दुर्खीम ने निर्जीव या अचेतन वस्तुओं की अवस्था से की है जबकि सावयवी एकता की तुलना बड़े जीवों में पाई जाने वाली शारीरिक एकता से की जा सकती है।

- (छ) यान्त्रिक एकता के अन्तर्गत जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित अनेक प्रकार की सामूहिक भावनाएं प्रचलित होती हैं, जबकि सावयवी एकता में, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सम्बन्धित अधिकारों की पृथक व्याख्या होती है।
- (ज) यान्त्रिक एकता के अन्तर्गत अपराधी प्रारूपों की संख्या अत्याधिक होती है। सावयवी एकता में अपराधी प्रारूपों की संख्या घट जाती है।
- (झ) यान्त्रिक एकता खण्डात्मक सामाजिक-संरचना से सम्बन्धित होती है, जबकि सावयवी एकता में खण्डात्मक सामाजिक संरचना के स्थान पर संगठित या सावयवी सामाजिक संरचना के स्थान पर संगठित हो जाती है।
- (ण) यान्त्रिक एकता में धर्म की प्रधानता होती है। सावयवी एकता धर्म के महत्व को कम कर देती है।

13.4 सामाजिक नियमहीनता का अर्थ एवं अवधारणा :

(Meaning of Social Anomie & Difination)

आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धांतों में विसंगति की आवश्यकता का बहुत बड़ा महत्व है। दुर्खीम ने आधुनिक अर्थ में विसंगति की अवधारणा को व्यक्त किया। इन्होंने Anomie के स्थान पर Alienation शब्द का प्रयोग किया।

दुर्खीम ने सर्वप्रथम विसंगति की अवधारणा को अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक “डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी” में विशेषकर उस भाग में विकसित किया जहाँ कि उन्होंने श्रम विभाजन के सामान्य तथा व्याधिकीय परिणामों का उल्लेख किया है। सामाजिक संरचना में उस विशेष दशा को व्याधिकीय माना जाता है जिसने व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में प्रतिकूल या आस्वाभाविक प्रभाव पड़ता है। दुर्खीम ने विसंगति हेतु समाज को उत्तरदायी माना है। सामूहिक शक्ति अथवा सामाजिक नियंत्रण के भंग हो जाने के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है।

नियमहीनता शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ईमाइल दुर्खीम ने विकसित किया है, दुर्खीम ने अपनी पुस्तक The Division of Labour in Society में इसको परिभाषित किया है।

दुर्खीम के अनुसार नियमहीनता आदर्शविहीनता की एक अवस्था है। स्वाभिकता का आभाव है। नियमों का विलम्बन है एक ऐसी स्थिति है जिसे हम अक्सर अव्यवस्था कहते हैं।

दुर्खीम ने नियमहीनता की परिभाषा में कहा है कि “नियमहीनता वह सामाजिक दया है जिसमें आदर्श प्रतिमानों का आभाव या आदर्शात्मक संरचना की अव्यवस्था पायी जाती है अर्थात् यह उत्कट अभिलाषा, लालच तथा असिमित आकांक्षाओं को नियंत्रित करने में सामूहिक नैतिक व्यवस्था की असफलता है।

दुर्खीम ने कहा कि नियमहीनता के लिए समाज ही उत्तरदायी है और सात्यवला नियमहीनता का ही परिणाम है।

13.5 सारांश : (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके हैं कि ईमाइल दुर्खीम ने सामाजिक एकता का सिद्धांत उनके श्रम विभाजन के सिद्धांत में देखने को मिलता है। इन्होंने अपने पुस्तक "Social Division of Labour" में प्रथम भाग में सामाजिक एकता एवं द्वितीय खण्ड में श्रम विभाजन को प्रमाणित किया है। दुर्खीम ने कहा है कि पुरातन समाज से जैसे-जैसे समाज आधुनिक समाज की तरफ बढ़ा है। समाज में श्रम विभाजन का विशेषिकरण हुआ है। इन्होंने समाज को दो भागों में बाँटा है (1) यांत्रिक समान (2) सावयवी समान दुर्खीम ने इन दोनों समाजों को इस इकाई में विशेष रूप से परिभाषित किया है।

13.6 शब्दावली : (Glossary)

(1) **यांत्रिकी समाज** :- दुर्खीम ने आदिकालीन समाज को यांत्रिकी समाज से तुलना की है। इन्होंने बताया कि जैसे मशीन एक तरह का सार्व करती है। समूह के व्यक्ति भी ऐसे ही कार्य करते हैं जिसे यांत्रिकी समाज कहा।

(2) **सावयवी समाज** :- सावयवी समाज से तात्पर्य आधुनिक समाज से है जिसमें श्रम विभाजन जटिल होता है। ए० श्रम विभाजन का आधार विशेषीकरण, विशिष्ट योग्यता होती है।

(3) **श्रम विभाजन** :- दुर्खीम ने कहा कि हर तरह के समाज में श्रम का विभाजन उसकी एकता के आधार पर होता है। जिसे श्रम विभाजन कहते हैं।

13.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :

(Answer Questions of Practice)

16. **Division of Labour in Society** पुस्तक किसकी है?

- (क) कार्ल मार्क्स (ख) दुर्खीम
(ग) स्पेंसर (घ) पारसनस

उत्तर—ख

17. **दुर्खीम का सर्वप्रथम ग्रंथ कौन सा है?**

- (क) The division of labour society
(ख) The rules of sociological method
(ग) The Elementary Forms of Religions Life
(घ) The Suicide

उत्तर—क

18. **यांत्रिकी समाज से तात्पर्य है:-**

- (क) आधुनिक समाज (ख) पुरातन समाज
(ग) सावयवी समाज (घ) तीनों

उत्तर—ख

19. **यांत्रिकी समाज में प्रचलन होता है:-**

- (क) दमनकारी कानून (ख) प्रतिकारी कानून

- (ग) दोनो उत्तर-क (घ) इनमे से कोई नहीं
20. सामाजिक एकता होती है:-
 (क) अमूर्थ (ख) सापेक्ष
 (ग) दोनो (घ) इनमे से कोई नहीं
 उत्तर-ग
21. प्रतिकारी कानून कैसे समाज की विशेषता है?
 (क) यांत्रिकी समाज (ख) साव्यवी समाज
 (ग) दोनो (घ) कोई नहीं
 उत्तर-ख
22. यांत्रिकी समाज में श्रम विभाजन होता है।
 (क) जटिल (ख) सरल
 (ग) दोनो (घ) इनमे से कोई नहीं
 उत्तर-ख
23. साव्यवी समाज में श्रम विभाजन होता है।
 (क) सरल (ख) जटिल
 (ग) दोनो (घ) इनमें से कोई नहीं
 उत्तर-ख

13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची : (References)

1. ईमाइल दुर्खीम (1896) : सोशल डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी न्यूयार्क, फ्री प्रेस
2. लेविस ए० कोजर (1956) : मास्टर ऑफ सोशियोलोजिकल थॉट, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
3. ओरो रोमो (1967) : मेन करेंटस इन सोशियोलोजिकल थॉट, वाल्यूम-2, मेनुअल, बुक्स लन्दन

13.9 सहायक/उपयोगी सामग्री : (Useful Contain)

1. हरिकृष्ण रावत (2011) : सामाजिक चिन्तक एवं सिद्धांतकार, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

13.10 निबन्धात्मक प्रश्न : (Essay Type Questions)

- ✓ सामाजिक सुदृढ़ता से आप क्या समझते हो?
- ✓ दुर्खीम के अनुसार समान में श्रम विभाजन क्या है?
- ✓ साव्यवी सुदृढ़ता से आप क्या समझते हैं।
- ✓ सामाजिक सुदृढ़ता से आप क्या समझते हैं इसके प्रकारों का वर्णन करो।
- ✓ यांत्रिकी सुदृढ़ता से आप क्या समझते हैं?
- ✓ यांत्रिकी सुदृढ़ता एवं साव्यवी सुदृढ़ता की तुलना कीजिए।

**इकाई-14 : समाजशास्त्र में सामूहिक चेतना और प्रतिनिधित्व
(Sociology of Collective Consciousness & Representation)**

इकाई की रूपरेखा

- 14.0 उद्देश्य
- 14.1 प्रस्तावना
- 14.2 सामूहिक चेतना की अवधारणा
- 14.3 सामूहिक चेतना का अर्थ एवं परिभाषा
- 14.4 सामूहिक चेतना की विशेषताएँ
- 14.5 सामूहिक प्रतिनिधित्व का अर्थ एवं अवधारणा
- 14.6 सारांश
- 14.7 शब्दावली
- 14.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 14.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 14.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 14.11 निबंधात्मक प्रश्न

14.0 उद्देश्य : (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप :-

- ✓ समझ पायेगे कि दुर्खीम ने सामूहिक चेतना से आप क्या समझते हैं?
- ✓ आप समाज एवं वैयक्तिक चेतना को समझ पायेगे।
- ✓ सामूहिक चेतना से क्या तात्पर्य है।
- ✓ सामूहिक प्रतिनिधित्व से आप क्या समझते हैं।
- ✓ सामूहिक चेतना का समाज में क्या विशेषताएँ होती हैं?
- ✓ सामूहिक चेतना व सामूहिक प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध को समझ पायेगें।

14.1 प्रस्तावना : (Introduction)

दुर्खीम ने सामूहिक चेतना को समाज की स्थिति को सन्दर्भित करते हुए बताया है कि समाजशास्त्र को विज्ञान की प्रस्थिति तक लाने का प्रयास किया है। दुर्खीम ने व्यक्ति के संकल्प, इच्छा या इच्छाशक्ति के आधार पर बने समाज के सिद्धांतों को नकार कर एक सामूहिक समूह, समुदाय या समाज की सामूहिक प्रकृति से उत्पन्न होती है। हर सामाजिक प्रक्रिया के वैज्ञानिक अध्ययन को अपनाया है। इस इकाई में सामूहिक चेतना को स्पष्ट किया है।

दुर्खीम ने सामूहिक चेतना का वर्णन एक समाज के अधिकांश सदस्यों की सामान्य भावनाओं और विश्वासों के रूप में किया है। इन विश्वासों और भावनाओं की व्यवस्था का

अपना स्वयं एक जीवन है। इसका पूरा समाज का अस्तित्व है। एक समाज की सामाजिक चेतना दूसरे समाज से भिन्न होती है।

फ्रेंच सामाजिक विचारकों में इमाइल दुर्खीम का नाम सर्वाधिक लोकप्रिय है। सामाजिक विचारधारा के क्षेत्र में अगस्त कॉम्टे की ही तरह दुर्खीम का योगदान भी अत्याधिक महत्वपूर्ण है। समाज के अध्ययन के लिए कॉम्टे ने अवलोकन, वर्गीकरण और तथ्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण पर बल दिया। समाजशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव कॉम्टे ने रखी जिसके मुख्य अनुयायी दुर्खीम थे। कॉम्टे की तरह दुर्खीम भी धार्मिक तथा तात्विक विचारधारा से बहुत दूर रहना चाहते थे। वे सदैव ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण को जाग्रत रखने के लिए सचेत रहे इसलिए वैज्ञानिक पद्धतियों को ही अपने समस्त अध्ययन का आधार बनाया। उनका विश्वास था कि समाज या सामाजिक घटनायें इतनी सरल नहीं हैं कि उन्हें मात्र कल्पना के आधार पर समझा या समझाया जा सके। इसके लिए वास्तविक तथ्यों का संकलन करना अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही कल्पना के आधार पर किसी घटना की व्याख्या अटलकलपचू कारकों की सहायता से करना ठीक नहीं है। वास्तविक तथ्यों के आधार पर ही हम वैज्ञानिक निष्कर्ष निकाल सकते हैं। समस्त सामाजिक घटनाओं का मूल कारक स्वयं समाज है। एक समाजशास्त्री का कार्य वास्तविक प्रयोगों द्वारा प्राप्त किये गये तथ्यों के आधार पर इसी मूल कारक समाज का विश्लेषण तथा व्याख्या करना है न कि मूल्यों के आधार पर इसी मूल कारक समाज का विश्लेषण तथा व्याख्या करना है न कि मूल्यों के आधार पर अनुमान लगाना। किन्तु इस सम्बन्ध में दुर्खीम ने बार-बार इस बात पर बल दिया है कि सामाजिक घटनाओं को जन्म देने में सामूहिक चेतना या सामूहिक विचार, धारणायें और भावनायें बहुत ही महत्वपूर्ण होती हैं। यही दुर्खीम का सामूहिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त है जिसे सामाजिक विचारधारा के क्षेत्र में दुर्खीम का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा आधारभूत योगदान माना जाता है।

फ्रेंच दार्शनिक तथा महान् समाजशास्त्री इमाइल दुर्खीम का जन्म सन् 1858 में फ्रांस के एपीनल नामक स्थान पर हुआ था। दुर्खीम की प्रारम्भिक शिक्षा एपीनल में हुई और यहीं से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। उच्च शिक्षा के लिए फ्रांस की राजधानी पेरिस चले गये। पेरिस का विश्व प्रसिद्ध कॉलेज इकोल नार्मल अकादमी में प्रवेश के लिए प्रयास किया और काफी परिश्रम एवं प्रयास के बाद 1879 में प्रवेश मिल गया। इस कॉलेज में फ्रांसीसी, ग्रीक, लैटिन जैसे विषय पढ़ने पड़ते थे। किन्तु दुर्खीम की इन विषयों में कोई रुचि नहीं थी क्योंकि वह तो वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले विद्यार्थी थे। यही कारण है कि वे इस संस्था की शिक्षा पद्धति से संतुष्ट नहीं थे। दुर्खीम के गुरु प्रोफेसर कुलांत जब इस शिक्षण संस्था के निर्देशक बने तो दुर्खीम की राय से पाठ्यक्रम में अनेक विषय रख दिये। इसी प्रकार उनके एक और प्रोफेसर इमाइल पोट्रोक्स थे जिनके निर्देशन में दुर्खीम ने शोध कार्य किया। 1882 में दुर्खीम इस संस्था से निकलकर पाँच वर्ष तक हाईस्कूल के कॉलेज में दर्शनशास्त्र का अध्यापन किया। अपने

प्रभाव से इन्होंने पाइयक्रम में समाजशास्त्र विषय को सर्वप्रथम शामिल कराया। तत्पश्चात् छुट्टी लेकर उच्च शिक्षा ग्रहण करने हेतु जर्मनी चले गये।

जर्मनी दुर्खीम के लिए शिक्षा का वह महत्वपूर्ण स्थान है जहाँ उन्होंने अर्थशास्त्र, लोक मनोविज्ञान, सांस्कृतिक मानवशास्त्र आदि का व्यापक अध्ययन किया। यहीं पर अगस्त कॉम्टे के लेखों का भी अध्ययन किया जिनके प्रत्यक्षवाद ने उनके अध्ययन की दृष्टि ही बदल डाली। 1887 में दुर्खीम जर्मनी से पेरिस लौट आये और बोर्डियक्स विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त हुए। उस समय उस विश्वविद्यालय में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक अल्फ्रेड एस्पिनास भी प्रोफेसर थे जिनका दुर्खीम ने शोध कार्य किया। 1882 में दुर्खीम इस संस्था से निकलकर पाँच वर्ष तक हाईस्कूल के कॉलेज में दर्शनशास्त्र का अध्यापन किया। अपने प्रभाव से इन्होंने पाठ्यक्रम में समाजशास्त्र विषय को सर्वप्रथम शामिल कराया। तत्पश्चात् छुट्टी लेकर उच्च शिक्षा ग्रहण करने हेतु जर्मनी चले गये।

जर्मनी दुर्खीम के लिए शिक्षा का वह महत्वपूर्ण स्थान है जहाँ उन्होंने अर्थशास्त्र, लोक मनोविज्ञान, सांस्कृतिक मानवशास्त्र आदि का व्यापक अध्ययन किया। यहीं पर अगस्त कॉम्टे के लेखों का भी अध्ययन किया जिनके प्रत्यक्षवाद ने उनके अध्ययन की दृष्टि ही बदल डाली। 1887 में दुर्खीम जर्मनी से पेरिस लौट आये और बोर्डियक्स विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त हुए। उस समय उस विश्वविद्यालय में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक अल्फ्रेड एस्पिनास भी प्रोफेसर थे जिनका समूह—मस्तिष्क का विचार बहुत ही प्रसिद्ध है और इनके इस सिद्धान्त से ही मिलता—जुलता दुर्खीम का समूह—मस्तिष्क का सिद्धान्त है। दुर्खीम ने एस्पिनास के सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या करके उसे परिष्कृत करने कार्य किया ताकि उसे एक बोधगम्य स्वरूप प्राप्त हो सके। इसके पश्चात् दुर्खीम पेरिस विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र तथा शिक्षाशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए। इसके पूर्व ही उन्हें 1893 में इसी विश्वविद्यालय से उन्हें डॉक्टरेट की उपाधि मिल चुकी थी। उनके शोध का विषय De La Division Du Travail Social अर्थात् The Division of Labour in Society था। यह उनका एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ समझा जाता है। 1898 में दुर्खीम ने L'anne Sociologique नामक समाजशास्त्र सम्बन्धी पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया जिसके सम्पादक वे स्वयं थे। सन् 1917 में इस महान प्रतिभाशाली समाजशास्त्री की मृत्यु हो गई।

14.2 सामूहिक चेतना की अवधारणा :

(Concept of Collective Consciousness)

दुर्खीम ने बताया कि समाज की कुछ प्रकार्यात्मक पूर्व आकाक्षाएँ या आवश्यकताएँ होती हैं इन्हीं पूर्व आकाक्षाओं की पूर्ति से समाज का स्थायित्व व निरन्तरता बनी रहती है। इनकी पूर्ति सामूहिक एकता से होती है। यह सामूहिक एकता समान मूल्यों, मानदण्डों से आती है, इसी प्रकार दुर्खीम ने सामाजिक संस्थाओं के सामान्य व्याधिकीय प्रमाणों की चर्चा की है।

धर्म ही सामूहिक चेतना का प्रतीक है। धर्म का वास्तविक आधार स्वयं समान है दुर्खीम ने लिखा है कि स्वर्ग का साम्राज्य एक अहिंसावादी समाज से है।

श्रम विभाजन पर बात करने से पहले यह 'सामूहिक चेतना' (Collective Conscience) को समझ लेना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि दुर्खीम ने अपने इस अध्ययन में 'सामूहिक चेतना' को एक आधार सा बनाया है तथा पग-पग पर इसी के माध्यम से, एक समाज में कितनी सुदृढ़ता है, उसे समझाया है।

14.3 सामूहिक चेतना का अर्थ एवं परिभाषा :

(Meaning of Collective Consciousness & Definition)

अपनी कृति 'समाज में श्रम विभाजन' में दुर्खीम ने सर्वप्रथम इस लोकप्रिय अवधारणा की चर्चा की है। मूलतः दुर्खीम ने यह अवधारणा टायलर की 'कान्सेन्सस' (Consensus) अर्थात् 'सर्वसम्मति' से उधार ली है। दुर्खीम सामूहिक चेतना की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि "सामूहिक चेतना" वह विश्वास और संवेग (Beliefs and Sentiments) हैं जो समाज के औसत सदस्यों में सामान्य रूप से जाए जाते हैं।" उदाहरण के लिए, यह लोगों का विश्वास है कि निर्बल की मदद करनी चाहिए तथा गरीबों को यातनाएँ नहीं देनी चाहिए। विश्वासों की ही तरह लोगों के संवेग भी होते हैं। संवेग, भावनाओं, विचारों तथा मुहावरों से परिपूर्ण होते हैं। ये संवेग व्यक्ति तथा वस्तु दोनों के प्रति होते हैं। ये वैसे तो नहीं दिखते; प्रतीकों के रूप में सामने आते हैं।

आदिम समाजों में सामाजिक चेतना की बहुत गहरी पैठ होती है। उदाहरणार्थ, इन समाजों में सामाजिक नियंत्रण और प्रतिबंध को बहुत ही सख्ती से लागू किया जाता है जिसकी अवहेलना करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार एक समाज में सामाजिक चेतना जितनी ही मजबूत होगी, वहाँ अपराध उतने ही कम होंगे। स्पष्ट है कि सामूहिक चेतना आदिम समाजों में सम्बद्धता, एकता और सुदृढ़ता लाती है। बाद में, दुर्खीम ने बताया कि सामाजिक चेतना सावयवी समाज (Organic Society) में भी सुदृढ़ता लाती है।

14.4 सामूहिक चेतना की मुख्य विशेषताएँ :

(Main Characteristic of Collective Consciousness)

(1) सामूहिक चेतना वास्तविक होता है :- दुर्खीम का मानना है कि सामूहिक चेतना विश्वास और संवेग में निहित होता है जो प्रतीक रूप में हमारे सामने आते रहते हैं। लेकिन समाज में इन विश्वासों, संवेगों, मूल्यों आदि को संस्थाओं के रूप में रखा गया है और ये संस्थाएँ शून्य में न रहकर, वास्तविक रूप में दिखायी देती हैं। उदाहरणार्थ—'वियजदशमी' का त्यौहार इस विश्वास और संवेग को प्रतिनिधित्व देता है कि बुराई पर अच्छाई की जीत होती है। यही विश्वास मूर्त रूप से इस त्यौहार में देखा जा सकता है।

(2) सामूहिक चेतना पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है :- सामूहिक चेतना एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में सामाजीकरण के माध्यम से हस्तान्तरित होती रहती है। यह निरन्तरता शताब्दियों से चलती आ रही है। जैसे, हमारी धार्मिक आस्थाएँ ज्यों की त्यों बनी हुई हैं और हम उसी लगन और विश्वास से पूजा-अर्चना कर रहे हैं। दुर्खीम के अनुसार इसका अर्थ यह नहीं कि सामूहिक चेतना में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता; परिवर्तन होता है लेकिन सतही स्तर पर। समाज में लोग तो आते जाते रहते हैं लेकिन सामूहिक चेतना ज्यों की त्यों बरकरार रहती है।

(3) व्यक्ति की दो चेतनाओं में एक सामूहिक चेतना है :- दुर्खीम के अनुसार किसी भी व्यक्ति विशेष के अन्दर दो प्रकार की चेतनाएँ होती हैं—एक उसकी खुद की तथा दूसरी सामूहिक चेतना। पहली चेतना में, उसकी अपनी पसन्द-नापसन्द, को अपनी सोच-समझ के तरीके आदि होते हैं। सामाजिक चेतना सामान्य होती है। यहाँ उसकी अपनी सोच नहीं होती। सामाजिक चेतना व्यक्ति विशेष के अन्दर इस कदर घर कर जाती है कि वह इसकी उपस्थिति पर तर्क करना या प्रश्न चिन्ह लगाना उचित नहीं समझता। इसलिए, गाय का दूध कयों पवित्र है, सूअर कयों अपवित्र है, इस पर वह तर्क नहीं करता। इन बातों को यथावत् वह इसलिए स्वीकार कर लेता है क्योंकि वह इस प्रकार के विश्वास और संवेग से घिरा हुआ है। समाज की यह धारणा ही व्यक्ति की सामाजिक चेतना है।

सामाजिक चेतना का किसी भी प्रकार का उल्लंघन पूरे समाज पर आघात समझा जाता है। इस प्रकार जब भी कोई व्यक्ति अपने आप को समाज से ऊपर समझने की कोशिश करता है तो उसे दण्ड प्रक्रिया के माध्यम से दबा दिया जाता है।

(3) सामूहिक चेतना की पकड़ सभी समाजों में समान नहीं होती :- यांत्रिक समाजों में सामूहिक चेतना अधिक शक्तिशाली होती है। इसके विपरीत सावयवी समाजों में इसकी शक्ति क्षीण होती

14.5 सामूहिक प्रतिनिधित्व का अर्थ एवं अवधारणा :

(Meaning of Collective Representation and Concept)

दुर्खीम के चिंतन में सामूहिक प्रतिनिधित्व की धारणा सर्वप्रमुख धारणा है जो सामाजिक तथ्यों के विश्लेषण पर आधारित है। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे विचार-धारणाएँ और भावनाएँ होती हैं जिन्हें समाज के अधिकतर लोग सामान्य रूप से अपनाते हैं। चूंकि ये विचार, धारणाएँ और भावनाएँ सबके द्वारा मान्य होती हैं इस कारण ये सामूहिक रूप से समस्त समूह का प्रतिनिधित्व करती हैं।

सामूहिक प्रतिनिधित्व का जन्म चेतना से ही होता है। सामूहिक प्रतिनिधित्व चेतना या जनमत नहीं बल्कि उसके प्रतीक होते हैं। सामूहिक प्रतिनिधित्व की निम्नलिखित दो विशेषताएँ

होती है। प्रथम यह सारे समाज में फैली होती है। द्वितीय इनका व्यक्ति के ऊपर नियंत्रणात्मक प्रभाव होता है।

सामूहिक प्रतिनिधित्व को दुर्खीम ने सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। ये सामूहिक विचार धारणाएँ या भावनाएँ जिन्हें समाज की मान्यता प्राप्त होती है जिनका समाज पर बाध्यकारी प्रभाव होता है, सामूहिक प्रतिनिधान कहलाते हैं।

14.6 सारांश : (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके हैं:- दुर्खीम ने सभी समाजों में सामूहिक विश्वासों, भावनाओं और विशेषकर नैतिकता और धर्म की भूमिका को देखा है। एक समाज की विभिन्न अवस्थाओं के दौरान सामूहिक विश्वास एवं भावनाएँ कैसे बदलती है। दुर्खीम ने सामूहिक प्रतिनिधित्व की अवधारणा को अपनी पुस्तक "दा सुसाइड" में परिभाषित किया है। वास्तव में सामाजिक जीवन प्रतीको का बना होता है। एक वस्तु और एक देखने के ढंग के बीच अंतर होता है।

14.7 शब्दावली : (Glossary)

(1) सामूहिक चेतना :- किसी समाज के सदस्यों के बीच सामान्य विश्वासो, मान्यताओ एवं भावनाओ की एक व्यवस्था की रचना को सामूहिक चेतना कहते हैं।

(2) सामूहिक प्रतिनिधित्व :- समाज द्वारा मान्य उन विचारो, धारणाओं, भावनाओं तथा प्रतीको को सामूहिक प्रतिनिधान की संज्ञा दी जाती है। जो सामूहिक रूप से समस्त समूह का प्रतिनिधित्व करते है।

14.8 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर : (Answer Questions of Practice)

24. दुर्खीम के सामूहिक चेतना से आप क्या समझते है?

- (क) समाज के औसत सदस्यों का मत
- (ख) समाज के किसी सदस्य का मत नहीं
- (ग) दोनो
- (घ) दोनो में कोई नहीं

उत्तर - क

25. सामूहिक प्रतिनिधान से तात्पर्य है :-

- (क) प्रतीक
- (ख) श्रेष्ठ

(ग) समूह विशेष (घ) तीनों
उत्तर – घ

26. सामूहिक चेतना को किससे चोट पहुँचती है?

(क) अनैतिक कार्यों से (ख) नैतिक कार्यों से
(ग) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं

उत्तर – क

27. दुर्खीम ने सामूहिक चेतना की अवधारणा का सम्बंध है—

(क) पारसन्स (ख) अल्थुजर
(ग) मैक्स वेबर (घ) टायलर

उत्तर – घ

28. दुर्खीम के अनुसार सामूहिक चेतना कौन से समाज में दृढ़ता लाता है?

(क) साक्यवी समाज (ख) यांत्रिकी समाज
(ग) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं

उत्तर – ग

14.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची : (References)

1. रेमो, ओरो (1979) : मेन करेन्ट्स इन सोशियोलॉजिकल थॉट-II पेग्विन, हरमंडस वर्थ
2. लेविस कोजर (1956) : "मास्टर ऑफ सोसियोलॉजिकल थॉट", रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली

14.10 सहायक/उपयोगी सामग्री : (Useful Contain)

1. हरिकृष्ण रावत (2011) : सामाजिक चिंतक एवं सिद्धांतकार, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

14.11 निबन्धात्मक प्रश्न : (Essay Type Questions)

- ✓ सामूहिक चेतना के क्या तात्पर्य हैं?
- ✓ सामूहिक प्रतिनिधित्व से आप क्या समझते हैं?
- ✓ धर्म समाज की आत्मा है, स्पष्ट करो।
- ✓ लौकिक से आप क्या समझते हैं?
- ✓ सामाजिक एकता से आप क्या समझते हैं?
- ✓ सामूहिक चेतना व सामूहिक प्रतिनिधित्व की तुलना को समझ पायेंगे।

इकाई-15 : धर्म और वर्गीकरण
(Religion & Classification)

इकाई की रूपरेखा

- 15.0 उद्देश्य
- 15.1 प्रस्तावना
- 15.2 धर्म का वर्गीकरण
 - 15.2.1 धर्म की अवधारणा
 - 15.2.2 धर्म का अर्थ एवं परिभाषा
 - 15.2.3 धर्म की उत्पत्ति के कारण
 - 15.2.4 धर्म के प्रकार्य
- 15.3 धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप
- 15.4 धर्म सम्बन्धी अन्य सिद्धांत
- 15.5 धर्म का सामाजिक सिद्धांत
- 15.6 सारांश
- 15.7 शब्दावली
- 15.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 15.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
- 15.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 15.11 निबंधात्मक प्रश्न

15.0 उद्देश्य : (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने में उपरान्त आप :-

- ✓ समझ पायेंगे की समाज में धर्म की उत्पत्ति किस तरह हुई?
- ✓ दुर्खीम के धर्म के प्रकार्यवादी विश्लेषण की व्याख्या को समझ पायेंगे?
- ✓ धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप एवं समाज ने धर्म की भूमिका के बारे में दुर्खीम के विश्लेषण को समझ पायेंगे।
- ✓ दुर्खीम के धर्म की उत्पत्ति के कारणों को समझ पायेंगे।
- ✓ दुर्खीम के धर्म के प्रकार्य क्या हैं?
- ✓ धर्म के अन्य सिद्धांतों को समझ पायेंगे।
- ✓ धर्म के सामाजिक सिद्धांतों को समझ पायेंगे।

15.1 प्रस्तावना : (Introduction)

दुर्खीम मानव धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप का अध्ययन करते हैं। दुर्खीम प्रारम्भिक धर्मों का अध्ययन केवल इसलिये करते हैं क्योंकि उनका कहना है कि इन प्रारम्भिक स्वरूपों के आधार पर हम आधुनिक समाज में प्रचलित धर्मों को समझा सकते हैं किसी भी समाजशास्त्री की तरह वह इस बात से इन्कार नहीं करते कि धर्म एक सामाजिक संस्था है ताकि ऐसी संस्थाओं को उन समाजों का समर्थन प्राप्त होता है जिसमें वे पायी जाती है। दुर्खीम ने टोटम को एक प्रारम्भिक धर्म माना है तथा धर्म की उत्पत्ति टोटमवाद के आधार पर देने का प्रयत्न किया है दुर्खीम के अनुसार धार्मिक विचार एवं क्रियाएँ समूह के प्रतीक हैं। दुर्खीम के धर्म के उत्पत्ति का सिद्धान्त आस्ट्रेलिया की अरूण्टा नामक जनजाति के टोटम सम्बंधी क्रियाओं के अवलोकन तथा विश्लेषण पर आधारित है। उन्होंने अरूण्टा जनजाति को इसलिए चयन किया क्योंकि सबसे आदिम अवस्था में थी।

15.2 धर्म का वर्गीकरण : (Religion & Classification)

धर्म की सामाजिक व्याख्या दुर्खीम ने अपनी पुस्तक धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप Elementary Form of Religious Life में प्रस्तुत की है। इस पुस्तक का वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों व आचरणों की वह समग्र व्यवस्था है जो इन पर विश्वास करने वालों की एक नैतिक समुदाय (चर्च) में संयुक्त करती है इस प्रकार दुर्खीम धर्म को सामूहिक विश्वासों व आचरणों की एक ऐसी नैतिक व्यवस्था मानते हैं जो कि पवित्रता की धारणा से सम्बन्धित है।

सामूहिक जीवन की समस्त घटनाओं या वस्तुओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

1. पवित्र (Sacred)

2. अपवित्र (Profane)

दुर्खीम के अनुसार “जिन वस्तुओं को पवित्र माना जाता है, धर्म उन्हीं से सम्बन्धित विश्वासों व व्यवहारों की स्वीकृति प्रणाली है।” धर्म के द्वारा समान विश्वासों व व्यवहारों के अनुयायी एक नैतिक समुदाय में एकताबद्ध होते हैं। इन मूल तत्वों से धर्म की संरचना तथा इकाई दोनों स्पष्ट हो जाते हैं—

1. पवित्र वस्तु
2. विश्वास तथा व्यवहार
3. अनुयायी / श्रद्धालु
4. एक नैतिक समुदाय

समाज के सदस्य जिन्हें पवित्र समझते हैं उन्हें अपवित्र या साधारण से सदा दूर रखने का प्रयत्न करते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक विश्वासों, आचरणों, संस्कारों या उत्सवों को जन्म देते हैं। धर्म इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम है क्योंकि इन प्रयत्नों से सम्बन्धित विश्वासों, आचरणों, संस्कारों आदि के पीछे समस्त समाज की अभिमति और दबाव होता है, इस कारण समाज की उस सामूहिक सत्ता के सामने मनुष्य को नतमस्तक होना ही पड़ता है।

15.2.1 धर्म की अवधारणा : (Concept of Religion)

दुर्खीम ने धर्म से सम्बन्धित प्रारम्भिक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये टोटमवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उन्होंने आस्ट्रेलिया की अरुण्टा (Arunta) जनजाति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया। उनका कहना है कि इन जनजातीय लोगों के जीवन का अध्ययन करने पर धार्मिक अनुभव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमें स्पष्ट धारणा हो सकती है और वह धारणा यह

है कि धार्मिक अनुभव एक प्रकार की सामूहिक उत्तेजना के कारण हैं। त्यौहारों व उत्सवों पर जब गोत्र (Clan) के सभी लोग एक साथ एकत्र होते हैं तो प्रत्येक सदस्य को ऐसा अनुभव होता है कि समूह की शक्ति उसकी वैयक्तिक शक्ति से कहीं अधिक उच्च और महान है। इन त्यौहारों व उत्सवों का अस्तित्व ही अनेक लोगों की उपस्थिति पर आधारित होता है। समान भावों, विचारों व रुचियों वाले अनेक व्यक्तियों के वैयक्तिक भावों, विचारों व रुचियों के सम्मेलन और संगठन से एक नवीन चेतना या उत्तेजना का निर्माण होता है यही सामूहिक शक्ति होती है, जिसके सम्मुख प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से झुकना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर एक ही समय में अनेक व्यक्ति एकत्रित रहते हैं और व्यक्ति के विचार व संवेग सभी उपस्थित व्यक्तियों के विचारों व संवेगों के अनुकूल होते हैं। उस अनुकूलता व अनुरूपता का आभास ही व्यक्ति को प्रफुल्लित व उत्तेजित कर देता है। अतः व्यक्ति की शक्ति गौण तथा समूह की शक्ति को प्रधानता मिलती है। जिससे उसके मन में समूह के प्रति भय, श्रद्धा व भक्ति की भावना पनपती है।

टोटम शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग जे० लोंग ने किया है। दुर्खीम के अनुसार टोटम के नाम है, प्रतीक है या चिन्ह भी या गोत्र समूह का नाम है। एक टोटम को मानने वालों में परस्पर नातेदारी एवं रक्त के सम्बन्ध होते हैं। दुर्खीम लिखते हैं कि टोटमवाद नैतिक कर्तव्यों और मौलिक विश्वासनों का एक समूह है जिनके द्वारा समाज पशु, पौधों एवं अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के बीच एक पवित्र और अलौकिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

दुर्खीम ने टोटम की निम्न विशेषताएँ बताई हैं—

1. प्रत्येक गोत्र का एक टोटम होता है, जिसके साथ गोत्र के सभी सदस्य अपना पवित्र

और अलौकिक सम्बन्ध मानते हैं।

2. टोटम उस शक्ति का प्रतीक है, जो समूह की रक्षा करती है, उसे अपवित्रता से बचने की चेतावनी देती है, और भावी घटनाओं के विषय में संकेत करती है।
3. गौत्र के सदस्य टोटम को अपना मूल पिता मानते हैं।
4. टोटम के प्रति भय, श्रद्धा और भक्ति की भावना रखी जाती है। टोटम को खाना, मारना, हानि पहुंचाना वर्जित होता है। उसके चित्र रखे जाते हैं और उससे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को पवित्र माना जाता है।

15.2.2 धर्म का अर्थ एवं परिभाषा :

(Meaning of Religion & Definition)

दुर्खीम के अनुसार संसार की समस्त घटनाओं एवं वस्तुओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—पवित्र एवं सांसारिक। पवित्र तथा सांसारिक में अन्तर्धार्मिक विचारों के आधार पर ही है। धर्म की परिभाषा इन दोनों के पृथक्करण के बिना नहीं दी जा सकती। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो हमारे सामान्य जीवन को घेरे रखने वाली वस्तुओं से अधिक सम्मानीय तथा शक्ति से सम्बन्धित हैं तथा प्रत्येक सदस्य बिना किसी सन्देह से यह जानता है कि ये वस्तुएँ कौन सी हैं तथा इनसे कैसे व्यवहार किया जाना चाहिए। इन विचारों के आधार पर दुर्खीम ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी है—

“धर्म पवित्र वस्तुओं, वे वस्तुएँ जो अन्य वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों एवं क्रियाओं की एक सम्बन्धित व्यवस्था से अलग मानी जाती हैं और निषेधों में बँधी हैं ये विश्वास और क्रियाएँ उन सभी को जो उनका पालन करते हैं एक उस नैतिक समुदाय के रूप में एकबद्ध कर देती हैं जिसे मठ या मत (चर्च) कहा जाता है।

दुर्खीम से पहले धर्म से सम्बन्धित कई सिद्धांत (टायलर का आत्मवाद, मैक्समूलर का प्रकृतिवाद आदि) प्रचलित थे, जिसमें धर्म की व्याख्या व्यक्तिगत विचार, प्रक्रियाओं अथवा मनोवैज्ञानिक धारणाओं (अर्थात् भय, आश्चर्य स्वप्न आदि) के संदर्भ में की गई थी। दुर्खीम ने उपरोक्त सिद्धांतों का खण्डन करते हुए कहा कि टायलर द्वारा अपने आत्मवाद के सिद्धांत में आदिमानव का अधिक तर्कयुक्त दार्शनिक मान लेना गलत है। धर्म जैसे जटिल घटना की व्याख्या परछाई, स्वप्न, मृत्यु या वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर संभव नहीं है। इसी प्रकार, मैक्समूलर द्वारा धर्म की व्याख्या में प्रकृति पर अधिक बल देना एवं सामाजिक आधार की अवहेलना अवैज्ञानिक है।

दुर्खीम ने कहा कि उपरोक्त दोनों ही सिद्धांत आनुभविकता से परे हैं। जिसने देखा है कि मनुष्य की दो आत्माएं होती हैं, और एक ब्रह्माण्ड में घूमती हैं धर्म का संबंध पवित्रता से है और यह पवित्रता प्रकृति की भयानक वस्तुओं और आत्मा के साथ नहीं जोड़ी जा सकती है। तत्पश्चात्, दुर्खीम ने अपना धर्म का सामाजिक सिद्धांत प्रस्तुत किया और यह स्थापित किया कि प्रत्येक धर्म का वास्तविक आधार समाज है तथा प्रत्येक धर्म समाज को एक नैतिक समुदाय के रूप में एकताबद्ध करता है।

15.2.3 धर्म की उत्पत्ति के कारण : (Origion of Religion)

दुर्खीम के अनुसार दुनिया के प्रत्येक समाज में सभी वस्तुओं को भागों में विभक्त किया जाता है। 1. पवित्र तथा 2. लौकिक। धर्म का संबंध पवित्र वस्तुओं से है, अर्थात् धर्म पवित्र वस्तुओं से संबंधित विश्वासों एवं आचरण की वह समग्र व्यवस्था है जो इन पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में आबद्ध करता है।

दुर्खीम के अनुसार कोई भी वस्तु अपने अंतर्निहित गुणों या उपयोगितावादी मूल्यों के कारण पवित्र नहीं होती, बल्कि इसलिए पवित्र होती है कि समाज इनको विशेष आदर व सम्मान देता है तथा वस्तुओं के क्रम में इनको उँचा स्थान प्रदान करता है। समाज के मिथक, दंतकथायें, रूढियां, विश्वास आदि वस्तुओं के सद्गुणों एवं शक्तियों को तथा लौकिक साथ इनके संबंधों को निरूपित करते हैं। इसके विपरीत, वस्तुएं जो पवित्र नहीं हैं, लौकिक हैं। अर्थात्, वे वस्तुएं को समाज उपयोगितावादी लक्षणों या आर्थिक लाभ या हानि की दृष्टि से देखना है वे लौकिक हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दू समाज में कागज या पूजा के फूल को पवित्र माना जाता है और यदि उससे व्यक्ति का पैर छू जाए तो उसको प्रणाम कर क्षमायाचना की जाती है। जबकि, यही समाज कागज या फूल को जब वह बाजार में क्रय विक्रय के लिये उपलब्ध होता है, लौकिक रूप में देखता है। स्पष्ट है, किसी भी वस्तु में अंतर्भूत ऐसे तत्व या गुण नहीं होते जो किसी वस्तु को पवित्र या लौकिक बनाते हों, बल्कि समाज द्वारा उस वस्तु को देखने का दृष्टिकोण ही उसको पवित्र या लौकिक की श्रेणी में डाल देता है। अर्थात्, किसी वस्तु की पवित्रता का स्रोत उस वस्तु में निहित गुण नहीं बल्कि समाज है। इस रूप में, धर्म का वास्तविक स्रोत या कारण भी समाज है।

अपने उपरोक्त विचारों की पुष्टि हेतु दुर्खीम ने जनजातीय समाज में प्रचलित 'टोटमवाद' को संदर्भित किया है। दुर्खीम के अनुसार आस्ट्रेलिया की अरुण्टा जनजाति कई गोत्रों में विभक्त है। प्रत्येक गोत्र का एक टोटम होता है जो कोई पशु, पक्षी, पेड़ या निर्जीव वस्तु भी हो सकता है। इस टोटम के साथ उस गोत्र के सदस्य अपनी उत्पत्ति को जोड़ते हैं, विशेष भावात्मक संबंधों का अनुभव करते हैं और उसको विशेष सम्मान या श्रद्धा प्रदान करते

हैं। किसी गोत्र के सदस्य अपने टोटम के वास्तविक (कबूतर, गिद्ध आदि) तथा प्रतीकात्मक (कबूतर, गिद्ध आदि का चित्र जिसे वे चुरिंगा कहते हैं) दोनों रूपों को पवित्र मानते हैं, इनको हानि नहीं पहुंचाने तथा इनमें निहित अलौकिक शक्ति की मान्यताओं के कारण इनको अपना रक्षक मानते हैं।



दुर्खीम का तर्क है कि इस टोटम में कोई अंतर्भूत गुण या अलौकिक शक्ति नहीं होती है। यदि ऐसा होता तो एक गोत्र के सदस्य दूसरे गोत्र के टोटम को नुकसान पहुंचाने या मारकर खाने का साहस नहीं करते, अर्थात् टोटम में निहित-शक्ति का स्रोत समाज है इसलिये टोटमवाद पूर्वज नहीं है, पशु-पक्षी पूजा भी नहीं है, यह तो समाज पूजा है। दुर्खीम के अनुसार यही टोटमवाद आधुनिक धर्म के उद्विकास क्रम में धर्म का प्रारंभिक स्वरूप है। इस तरह, दुर्खीम ने धर्म को पवित्र वस्तुओं से संबंध करके तथा पवित्रता का स्रोत समाज को बताकर यह स्थापित किया है कि धर्म सामूहिक चेतना अथवा समाज की अभिव्यक्ति है और धार्मिक पूजा की सच्ची वस्तु समाज की पूजा करना है।

धर्म के अपने सामाजिक सिद्धांत को प्रस्तुत करने से पहले दुर्खीम ने धर्म से सम्बन्धित अब तक के प्रचलित सिद्धांत का खण्डन किया है। इन सिद्धांतों में विशेष रूप से टायलर तथा स्पेन्सर द्वारा प्रतिपादित आत्मवाद के सिद्धांत तथा मैक्स मूलर और अन्यो द्वारा प्रतिपादित प्रकृतिवाद के सिद्धांत प्रमुख हैं।

दुर्खीम ने टोटम को एक प्रारंभिक धर्म माना है तथा धर्म की उत्पत्ति टोटमवाद के आधार पर देने का प्रयत्न किया है। दुर्खीम के अनुसार धार्मिक विचार एवं क्रियाएँ समूह के

प्रतीक है तथा विशिष्ट अवसरों सदस्यों का सामूहिक मिलन अनुभवों का है। दुर्खीम का धर्म की उत्पत्ति का सिद्धांत आस्ट्रेलिया की अरुण्टा नामक जनजाति के टोटम संबंधी क्रियाओं के अवलोकन तथा विश्लेषण पर आधारित है। उन्होंने अरुण्टा जनजाति का चयन इसलिए किया था क्योंकि यह जनजाति सबसे अधिक आदिम अवस्था में है। अरुण्टा जनजाति में प्रत्येक गोत्र का एक प्रतीक होता है जिसे टोटम कहा जाता है। यह टोटम कोई पक्षी, जानवर, पौधा अथवा वस्तु हो सकता तथा इसी टोटम को गोत्र के व्यक्ति अपनी उत्पत्ति का स्रोत मानते हैं तथा पवित्र समझते हैं। यदि गोत्र का कोई सदस्य टोटम संबंधी किसी नियम का उल्लंघन करता है तो गोत्र संगठन उस व्यक्ति को कठोर दण्ड देता है। अरुण्टा जनजाति का सम्पूर्ण संगठन टोटमवाद पर आधारित है। संक्षेप में, टोटम एक गोत्र के सदस्यों की उस पवित्र वस्तु के प्रति धारणा अथवा विश्वास को कहते हैं जोकि वे अपने टोटम के प्रति रखते हैं। त्योहारों तथा उत्सवों पर जब एक गोत्र के लोग एकत्रिक होते हैं तो उन्हें यह अहसास होता है कि समूह की शक्ति उनकी अपनी व्यक्तिगत शक्ति से कहीं अधिक है। इससे एक सामूहिक उत्तेजना का निर्माण होता है, एक ऐसी शक्ति का निर्माण होता है जिसके सामने सबको झुकना पड़ता है।

अरुण्टा जनजाति के अपने अध्ययन के आधार पर दुर्खीम ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वास्तव में, समाज तथा ईश्वर एक ही है और समाज ईश्वर का ही प्रतीक है, इसलिए धर्म की उत्पत्ति भी समाज से ही हुई है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि धर्म एक सामाजिक घटना है। धर्म का स्रोत समाज है तथा धार्मिक विश्वास केवल मात्र समाज की

विशेषताओं के प्रतीक है। धर्म का सामाजिक कार्य समाज में सामाजिक एकता की उत्पत्ति करना तथा इसमें वृद्धि एवं स्थायित्व लाना है।

संक्षेप में, दुर्खीम के धर्म के सिद्धांत के बारे में यहा कहा जा सकता है कि धर्म की उत्पत्ति समाज में हुई है न कि आत्मा परमात्मा के विचारों अथवा प्रकृति के भय से। वास्तव में, ईश्वर और समाज एक ही है तथा धार्मिक क्रियाएँ अथवा मृत्यु आदि समूह के व्यक्तियों की मानसिक अवस्थाओं को उत्तेजित, व्यवस्थित तथा पुजीर्वित करते हैं। धर्म पवित्र वस्तुओं से संबंधित विश्वासों और आचरण की वह समग्र व्यवस्था है जो उन पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है। धर्म का अध्ययन धार्मिक कृत्यों द्वारा किया जा सकता है। धार्मिक कृत्यों का अवलोकन भी सम्भव है तथा इनका वस्तुनिष्ठ रूप से अध्ययन भी किया जा सकता है। धर्म का सामाजिक कार्य व्यक्तियों को परस्पर नजदीक लाना तथा उन्हें एक सूत्र में बाँधकर सामाजिक एकता लाना है। सोरोकिन ने दुर्खीम के धर्म के सिद्धांत का सार इस प्रकार दिया है—

दुर्खीम ने धर्म को पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों और क्रियाओं की समन्वित व्यवस्था कहा है। ये पवित्र वस्तुएँ ऐसी है जो हमारे सामान्य जीवन को घेरे रखने वाली वस्तुओं से अधिक सम्माननीय तथा शक्ति से सम्बन्धित हैं तथा यही वस्तुएँ धर्म के तत्व कही जा सकती हैं। ये पवित्र वस्तुएँ प्रत्येक समाज में पायी जाती हैं तथा सभी सदस्य निसन्देह यह जानते हैं कि उनके प्रति केसा व्यवहार किया जाना है।

अतिप्राकृतिक वस्तुएँ (शुभ तथा अशुभ दोनों) सदैव ही पवित्र होती हैं तथा इसीलिए वे श्रद्धा योग्य होती है। विभिन्न धर्मों में असुर, प्रेतात्माएँ और संहारक देवता 'बुरे' होते हैं, किन्तु

किसी भी धर्म में अतिप्राकृतिक जगत कुल मिलाकर शुभ ही होता है। ऐसी मान्यता है कि यदि व्यक्ति सही ढंग से कार्य करे तो वह सदैव ही इन शक्तियों को अपने पक्ष में ला सकता है और अगर पक्ष में न भी ला सके तो कम से कम उन्हें तटस्थ तो कर ही सकता है। दूसरी ओर सही ढंग से इनके प्रति व्यवहार न करने पर ये अतिप्राकृतिक वस्तुएँ व्यक्ति के लिए खतरनाक हो सकती है।

अतिप्राकृतिक प्राणी और शक्तियाँ पवित्र है। अतः इनके प्रति व्यवहार करते समय विशेष सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है यद्यपि अतिप्राकृतिक प्राणी शक्तियाँ अदृश्य तथा अस्पृश्यमान है। ईसाई गिरजे की वेदी इसका उदाहरण है जिसके पास से गुजरते हुए कैथेलिक लोग घुटने टेककर शीशे नवाते हैं। गोचर पवित्र पदार्थों के प्रति श्रद्धा दर्शाने का यह तरीका बहुत अधिक प्रचलित है। कुछ पदार्थों को इसलिए पवित्र माना जाता है कि वे अदृश्य अतिप्राकृतिक प्राणियों के प्रतीक होते हैं। उदाहरण के लिए मूर्तियों देवी-देवताओं की प्रतीक होने के नाते पवित्र मानी जाती हैं। अन्य पदार्थों का अतिप्राकृतिक से अधिक घनिष्ठ संबंध होने के कारण पवित्र माना जाता है और उनके प्रति विशेष प्रकार का व्यवहार किया जाता है। इस प्रकार, चर्च या मन्दिर की प्रत्येक वस्तु में विशिष्ट पवित्र पदार्थों की थोड़ी बहुत पावनता आ ही जाती है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है पवित्र 'संक्रामक' होता है और सावधानीपूर्वक व्यवहार न करने पर ये पवित्र पदार्थ हानि भी पहुँचा सकते हैं। जॉनसन का कहना है कि पादरियों, जोकि साधारण व्यक्तियों की तुलना में पवित्र के अधिक निकट सम्पर्क में रहते हैं, में भी थोड़ी बहुत पावनता होती है, यहाँ तक कि उनकी पोशाक भी साधारण नहीं होती क्योंकि उसमें भी स्पर्श के कारण संक्रामकता आ जाती है। नीच जैसे समाजों में जहाँ

कि लोग अपने पूर्वजों की आत्मों की पूजा करते हैं यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि व्यक्ति ज्यों-ज्यों वृद्ध होता है और मृत्यु के समीप बढ़ता जात है, त्यों-त्यों उसकी पवित्रता बढ़ती जाती है।

इस प्रकार, दुर्खीम के अनुसार पवित्र सांसारिक नहीं है। यह अनुपयोगी तथा गैर-आनुभाविक है यह ज्ञान सम्मिलित नहीं करता अपितु शक्ति सम्मिलित करता है, यह प्रकृति, संस्कृति तथा मानवीय कल्याण की दृष्टि से अस्पष्ट है, यह बल प्रदान करने वाला तथा पोषण करने वाला है, या अत्यन्त श्रद्धा व नैतिकता की माँग करने वाला है।

जॉनसन के अनुसार कुछ विश्लेषक यह मानते हैं कि कुछ पदार्थ अपनी आन्तरिक विशेषताओं के कारण पवित्र होते हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य की पूजा इस कारण की जाती है कि यह चमकीला और गर्म होता है और फसल उगने में सहायता करता है, गंगा इसलिए पवित्र है कि वह एक शक्तिमान नदी है, 'यूजी, सिनाई, ओलम्पस तथा अन्य पर्वत इसलिए पूजे जाते हैं कि वे बहुत ऊँचे हैं और उनसे पीय लगता है। परन्तु इस सिद्धांत के गलत होने का प्रबल प्रमाण तो यह तथ्य है कि सभी पवित्र पदार्थ भय उत्पन्न नहीं करते हैं और न ही सभी ऊँचे पहाड़ और महान नदियाँ ही पवित्र होती हैं।

आमतौर पर यह सोच लिया जाता है कि प्राचीन या आदिवासी धर्म अपने अज्ञान के कारण 'भोंडे' और 'अंधविश्वासी' होते हैं। जॉनसन ने इसका खण्डन किया है तथा बताया है कि पवित्र सूअर या पवित्र सर्प को अज्ञान का कारण मानकर नहीं समझा जा सकता है। भारतवर्ष के लोग आदिवासी नहीं हैं पर वहाँ सभी हिन्दुओं द्वारा गाय की पूजा की जाती है। किसी कारण अपवित्र हुए घर को पवित्र करने के लिए गोबर का प्रयोग किया जाता है और

धर्मालु व्यक्ति गौमूत्र से अपने हाथ भिगोकर उसे अपने वस्त्रों पर छिटकते हैं। अतः सच्चाई यह है कि कोई भी वस्तु पवित्र मानी जा सकती है। पवित्रता पदार्थों का अन्तर्जात गुण नहीं है अपितु यह धर्मालु की अभिवृत्ति रखता है वह उसी कारण पवित्र हो जाती है।

गोचर पवित्र पदार्थों को समझने का सूत्र यह है कि वे अगोचर, अदृश्य अतिप्राकृतिक जगत के गोचर व दृश्य प्रतीक हैं। पवित्र पदार्थों के प्रति व्यवहार करते समय अतिप्राकृतिक जगत हमारी है। जॉनसन का कहना है कि परमात्मा और सत दूरस्थ और अदृश्य होते हैं और सम्भवतः स्वयं अकथनीय होते हैं, किन्तु एक मूर्ति को कोई भी देख सकता है और उसके आगे दीपक जला सकता है। इनका कहना है कि पवित्र पदार्थ अपने प्रतीकात्मक मूल्य के कारण पवित्र है, न कि अपने आंतरिक गुणों के कारण गिरजाघर या मन्दिर उपादेय प्रयोजनों के लिए आने भवन नहीं हैं अपितु प्रतीक हैं। ये जूजा सहज गोचर है और विश्वास को मजबूत करते हैं। गोचर होने के कारण ये प्रतीक निष्ठावान लोगों को संगठित रखने में विश्वास से भी अधिक सहायक होते हैं। विश्वास के शब्दिक सूत्र अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग अर्थ रख सकते हैं किन्तु दृश्य पावन पदार्थ प्रायः सभी के लिए समान से ही रहते हैं। साथ, विश्वासों को मानना इतना प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है जितना कि पवित्र पदार्थ के प्रति किया जाने वाला कार्य।

15.2.4 धर्म के प्रकार्य : (Function of Religion)

दुर्खीम ने धर्म के कारणों को स्पष्ट करने के पश्चात् धर्म की प्रकार्यावादी व्याख्या प्रस्तुत की है। दुर्खीम के अनुसार “धर्म पवित्र वस्तुओं से संबंधित विश्वासों एवं अनुष्ठानों की व्यवस्था है।” जब किसी समुदाय के लोग किसी अनुष्ठान को संपन्न करते हैं या उत्सवों को मनाते हैं

(जैसे—भारत में होली या छठ का त्यौहार) तो उनमें सामूहिकता, भाईचारा एवं एकता की भावना विकसित होती है।

धार्मिक विश्वास या अनुष्ठान से जुड़े कुछ विशिष्ट नियम तथा आदर्श समाज को दिशा देते हैं तथा समाज की नैतिकता को निर्धारित करके उसे एक नैतिक समुदाय के रूप में आबद्ध करते हैं। चूँकि, धर्म सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति है। इसलिए इसके पीछे निहित समूह की शक्ति सामाजिक नियंत्रक के रूप में कार्य करती है। धर्म द्वारा उत्पन्न विचार प्रक्रिया लोगों को उनकी परिस्थितियों के अनुरूप ढालने और जीने में मदद करती है साथ ही, धार्मिक आचरण करने वाले व्यक्ति में संसार का सामना करने की शक्ति दृढ़ होती है।

दुर्खीम ने धर्म के सामाजिक योगदान पर भी महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। प्रत्येक समाज में धर्म के अस्तित्व का पाया जाना और प्रारम्भ से लेकर आज तक बने रहना इस बात का प्रमाण है कि धर्म सामाजिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। धर्म से सम्बन्धित संस्कार और त्यौहार सामाजिक जीवन को न केवल सुगम बनाते हैं बल्कि उसे स्थायित्व भी प्रदान करते हैं। दुर्खीम ने धर्म तथा इससे सम्बन्धित संस्कार और त्यौहार सामाजिक जीवन को न केवल सुगम बनाते हैं बल्कि उसे स्थायित्व भी प्रदान करते हैं दुर्खीम ने धर्म तथा इससे सम्बन्धित विश्वासों, त्यौहारों और संस्कारों के निम्नलिखित प्रमुख प्रकार्य बताए हैं—

1. अनुशासनात्मक एवं समाजीकरण संबंधी प्रकार्य :- संस्कार व्यक्ति पर आत्मानुशासन लादते हैं। संस्कारों को बार—बार करने पर वे व्यक्ति की आदत बन जाते हैं। आदत मनुष्य का दूसरा स्वभाव है। यही कारण है कि मनुष्य अपने धर्म के दाये के बाहर न सोच पाता है, न अनुभूति कर पाता है और न कोर्य कर पाता है। इस भाँति, सच्चे अनुशासन

में बँध जाता है। इतना ही नहीं, वरन् जीवन के लिए उसकी आवश्यक तैयारी भी होती चली जाती है। इस प्रकार, व्यक्ति समाज के नैतिक आदर्शों के अनुरूप ढाल दिया जाता है। धार्मिक संस्कार क्योंकि औपचारिक के साथ-साथ कुछ सीमा तक निषेधात्मक तथा प्रावरोधी भी होते हैं, इसलिए ये संस्कार आवश्यक रूप से संन्यास अथवा तपस्या का रूप भी रखते हैं। इसी भाँति, धर्म सामाजिक जीवन में अनुशासन लाता है और व्यक्तियों को सामाजिक जीवन जीने की तैयारी करने में सहायता देता है। धार्मिक संस्कारों से जुड़े व्रत, अनेक निषेध, विशेष क्रियाएँ एवं कठोर नियम इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं।

2. संसक्तिकारी प्रकार्य :- धर्म के संस्कारों, समारोहों और त्योहारों के माध्यम से कोई समुदाय नियमकालिक स्वयं के ही अस्तित्व का पोषण करता है। ये वे साधन बन जाते हैं जिनके द्वारा लोग एक स्थान पर एकत्रित होते हैं, एक ही क्रिया में सहभागी हो जाते हैं और उस सामूहिक क्रिया के बीच में सामान्य संवेगों की अनुभूति करते हैं। इस प्रकार, एक धर्म को मानने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के साथ जुड़ा महसूस करते हैं। यही नहीं, वे एक-दूसरे के साथ अपनत्व और भ्रातृत्व के बन्धन महसूस करते हैं। परिणामतः धर्म सामाजिक एकता को उत्पन्न करने में बहुमूल्य कारक बन जाता है। धर्म का यही कार्य संसक्तिकारी कार्य बन जाता है।

3. पुनर्जीवन प्रदान करने वाला प्रकार्य :- प्रत्येक समाज अपने स्थायित्व या निरन्तरता को तभी बनाए रख सकता है जब वह अपने सदस्यों को इतिहास में हुए महान पुरुषों या घटनाओं की समय-समय पर याद दिलाता रहे। धार्मिक संस्कारों और त्योहारों की यह भूमिका है। इनके माध्यम से महापुरुषों के जीवन ओर उनकी घटनाओं का नियतकालिक

रूप से पुनः अभिनय के द्वारा मानो सजीवन किया जाता है। अभिनय करने वाले और दर्शक सभी मानो उसी युग में पहुँच जाते हैं। वे वैसे ही संवेग उमड़ते महसूस करते हैं जैसे मौलिक रूप से घटित हुए होंगे। उदाहरण के लिए, आज भी हिन्दू समाज में दशहरे पर होने वाली रामलीला, प्राचीन घटनाओं को प्रस्तुत करती है। टी0वी0 पर दिखाया गया सीरियल 'रामायण' कुछ समय के लिए हमें राम के युग में ही ले जाता है। हम उसे पात्रों के साथ इतना तदात्म्य महसूस करते हैं कि उनकी पीड़ाओं को अपने पर झेलते हैं। इस भाँति, धर्म समाज के वर्तमान को उसके भूतकाल से जोड़ देता है। इससे एक निरन्तरता भी बनी रहती है और समाज अपनी मर्यादाओं और परम्पराओं को स्थायी बनाए रखता है यह स्थायित्व भी अजायबघर में रखी जड़ वस्तुओं की भाँति नहीं वरन् बेजबान जीवन सतय की भाँति सजग और अटल हैं दुर्खीम के सटीक शब्दों में ये संस्कार "कुछ निश्चित विचारों एवं संवेगों को जगाने के लिए, वर्तमान को भूत से जोड़ने के लिए, अथवा व्यक्ति को समूह से जोड़ने के लिए कार्य करते हैं।"

4. उल्लासोत्पादक प्रकार्य :- धर्म का एक सबसे बड़ा काम यह भी है कि वह समाज के जीवन में उल्लास भरने का कार्य करता है। वाइन के अनुसार, "धार्मिक क्रियाएँ व्यक्तियों के मन में कल्याण की अनुभूति जगाती है। सभी सामाजिक समूहों में विजयों-पराजयों, सुखों-दुखों के उतार-चढ़ाव होते हैं।" इनके बीच धार्मिक त्योहार अथवा आयोजन लोगों के मन में उल्लास पैदा करते हैं और पुनः सामूहिक जीवन सुगमतापूर्वक सामाजिक आदर्शों के अनुरूप चलने लगता है। उदाहरण के लिए, किसी के यहाँ मृत्यु होने पर अनितम संस्कार के सम्पादन हेतु लोग एकत्र होते हैं। इस अवसर पर सभी लोग संतप्त

महसूस करते हैं और शोक की अभिव्यक्ति करते हैं। यह शोक में सामूहिक भागेदारी और अभिव्यक्ति पीड़ित व्यक्ति या व्यक्तियों का केवल सान्त्वना प्रदान करता है बल्कि उन्हें इस दारुण दुःख को सहने में सक्षम भी बनाता है। इतना ही नहीं वरन् पीड़ित व्यक्ति महसूस करते हैं कि हम इन मुश्किलों के क्षणों में अकेले नहीं हैं। इतना ही नहीं वरन् पीड़ित व्यक्ति महसूस करते हैं कि हम इन मुश्किलों के क्षणों में अकेले नहीं हैं। यह अनुभूति उन्हें पुनः सामाजिक जीवन की गतिविधियों में लग जाने की प्रेरणा देती है। वास्तव में, धर्म का विशेष अवसरों पर उल्लास और दिलासा देने का कार्य, वह भी सामूहिक क्रिया के रूप में, सामाजिक दृष्टि से बहुत ही मूल्यवान है।

5. सामाजिक नियन्त्रण का प्रकार्य :- दुर्खीम ने बताया है कि समाज में सामाजिक नियन्त्रण के दो सबसे अधिक शक्तिशाली साधन होते हैं—एक, कानून तथा दूसरा, धर्म। धर्म केवल अनुशासन ही पैदा नहीं करता वरन् एक संगठित मठ होने के नाते वह अपने सदस्यों पर बाह्य नियन्त्रण भी लगाता है। यूरोप में तो चर्च के पादरी सामाजिक अनाचार जैसे परस्त्रीगमन अथवा परपुरुषागमन, तलाक आदि के मामलों पर बकायदा न्यायालय की भाँति आरोप सुनते थे और विवाद पर निर्णय देकर दण्ड सुनाते थे। आदिवासी समाजों में भी पुराहित इस सामाजिक नियन्त्रण के कार्य को करते हैं। 3

6. सौन्दर्य अनुभूति वाला प्रकार्य :- धर्म के संस्कारों के साथ नृत्य—कला, चित्रकला, संगीत कला, मूर्ति कला एवं स्थापत्य कला सदा से जुड़ी रही है। सच तो यह है कि बहुत समय तक धर्म ही ने इन्हें जिन्दा रखा और प्रोत्साहन दिया यही कारण है कि सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति में प्राचीनकाल का धार्मिक स्वरूप ही मिलता है। 'पवत्रि' का तत्त्व

जुड़ जाने से वस्तुओं एवं व्यवहारों में स्वभावतः शुचिता, सौन्दर्य और श्रृंगार की भावनाएँ पैदा होती हैं। दुर्खीम के ही शब्दों में, “यह एक सुविदित तथ्य है कि खेलों और कला के प्रमुख स्वरूपों ने धर्म से ही जन्म लिया है और यह कि वे दीर्घकाल तक धार्मिक स्वरूप बनाए रहे हैं।”

7. मनोरंजनात्मक प्रकार्य :- दुर्खीम ने धर्म के एक और सामाजिक प्रकार्य की ओर भी इशारा किया है। वह है मनोरंज प्रदान करना। धार्मिक क्रियाओं में सामूहिक रूप से कुछ विशेष मुद्राएँ, अंग संचालन व अभिनय तथा लीलाएँ समाज के सदस्यों के लिए मनोरंजन का कार्य भी करती हैं। ऐसी क्रियाओं से उत्तेजनापूर्ण वातावरण बनता है और ऐसे उत्तेजनापूर्ण भावावेश के क्षण ही इन सामूहिक धार्मिक क्रियाओं को अन्य लौकिक अथवा सांसारिक क्रियाओं से भिन्न बना देते हैं, उनमें अलौकिकता का तत्व भर देती है तथा उन्हें स्मरणीय बना देती है। ये क्रियाएँ हैं। उसकी उबाऊ समरसता हम में नहीं उमंग भर देती है। परन्तु दुर्खीम ने हमें यह बताया है कि बहुत से विद्वान धार्मिक क्रिया के साथ जुड़े प्रत्येक शारीरिक मुद्रा या अंग संचालन में अर्थ ढूँढने की कोशिश करते हैं। वास्तविकता ये है कि बहुत सी ऐसी प्रक्रियाएँ किसी लक्ष्य या उद्देश्य के लिए नहीं होती वरन् भक्तों की क्रिया करने की या उछल कूद करने की ही पूर्ति करती हैं।

8. चिन्तन संबंधी प्रकार्य :- दुर्खीम के अनुसार धर्म निश्चित रूप से ब्रह्माण्ड विश्व, प्राणी, जन्म और मृत्यु आदि के संबंध में एक व्यवस्थित चिन्तन भी है। इतना ही नहीं, वह चिन्तन की प्रणालीया पद्धति भी है। इसलिए दुर्खीम धर्म और विज्ञान के बीच संबंध पर प्रकाश डालते हुए धर्म के चिन्तन संबंधी प्रकार्य की ओर इशारा करते हैं। धर्म अपने सदस्यों की

चीजों की प्रकृति के संबंध में और मानव के बारे में एक निश्चित अर्थ प्रदान करता है। विशेषतः उन सभी घटनाओं को तो धर्म ही स्पष्ट करता है यह बात दूसरी है कि धर्म ही स्पष्ट करता है जिन पर आधुनिक विज्ञान भी सन्तोषप्रद प्रकाश नहीं डाल पता किया जाने वाला स्पष्टीकरण मूर्त प्रमाणों द्वारा सिद्ध न किया जा सके। परन्तु धर्म की स्वाभाविक जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने में सफल हो जाता है और उसमें विश्वास करने वाले व्यक्तियों के लिए वही स्पष्टीकरण सत्य होता है। विज्ञान, धर्म द्वारा दिये गये वास्तविकता के स्पष्टीकरण को झुठला भी तो नहीं सकता। इसलिए धर्म के ये स्पष्टीकरण वास्तविकता के रूप में अपने अनुयायियों के बीच विद्यमान रहते हैं।

इस भाँति, दुर्खीम ने धर्म को एक सामाजिक तथ्य के रूप में देखा है और उसके वैज्ञानिक विश्लेषण को समाजशास्त्रीय दृष्टि से प्रस्तुत किया है। दुर्खीम के लिए धर्म सामाजिक जीवन में सकारात्मक भूमिका निभाता है। वह समाज में एकता, निरन्तरता और स्थिरता बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

15.3 धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप : (Elementary Forms of Religious Life)

दुर्खीम ने धर्म की व्याख्या में दो अवधारणाओं को रखा है—पवित्र और पार्थिव। पवित्र का अर्थ केवल भगवान या आत्मा से नहीं है, बल्कि पत्थर, लकड़ी, जानवर, टुकड़े, आभूषण आदि भी पवित्र वस्तुएं हो सकती हैं। जब हम किसी वस्तु को पवित्र कहते हैं तो इसके पवित्र होने के कारण निश्चित रूप से वस्तु में अन्तर्भूत लक्षण नहीं होते। उदाहरणस्वरूप 'गाय का दूध' लेते हैं। इसमें ऐसा कोई विशेष तत्व नहीं है जो उसे पवित्र बनाए। यह तो व्यक्तियों की इन वस्तुओं के प्रति सामान्य दृष्टिकोण नहीं रखते। वास्तव में इन वस्तुओं के प्रति लोगों की

अभिव्यक्तियाँ विशेष अभिव्यक्तियाँ होती हैं।

इसी प्रकार जो वस्तुएँ पवित्र नहीं हैं, वे पार्थिव हैं। पवित्र न होने के बावजूद पार्थिव वस्तुओं की उपयोगिता अधिक है। कोई वस्तु पवित्र या पार्थिव तब बनती है जब हम उसे एक विशेष दृष्टिकोण से देखते हैं। पार्थिव की परिभाषा में दुर्खीम कहते हैं—“पार्थिव वस्तुएँ प्रमुख रूप से आर्थिक और उपयोगी है। ये वस्तुएँ पवित्र वस्तुओं की प्रतिबन्ध होती है।” इस प्रकार हम पाते हैं कि अपने आप में कोई भी वस्तु पवित्र या अपवित्र नहीं है। समाज जिसे पवित्र कहता है, वह पवित्र है, समाज जिसे अपवित्र कहता है वह अपवित्र है। दुर्खीम के अनुसार, पवित्र और पार्थिव की अवधारणा एक समाज से दूसरे समाज में बदलती रहती है। यह सापेक्षिक है।

15.4 धर्म सम्बन्धी अन्य सिद्धान्त : (Other Religion Related Theories)

आत्मवाद (Animism) तथा प्रकृतिवाद (Naturism) टायलर ने धर्म की उत्पत्ति समझाने के लिए ‘आत्मवाद’ के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। इसके अनुसार, “आत्मा की धारणा ही आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म के दर्शन का आधार है।”, “आत्मा की धारणा रोज के जीवन से सम्बन्धित दो प्रकार के अनुभव के कारण विशेष रूप से उत्पन्न हुई। वे अनुभव (1) मृत्यु और (2) स्वप्न थे। प्रथम अनुभव के आधार पर शरीर—आत्मा और दूसरे के आधार पर स्वतंत्र आत्मा की धारणा उत्पन्न हुई। आत्माएँ अमर तथा मनुष्य के नियन्त्रण के बाहर हैं—इस विश्वास के कारण ही पितरों की पूजा आरम्भ हुई जो कि आगे चलकर धर्म के रूप में विकसित हुई।

‘प्रकृतिवाद’ के प्रतिपादक मैक्समूलर का यह विचार है कि प्रकृति के विभिन्न रूपों—तूफान, आँधी, बिजली का कड़कना, भूकम्प, सूर्य, चन्द्रमा आदि को देखकर आदिम मानव के मन में भय, आश्चर्य, आतंक आदि का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था ओर इन मानसिक भावनाओं के कारण वह प्रकृति से डरने लगा और इसलिए प्रकृति के प्रति उसके मन में श्रद्धा, शक्ति आदि उत्पन्न हुए जिसके आधार पर, आगे चलकर धर्म की उत्पत्ति हुई।

दुर्खीम के अनुसार, दोनों की सिद्धान्त आनुभाविकता से परे हैं। दुर्खीम कहते हैं कि टायलर ने आदिम मनुष्यों को अत्याधिक तर्कयुक्त, दार्शनिक के रूप में मान लिया है, जोकि सर्वथा गलत है। दूसरी बात, धर्म इतनी सरल घटना नहीं है कि इसकी उत्पत्ति, परछाई, स्वप्न प्रतिध्वनि आदि कुछ सीमित या वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर सम्भव है।

प्रकृतिवाद का खण्डन करते हुए दुर्खीम कहते हैं कि मैक्समूलर कदाचित् इस तथ्य को भूल जाते हैं कि धर्म एक सामाजिक संस्था, तथ्य या घटना है और सामाजिक घटना या संस्था की उत्पत्ति में कोई भी सामाजिक कारक न हो, यह असम्भव है। अतः धर्म के सामाजिक आधार की अवहेलना मैक्समूलर के सिद्धान्त की एक बहुत बड़ी दुर्बलता है। आदिम मनुष्यों के लिए प्राकृतिक और अलौकिक घटनाओं के सम्बन्ध में उचित ज्ञान है और नही वे अलौकिक घटनाओं को ठीक से समझते हैं। प्रत्येक धर्म का कोई तो वास्तविक आधार होता है और वह आधार, दुर्खीम के अनुसार, स्वयं ‘समाज’ ही है। ऐसे गोत्र जो अपने पूर्वजों के प्रतीक रूप पशु, पक्षी को अपने ‘टोटम’ की श्रेणी देखते हैं, वे अपने पूर्वजों के सम्मान के लिए इनका मांस नहीं खाते ओर न ही इन्हें कोई हानि नही पहुँचाते हैं, बल्कि धार्मिक संस्कार अवश्य करते हैं। वास्तव में टोटम किसी भी समूह के बहुत ही सीमित अर्थ को बताता है और

इसलिए 'टोटम' गोत्र का एक अंग है, सम्पूर्ण गोत्र नहीं।

प्रत्येक टोटम का एक प्रतीक (Emblem) होता है। सभी गोत्रों में टोटम कई प्रतीकों में देखने को मिलता है, जैसे—लकड़ी के टुकड़े पर, पत्थर पर, टोटम की एक आकृति बना दी जाती है। उन सामान्य वस्तुओं को, जिन्हें टोटम के रूप में स्वीकार कर प्रतीक रूप में आकृति बना दी जाती है, ये आदिवासी चुरिंग (Churinga) कहते हैं। ये चुरिंग एक झण्डे के समान ही सम्पूर्ण आदिम समाज की प्रतिष्ठा का प्रतीक होते हैं। उदाहरणस्वरूप, जब कोई गोत्र 'सर्प' को अपना टोटम मानता है तो एक तरफ जीवित सर्प को सम्मान देता ही है, वहीं दूसरी तरफ, सर्प की एक छवि दीवार, पत्थर या लकड़ी पर बना देता है। सर्प का यह दूसरा रूप प्रतीकात्मक होता है। टोटम के ये दोनों रूप सम्मान के पात्र होते हैं। सर्प का यही रूप उस गोत्र के लिए 'चुनिंग' होता है।

'टोटमवाद' की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते समय दुर्खीम टोटम को एक शक्ति-स्रोत के रूप में देखते हैं। अब प्रश्न यह है कि टोटम में यह शक्ति कहाँ से आती है? टोटम तो मात्र कोई पशु, पक्षी या पौधा है। दुर्खीम टोटम में शक्ति कुछ इस प्रकार मानते हैं कि यह सामूहिक विश्वासों और कर्मकाण्डों का प्रतीक है। टोटम की पूजा के दौरान व्यक्ति ऐसा अनुभव करता है कि समाज की सामूहिक शक्ति का संचार उसके शरीर में हो गया हो। इस प्रकार व्यक्ति टोटम के रूप में या माध्यम से समाज की पूजा करता है। चूँकि इतने बड़े समाज की पूजा वह एक साथ नहीं कर सकता, इसीलिए प्रतीक (टोटम) के रूप में वह समाज की पूजा करता है।

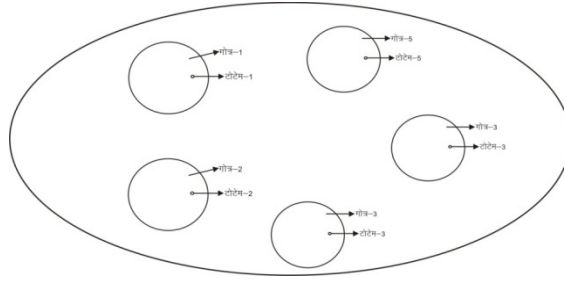
दुर्खीम सामूहिक पूजा (Collective Worship) की अनिवार्यता पर बल देते हुए कहते हैं

कि इससे सामाजिक सुदृढ़ता बढ़ती है, लोग एकजुट होते हैं तो उनमें एकता की भावना आती है। इसीलिए दुर्खीम जब चर्च की व्याख्या करते हैं तो उनका कहना है कि चर्च में रविवार को धर्मावलम्बियों का प्रार्थना के लिए एकत्रित होना उन्हें एकता के सूत्र में बांधना है। इसी कारण धर्म एक नैतिक समुदाय के निर्माण में अपना निश्चित योगदान करता है।

धर्म को परिभाषित करते हुए दुर्खीम कहते हैं कि “धर्म विश्वास और धार्मिक समस्याओं का एकीकृत रूप है जिसका सम्बन्ध पवित्र वस्तुओं से होता है धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूपों को दुर्खीम ने विशेष अर्थ में लिया है। वह इसे प्रारम्भिक इसलिए कहते हैं कि इसकी व्यापकता को उन्होंने आदिम समाजों यानि सरल समूहों में देखा है। दुर्खीम धर्म के इस अध्ययन में धर्म की सामाजिक अभिधारणा को रखते हैं। संक्षेप में, इस रचना में दुर्खीम आस्ट्रेलिया के आदिम समाजों की आधार-सामग्री के संदर्भ में यह स्थापित करते हैं कि धर्म की उत्पत्ति समाज से है। उनके इस प्रयास को हम उनकी ही अवधारणा टोटमवादी (Totemism) से समझते हैं।

आस्ट्रेलिया के आदिम समाज के अध्ययन में दुर्खीम टोटमवाद का प्रतिपादन करते हैं। दुर्खीम मानते हैं कि धर्म के उद्विकास में टोटमवाद प्राथमिक है और इसी कारण यह सबसे अधिक सरल है। टोटमवाद को दुर्खीम दुनिया का प्रथम और मौलिक धर्म मानते हैं। दुर्खीम कहते हैं कि आस्ट्रेलिया में ही नहीं वरन् दुनिया भर के धर्मों में टोटमवाद का कोई न कोई रूप अवश्य देखने को मिलता है। इसीलिए धर्म के अध्ययन में कई धर्मों की व्याख्या करने के बजाय एक धर्म का अध्ययन पर्याप्त है। टोटमवाद की व्याख्या के लिए दुर्खीम गोत्र और टोटे दोनों को एक साथ लेकर चलते हैं। गोत्र एक संवंशी समूह है। यह सामान्यतः सजातीय

बन्धुओं (Kins) का समरक्तीय समूह होता है। यह एकपक्षीय होता है और इसके सदस्य एक ही पूर्वज की सन्तान होते हैं। यह पूर्वज मानव, पशु, पक्षी, पेड़, पौधा कुछ भी हो सकते हैं। पूर्वज के इस प्रतीक रूप की मान्यता ही 'टोटेम' होता है। आस्ट्रेलिया का आदिम समाज कई गोत्रों में विभाजित है। प्रत्येक गोत्र का एक अपना टोटेम होता है। इस प्रकार प्रत्येक गोत्र एक स्वायत्त (Autonomous) समूह है। एक गोत्र दूसरे गोत्र के टोटेम को नहीं मानता लेकिन इसका सम्मान अवश्य करता है। इसे निम्न रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं।



आस्ट्रेलिया का आदिम समाज

15.5 धर्म का सामाजिक सिद्धान्त :

(Social Theory of Religion)

दुर्खीम ने अपनी पुस्तक 'द एलीमेन्ट्री फार्म्स ऑफ रिलीजिअस लाइफ' में धर्म की प्रकृति, उत्पत्ति के कारण, प्रभाव आदि के विषय में अत्यधिक विस्तृत तथा गहन व्याख्या प्रस्तुत की है। धर्म सिद्धांत के द्वारा दुर्खीम ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि धर्म सम्पूर्ण रूप से एक सामाजिक तथ्य या सामाजिक घटना है और वह इस अर्थ में कि नैतिक रूप से सामूहिक चेतना का प्रतीक ही धर्म है। इस सम्बन्ध में दुर्खीम का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि "समाज की वास्तविक देवता है।"

दुर्खीम ने टायलर के आत्मवाद, मैक्समूलर के प्रकृतिवाद और फ्रेजर के धर्म की उत्पत्ति की आलोचना की। प्रत्येक धर्म का आधार दुर्खीम ने समाज को माना और कहा कि हर वर्ग का समाज एक महिमामय समाज है। दुर्खीम ने सामाजिक जीवन की समस्त घटनाओं को दो प्रमुख भागों में बाँटा है:—

1. साधारण (Profane) या अपवित्र।
2. पवित्र (Sacred)

दुर्खीम के अनुसार समस्त धर्मों का सम्बन्ध पवित्रता से होता है लेकिन सभी पवित्र वस्तुओं का धर्म से सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। पवित्र वस्तुएँ समाज की सामूहिक चेतना की प्रतिनिधि होती हैं। इसी कारण व्यक्ति इनके अधीन और इनसे प्रभावित रहता है।

समाज के लोग जिसे पवित्र समझते हैं उन्हें अपवित्र या साधारण से दूर रखने का प्रयत्न करते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक विश्वासों, आचरणों, संस्कारों और उत्सवों को जन्म देते हैं। धर्म इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम है। दुर्खीम का धर्म सम्बन्धी सिद्धांत आस्ट्रेलिया की अरुण्टा जनजाति के अध्ययन पर आधारित है। दुर्खीम के अनुसार टोटमवाद के कारण ही पवित्र और साधारण में भेद करने की भावना उत्पन्न हुई। इसलिए टोटमवाद को ही समस्त धर्मों का प्राथमिक स्तर माना जाता है।

टोटम सामुदायिक प्रतिनिधित्व का प्रतीक है और टोटम की उत्पत्ति उसी सामुदायिक रूप में समाज के प्रति अपने श्रद्धा भाव के कारण हुई। यही श्रद्धा भाव पवित्रता को जन्म देता है। टोटम समूह के सभी सदस्य अपने को एक दूसरे का भाई बहन मानते हैं। अतः आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करते। दुर्खीम के मत में धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित

विश्वासों और आचरणों की वह समग्र व्यवस्था है जो इन पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है।

15.6 सारांश : (Summary)

यह इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके हैं कि दुर्खीम ने भी धर्म को समाज में सभी समाजशास्त्री की तरह ही माना है। दुर्खीम ने *The Elementary Forms of Religious Life* (1912) में धर्म की प्रारम्भिक अवस्था के बारे में विस्तार से चर्चा की है और बताया है कि धर्म की प्रारम्भिक अवस्था टोटम भी इन्होंने आस्ट्रेलिया की अरुण्टा जनजाति को इसके अध्ययन के लिए चुना है। धर्म के अपने सामाजिक सिद्धांत को प्रस्तुत करने से पहले दुर्खीम ने धर्म से सम्बन्धित अब तक में प्रचलित सिद्धांतों का खण्डन किया है। दुर्खीम ने कहा है कि धर्म की उत्पत्ति समाज में हुई है न कि समाज से अलग है। वास्तव में ईश्वर एवं समाज एक है।

15.7 शब्दावली : (Glossary)

(1) पवित्र :- दुर्खीम के अनुसार वस्तुएँ इसलिए पवित्र हैं कि जिन वस्तुओं को समाज विशेष आदर से व सम्मान देता है तथा वस्तुओं के क्रम में इतना उच्च स्थान प्रदान करता है। समाज के मिथक देतकवादे दृढ़िया विश्वास आदि।

(2) अपवित्र :- इनके विपरीत वे वस्तुएँ जो पवित्र नहीं हैं, लौकिक हैं। अर्थात् वे वस्तुएँ जिनको समाज उपयोगीतावादी लक्षणों या आर्थिक लाभ या हानि की दृष्टि से देखता है।

15.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर : (Answer Questions of Practice)

29. *The Elementary Forms of Religious Life* पुस्तक है?

- | | |
|-------------------|------------|
| (क) कार्ल मार्क्स | (ख) स्पेसर |
| (ग) दुर्खीम | (घ) पारसनस |

उत्तर – ग

30. पवित्र वस्तुएँ हैं?

- | |
|-----------------------------|
| (क) जिनको समाज आदर देता है। |
| (ख) जिनको आदर नहीं देता है। |

- (ग) दोनो
(घ) दोनो मे से कोई नही।

उत्तर – क

31. दुर्खीम के अनुसार धर्म की प्रारम्भिक अवस्था है?

- (क) टोटम (ख) प्रतीक
(ग) दोनो (घ) इनमे से कोई नही

उत्तर – क

32. दुर्खीम ने किस जनजाति पर अध्ययन किया—

- (क) सहरसिया (ख) अरुण्टा
(ग) जौनासार (घ) मील

उत्तर – ख

अरुण्टा जनजाति का सम्बन्ध किस देश से है?

- (क) इंग्लैण्ड (ख) जर्मनी
(ग) आस्ट्रेलिया (घ) भारत

उत्तर – ग

33. दुर्खीम से पहले आत्मवाद किसका सिद्धांत है?

- (क) टायलर (ख) मैक्समुलर
(ग) स्पेसर (घ) दुर्खीम

उत्तर – क

34. धर्म का प्रकृतिवाद का सिद्धांत है।

- (क) मैक्समूलर (ख) टायलर
(ग) पासन्स (घ) मैक्स बेबर

उत्तर – क

35. दुर्खीम ने धार्मिक वस्तुओ में कितने भागों में बाँटा है?

- (क) एक (ख) दो
(ग) तीन (घ) चार

उत्तर – ख

15.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची : (References)

1. ईमाइल दुर्खीम (1817) : एलीमेन्ट्री ऑफ रिलिजियस लाइफ”
2. लेविस ए० कोजर (1956) : मास्टर ऑफ सोशियोलोजिकल थॉट, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
3. ओरो रेमो (1967) : मेन करेंटस इन सोशियोलोजिकल थॉट्स वाल्यूम-2, पेंगुन बुक्स, लन्दन।

15.10 सहायक / उपयोगी सामग्री : (Useful Contain)

1. हरिकृष्ण रावत (2011) : सामाजिक चिंतक एवं सिद्धांतकार, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

15.11 निबन्धात्मक प्रश्न : (Essay Type Questions)

- ✓ दुर्खीम का धर्म का प्रारम्भिक स्तर क्या है?
- ✓ दुर्खीम ने आस्ट्रेलिया की अरूण्टा जनजाति को किस तरह से समझाया है।
- ✓ दुर्खीम के अनुसार पवित्र एवं अपवित्र वस्तुएँ क्या हैं?
- ✓ दुर्खीम के अनुसार धर्म के कारणों को समझ पाओँगे?
- ✓ दुर्खीम ने धर्म के प्रकार्य को किस तरह से समझाया है।

इकाई 16 सामाजिक क्रिया एवं आदर्श प्रारूप

Social Action & Ideal Types

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 सामाजिक क्रिया

16.2.1 सामाजिक क्रिया की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

16.2.2 सामाजिक क्रियाओं के प्रकार

16.2.3 सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त की समीक्षा

16.3 आदर्श प्रारूप

16.3.1 आदर्श प्रारूप की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

16.3.2 आदर्श प्रारूप के लक्षण

16.3.3 आदर्श प्रारूप के प्रकार

16.3.4 आदर्श प्रारूप का महत्त्व

16.3.5 आदर्श प्रारूप की अवधारणा की आलोचना

16.4 सारांश

16.5 शब्दावली

16.6 अभ्यास प्रश्न

16.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

16.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक क्रिया तथा आदर्श प्रारूप की अवधारणाओं को समझाने का प्रयास किया गया है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- सामाजिक क्रिया की अवधारणा का स्पष्टीकरण कर पाएँगे तथा सामाजिक क्रिया के प्रमुख प्रकार समझ पाएँगे;
- वेबर द्वारा प्रतिपादित सामाजिक क्रिया की अवधारणा की आलोचनात्मक व्याख्या कर पाएँगे;
- आदर्श प्रारूप की अवधारणा का स्पष्टीकरण कर पाएँगे;
- आदर्श प्रारूप के प्रमुख लक्षणों एवं प्रकारों को स्पष्टतया समझ पाएँगे;
- आदर्श प्रारूप की अवधारणा के महत्त्व की चर्चा कर पाएँगे; तथा
- वेबर द्वारा प्रतिपादित आदर्श प्रारूप की अवधारणा की आलोचनात्मक समीक्षा कर पाएँगे।

16.1 प्रस्तावना

मैक्स वेबर (1864-1920) एक सुप्रसिद्ध इतिहासकार, राजनीतिक-अर्थशास्त्री एवं समाजशास्त्री थे जिन्होंने जर्मनी में समाजशास्त्र विषय को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। सामाजिक चिन्तन को उनकी अद्वितीय देन रही है क्योंकि उन्होंने समाजशास्त्र को सामाजिक क्रिया का अध्ययन करने वाला विस्तृत विज्ञान बताया है तथा अपने विश्लेषण में क्रियाओं के कर्ताओं पर अधिक ध्यान देकर अन्य समाजशास्त्रियों से भिन्न दृष्टिकोण अपनाया है। उनके सभी अध्ययन गहन चिन्तन, कुशाग्र बुद्धि एवं मौलिक विचारों पर आधारित हैं जिसके कारण वे इस विषय को प्रभावित करने वाले प्रमुख विद्वान् माने जाते हैं। उनके बाद आने वाली पीढ़ी उनके विचारों से प्रेरित और प्रभावित रही है। उन्होंने सामाजिक क्रिया, धर्म की आचार संहिता, पूँजीवाद की आत्मा, वैधता के स्रोत, शक्ति और सत्ता के प्रतिमान तथा नौकरशाही आदि जैसी अवधारणाओं का निर्माण किया जो आज भी समाजशास्त्रीय अध्ययन और विश्लेषण में प्रयोग की जाती हैं। पद्धतिशास्त्र की दृष्टि से भी उनका योगदान स्थाई महत्त्व का है। उन्होंने न केवल सामाजिक विज्ञानों को प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न करने का प्रयास किया, अपितु आदर्श प्रारूप की अवधारणा प्रतिपादित कर पद्धतिशास्त्र को महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

वेबर ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को निर्धारित करने तथा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए अपनाए जाने वाले सिद्धान्तों की विवेचना करके समाजशास्त्र तथा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनके अनुसार समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो क्रिया का अर्थपूर्ण बोध कराने का प्रयत्न करता है ताकि इसके घटना-क्रम एवं परिणामों की कारण सहित व्याख्या तक पहुँचा जा सके। वेबर की इस परिभाषा को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है—**प्रथम**, समाजशास्त्र क्रिया का अध्ययन है तथा **द्वितीय**, इसका उद्देश्य इसके परिणामों तथा कारणों का पता लगाना है। प्रथम भाग समाजशास्त्र की विषय-वस्तु से सम्बन्धित है, जबकि दूसरा भाग विषय-वस्तु की अध्ययन-पद्धति अर्थात् पद्धतिशास्त्रीय सिद्धान्त से सम्बन्धित है।

16.2 सामाजिक क्रिया

‘सामाजिक क्रिया’ की अवधारणा समाजशास्त्र में एक प्रमुख अवधारणा मानी जाती है। इस अवधारणा के साथ मुख्य रूप से जर्मनी के सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्स वेबर का नाम जुड़ा हुआ है। उन्होंने समाजशास्त्र की परिभाषा में ही सामाजिक क्रिया को प्रमुख स्थान दिया है। उन्होंने समाजशास्त्र को सामाजिक क्रिया का अध्ययन एवं इसकी व्याख्या करने वाला विस्तृत विज्ञान बताया है तथा अपने विश्लेषण में क्रियाओं के कर्ताओं पर अधिक ध्यान देकर अन्य समाजशास्त्रियों से भिन्न दृष्टिकोण अपनाया है। उनकी सामाजिक क्रिया की अवधारणा को समझे बिना हम उनकी समाजशास्त्र की अवधारणा एवं इसकी प्रकृति को नहीं समझ सकते हैं।

वेबर के अनुसार, “समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया का अर्थपूर्ण बोध कराने का प्रयत्न करता है ताकि इसके घटना-क्रम (गतिविधि) एवं परिणामों की कार्य-कारण व्याख्या तक पहुँचा जा सके।” इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेबर समाजशास्त्र की विषय-वस्तु सामाजिक क्रिया मानते हैं, इसलिए समाजशास्त्र का विस्तृत अर्थ तथा प्रकृति को समझने के लिए उनकी सामाजिक क्रिया की अवधारणा को समझना जरूरी है।

16.2.1 सामाजिक क्रिया की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

समाजशास्त्र में क्रिया का अर्थ किसी उद्देश्यपूर्ण व्यवहार से लगाया जाता है। वेबर के अनुसार 'क्रिया' में वह सारा व्यवहार आ जाता है जिसको क्रियारत व्यक्ति (कर्ता) व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) अर्थ में सम्बन्धित करता है। इस अर्थ में क्रिया बाहरी भी हो सकती है तथा आन्तरिक या चेतना सम्बन्धी भी। यह किसी परिस्थिति में सकारात्मक रूप में दखल देने अथवा जानबूझकर उस परिस्थिति से दूर रहने के रूप में हो सकती है। वेबर के अनुसार, "किसी क्रिया को सामाजिक क्रिया तभी कहा जा सकता है, जबकि उस क्रिया को करने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों के द्वारा लगाए गए सहानुभूतिमूलक अथवा आत्मपरक अर्थ के कारण यह क्रिया दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार द्वारा प्रभावित हो और उसी के अनुसार उसकी गतिविधि निर्धारित हो।"

वेबर के क्रिया तथा सामाजिक क्रिया के बारे में विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी क्रियाएँ सामाजिक नहीं हैं। वेबर के अनुसार कोई भी क्रिया तभी सामाजिक कही जा सकती है यदि वह अन्य व्यक्तियों अथवा उनकी क्रियाओं से सम्बन्धित है।

किसी भी क्रिया को सामाजिक क्रिया तभी कहा जाएगा, जबकि उसमें निम्नांकित विशेषताएँ पाई जाती हैं—

(1) कोई भी क्रिया तभी सामाजिक कही जाएगी, जबकि वह अन्य व्यक्तियों की क्रियाओं व व्यवहार से सम्बन्धित है।

(2) प्रत्येक बाह्य क्रिया अथवा प्रत्यक्ष क्रिया (Overt action) को सामाजिक नहीं कहा जा सकता यदि वह पूर्ण रूप से अचेतन वस्तु से सम्बन्धित है।

(3) व्यक्तियों का प्रत्येक प्रकार का सम्पर्क भी सामाजिक क्रिया नहीं कहा जा सकता यदि वे अर्थपूर्ण रूप से सम्बन्धित नहीं हैं। उदाहरणार्थ—भीड़ को देखकर राह चलने वाले राहगीरों का रुक जाना सामाजिक क्रिया नहीं है क्योंकि इसमें व्यक्ति अर्थपूर्ण दृष्टि से सम्बन्धित नहीं हैं।

(4) सामाजिक क्रिया को प्रभावित करने वाला व्यवहार भूतकाल, वर्तमानकाल या भविष्यत्काल से सम्बन्धित हो सकता है। हमारा सम्पूर्ण व्यवहार केवल वर्तमान क्रियाओं अथवा व्यवहारों से प्रभावित नहीं होता, अपितु भूतकाल के व्यवहार से भी प्रभावित होता है।

वेबर द्वारा प्रतिपादित 'सामाजिक क्रिया' की अवधारणा बहुत स्पष्ट, गहन और सूक्ष्म है। सर्वप्रथम, उन्होंने स्पष्ट किया कि समाजशास्त्र 'मानव-क्रियाओं' से सम्बन्धित है, प्राकृतिक क्रियाओं अथवा पशु-पक्षियों की क्रियाओं से नहीं। दूसरे, उन्होंने यह भी बताया कि 'मानव क्रिया' से यहाँ आशय मानव के उस आचरण से है जिसे वह व्यक्तिनिष्ठ या आत्मपरक अर्थ (Subjective meaning) प्रदान करता है। इसका मतलब यह है कि मानव कुछ ऐसी क्रियाएँ भी कर सकता है या करता है जिनका कुछ अर्थ नहीं होता; जैसे—कोई व्यक्ति बैठे-बैठे टाँगें हिला रहा है या अपने बालों में उँगलियाँ घुमा रहा है, यह सब वह अचेतन रूप से कर रहा है, उसे आभास भी नहीं कि वह ऐसा कर रहा है। व्यक्ति शरीर का संचालन तो कर रहा है, हरकत तो कर रहा है, परन्तु उसकी यह क्रिया मानव क्रिया नहीं कही जाएगी क्योंकि ऐसा वह किसी प्रयोजन, उद्देश्य या अर्थ से नहीं कर रहा है। ऐसी अर्थविहीन अथवा निरर्थक क्रियाएँ समाज विज्ञानों की रुचि का विषय नहीं हैं। इसलिए वही क्रियाएँ मानवीय क्रियाओं की श्रेणी में रखी जाएँगी जो कर्ता की अपनी दृष्टि में अर्थपूर्ण हैं। इसे ही वेबर ने 'आत्मपरक अर्थ' कहा है। तीसरे, मानव की सभी आत्मपरक अर्थ-भरी क्रियाएँ भी समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र में शामिल नहीं की जाती। समाजशास्त्र की रुचि मानव की केवल उन अर्थपूर्ण क्रियाओं तक ही सीमित है जो वह किसी अन्य व्यक्ति या समूह की किसी क्रिया को

ध्यान में रखकर या उससे प्रभावित होकर करता है। ऐसी क्रियाओं को ही वेबर ने सामाजिक क्रिया कहा है।

इस भाँति, हम कह सकते हैं कि वेबर के अनुसार सामाजिक क्रिया किसी व्यक्ति या समूह की वह अर्थपूर्ण क्रिया है जो वह किसी अन्य व्यक्ति या समूह की किसी क्रिया को ध्यान में रखकर करता है। इस परिभाषा को सही ढंग से समझने के लिए यह जरूरी है कि कुछ शब्दों का, जिनका इसमें प्रयोग हुआ है, अर्थ स्पष्ट समझ लिया जाए। इस हेतु निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(1) क्रिया के 'अर्थपूर्ण' होने से क्या तात्पर्य है?—वेबर की सामाजिक क्रिया की समाजशास्त्रीय व्याख्या में 'क्रिया का अर्थपूर्ण' होना बहुत महत्वपूर्ण है। वे स्पष्ट लिखते हैं कि, "क्रिया" में वह सभी मानव व्यवहार उस सीमा तक ही सम्मिलित है जहाँ तक कि कार्य करने वाला व्यक्ति उस क्रिया का कुछ आत्मपरक अर्थ लगाता है।" इसलिए वेबर की क्रिया की अवधारणा को समझने के लिए 'आत्मपरक' 'अर्थ' एक केन्द्रीय शब्द है।

आखिर यह 'आत्मपरक अर्थ' क्या है? बड़ी सरल और सीधी बात है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी भी कार्य को करने से पहले उसका अपनी दृष्टि से कुछ प्रयोजन या उद्देश्य समझता है। जिस स्थिति में वह कार्य करने जा रहा है, उसका भी अन्दाजा लगाता है व उसे अपने ढंग से परिभाषित करता है। इस प्रकार आत्मपरक (Subjective) का मतलब है—क्रिया के कर्ता ने अपनी अनुभूति और पूर्वज्ञान से क्रिया का क्या अर्थ लगाया है। इसे समझे बिना, स्पष्ट किए बिना, कर्ता की क्रिया को भी नहीं समझा जा सकता। वेबर ने स्वयं ही बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है। मान लीजिए कोई व्यक्ति कुल्हाड़ी से लकड़ी काट रहा है। यह तो भौतिक क्रिया है। यह देखकर कुछ स्पष्ट नहीं होता। यदि हम उस व्यक्ति के इस कार्य को समझना चाहते हैं तो हमें जानना होगा कि वह लकड़ी क्यों काट रहा है? उसका ऐसी क्रिया करने का क्या अर्थ है? यह अर्थ भी हमें उसी की दृष्टि से समझना होगा क्योंकि हो सकता है कि वह मजदूरी के लिए यह कार्य कर रहा है या अपने प्रयोग के लिए ईंधन का इन्तजाम कर रहा है, या सम्भवतः मनोरंजन के लिए कर रहा है, या वह अपना गुस्सा लकड़ियों पर निकाल रहा है। इस अर्थ को तो कार्य करने वाले की दृष्टि से ही समझना होगा। इसी को वेबर ने 'आत्मपरक अर्थ' कहा है। उन्होंने दूसरा उदाहरण दिया कि एक व्यक्ति की, जो कि बन्दूक से निशाना साध रहा है, क्रिया को तभी समझ सकते हैं, जब हम जाने कि वह ऐसा इसलिए कर रहा है कि उसे गोली चलाने का आदेश मिला है और वह गोली चलाने वाली टोली (Firing squad) का सदस्य है, या कि वह अपने शत्रु से जूझ रहा है, या कि वह बदला लेने के लिए ऐसा कर रहा है।

यह 'अर्थ' भी स्थायी चीज नहीं है। यह भी अन्तर्क्रिया के सन्दर्भ पर आधारित है। सन्दर्भ बदल जाने से कर्ता पुनः स्थिति का मूल्यांकन करता है और होने वाली क्रिया का अर्थ भी बदल लेता है। इस बात को **हरालाम्बोस व हैल्ड (Haralambos and Heald)** ने बड़े सुन्दर उदाहरण से स्पष्ट किया है। जैसे किसी नई कक्षा में प्रवेश करते समय विद्यार्थी स्थिति को भयावह या शत्रुतापूर्ण समझ सकता है। उसकी इस समझ या स्थिति का अर्थ कक्षा में होने वाली अन्तर्क्रियाओं के अनुसार बदल भी सकती है एव संशोधित भी हो सकती है। वह अपने शिक्षक और सहपाठियों को मैत्रीपूर्ण व्यवहार करते पाता है तो वह स्थिति को मैत्रीपूर्ण और सुखद रूप में पुनः परिभाषित कर लेगा। उसका व्यवहार भी हँसमुख, मैत्रीपूर्ण और मिलनसार हो जाएगा।

इसी प्रकार, कर्ता द्वारा क्रिया की स्थिति का अर्थ बड़े महत्वपूर्ण परिणाम रखता है क्योंकि इसी अर्थ के आधार पर वह 'वास्तविकता' को समझता है और इसी के सन्दर्भ में अपनी क्रियाओं के स्वरूप का निर्धारण करता है कि उसे किस प्रकार व्यवहार करना है। ऊपर के उदाहरण में यदि वह विद्यार्थी कक्षा में

पहुँचकर वहाँ शिक्षक अथवा सहपाठियों के व्यवहार व भाव-भंगिमा को तनावपूर्ण ओर भयोत्पादक पाता है तो वह स्वयं भी अपने व्यवहार में संकोची और सावधान हो जाएगा, वह तभी बोलेगा जब उससे कुछ पूछा जाएगा। वह स्वयं को अपने तक ही सीमित कर लेगा। इस भाँति, 'आत्मपरक अर्थ' सन्दर्भ के साथ बदलते रहते हैं।

(2) 'क्रिया' से क्या तात्पर्य है?—साधारणतः व्यक्ति के बाह्य आचरण या व्यवहार को क्रिया कहते हैं, परन्तु यह क्रिया शुद्ध रूप से अपनी ओर उन्मुख या छिपी हुई (Covert) भी हो सकती है। यही नहीं, यह क्रिया कर्ता द्वारा स्थिति में सीधे हस्तक्षेप के रूप में हो सकती है, या जहाँ हस्तक्षेप, अपेक्षित था वहाँ हस्तक्षेप न करने के रूप में हो सकती है। वास्तव में, किन्हीं परिस्थितियों में 'मौन स्वीकृति' भी अर्थपूर्ण क्रिया का ढंग हो सकती है। उदाहरणार्थ—परीक्षा—कक्ष में शिक्षक जब इन्विजिलेशन की ड्यूटी (Duty) पर हो और वह किसी विद्यार्थी को परीक्षा में अनुचित साधन प्रयोग करते देखकर भी नहीं पकड़ता और उसके कमरे में खुल्लमखुल्ला यह काम हो रहा है तो शिक्षक का हस्तक्षेप न करना उसकी अर्थपूर्ण क्रिया मानी जाएगी और उसे ड्यूटी में लापरवाह का दोषी माना जाएगा।

(3) 'कर्ता' किसे कहा जाए?—सामाजिक अन्तर्क्रिया में कम-से-कम दो व्यक्ति तो सक्रिय होते ही हैं। सामाजिक क्रिया की परिभाषा से स्पष्ट है कि यह व्यक्ति या समूह का वह व्यवहार है जो किसी अन्य व्यक्ति या समूह के किसी व्यवहार को ध्यान में रखकर किया जाता है। इस भाँति, इसमें भी दो पक्ष हैं और कम-से-कम दो व्यक्ति हैं। स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि इन दोनों में से किसे कर्ता कहा जाए? वेबर इस प्रश्न का भी स्पष्ट उत्तर देते हैं। सामाजिक क्रिया का 'कर्ता' उस व्यक्ति को माना जाएगा जिसकी क्रिया का विश्लेषण और स्पष्टीकरण करना है। उदाहरण के तौर पर मान लीजिए एक प्रोफेसर कक्षा में पढ़ा रहे हैं और शिष्य पढ़ रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि कोई अनुसन्धानकर्ता प्रोफेसर साहब की क्रिया को समझना चाहता है तो वे क्रिया के कर्ता माने जाएँगे और विद्यार्थी उस क्रिया में कर्म (Object or alter) माने जाएँगे। इसके विपरीत, यदि अनुसन्धानकर्ता विद्यार्थियों के आचरण को जानना चाहता है या यह समझना चाहता है कि ये लोग कौन हैं? किस व्यक्ति की बात सुन रहे हैं? क्यों सुन रहे हैं? उस दशा में वे क्रिया के कर्ता माने जाएँगे और प्रोफेसर साहब उनके कर्म कहलाएँगे।

(4) 'अन्य व्यक्ति' या 'समूह' कौन हैं?—कर्ता जिनकी क्रिया को ध्यान में रखकर या जिससे प्रभावित होकर किसी कार्य को करता है वे अन्य व्यक्ति वास्तविक क्रिया में संलग्न मूर्त व्यक्ति हो सकते हैं जिनसे कर्ता परिचित है। ये ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जिन्हें उसने कभी नहीं देखा, उसे परिचय भी नहीं है। उदाहरणार्थ—विद्यार्थी परीक्षा—कक्ष में उत्तर—पुस्तिका में उत्तर लिखते समय उस अनजाने परीक्षक को ध्यान में रखता है और उसे ही प्रभावित भी करना चाहता है जो उसकी कापियाँ जाँचेगा। इसी भाँति, ये 'अन्य व्यक्ति' दूर-दूर फँसे हुए 'जन-समूह' भी हो सकते हैं। जैसे—एक फिल्म—निर्देशक फिल्म निर्माण के समय उस दर्शक समूह से भी प्रभावित होता है जो उस फिल्म की सफलता या असफलता का निर्णय करेगा। साथ ही, यह भी स्मरण रखने योग्य है, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट भी है, कि अन्य व्यक्तियों की क्रिया, जिसका विशिष्ट अर्थ लगाकर कर्ता क्रिया करता है, वर्तमान में हो रही हो सकती है, भूतकाल में हो चुकी हो सकती है या भविष्य में होने की सम्भावना वाली हो सकती है। कक्षा में विद्यार्थियों की क्रिया प्रोफेसर साहब की वर्तमान क्रिया से प्रभावित होती है, उनका दैनिक कॉलेज आना, कुछ सीमा तक, उनके माता-पिता या संरक्षक के उस आदेश से प्रभावित होता है जिनके अन्तर्गत उन्होंने उस कॉलेज में दाखिला लिया है, और उनकी परीक्षा के लिए तैयारी उस अनदेखे परीक्षक से प्रभावित होती है जिसका कार्य भविष्य में होना है। वेबर के स्पष्ट शब्दों में, "सामाजिक क्रिया, जिसमें कार्य न करना और मौन

स्वीकृति दोनों ही शामिल हैं, अन्य व्यक्तियों के भूतकालिक, वर्तमान अथवा भविष्य में अपेक्षित व्यवहार से प्रभावित हो सकती है।”

(5) सामाजिक क्रिया का सार—तत्त्व क्या है?—हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मानव का प्रत्येक व्यवहार या क्रिया, चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से क्यों न हो रही हो, सामाजिक नहीं होता। तो फिर, वह क्या विशेषता या तत्त्व है जो किसी मानवीय क्रिया को सामाजिक क्रिया बनाता है? सार—तत्त्व यही है कि वह अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों की ओर उन्मुख हो। व्यक्ति द्वारा एकान्त में बैठकर ईश्वर की प्रार्थना या साधना इस अर्थ के अनुसार सामाजिक क्रिया नहीं है; इसी प्रकार, अपने बगीचे में पानी देना भी सामाजिक क्रिया नहीं है। व्यक्ति का प्रतिदिन पेस्ट करना उसकी निजी क्रिया है, सामाजिक क्रिया नहीं; परन्तु वह यदि इसलिए करता है कि ऐसा करना उसकी माँ का आदेश है तो उसका यह कार्य सामाजिक क्रिया कहलाएगा।

इस भाँति, अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के साथ प्रत्येक प्रकार का सम्पर्क भी उसे सामाजिकता प्रदान नहीं करता। एक बस में एक—दूसरे से सटकर बैठे यात्रियों का शारीरिक सम्पर्क भी सामाजिक सम्पर्क नहीं है; विपरीत दिशा में आने वाले दो साइकिल सवारों की भिड़न्त भी सामाजिक क्रिया नहीं है; परन्तु यदि बस में बैठे यात्री आपस में बातचीत करने लगते हैं; या वे साइकिल सवार उठकर एक—दूसरे से विवाद करने लगते हैं; तो उनकी यह क्रिया सामाजिक क्रिया कहलाएगी। वेबर के शब्दों में, “मानव प्रणालियों का हर प्रकार का सम्पर्क सामाजिक प्रकृति वाला नहीं होता, यह तो केवल उन्हीं मामलों तक सीमित है जहाँ कर्ता का व्यवहार अन्य व्यक्तियों के व्यवहार की ओर अर्थपूर्ण ढंग से उन्मुख है।”

(6) क्या कई व्यक्तियों का ‘एक—सा कार्य’ या ‘अन्य की उपस्थिति का प्रत्येक प्रभाव’ या ‘अनजाने में किया गया अनुकरण’ सामाजिक क्रिया की श्रेणी में शामिल किए जा सकते हैं?—सामाजिक क्रिया की अवधारणा को स्पष्ट रूप से समझने में इस प्रश्न का उत्तर भी सहायक होगा। सामान्य स्थितियों में उपर्युक्त तीनों ही परिस्थितियों में उत्तर ‘नहीं’ ही होगा। मान लीजिए हम लोग सड़क पर जा रहे हैं और अचानक बारिश होने लगती है तो सह—यात्री या तो किसी साये (शैड) की तलाश में भागने लगते हैं या छाते खोल लेते हैं। हम सभी एक—सा कार्य कर रहे हैं पर हमारा कार्य एक—दूसरे से अर्थपूर्ण ढंग से सम्बन्धित नहीं है, वह तो बारिश से उत्प्रेरित है, अतः यह एक—सा कार्य भी सामाजिक क्रिया नहीं है। इसी प्रकार, मान लीजिए की भीड़ भागी आ रही हो और हम भी अचानक आशंका में बिना कुछ पूछताछ किए भाग खड़े होते हैं। यहाँ दूसरों की उपस्थिति से हम प्रभावित हैं, पर उनसे अर्थपूर्ण ढंग से सम्बन्धित नहीं हैं, अतः दूसरे की उपस्थिति मात्र से प्रभावित होना भी व्यक्ति की क्रिया को सामाजिकता प्रदान करने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसी भाँति, किसी को कुछ करते देखकर प्रतिक्रियात्मक रूप में उसका अनुकरण—मात्र भी सामाजिक क्रिया नहीं है। यदि हम किसी को अपने कोट पर सदैव गुलाब का फूल लगाए देखकर खुद भी गुलाब का फूल अपने कोट पर लगाने लगते हैं, तो हमारा यह कार्य अन्य व्यक्ति का अनुकरण होते हुए भी सामाजिक क्रिया नहीं है। वास्तव में, ये सभी ऐसे मामले हैं जिन्हें उस सीमा—रेखा के मामले कहा जा सकता है जो सामाजिक और असामाजिक क्रियाओं की विभाजन रेखा है। ऐसी प्रत्येक क्रिया का पृथक् मूल्यांकन करके ही उन्हें सामाजिक या असामाजिक श्रेणी में रखा जाएगा। जब तक व्यक्ति की कोई क्रिया स्पष्ट रूप से किसी अन्य व्यक्ति की क्रिया से अर्थपूर्ण ढंग से सम्बन्धित नहीं है, वह सामाजिक क्रिया नहीं कही जाएगी।

वेबर ने सामाजिक क्रिया की अवधारणा को ही स्पष्ट नहीं किया वरन् उसके प्रमुख स्वरूपों का भी वर्णन किया है। अब हम सामाजिक क्रियाओं के प्रकारों की विवेचना करेंगे।

16.2.2 सामाजिक क्रियाओं के प्रकार

मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रियाओं को, उनके प्रेरक उन्मेष (Orientation) के ढंग के आधार पर, चार श्रेणियों में बाँटा है। वे चार प्रकार निम्नलिखित हैं—

(1) **परम्परागत सामाजिक क्रियाएँ**—इसके अन्तर्गत मनुष्यों के उन व्यवहारों को सम्मिलित किया जा सकता है जो प्राचीनकाल से चली आ रही परम्पराओं, प्रथाओं, विचारों तथा प्रतिमानों द्वारा संचालित होती हैं। उदाहरण के लिए—हमारा एक-दूसरे से मिलते ही अभिवादन करना या हाल-चाल पूछना परम्परागत व्यवहार है। वास्तव में, दैनिक जीवन में अधिकांश क्रियाएँ इसी श्रेणी की होती हैं। हम परम्पराओं के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि हमें पता नहीं चलता कि हम रीति-रिवाज का पालन कर रहे हैं।

(2) **भावात्मक सामाजिक क्रियाएँ**—इस श्रेणी की क्रियाओं का सम्बन्ध व्यक्ति की भावात्मक दशाओं से होता है, न कि साधन साध्य के तार्किक मूल्यांकन से। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि यदि कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के व्यवहार से प्रभावित होकर भावनाओं और संवेगों के रूप में कोई क्रिया करता है तो उसे भावात्मक क्रिया कहेंगे। ये वे सामाजिक क्रियाएँ हैं जो व्यक्ति या समूह भावावेश में करते हैं। भावात्मक तनाव से मुक्ति प्राप्त करना ही यहाँ कर्ता का उद्देश्य होता है। प्रेम, घृणा, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि से प्रभावित व्यक्ति ऐसा व्यवहार भी कर बैठता है जो वह अपनी शान्त मानसिक अवस्था में कभी नहीं करता।

(3) **मूल्यात्मक सामाजिक क्रियाएँ**—मूल्यों से सम्बन्धित क्रियाओं को मूल्यात्मक क्रियाएँ कहा जाता है। धार्मिक अथवा दैनिक प्रतिमानों एवं मूल्यों के अनुसार व्यक्ति से जिस प्रकार के व्यवहार की आशा दूसरे व्यक्तियों द्वारा की जाती है उस प्रकार का व्यवहार करना मूल्यात्मक व्यवहार कहलाता है। इस प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध वास्तव में उन साध्यों तक पहुँचना है जो तार्किक नहीं हैं यद्यपि उन्हें प्राप्त करने के लिए तार्किक साधनों का प्रयोग किया जाता है। सामाजिक मूल्य वे वस्तुएँ या सिद्धान्त हैं जिन्हें समाज अपने अस्तित्व के लिए जरूरी समझता है और जिनकी रक्षा हेतु बड़े-से-बड़ा बलिदान देने को तत्पर हो जाता है; जैसे—हमारे समाज में नारी की यौन-शुचिता, सतीत्व, मातृभूमि, हिन्दुओं की मूर्ति आदि। निरपेक्ष मूल्यों में व्यक्ति का विश्वास होता है, वह इनकी वांछनीयता में यकीन करता है। इसलिए वह इन्हें तर्कपूर्ण ओर उचित भी समझता है।

(4) **बौद्धिक सामाजिक क्रियाएँ**—साध्य एवं साधनों को दृष्टिगत रखते हुए व्यक्ति द्वारा निश्चित योजना के अनुसार की जाने वाली क्रियाएँ बौद्धिक सामाजिक क्रियाएँ कही जाती हैं। इन क्रियाओं का सम्बन्ध साधन और साध्य के तार्किक चयन से होता है। अधिकतर व्यापारिक क्रियाएँ इस श्रेणी में आती हैं। यहाँ व्यक्ति क्रिया करने से पहले इसमें होने वाले लाभ-हानि का हिसाब लगता है और लाभ या सुख की दृष्टि से कार्य करता है।

चारों प्रकार की श्रेणियों का वर्णन केवल आदर्श प्रारूप की दृष्टि से ही किया जा सकता है क्योंकि इन्हें कई परिस्थितियों में एक-दूसरे से भिन्न करना कठिन है। सामाजिक क्रिया का चार श्रेणियों में विभाजन वेबर के दो उद्देश्यों को पूरा करता है—**प्रथम**, यह उसे क्रमबद्ध वर्गीकृत भेद, उदाहरण के लिए सत्ता के प्रकार में सहायता करता है, तथा **दूसरे**, यह पश्चिमी ऐतिहासिक विकास के अन्वेषण का आधार स्पष्ट करता है। इसीलिए **रेमण्ड ऐरो** (Raymond Aron) द्वारा वेबर के समाजशास्त्र के रूप-निर्दर्शन को ऐतिहासिक तथा क्रमबद्ध दोनों कहा गया है।

16.2.3 सामाजिक क्रिया की अवधारणा की समीक्षा

मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित सामाजिक क्रिया की अवधारणा एवं सामाजिक क्रियाओं का वर्गीकरण पूर्णतः दोषरहित नहीं है। अनेक विद्वानों ने इनकी विविध आधारों पर आलोचना की है। उनकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नांकित हैं—

(1) तर्क की दृष्टि से यदि 'सामाजिक क्रिया' को देखा जाए तो प्रत्येक बात बड़ी साफ और सही नजर आती है, परन्तु व्यवहार में मूर्त क्रियाओं को उसकी सहायता से स्पष्ट करना काफी कठिन है। यदि सामाजिक क्रियाओं का विश्लेषण उनके कर्ताओं की दृष्टि से किया जाना है तो सामाजिक क्रियाओं के सम्बन्ध में कोई सामान्य नियम खोजना असम्भव हो जाएगा क्योंकि हर व्यक्ति क्रिया का अलग अर्थ लगाएगा और व्यक्ति अपने अर्थ बदल भी सकता है। वेबर की क्रिया की अवधारणा सामान्यीकरण की प्रक्रिया में सहायक नहीं है।

(2) वेबर ने क्रिया को प्रभावित करने वाले अन्य महत्वपूर्ण कारकों की उपेक्षा कर दी; जैसे—कर्ता का व्यक्तित्व, पर्यावरण के असामाजिक कारक, समाज की प्रमुख संस्थाएँ आदि। उन्होंने अपने विश्लेषण को मानवीय अभिप्रेरण (Human motivation) तक ही सीमित कर दिया।

(3) 'सामाजिक क्रिया' की अवधारणा 'प्रेरक' कारक को तो ध्यान में रखती है परन्तु क्रिया के 'परिणाम' सम्बन्धी पक्ष की उपेक्षा करती है। इस भाँति, यह अवधारणा प्रकार्यात्मक पक्ष के प्रति उदासीन है, जो कि सामाजिक क्रिया का बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू है।

(4) वेबर द्वारा किया गया सामाजिक क्रियाओं का वर्गीकरण भी मूर्त स्थिति में कठिनाई पैदा करने वाला है। परम्परागत, मूल्यात्मक तथा बौद्धिक सामाजिक क्रियाओं में स्पष्ट भेद करना काफी कठिन है। स्वयं वेबर ने स्वीकार किया है कि मूर्त घटनाएँ और क्रियाएँ वास्तव में सीमा-रेखा पर होती हैं। जैसे बौद्धिक क्रिया में खुद मूल्यों का समावेश होता है क्योंकि व्यक्ति के द्वारा लक्ष्यों और साधनों का चुनाव, उनका औचित्य अथवा अनौचित्य मूल्यों की कसौटी पर ही तय होता है। वेबर द्वारा प्रतिपादित वर्गीकरण के बारे में एक और कमी की ओर इशारा करते हुए टालकट पारसन्स (Talcott Parsons) ने उचित लिखा है कि, "क्रिया के चार स्वरूपों के अपने वर्गीकरण का निर्माण करते हुए वेबर ने समग्र सामाजिक व्यवस्था की संरचना के विश्लेषण को विकसित करने की उपेक्षा कर दी जबकि इस प्रकार के वर्गीकरण के लिए ऐसी तार्किक रूप से आवश्यक पूर्वापेक्षा है।"

(5) मानव-अभिप्रेरण को जानने के उत्साह में वेबर इतना बढ़ गए कि उन्होंने मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की विभाजन रेखा को ही मिटा डाला। उनके द्वारा निर्देशित तरीका मनोविश्लेषणवादियों व मनोचिकित्सकों द्वारा प्रयोग किया जाता है। सामाजिक कारकों की उपेक्षा करके समाजशास्त्र में उसका उपयोग भ्रमपूर्ण निष्कर्षों की ओर ही ले जाएगा।

यह सही है कि वेबर के विश्लेषण में कुछ कमियाँ हैं, परन्तु उन्होंने मानव अभिप्रेरण और सामाजिक क्रिया में कर्ता के अर्थ जैसे तत्त्वों पर जोर देकर समाजशास्त्रीय विश्लेषण में होने वाली कमी की ओर इशारा किया है। यदि हम वेबर और दुर्खीम के दृष्टिकोण को मिला दें और एक उचित सन्तुलित दृष्टिकोण बना लें तो सामाजिक क्रियाओं के हमारे विश्लेषण निःसन्देह अधिक श्रेष्ठ, यथार्थ और वैज्ञानिक हो जाएँगे।

16.3 आदर्श प्रारूप

मैक्स वेबर के अनुसार समाजशास्त्र तथा प्राकृतिक विज्ञानों में मूल अन्तर यह है कि प्रत्येक सामाजिक क्रिया अर्थपूर्ण होती है और इसका कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य ही होता है। साथ ही सामाजिक क्रिया अन्य व्यक्तियों की क्रियाओं द्वारा परिवर्तित तथा प्रभावित होती रहती है। इस दृष्टि से समाजशास्त्र

प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न है क्योंकि प्राकृतिक घटनाएँ न तो अर्थपूर्ण होती हैं और न ही अनिवार्य रूप से उनका कोई उद्देश्य होता है। समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों में अन्तर यह है कि अर्थपूर्ण बोध कराने वाला समाजशास्त्र व्यक्ति और उनकी क्रियाओं को आधारभूत इकाई मानता है या इन पर अणु के रूप में विचार करता है। इस विज्ञान के क्षेत्र में व्यक्ति सबसे महत्वपूर्ण और अर्थपूर्ण आचरण का एकमात्र वाहक है। यद्यपि समाजशास्त्र के लिए 'राज्य', 'समिति', 'सामन्तवाद' और इसी प्रकार की अन्य अवधारणाएँ कुछ विशेष प्रकार की मानवीय अन्तर्क्रियाओं को ही व्यक्त करती हैं, फिर भी समाजशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य इन अवधारणाओं को समझी जा सकने वाली क्रियाओं में बदलना होना चाहिए। समाजशास्त्रीय नियमों तथा प्राकृतिक नियमों में प्रमुख अन्तर यह है कि प्राकृतिक विज्ञानों में तो सार्वजनिक नियमों को खोजा जा सकता है तथा नियमों की खोज करना स्वयं एक साध्य है, जबकि समाजशास्त्रीय नियम सार्वभौमिक नहीं हैं और न ही स्वयं एक साध्य क्योंकि इनका उद्देश्य तो सामाजिक व्यवहार को स्पष्ट रूप से समझना तथा ऐतिहासिक घटनाओं के अन्तर्सम्बन्धों की कारण सहित खोज करना है।

वेबर का पद्धतिशास्त्रीय सिद्धान्त अन्य समाजशास्त्रियों तथा जर्मन विचारकों से भिन्न है। उन्होंने समाजशास्त्र में 'वर्टीहीन' अर्थात् 'व्याख्यात्मक बोध की पद्धति' को नैतिक व सांस्कृतिक विज्ञानों का एक ऐसा दृष्टिकोण बताया जिसका सम्बन्ध व्यक्तियों से है, न कि अन्य पशुओं या जीवनहीन प्रकृति से। व्यक्ति अपने उद्देश्य को अन्तरवलोकन (Introspection) के द्वारा समझ सकता है तथा वह अन्य व्यक्तियों के व्यवहार से सम्बन्धित उद्देश्यों को भी समझ सकता है।

वेबर ने अपने पद्धतिशास्त्र में तुलनात्मक पद्धति की महत्ता पर बल दिया है क्योंकि उनका कहना है इस पद्धति द्वारा समाज में कार्य-कारण सम्बन्धों की व्याख्या की जा सकती है। वेबर की यह मान्यता थी कि सामाजिक विज्ञानों में भी प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति कार्य-कारण सम्बन्धों का अध्ययन एवं प्रदर्शन सम्भव है। तुलनात्मक पद्धति को और अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए वेबर ने आदर्श प्रारूप (जिसे स्वरूपात्मक प्रारूप अथवा विशिष्ट प्रारूप भी कहा जाता है) की अवधारणा को विकसित किया है। उनके अनुसार आदर्श प्रारूप एक अवधारणात्मक निर्माण है जोकि अन्वेषणकर्ता को वास्तविक घटनाओं में समानताओं और भिन्नताओं को समझने में सहायता करता है। यह तुलनात्मक अध्ययनों के लिए एक मौलिक विधि है। आदर्श प्रारूप का निर्माण यद्यपि वास्तविकता से किया जाता है फिर भी यह वास्तविकता के बराबर नहीं है और न ही वास्तविकता का औसत है। चूँकि सामाजिक विज्ञानों में सामाजिक घटनाओं की विविधता एवं अमूर्तता के कारण यथार्थता का अध्ययन हू-ब-हू रूप में नहीं किया जा सकता। फिर भी, इस यथार्थता के नजदीक पहुँचने का प्रयास अवश्य किया जा सकता है। आदर्श प्रारूप सामाजिक यथार्थता को काफी सीमा तक समझने में सहायक है। आदर्श प्रारूप का सम्बन्ध किसी प्रकार के मूल्यांकन से भी नहीं है। यह तो केवल एक अवधारणात्मक यन्त्र है जो वास्तविकता को नजदीक से समझने में सहायता देता है।

वेबर के पद्धतिशास्त्र में विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं के अध्ययन में उनकी रुचि तथा सामान्यीकृत प्रकृति वाले तुलनात्मक समाजशास्त्र के विचार परस्पर सम्बन्धित हैं। आदर्श प्रारूपों के आधार पर वह विशिष्ट ऐतिहासिक घटना के बारे में धारणा विकसित करते हैं। अपने तुलनात्मक अध्ययनों से भी वह इन्हीं आदर्श प्रारूपों की सहायता लेने पर बल देते हैं। वास्तव में, सामान्यीकृत धारणाओं के आधार पर वेबर समाज को ही समझना चाहते थे तथा उन विषयताओं का पता लगाना चाहते थे जो कार्य-कारण सम्बन्धों की व्याख्या में सहायता कर सकती हैं।

16.3.1 आदर्श प्रारूप की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

जर्मनी के विद्वानों द्वारा अपनाए जाने वाले व्यक्तिवादी अथवा विशिष्टवादी दृष्टिकोण से भिन्न वेबर ने एक ऐसी कुंजी अथवा अवधारणात्मक यन्त्र का निर्माण किया जिसे आदर्श प्रारूप कहते हैं। वेबर के

अनुसार आदर्श प्रारूप एक अवधारणात्मक यन्त्र (टूल) है जोकि अन्वेषणकर्ता को वास्तविक घटनाओं में समानताओं तथा असमानताओं को मापने में सहायता करता है। यह तुलनात्मक अध्ययनों के लिए एक मौलिक विधि है। वेबर ने आदर्श प्रारूप के निर्माण का विस्तृत विश्लेषण करते हुए इस बात पर बल दिया है कि यह एक विश्लेषणात्मक निर्माण है जिसमें किसी वास्तविक मानवीय घटना से एक-तरफा महत्त्व के अनुसार ली गई कुछ विशेषताएँ सम्मिलित होती हैं। उनके मतानुसार, “आदर्श प्रारूप प्रकल्पनात्मक अमूर्त स्थितियाँ (व्यक्ति, सामाजिक दशा, परिवर्तन, क्रान्ति, वर्ग इत्यादि) हैं जिनका निर्माण सामाजिक यथार्थता के आधार पर किया जाता है और जिनका निश्चित उपयोग तुलनात्मक है।” **जूलियन फ्रायण्ड (Julien Freund)** ने वेबर के आदर्श प्रारूप की व्याख्या इन शब्दों में की है, “आदर्श प्रारूप सब मिलाकर उन सभी अवधारणाओं का योग है जिनका निर्माण विशेष विशुद्ध रूप से अनुसन्धान के उद्देश्य के अनुरूप किया जाता है।” **लुईस कोजर (Lewis Coser)** ने आदर्श प्रारूप को वह पद्धति बताया है जिसका प्रयोग तुलनात्मक अध्ययन हेतु किया जाता है।

आदर्श प्रारूप का उद्देश्य नैतिक आदर्शों का पता लगाना नहीं है और न ही इसका अभिप्राय केवल सांख्यिकीय औसत ही है। किसी विशेष क्षेत्र अथवा विशेष समय में औसत प्रोटेस्टैण्ट लोग आदर्श प्रारूप प्रोटेस्टैण्ट लोगों से पूर्णतः भिन्न हो सकते हैं क्योंकि आदर्श प्रारूप में व्यवहार के विशिष्ट (Typical) गुणों का विचारपूर्वक चयन किया जाता है। आदर्श प्रारूप का निर्माण यद्यपि वास्तविकता से किया जाता है, फिर भी यह वास्तविकता के बराबर नहीं है और न ही वास्तविकता के औसत का उदाहरण है। इसका सम्बन्ध किसी प्रकार के मूल्यांकन से भी नहीं है। वेबर की आदर्श प्रारूप की अवधारणा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके अनुसार वास्तविक घटना के प्रारम्भिक चरणों में विद्वानों द्वारा पक्षपात हो सकता है क्योंकि विभिन्न विद्वान् भिन्न-भिन्न विशेषताएँ भिन्न-भिन्न बताकर एक ही वस्तु का भिन्न आदर्श प्रारूप प्रस्तुत कर सकते हैं।

सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आदर्श प्रारूप से अभिप्राय किसी घटना, वस्तु अथवा वर्ग विशेष की समस्त अनिवार्य विशेषताओं का सम्पूर्ण अथवा लगभग सम्पूर्ण रूप से चित्रण करने का प्रयास है। हो सकता है कि यह सभी विशेषताएँ यथार्थ रूप में किसी एक वास्तविक घटक या इकाई में उपस्थित न हों। इस धारणा के पीछे मूल मन्तव्य यह है कि यदि किसी घटक या इकाई को सम्पूर्ण रूप से समझना सम्भव नहीं है, तो कम से कम उस सम्पूर्णता के नजदीक जाने का प्रयास किया जाना चाहिए। वास्तव में, समाजशास्त्र में अभी तक किसी घटक या इकाई का सम्पूर्ण चित्रण करने के बारे में सन्देह प्रकट किया जाता रहा है। अनेक अन्य सामाजिक विज्ञानों, जैसे अर्थशास्त्र की कुछ अवधारणाओं में ऐसा सम्भव हो पाया है। उदाहरणार्थ ‘पूर्ण स्पर्धा’ ‘पूर्ण बाजार’ या ‘स्थिर सन्तुलन’ सम्पूर्णता के द्योतक तो हैं परन्तु इन्हें भी आदर्श प्रारूप की श्रेणी में ही रखा जाता है।

वेबर के अनेक आदर्श प्रारूप समष्टिता (Collectivism) से सम्बन्धित हैं, न कि व्यक्तियों की सामाजिक क्रियाओं से, परन्तु इस समष्टिता में पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्ध हमेशा इस सम्भावना द्वारा निर्मित होते हैं कि कर्ता आशाकृत सामाजिक क्रियाएँ ही करेंगे। यह कभी भी सम्पूर्ण वास्तविकता के बराबर नहीं है तथा यह एक तार्किक दृष्टि से स्पष्ट समग्र होता है जो कि वास्तविकता में कभी नहीं पाया जाता, न ही पूर्ण आनुभविक विकल्प ही हो सकता है। आदर्श प्रारूप का निर्माण एक साध्य नहीं है अपितु साधन है। यह केवल एक अवधारणात्मक निर्माण है जो न ही ऐतिहासिक वास्तविकता है और न ही यथार्थ वास्तविकता।

आदर्श प्रारूप की प्रकृति प्राकल्पनात्मक होती है। यह उपकल्पनाओं के निर्माण में भी सहायता देता है तथा इसका प्रयोग विश्लेषण के लिए किया जा सकता है। आदर्श प्रारूपों की उपर्युक्त व्याख्या से यह

स्पष्ट है कि आदर्श प्रारूप आत्मगत अथवा चेतना सम्बन्धी (Subjective) होते हैं क्योंकि इनमें सामाजिक वैज्ञानिक घटना के उन्हीं तत्त्वों को सम्मिलित करता है जो कि उसकी दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। दो समाजशास्त्रियों द्वारा किसी सामाजिक घटना के बारे में बनाया गया आदर्श प्रारूप भिन्न-भिन्न हो सकता है क्योंकि दोनों विद्वान् घटना से सम्बन्धित तत्त्वों का चुनाव आत्मगत रूप से करते हैं। वेबर सामाजिक अध्ययनों को पूर्ण वस्तुनिष्ठ नहीं मानते हैं क्योंकि प्रारम्भिक अवस्थाओं में, विशेषकर समस्या के चयन तक, आत्मगत प्रभाव अत्यधिक होता है। दूसरे आदर्श प्रारूप परिवर्तनशील होते हैं क्योंकि जैसे-जैसे सामाजिक घटनाएँ परिवर्तित होती रहती हैं वैसे-वैसे इन प्रारूपों में भी परिवर्तन होता रहता है। वास्तव में, इस अवधारणात्मक यन्त्र द्वारा वेबर हमें मूर्तता से अमूर्तता की ओर ले जाकर सामाजिक घटनाओं के वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा अध्ययन पर बल देते हैं।

वेबर ने अपनी दो पुस्तकों 'द प्रोटेस्टैण्ट इथिक एण्ड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म' (1905) तथा 'द मेथडॉलाजी ऑफ द सोशल साईंसेज' (1949) में आदर्श प्रारूप की अवधारणा का उल्लेख किया है। प्रथम पुस्तक में उन्होंने 'प्रोटेस्टैण्ट इथिक' तथा 'पूँजीवाद' से सम्बन्धित आदर्श प्रारूपों का निर्माण किया है, जबकि अपनी द्वितीय पुस्तक में 'तार्किक व्यवहार' (नौकरशाही) और 'शुद्ध बाजार' के आदर्श-प्रारूप की रचना की है।

16.3.2 आदर्श प्रारूप के लक्षण

आदर्श प्रारूप के उपर्युक्त स्पष्टीकरण से इसके निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं—

(1) आदर्श प्रारूप एक ऐसी पद्धति है जो यथार्थता को समझने में सहायक होती है। यद्यपि यह सम्पूर्ण यथार्थता को समझने में सहायक नहीं है, तथापि यह अन्वेषणकर्ता को यथार्थता के नजदीक ले जाने में सहायता प्रदान करती है।

(2) आदर्श प्रारूप सामाजिक यथार्थता का तार्किक ब्ल्यू-प्रिण्ट है। इससे सम्पूर्ण सामाजिक यथार्थता का पता चलता है।

(3) आदर्श प्रारूप आत्मगत अथवा चेतना सम्बन्धी होते हैं क्योंकि इनमें सामाजिक वैज्ञानिक घटना के उन्हीं तत्त्वों को सम्मिलित करता है जो कि उसकी दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने जाति व्यवस्था के आदर्श प्रारूप में सात लक्षणों को सम्मिलित किया है, जबकि जी० एस० घुरिये (G. S. Ghurye) तथा एन० के० दत्त (N. K. Dutta) ने छह को। इन तीनों विद्वानों ने जाति व्यवस्था के आदर्श प्रारूप में उन्हीं लक्षणों को सम्मिलित किया है जो उनकी दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं तथा जाति को अधिकाधिक नजदीक से समझने में सहायक है।

(4) आदर्श प्रारूप में न मूल्य होते हैं और न ही कोई नैतिक आदर्श। उपर्युक्त जाति व्यवस्था के उदाहरण में जाति को एक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था के रूप में देखा जाता है जिसमें अन्वेषणकर्ता के मूल्य अनुपस्थित होते हैं और उसके सामने इसका कोई अनुकरणीय नैतिक आदर्श भी नहीं होता।

(5) आदर्श प्रारूप की प्रकृति प्राकल्पनात्मक होती है। इसमें अन्वेषणकर्ता यथार्थता के बारे में अपनी प्राकल्पनाएँ बनाता है। यही कल्पनाएँ यथार्थता को उभार कर रखने में सहायक होती है।

(6) आदर्श प्रारूप एक अवधारणात्मक यन्त्र (टूल) है जो कि अन्वेषणकर्ता को वास्तविक घटनाओं में समानताओं तथा असमानताओं को मापने में सहायता करता है।

(7) आदर्श प्रारूप की प्रकृति परिवर्तनशील होती है। जैसे-जैसे सामाजिक घटनाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, वैसे-वैसे इन प्रारूपों में भी परिवर्तन होता रहता है।

(8) आदर्श प्रारूप सामाजिक यथार्थता की स्पष्ट अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र है।

16.3.3 आदर्श प्रारूप के प्रकार

मैक्स वेबर ने अमूर्तता के आधार पर निम्नलिखित तीन प्रकार के आदर्श प्रारूपों में भेद किया है—

(1) प्रथम प्रकार के आदर्श प्रारूप वे हैं जिनका आधार ऐतिहासिक विशिष्टताएँ (Historical particulars) हैं; जैसे—‘पश्चिमी नगर’, ‘प्रोटेस्टैण्ट इथिक’, ‘आधुनिक पूँजीवाद’ इत्यादि; अर्थात् उन घटनाओं से सम्बन्धित हैं जो केवल किसी विशेष ऐतिहासिक युग अथवा विशेष सांस्कृतिक क्षेत्र में देखी जा सकती हैं। इस प्रकार के आदर्श प्रारूपों को ‘ऐतिहासिक विशिष्टताओं पर बने आदर्श प्रारूप’ कहा जाता है।

(2) दूसरा प्रकार उन आदर्श प्रारूपों का है जो ऐतिहासिक वास्तविकता (Historical reality) के अमूर्त तत्वों से सम्बन्धित हैं अथवा अनेक प्रकार के ऐतिहासिक या सांस्कृतिक पहलुओं से सम्बन्धित हैं; जैसे—‘नौकरशाही’ और ‘सामन्तवाद’ इत्यादि। इन्हें सामाजिक यथार्थता से जुड़े आदर्श प्रारूप कहा जाता है।

(3) तीसरे प्रकार के आदर्श प्रारूप वे हैं जिन्हें रेमण्ड एरो विशेष प्रकार के व्यवहार की तार्किक अवधारणाएँ (Rationalizing reconstructions of a particular kind of behaviour) कहते हैं। वेबर के अनुसार आर्थिक सिद्धान्त की सभी प्रस्तावनाएँ इस श्रेणी के उदाहरण हैं। इस प्रकार के आदर्श प्रारूपों को विवेकपूर्ण व्यवहार से जुड़े आदर्श प्रारूप भी कहा जाता है।

16.3.4 आदर्श प्रारूप का महत्त्व

वेबर द्वारा दी गई आदर्श प्रारूप की अवधारणा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में विशेष महत्त्व रखती है क्योंकि वेबर का कहना है कि कोई भी वैज्ञानिक व्यवस्था सम्पूर्ण यथार्थता अथवा वास्तविकता का अध्ययन नहीं कर सकती और न ही कोई अवधारणात्मक प्रारूप विशेष घटनाओं की उसकी अनगिनत विभिन्नताओं के कारण पूर्ण वास्तविकता का पता लगा सकता है। सभी विज्ञानों में चयन, निदर्शन तथा अमूर्तता का सहारा लिया जाता है। इसलिए आदर्श प्रारूप सामाजिक विज्ञानों के लिए कोई नई बात नहीं मानी जानी चाहिए अपितु वास्तविकता को जहाँ तक हो सके समझने का एक प्रयास—मात्र समझा जाना चाहिए। यदि हम वेबर के इस तर्क को स्वीकार कर लें कि अनुसन्धान के प्रारम्भिक चरणों में सामाजिक वैज्ञानिक पूर्ण रूप से वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकता और न ही सामाजिक वास्तविकता को पूर्ण रूप से समझा जा सकता है तो आदर्श प्रारूप की उनकी अवधारणा सामाजिक वैज्ञानिकों की इस उलझन को समाप्त कर देती है कि उन्हें किसी सामान्य घटना का अध्ययन करना चाहिए अथवा विशिष्ट का।

16.3.5 आदर्श प्रारूप की अवधारणा की आलोचना

वेबर की आदर्श प्रारूप की अवधारणा की विविध प्रकार से आलोचना की गई है—**प्रथम**, यदि हम वेबर के इस तर्क को स्वीकार कर लें, तो समाजशास्त्र में सार्वभौमिक नियमों का निर्माण करना ही कठिन हो जाएगा, क्योंकि प्रत्येक वैज्ञानिक किसी घटना के उन तत्वों की ओर ध्यान केन्द्रित करेगा जिसे वह महत्त्वपूर्ण मानता है। **दूसरे**, यह अवधारणा केवल तुलनात्मक अध्ययनों में ही सहायता दे सकती है क्योंकि यदि किसी घटना का आदर्श प्रारूप हमारे सामने है तो हम इसको आनुभविक परिस्थिति में यह देखने के लिए प्रयुक्त कर सकते हैं कि विभिन्न परिस्थितियों में क्या भिन्नताएँ हैं, परन्तु अन्य प्रकार के अध्ययन में इसका प्रयोग अधिक नहीं किया जा सकता। **तीसरे**, यदि प्रत्येक घटना का अध्ययन आदर्श प्रारूपों से करने लगे तो आनुभविक अध्ययनों की महत्ता ही समाप्त हो जाएगी।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद वेबर की आदर्श प्रारूप की अवधारणा समाज में एक विशेष स्थान रखती है जिसे केवल वेबर के कार्यों तक ही सीमित नहीं किया जा सकता, अपितु आज अनेक विद्वान् अपने

अध्ययनों में इसे अपना रहे हैं। वेबर की अधिकारीतन्त्र तथा सत्ता की आदर्श प्रारूप की अवधारणाएँ आज भी समाजशास्त्रीय अवधारणाओं में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। वास्तव में, आदर्श प्रारूप की अवधारणा महत्वपूर्ण होते हुए भी सीमित क्षेत्र में ही उपयोगी है।

16.4 सारांश

मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र को सामाजिक क्रिया का अर्थपूर्ण बोध कराने वाला विज्ञान माना है। अतः सामाजिक क्रिया समाजशास्त्र की एक प्रमुख अवधारणा है। किसी क्रिया को सामाजिक क्रिया तभी कहा जा सकता है, जबकि उस क्रिया को करने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों के द्वारा लगाए गए सहानुभूतिमूलक अथवा आत्मपरक अर्थ के कारण यह क्रिया दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार द्वारा प्रभावित हो और उसी के अनुसार उसकी गतिविधि निर्धारित हो। वेबर ने सामाजिक क्रियाओं को चार प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया है। प्राचीनकाल से चली आ रही परम्पराओं से प्रभावित व्यवहार से सम्बन्धित क्रियाओं को परम्परागत सामाजिक क्रियाएँ; व्यक्ति की भावात्मक दशाओं एवं संवेगों से सम्बन्धित क्रियाओं को भावात्मक सामाजिक क्रियाएँ; मूल्यों से सम्बन्धित क्रियाओं को मूल्यात्मक सामाजिक क्रियाएँ तथा साध्य एवं साधनों को सामने रखकर की जाने वाली क्रियाएँ बौद्धिक सामाजिक क्रियाएँ कहलाती हैं। वेबर का समाजशास्त्र को एक अन्य योगदान आदर्श प्रारूप की अवधारणा को प्रतिपादित करना माना जाता है। यह एक प्रकार से पद्धतिशास्त्रीय यन्त्र है जो सामाजिक यथार्थता को समझने में सहायक होता है। ऐतिहासिक विशिष्टताओं, ऐतिहासिक वास्तविकता तथा विवेकपूर्ण व्यवहार के आधार पर आदर्श प्रारूप को तीन प्रकारों में विभाजित किया जाता है। यह अवधारणा शोधकर्ता को यथार्थता के काफी नजदीक ले जाने में सहायता प्रदान करती है। वेबर ने स्वयं अनेक आदर्श प्रारूपों की रचना कर वैज्ञानिक अध्ययन किए हैं।

16.5 शब्दावली

| | |
|--------------------------|--|
| सामाजिक क्रिया | – किसी क्रिया को सामाजिक क्रिया तभी कहा जा सकता है, जबकि उस क्रिया को करने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों के द्वारा लगाए गए सहानुभूतिमूलक अथवा आत्मपरक अर्थ के कारण यह क्रिया दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार द्वारा प्रभावित हो और उसी के अनुसार उसकी गतिविधि निर्धारित हो। |
| आदर्श प्रारूप | – आदर्श प्रारूप से अभिप्राय किसी घटना, वस्तु अथवा वर्ग विशेष की समस्त अनिवार्य विशेषताओं का सम्पूर्ण अथवा लगभग सम्पूर्ण रूप से चित्रण करने का प्रयास है। |
| परम्परागत क्रिया | – प्राचीनकाल से चली आ रही परम्पराओं से प्रभावित व्यवहार से सम्बन्धित क्रियाओं को परम्परागत क्रियाएँ कहते हैं। |
| भावात्मक क्रिया | – व्यक्ति की भावात्मक दशाओं एवं संवेगों से सम्बन्धित क्रियाओं को भावात्मक क्रियाएँ कहते हैं। |
| मूल्यात्मक क्रिया | – मूल्यों से सम्बन्धित क्रियाओं को मूल्यात्मक क्रियाएँ कहते हैं। |
| बौद्धिक क्रिया | – साध्य एवं साधनों को सामने रखकर की जाने वाली क्रियाएँ बौद्धिक क्रियाएँ कहलाती हैं। |

16.6 अभ्यास प्रश्न

1. सामाजिक क्रिया किसे कहते हैं? वेबर ने सामाजिक क्रियाओं के कितने प्रकार बताए हैं? संक्षेप में समझाइए।
2. बेबर के सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।
3. बेबर की सामाजिक क्रिया की अवधारणा की व्याख्या कीजिए।
4. आदर्श प्रारूप की अवधारणा स्पष्ट कीजिए तथा इसके प्रमुख लक्षण बताइए।
5. आदर्श प्रारूप से आप क्या समझते हैं? आदर्श प्रारूप के प्रमुख प्रकार समझाइए।
6. आदर्श प्रारूप क्या है? समाजशास्त्र में आदर्श प्रारूप का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।
7. वेबर द्वारा प्रतिपादित आदर्श प्रारूप की अवधारणा की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
8. बेबर की सामाजिक क्रिया एवं आदर्श प्रारूप की अवधारणाएँ स्पष्ट कीजिए।

16.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- G. S. Ghurye (1950), **Caste, Class and Occupation**, Popular Book Depot, Bombay.
- Julien Freund (1964), **The Sociology of Max Weber**, Pantheon Books, New York.
- Kingsley Davis (1949), **Human Society**, The Macmillan Company, New York.
- L. A. Coser and B. Rosenberg (1969), **Sociological Theory : : A Book of Readings**, The Macmillan Company, New York.
- M. Haralambos and R. M. Heald (1991), **Sociology : Themes and Perspectives**, Oxford University Press, Delhi.
- Max Weber (1922), **Economy and Society**, University of California Press, New York.
- Max Weber (1947), **The Theory of Social and Economic Organization** (Edited by Talcott Parsons), Oxford University Press, New York.
- Max Weber (1949), **The Methodology of Social Sciences**, The Free Press, New York.
- N. K. Dutta (1931), **Origin and Growth of Caste in India**, Trench, Trubner and Company, Ltd., London.
- Raymond Aron (1967), **Main Currents in Sociological Thought**, Vol. 2 : Durkheim, Pareto, Weber, Basic Books, New York.
- Talcott Parsons (1963) On the Concept of Political Power in **Proceedings of the American Philosophical Society**, Vol. 107, No. 3 (June 19, 1963), pp. 232-262.

इकाई 17 सत्ता के स्वरूप : चमत्कारिक, परम्परागत एवं तार्किक Forms of Authority: Charismatic, Traditional & Rational

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 शक्ति की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

17.3 वैध शक्ति के रूप में सत्ता की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

17.4 सत्ता के विभिन्न प्रकार

17.5 चमत्कारिक, तार्किक तथा परम्परागत सत्ता में भेद

17.6 सत्ता की अवधारणा की आलोचना

17.7 सारांश

17.8 शब्दावली

17.9 अभ्यास प्रश्न

17.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

17.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में मैक्स वेबर की सत्ता की अवधारणा एवं इसके स्वरूपों को समझाने का प्रयास किया गया है। चूँकि सत्ता वैध शक्ति है, इसलिए सत्ता की अवधारणा भी स्पष्ट की गई है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- शक्ति एवं सत्ता की अवधारणाओं का स्पष्टीकरण कर पाएँगे तथा इन दोनों में अन्तर समझ सकेंगे;
- सत्ता के तीनों स्वरूपों की व्याख्या कर पाएँगे;
- सत्ता के तीनों स्वरूपों में पाए जाने वाले भेद को स्पष्ट कर पाएँगे; तथा
- सत्ता की अवधारणा की आलोचनात्मक समीक्षा कर पाएँगे।

17.1 प्रस्तावना

मैक्स वेबर ने सामाजिक व्यवस्था को सामाजिक क्रियाओं की व्यवस्था के रूप में देखा है। प्रत्येक व्यवस्था में नियन्त्रण एक आवश्यक अंग के रूप में संलग्न होता है। व्यवस्था के नियमों, पद्धतियों, कार्यविधियों एवं लक्ष्यों के अनुरूप ही सदस्य व्यवहार करते रहें और यदि कहीं कोई उल्लंघन हो तो उसका प्रतिकार किया जा सके, यही नियन्त्रण का उद्देश्य होता है। वेबर ने सामाजिक व्यवस्था के इस पक्ष का गहन विश्लेषण किया है। इस विश्लेषण में 'प्रभाव' (Influence), 'शक्ति' (Power), 'सत्ता' (Authority), 'औचित्यता' (Legitimacy) तथा 'प्रभुता' (Dominance) इत्यादि अवधारणाओं का प्रयोग किया गया है।

वास्तव में, वेबर ने समाज के इस पक्ष का विश्लेषण करके राजनीतिक समाजशास्त्र की नींव डाली और समाज के शक्ति आयाम को समझाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

प्रभाव, शक्ति, सत्ता अथवा प्रभुता ऐसी सामूहिक स्थिति (Group situation) से सम्बन्धित हैं जहाँ कोई व्यक्ति या कुछ निश्चित व्यक्ति आदेश अथवा आज्ञा देने की स्थिति में होते हैं और अन्य व्यक्ति उन आज्ञाओं के अनुरूप आचरण के लिए अपेक्षित होते हैं। इस भाँति शक्ति अथवा सत्ता के सम्बन्धों के दो सिरे हैं—**एक**, आदेश देने वाला और **दूसरा**, आदेश का पालन करने वाला। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि ये अधिकारी एवं अधीन के बीच, नेता एवं अनुयायी के बीच, स्वामी एवं सेवक के बीच सम्बन्धों को प्रकट करते हैं। इसलिए जहाँ एक ओर प्रभाव, शक्ति एवं सत्ता जैसे शब्दों का प्रयोग ऐसे सम्बन्धों को समझने के लिए किया जाता है, वहाँ इनके दूसरे पहलू आज्ञाकारिता (Obedience), निष्ठा (Loyalty) तथा अनुगमन (Follow) का भी प्रयोग करना आवश्यक है। वेबर की जिज्ञासा बड़ी स्वाभाविक थी कि कोई और समूह किसी अन्य व्यक्ति और समूह को आदेश देने की स्थिति में क्यों और कैसे हैं? ये अन्य व्यक्ति और समूह इन आदेशों का पालन क्यों करते हैं? समाज में शक्ति अथवा सत्ता की प्रकृति क्या है और उसके प्रमुख आधार क्या हैं? वेबर ने समाज की इस व्यवस्था को आदेशात्मक समन्वयन (Imperative co-ordination) का नाम दिया। आदेशात्मक समन्वयन से वेबर का आशय “उस सम्भावना (Probability) से है जिसमें कोई निश्चित और स्पष्ट आदेश व्यक्तियों के एक निश्चित समूह द्वारा पालन किया जाएगा।” वेबर ने इस प्रश्न को उठाया है कि लोग आदेशों का पालन क्यों करते हैं? इस आज्ञापालन या अनुसरण के प्रमुख अभिप्रेरक कौन से हैं? वेबर का कथन था कि आज्ञाकारिता के पीछे अनेक अभिप्रेरक हो सकते हैं। आज्ञापालन की आदत से लेकर सोच-विचार कर कुछ लाभ उठाने के प्रयोजन तक अनेक प्रेरक व्यक्ति को आज्ञाकारी बनाते हैं। साधारण विचारकों की राय में आज्ञापालन प्रायः दो कारणों से किया जाता है—**एक**, किसी प्रकार के आतंकबोध का भय अर्थात् यदि आज्ञापालन नहीं किया तो दण्ड मिलेगा या कोई हानि हो जाएगी तथा **दूसरे**, कोई लालच या लाभ उठाने की सम्भावना। परन्तु वेबर का कहना है कि आदेशात्मक सम्बन्ध में आज्ञापालन में एक अन्य तत्त्व स्वेच्छा का भी है। सत्ता में आदेशात्मक नियन्त्रण हमेशा स्वेच्छा पर आधारित होता है न कि बाध्यता पर। आज्ञाकारिता या आदेशों में निष्ठा दो बातों पर आधारित होती है कि व्यक्ति या तो अपने बाह्य हित के लिए उन आदेशों का पालन करता है या उसके मन में उन आदेशों की यथार्थ स्वीकृति होती है।

वेबर ने आज्ञाकारिता के पीछे चार प्रमुख प्रेरकों का वर्णन किया है—**एक**, आज्ञापालन किसी भौतिक हित या लाभ के लिए किया जा सकता है, **दो**, प्रथा के आधार पर भी आज्ञापालन किया जाता है, क्योंकि प्रथाओं के अनुसार आदेश देने वाला व्यक्ति श्रेष्ठता की स्थिति में होता है; **तीन**, भावनाएँ भी आज्ञाकारिता के पीछे प्रेरक होती हैं। यदि मनुष्य किसी का सम्मान करता है, उसके प्रति आकर्षित होता है या उससे प्रेम करता है, तो वह उस व्यक्ति के आदेशों की अवज्ञा नहीं कर सकता; तथा **चार**, आज्ञाकारिता के पीछे वह मूल्य या आदर्श भी हो सकता है जिसमें आज्ञापालक की निष्ठा या आस्था निहित है। वेबर का कहना है कि ये उपर्युक्त प्रेरक न तो अलग-अलग और न सम्मिलित रूप से आदेशात्मक व्यवस्था के स्पष्टीकरण में पर्याप्त हैं। उनका कहना है कि उसके अतिरिक्त सामान्यतः एक और तत्त्व है जो आदेशात्मक सम्बन्धों की व्याख्या करता है। वह तत्त्व है आदेश की वैधता में विश्वास।

वास्तव में, वेबर ने आदेशात्मक व्यवस्था के सबसे महत्वपूर्ण आधार की ओर इशारा किया। इसे उन्होंने वैधता (Legitimacy) का नाम दिया है। वैधता से आशय है कि आज्ञापालन करने वाले अपने में यह विश्वास रखते हैं कि उन्हें मिलने वाले आदेश उचित हैं, न्यायपूर्ण हैं; उनके द्वारा आदेशों का पालन किया जाना ही उचित है, तर्कसंगत है एवं न्यायपूर्ण है। यही कारण है कि कोई भी व्यवस्था इस बात से ही

निश्चित नहीं रहती है कि प्रथा, आदर्श या भावना के आधार पर उसकी सत्ता की निरन्तरता बनी रहेगी। प्रत्येक संगठन या व्यवस्था यह कोशिश करती है कि अपने सदस्यों में आदेशात्मक नियन्त्रण के प्रति वैधता की भावना को पैदा करे, उसे पनपाए और दृढ़ बनाए।

वेबर ने वैधता के तीन आधार बताए हैं—तार्किकता, परम्परा एवं भावनाएँ। घरों में माता-पिता की सत्ता की वैधता प्रथा के आधार पर टिकी होती है। स्कूल में शिक्षकों की सत्ता कानूनी तार्किकता के आधार पर होती है। किसी धर्मगुरु की सत्ता भावनाओं या निष्ठा के आधार होती है। वैधता के ये स्वरूप शक्ति या सत्ता को समझने के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि जिस प्रकार की वैधता का दावा होगा, उसी के अनुरूप आज्ञाकारिता का स्वरूप भी होगा; उसी के अनुरूप प्रशासनिक स्टाफ की नियुक्ति की जाएगी जिसका उद्देश्य आज्ञाकारिता को बनाए रखना होगा तथा इस वैधता के स्वरूप के अनुसार ही सत्ता का क्रियान्वयन और उसके परिणाम होंगे। वेबर के विश्लेषण में सत्ता को समझने से पूर्व वैधता की इस अवधारणा को समझना आवश्यक है क्योंकि वेबर ने सत्ता के जिन स्वरूपों का विश्लेषण किया है वे सभी वैध सत्ताएँ ही हैं। इस सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि में अब वेबर के शक्ति और सत्ता के सम्बन्ध में विचारों को स्पष्ट किया जा सकता है।

17.2 शक्ति की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

व्यक्ति समाज में अकेले नहीं रहते अपितु एक-दूसरे के साथ रहते हैं। समाज में रहते हुए उनके लिए समाज की राजनीति से सम्बन्ध रखना अनिवार्य नहीं है, न ही राजनीतिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेना ही अनिवार्य है। परन्तु एक साथ रहने के कारण उनके सम्बन्धों में एक-दूसरे का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अन्य व्यक्तियों को अपने किसी गुण अथवा किसी अन्य आधार के कारण प्रभावित करते हैं। शक्ति तथा सत्ता को समझने के लिए पहले प्रभाव (Influence) को समझना जरूरी है क्योंकि शक्ति प्रभाव का ही एक प्रकार है।

समाज में निरन्तर संघर्ष होते रहते हैं क्योंकि आज विभिन्नता तथा असहमति व्यक्ति के सामाजिक जीवन की अनिवार्य दशाएँ बन चुकी हैं। संघर्षों का प्रमुख कारण समाज में सीमित साधनों का पाया जाना है। 'साधन' शब्द का अभिप्राय वह माध्यम है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है। **हैराल्ड लैसवैल** (Harold Lasswell) के अनुसार प्रभाव से अभिप्राय दूसरे व्यक्तियों की नीतियों को प्रभावित करना है। प्रभाव किसी व्यक्ति की अपनी इच्छानुसार दूसरे व्यक्तियों को बदलने की क्षमता है। वेबर ने लिखा है कि प्रत्येक प्रभाव शक्ति या सत्ता नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए—एक व्यक्ति जो किसी वस्तु का एकाधिकारी स्वामित्व रखता हो, वह इसके विनिमय में रुचि रखने वाले पक्ष को अपनी शर्तों पर सौदा करने के लिए बाध्य कर सकता है, जबकि उसके पास ऐसा करने की कोई शक्ति अथवा सत्ता नहीं है। इसी प्रकार, किसी विशेष प्रकार के गुण या श्रेष्ठता से भी कोई व्यक्ति प्रभावकारी स्थिति में आ जाता है; जैसे—शारीरिक सौन्दर्य या खेल में कुशलता या बौद्धिक प्रतिभा।

कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिसमें अनुपालन की सम्भावना बहुत कम होती है तथा ऐसी परिस्थिति में कर्ता का अन्य व्यक्तियों से अपनी बात मनवाने के लिए काफी प्रयास करना पड़ता है। यदि इस प्रयास में वह बल का प्रयोग करता है अथवा प्रयोग करने की धमकी देता है तो उसे शक्ति कहा जाता है। इस प्रकार, शक्ति प्रभाव का ही एक विशेष प्रकार है। शक्ति किसी व्यक्ति की नकारात्मक अथवा सकारात्मक अनुमोदन (Sanction) द्वारा दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करने की क्षमता है। सकारात्मक अनुमोदन पुरस्कार के रूप में हो सकता है, जबकि नकारात्मक अनुमोदन किसी वस्तु से वंचित करने, नुकसान पहुँचाने या दण्ड देने की धमकी के रूप में हो सकता है। क्योंकि शक्ति दूसरे व्यक्तियों के

व्यवहार को प्रभावित करने की क्षमता है, इसलिए यह एक सापेक्षिक विशेषता है, न कि व्यक्तिगत विशेषता। वेबर ने 'शक्ति' को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, "शक्ति वह सम्भावना है जिसमें एक व्यक्ति ऐसे सामाजिक सम्बन्ध में होता है कि वह प्रतिरोध के बावजूद भी अपनी इच्छा को मनवा सके, चाहे इस सम्भावना का आधार कुछ भी हो।"

शक्ति का प्रयोग प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों रूपों में किया जा सकता है। परन्तु सभी परिस्थितियों में शक्ति के दावे (Assertion) के लिए लगभग एक जैसे दौंव-पेच ही अपनाए जाते हैं। एक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुकूल अन्य व्यक्तियों से अनुपालन या आज्ञाकारिता के लिए मूल रूप से तीन प्रकार के दबावों का प्रयोग कर सकता है—**प्रथम**, व्यक्ति अन्यों से अनुपालन के लिए किसी प्रकार के लाभ, वांछनीय वस्तु अथवा सामाजिक दशा का प्रलोभन दे सकता है। एक माता द्वारा खरीददारी के समय बच्चे को अच्छे व्यवहार के लिए चाकलेट देना, एक मिल-मालिक द्वारा श्रमिकों को अनुपस्थित न रहने तथा उत्पादन बढ़ाने के लिए बोनस देना, अथवा किसी सफल राजनीतिक नेता द्वारा अपने समर्थकों को अच्छे पदों पर नियुक्ति में सहायता देना आदि अनुपालन के लिए प्रयुक्त इस प्रकार के कुछ उदाहरण हैं। **द्वितीय**, व्यक्ति अन्यों से अनुपालन के लिए किसी प्रकार की हानि या दण्ड-भय की धमकी दे सकता है। उदाहरणार्थ—नागरिक जानते हैं कि वैधानिक नियमों का उल्लंघन करने पर अथवा एक तानाशाही शासन में तानाशाह का विरोध करने पर उन्हें कैद की सजा हो सकती है। **तृतीय**, व्यक्ति अनुपालन के लिए सूचना अथवा लोगों के मूल्यां, मनोवृत्तियों व भावों को कार्य साधन बना सकता है। उदाहरणार्थ—कुछ एक पत्रकारों को सबल इसलिए माना जाता है कि उनके द्वारा लिखित लेख व प्रस्तुत सूचना विश्वसनीय होती है। एक राजनीतिक नेता जनता पर शासन बनाए रखने के लिए लोगों की मनोवृत्तियों व भावों को कार्य साधन बना सकता है। वास्तव में, व्यक्ति किस सीमा तक अन्य लोगों को अपनी शक्ति द्वारा प्रभावित कर सकता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि कितनी दक्षता से वह इन दबावों का प्रयोग करता है।

शक्ति के दो प्रमुख लक्षण हैं—(1) यह **सम्बन्धमूलक (Relational)** होती है तथा (2) यह **स्थितिपरक (Situational)** होती है। शक्ति, यद्यपि व्यक्ति की किसी अन्य को प्रभावित करने की क्षमता है, फिर भी यह सरल व्यक्तिगत लक्षण न होकर मूल रूप से सम्बन्धमूलक है। शक्ति सदैव दो अथवा दो से अधिक कर्ताओं के बीच क्रियाशील होती है। यदि एक कर्ता शक्ति रखते हुए भी दूसरों को प्रभावित नहीं कर पाता है, तो उसकी शक्ति व्यर्थ हो जाती है। यह व्यवहार की तुलना एवं मूल्यांकन का आधार है। उदाहरणार्थ—एक धनवान के पास अपार धन एवं एक साहित्यकार के पास अपार प्रतिभा है। यदि हम यह पूछें कि इन दोनों में कौन अधिक शक्तिशाली या सबल है, तो उत्तर देना कठिन हो जाएगा क्योंकि ऐसी स्थिति में दोनों के गुणों में असमानता होने के कारण किसी को भी शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि दोनों में शक्ति व्यक्तिगत विशेषता तो है परन्तु उनकी प्रभावित करने की क्षमता का पता नहीं है। धनवान व्यक्ति को हम उस स्थिति में शक्तिशाली कहेंगे जबकि उसका धन साहित्यकार के लेखन को प्रभावित करेगा और साहित्यकार को शक्तिशाली तब कहा जाएगा जबकि उसकी रचनाएँ धनवान को प्रभावित करेंगी।

शक्ति स्थितिपरक होती है अर्थात् इसे कर्ता किसी विशेष स्थिति में ही प्रयुक्त कर सकता है। उदाहरणार्थ—एक न्यायाधीश किसी मुकदमे में अपनी शक्ति का प्रयोग केवल न्यायालय के भीतर सम्बन्धित पक्षों पर ही कर सकता है। इसी प्रकार, लोकसभा का अध्यक्ष संसद सदस्यों पर अपनी शक्ति का प्रयोग सदन में ही कर सकता है और सदन के बाहर संसद सदस्यों पर उसकी शक्ति निष्क्रिय होती है। अतः यद्यपि शक्ति सम्बन्धमूलक है, फिर भी इसमें स्थितियाँ भी महत्वपूर्ण होती हैं।

शक्ति के प्रयोग में एक अन्य कारक महत्वपूर्ण है जिसे हम आशय (Intention) कहते हैं। दहल (Dahl) ने अपनी परिभाषा में शक्ति द्वारा प्रभावित होने वाले व्यक्ति के आशय को महत्व दिया है। 'अ' की 'ब' पर शक्ति उसी सीमा तक कही जाएगी जबकि 'अ' 'ब' से उसके आशय के विरोध के बावजूद अपनी बात को मनवाने में सफल हो जाता है। परन्तु इस तर्क को स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि शक्ति द्वारा प्रभावित होने वाले व्यक्ति (उदाहरणार्थ 'ब') के आशय का पता लगाना कठिन है। केवल कुछ-एक व्यक्तिगत सम्पर्क की स्थितियों में ही ऐसा सम्भव हो सकता है। उदाहरणार्थ-एक छात्र तो यह स्वीकार कर सकता है कि उसके व्यवहार को परिवर्तित करने (अर्थात् उसके आशय से अन्य प्रकार का व्यवहार करने) में उसके प्राध्यापक का महत्वपूर्ण योगदान है परन्तु अन्य स्थितियों, विशेष रूप से राजनीतिक स्थितियों, में यह इतना सरल नहीं है। उदाहरणार्थ-किसी भी कारखाने के प्रबन्धक यह स्वीकार नहीं करेंगे कि उनकी नीति ट्रेड यूनियन के प्रतिकूल है जो कि उनकी यथार्थ नीति से भिन्न है। इस प्रकार, कोई भी राष्ट्र यह स्वीकार नहीं करेगा कि उसके कार्य या नीति किसी शक्तिशाली राष्ट्र के प्रभाव के कारण परिवर्तित हो रही है।

यदि 'आशय' शब्द का प्रयोग शक्ति को प्रयुक्त करने वाले व्यक्ति के सन्दर्भ से किया जाता है, तो आशय सम्बन्धी उपर्युक्त समस्या को काफी सीमा तक कम किया जा सकता है। इसके लिए हमें शक्ति की परिभाषा दहल की परिभाषा से भिन्न शब्दों में देनी होगी। यह कहा जा सकता है कि 'अ' के पास 'ब' पर शक्ति उसी स्थिति में होगी जबकि 'अ' 'ब' से अपने आशय के अनुरूप कार्य ले सके। अन्य शब्दों में, हमें प्रभावित होने वाले व्यक्ति के आशय के स्थान पर प्रभावित करने वाले (या शक्ति का प्रयोग करने वाले) व्यक्ति के आशय को अधिक महत्व देना होगा। इसमें हमें यह देखने की कोई आवश्यकता नहीं कि प्रभावित होने वाला व्यक्ति क्या स्वीकार करता है या क्या स्वीकार नहीं करता, अपितु हमें केवल यह देखना होगा कि प्रभावित करने वाले व्यक्ति का क्या आशय है और प्रभावित होने वाला उसी आशय के अनुरूप प्रभावित हुआ है या नहीं। परन्तु यह दृष्टिकोण भी प्रथम दृष्टिकोण की तरह समस्याहीन नहीं है। इसमें यदि शक्तिशाली (उदाहरणार्थ-'अ') के आशय का प्रभावित होने वाले (उदाहरणार्थ-'ब') को पता नहीं है, परन्तु फिर भी वह प्रभावित हो रहा है तो इस स्थिति में हमारे लिए यह कह पाना कठिन हो जाएगा कि 'अ' 'ब' पर शक्ति का प्रयोग कर रहा है। कुछ भी हो, शक्ति की परिभाषा तथा इसके प्रयोग के आशय के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

किसी भी कर्ता के पास राजनीतिक शक्ति स्थायी रूप से नहीं रहती। पारसन्स (Parsons) ने शक्ति की तुलना मुद्रा से की है। जिस प्रकार मुद्रा में परिचालन होता है, ठीक उसी प्रकार शक्ति में भी परिचालन होता है। उन्होंने शक्ति को समझने के लिए शून्य-योग (Zero-sum) संप्रत्यय को विकसित किया है अर्थात् यदि किसी के पास सकारात्मक शक्ति है तो उससे प्रभावित होने वालों के पास नकारात्मक शक्ति है और इन दोनों का योग शून्य होगा। उन्होंने स्रोतों के आधार पर शक्ति को तीन प्रकार का बताया है-शारीरिक शक्ति, भौतिक शक्ति तथा प्रतीकात्मक शक्ति। वास्तव में, शक्ति के अनेक स्रोत (यथा बल, सम्मान, धन-दौलत, व्यक्तिगत आकर्षण, प्रेम, प्रभाव, सत्ता व संगठन आदि) हो सकते हैं।

17.3 वैध शक्ति के रूप में सत्ता की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

राजनीतिक शक्ति समाज में स्थायित्व बनाए रखने, इसका संचालन करने तथा समाज में निरन्तरता बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान देती है। कुछ विद्वानों का कहना है कि राजनीतिक शक्ति में बल प्रयोग

किया जाता है अथवा प्रयोग करने की धमकी दी जाती है जिससे व्यक्तियों को अनुपालन करने के लिए बाध्य किया जाता है तथा इसी से समाज में स्थायित्व आता है, परन्तु वास्तव में, ऐसा नहीं है। समाज में स्थायित्व इसलिए नहीं आता कि राजनीतिक शक्ति में बल प्रयोग किया जाता है अपितु इसलिए आता है कि शक्ति को वैधता मजबूत करती है। जब राजनीतिक शक्ति के साथ वैधता को जोड़ दिया जाता है तो उसे सत्ता कहते हैं। वेबर के अनुसार सत्ता का सम्बन्ध शक्ति से है। वैध शक्ति (Legitimate power) को ही सत्ता कहा जाता है। सत्ता द्वारा ही सामाजिक क्रिया का परिसंचालन होता है तथा इसी के द्वारा समाज में स्थायित्व बना रहता है अथवा सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण होता है। वेबर की सत्ता सम्बन्धों की चर्चा, अर्थात् कुछ व्यक्तियों के पास शक्ति कहाँ से आती है तथा वे यह अनुमान क्यों लगाते हैं कि अन्य व्यक्तियों को उनका अनुपालन करना चाहिए, वास्तव में, उनके आदर्श प्रारूप का ही एक उदाहरण है जिसमें वह सत्ता का तीन श्रेणियों में वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार, शक्ति को जब वैधानिक रूप दे दिया जाता है तो उसे सत्ता कहा जाता है। सत्ता को मानना अथवा इसका पालन करना एक ऐच्छिक कार्य है। सत्ता ही समाज में स्थायित्व का वास्तविक आधार है। सत्ता केवल राजनीतिक क्रियाओं अथवा परिस्थितियों तक ही सीमित नहीं है अपितु सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू में सत्ता क्रियाशील है तथा देखी जा सकती है। राजनीतिक तथा सामाजिक पहलुओं में अन्तर केवल इतना है कि पहले में सत्ता इसके साथ जुड़ी हुई है, जबकि दूसरे में शक्ति तथा सत्ता का वितरण समान रूप से नहीं है।

अतः वैधता अथवा औचित्यपूर्णता शक्ति शब्दावली के सभी शब्दों में जुड़ी हुई है। जब हम 'प्रभाव', 'शक्ति' और 'सत्ता' की विवेचना करते हैं तो बार-बार हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया जाता है कि वे वैधता प्राप्त करने पर ही प्रभावशाली हो सकती हैं तथा हम इसी आधार पर दूसरों का व्यवहार परिवर्तित करने में सफल हो सकते हैं। बल प्रयोगात्मक या दमनात्मक शक्ति प्राचीनकाल में प्रभावकारी रही होगी परन्तु राजनीतिक विकास के परिणामस्वरूप इस प्रकार की शक्ति का प्रयोग कम होने लगा है और यदि होता भी है तो उसके पीछे जन-समर्थन होता है। शक्ति के प्रयोग के पीछे जन-समर्थन या सहमति ही वैधता है।

यदि सरकार को जनता वैध स्वीकार नहीं करती है तो सरकार के प्रति अविश्वास प्रकट किया जाता है। कई बार युद्ध और क्रान्तियों द्वारा सरकार का तख्ता तक पलट दिया जाता है। वास्तव में, कोई भी सरकार हिंसा, दण्ड या दमन के आधार पर अपना अस्तित्व नहीं बनाए रख सकती। वैधता जनता के मन में उसके प्रति विश्वास पैदा करती है और जनसाधारण उसे नैतिक दृष्टि से सही और उचित मानने लगता है। इस प्रकार का विश्वास राज्य व्यवस्था की सभी संरचनाओं, कार्यविधियों, नीतियों, अधिकारियों तथा नेताओं के प्रति होना ही वैधता कहलाता है। प्रजातन्त्रीय राज्यों में वैधता का महत्वपूर्ण स्थान है तथा इसके रहने पर द्वन्द्व एवं विवाद भी राज्य-व्यवस्था को कभी विभंग नहीं कर सकते।

वैधता के कारण ही अधीनस्थ अधिकारी अपने से उच्च अधिकारियों का आदेश मानते हैं। वैधता सारी व्यवस्था को सुचारु बना देती है। वास्तव में, वैधता के अभाव में शक्ति केवल बल (Force) है तथा इसके न होने पर शासकों का भी विरोध किया जाता है। वैधता एक विचार नियम है जो किसी व्यक्ति को शक्ति के प्रयोग का अधिकार देता है। 'वैधता' (Legitimacy) शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से लैटिन भाषा के 'Legitimus' शब्द से बना है जिसका अर्थ 'विधि द्वारा गठित शक्तियों या न्यायाधीशों' से है। इसे 'वैधानिक' (Lawful) शब्द का समानार्थक माना जाता है। वैधता कोई नैतिक भावना या व्यक्तिनिष्ठ अवधारणा नहीं है। यह एक विश्वास है जिसके अनुसार नागरिकों तथा अधीनस्थों को शासन के कार्यों में उनके सही होने का

विश्वास रहता है। यह न्याय स्थापना की आवश्यकता की भावना पर आधारित है। प्रजातन्त्र में वैधता प्राणस्वरूप होती है।

शक्ति एवं सत्ता 'शक्ति शब्दावली' की दो प्रमुख अवधारणाएँ हैं। वैध अनुमोदन या संस्थागत शक्ति को ही सत्ता कहा जाता है। दोनों में पाई जाने वाली प्रमुख असमानताएँ निम्नांकित हैं—

(1) शक्ति दण्डभय द्वारा व्यक्तियों से अनुपालन करवाने की क्षमता है, जबकि सत्ता का अनुपालन ऐच्छिक कार्य होता है।

(2) समाज में सत्ता शक्ति की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली मानी जाती है।

(3) शक्ति वैध तथा अवैध दोनों प्रकार की होती है, जबकि सत्ता केवल वैध शक्ति को ही कहा जाता है।

(4) सत्ता की अपेक्षा शक्ति एक अधिक व्यापक अवधारणा है। अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि सत्ता शक्ति का एक विशेष प्रकार है।

(5) क्योंकि सत्ता वैध शक्ति है इसलिए इसके साथ वैधता सदैव जुड़ी रहती है। अन्य शब्दों में, शक्ति को वैधता प्रदान करके सत्ता में परिवर्तित किया जा सकता है।

(6) समाज के स्थायित्व एवं निरन्तरता में सत्ता का योगदान शक्ति से अधिक महत्वपूर्ण है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि सत्ता शक्ति का वैध रूप है। यदि कोई पिता अपने बच्चों को किसी कार्य के लिए डाँटता है या मारता है तो उसे वैध माना जाएगा और सत्ता कहा जाएगा क्योंकि बच्चों को समाज के अनुकूल व्यवहार करना सिखाना, पिता, माता व परिवार का मुख्य कार्य है। यदि कोई बदमाश मुहल्ले वालों को किसी कार्य के लिए तंग करता है तो उसे शक्ति कहा जाएगा क्योंकि बदमाश के पास मुहल्ले वालों से उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करवाने का कोई अधिकार नहीं है।

17.4 सत्ता के विभिन्न प्रकार

मैक्स वेबर ने सत्ता को वैधता प्रदान करने वाले स्रोतों को तीन प्रकार का बताया है—

- (1) चमत्कारिक स्रोत,
- (2) परम्परागत स्रोत, तथा
- (3) तार्किक स्रोत।

इन स्रोतों के आधार पर वेबर ने सत्ता को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। ये हैं—

(1) चमत्कारिक सत्ता—इस प्रकार की सत्ता में व्यक्ति का अनुपालन उसकी चमत्कारिक वैयक्तिक विशेषताओं (गुणों) के कारण किया जाता है, चाहे ये गुण नैतिक हों या धार्मिक या अन्य किसी प्रकार के। चमत्कारिक सत्ता का आधार व्यक्ति के अपने गुण हैं। चमत्कार से अभिप्राय उन व्यक्तिगत गुणों से है जो किसी व्यक्ति को अन्य साधारण व्यक्तियों से भिन्न करते हैं। चमत्कारिक गुणों को अलौकिक, अतिमानवीय अथवा विशेष प्रकार की शक्ति या गुणों से सम्बन्धित माना जाता है। उदाहरण के लिए—धार्मिक नेताओं को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। चमत्कारी सत्ता एक अपवाद स्वरूप होती है। अतिमानवीय, अतिप्राकृतिक शक्ति—सम्पन्न व्यक्ति भी एक क्रान्तिकारी नायक, सेनानायक, तानाशाह अथवा सामाजिक हो सकता है। इस सत्ता का आधार सत्ताधारी के प्रति अनुयायियों की असीम भक्ति होती है। इस भाँति, वह सत्ता तार्किकता पर आधारित नहीं होती। इसका स्वरूप भावात्मक होता है। इस सत्ता में व्यवहार की सीमाओं और आदर्शों का निर्धारण स्वयं नेता करता है। यह दोनों ही प्रकार की हो सकती है—रचनात्मक भी और विध्वंसात्मक भी। प्राचीन समाजों में शिकार करने में अद्भुत कुशलता दिखाने वाले अथवा युद्ध में अद्वितीय कौशल दिखाने वाले व्यक्तियों को चमत्कारिक माना जाता था। यदि चमत्कारिक गुणों का प्रभाव अधिक देर

तक नहीं रहता, तो इन गुणों से युक्त व्यक्ति सोचता है कि उसकी जादुई शक्ति या दैवी शक्ति ने उसका साथ छोड़ दिया है।

(2) **परम्परागत सत्ता**—परम्परागत सत्ता में शक्ति की वैधता प्राचीनकाल से चली आ रही है व्यवस्था अथवा प्रतिमानों के कारण मिलती है। इस प्रकार की सत्ता पूर्व-आधुनिक समाजों में पाई जाती है। परम्परागत सत्ता में किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह को केवल इसलिए उच्च माना जाता है क्योंकि उनको परम्परागत रूप से ही उच्च माना जा सकता है। ऐसी सत्ता में आज्ञाकारिता का आधार श्रद्धा होती है। व्यक्ति आदेशों का पालन इसलिए करता है क्योंकि वह उन प्रथाओं में श्रद्धा रखता है जो आदेशकर्ता को आदेश देने योग्य स्थिति में रखे हुए हैं। इस भाँति, आज्ञाकारिता व्यक्ति-विशेष के प्रति होती है। पति-पत्नी के बीच पति की सत्ता का आधार परम्पराएँ ही हैं। पैतृकवाद, आयु की वरिष्ठता, पितृसत्तात्मक आदि इसी सत्ता के अन्य उदाहरण हैं। परम्परागत सत्ता मनमाने ढंग से नहीं लगाई जा सकती। प्रथाएँ ऐसी सत्ता के अधिकार व दायित्वों का दायरा तय करती हैं।

(3) **तार्किक वैधानिक सत्ता**—इस प्रकार की सत्ता में वैधता पद नियुक्ति के साथ जुड़ी हुई है। तार्किक वैधानिक सत्ता का पालन पद पर नियुक्त व्यक्ति के कारण नहीं किया जाता अपितु उस वैधानिक व्यवस्था द्वारा किया जाता है जो कि उस पद के साथ जुड़ी हुई है। उदाहरण के लिए—किसी मेयर के पास जो सत्ता है वह मेयर के पद पर उसकी नियुक्ति के कारण है, न कि उस पद पर नियुक्त व्यक्ति के कारण। आधुनिक समाजों तथा प्रशासन में सत्ता का यही प्रकार अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है। कानूनी सत्ता अधिकारी या नेता के व्यक्तिगत गुणों पर आधारित नहीं होती। इस प्रकार, परम्पराएँ भी इस सत्ता की वैधता के लिए स्रोत नहीं हैं। कानूनी सत्ता का आधार अवैयक्तिक नियमों की स्वीकृति है, उनकी वैधता में विश्वास है। अधिकारी अपने आदेशों को वैध समझता है और उनके पालन करने वाले भी उन्हें ऐसा ही समझते हैं। उदाहरणार्थ—एक जज, सैनिक अधिकारी, कॉलेज के प्राचार्य आदि सभी अपने पद के अनुसार कानून द्वारा लिखित सत्ता का प्रयोग करते हैं।

सत्ता के इन तीन विभिन्न प्रकारों का वर्णन करते समय यह बात ध्यान देने योग्य है कि वेबर केवल विशुद्ध प्रकारों का वर्णन करते हैं तथा वह इस बात के प्रति जागरूक थे कि आनुभविक वास्तविकता में सत्ता की वैधानिकता का केवल मिश्रण ही पाया जाता है। इस प्रकार यद्यपि हिटलर का प्रभुत्व काफी सीमा तक उसके चमत्कारिक गुणों के कारण था, फिर भी जर्मन कानून की संरचना में तार्किक-वैधानिक सत्ता के तत्त्वों तथा राष्ट्रीय समाजवाद की अपीलों में परम्परागत तत्त्व भी विद्यमान थे।

वेबर का सत्ता सम्बन्धों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। वेबर का समाजशास्त्रीय योगदान इस बात में निहित है कि वे राजनीतिक सिद्धान्तकारों से भिन्न सत्ता को नेताओं तथा अनुयायियों के परस्पर सम्बन्धों के आधार पर परिभाषित करते हैं। यद्यपि वेबर चमत्कार की कोई ठोस परिभाषा नहीं देते फिर भी वेबर के ये विचार महत्वपूर्ण हैं कि नेता की भूमिका उसके अनुयायियों के उसके मिशन के बारे में विश्वास से आँकी जा सकती है। जिसके जितने अधिक अनुयायी होंगे उसे उतना ही अधिक चमत्कारी कहा जा सकता है।

17.5 चमत्कारिक, तार्किक तथा परम्परागत सत्ता में भेद

चमत्कारिक सत्ता दैनिक जीवन तथा सांसारिक क्षेत्र की वास्तविकता से परे है। इस अर्थ में यह तार्किक सत्ता (विशेष रूप से नौकरशाही) तथा परम्परागत सत्ता से भिन्न है। तार्किक तथा परम्परागत सत्ता का सम्बन्ध क्रिया के नियन्त्रण से सम्बन्धित दैनिक जीवन में विशिष्ट प्रकारों से है। नौकरशाही सत्ता

इसलिए तार्किक है क्योंकि यह नियमों पर आधारित है, जबकि चमत्कारिक सत्ता प्रमुख रूप से अतार्किक (Irrational) है क्योंकि यह नियमों से परे है। परम्परागत सत्ता उन विधियों या कार्य करने के ढंगों से सम्बन्धित है जो भूतकाल से लिए गए हैं इसलिए यह भी कुछ नियमों पर आधारित है, जबकि चमत्कारिक सत्ता भूतकाल का विरोध करती है तथा इस अर्थ में यह एक विशिष्ट क्रान्तिकारी शक्ति कही जा सकती है। चमत्कारिक सत्ता में सम्पत्ति अथवा उच्च स्थिति वाले समूहों का कोई महत्त्व नहीं है तथा वैधता का आधार व्यक्तिगत चमत्कार है। जब तक व्यक्ति के चमत्कार को लोगों द्वारा मान्यता मिली हुई है तथा जब तक अनुयायी इससे सन्तुष्ट हैं तब तक यह सत्ता बनी रहती है।

17.6 सत्ता की अवधारणा की आलोचना

मैक्स वेबर का सत्ता का सिद्धान्त जहाँ पर एक ओर समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, वहीं पर अनेक विद्वानों ने इस सिद्धान्त की आलोचना की है। एटजियोनी (Etzioni) ने वेबर के सिद्धान्त में निम्नलिखित प्रमुख कमियाँ बताई हैं—

(1) एटजियोनी की आलोचना का प्रथम बिन्दु वेबर की सत्ता का तीन श्रेणियों में विभाजन है। उनका कहना है कि तार्किक-वैधानिक, परम्परागत तथा चमत्कारिक सत्ता को पूर्ण रूप से एक-दूसरे से भिन्न करना कठिन है तथा वास्तविकता यह है कि सत्ता के अनेक मिश्रित रूप हो सकते हैं। उदाहरण के लिए—प्राचीन मिस्र में अनेक ऐसे प्रशासनिक संगठन थे जिनमें परम्परागत तथा नौकरशाही सत्ता के तत्त्व एक साथ विद्यमान थे। प्राचीन चीन में भी सत्ता के मिश्रित रूपों का उल्लेख मिलता है। इन विचारों को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तथा वेबर के आदर्श प्रारूप के बारे में विचारों को सामने रखा जाए तो यह पता चलता है कि वेबर ने स्वयं इस कठिनाई को स्वीकार किया तथा यह बताया कि उसका सत्ता का वर्गीकरण आदर्श प्रारूप है, न कि वास्तविकता का पूर्ण वर्णन। वास्तव में, यह आलोचना वेबर की सत्ता की अवधारणा की नहीं है अपितु उसकी आदर्श प्रारूप की अवधारणा की है।

(2) एटजियोनी की आलोचना का दूसरा बिन्दु संगठन की संरचना की प्रकृति है। वेबर का कहना है कि प्रत्येक सत्ता निरन्तर रहती है, जबकि एटजियोनी इस बात पर बल देते हैं कि संगठन की संरचना की प्रकृति में परिवर्तन से सत्ता के स्रोत में भी परिवर्तन हो जाता है अर्थात् हो सकता है कि कानूनी सत्ता चमत्कारिक सत्ता में बदल जाए या परम्परागत सत्ता में बदल जाए। वह सैनिक संगठन के उदाहरण द्वारा अपने तर्क की पुष्टि करते हैं। सैनिक संगठन में कानूनी सत्ता की सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं परन्तु युद्ध काल में नियमों की व्यवस्था प्रायः भंग-सी हो जाती है तथा इस संगठन में चमत्कारिक सत्ता के गुण आ जाते हैं। एटजियोनी के इस तर्क में काफी बल दिखाई देता है परन्तु इसकी भी सबसे बड़ी कमी यह है कि यह आरोप वेबर के आदर्श प्रारूप के विचारों को सामने रखकर नहीं लगाया गया है।

(3) एटजियोनी; वेबर के इस मत से भी सहमत नहीं है कि चमत्कारिक सत्ता केवल उच्चतम पदों पर नियुक्त व्यक्तियों के पास ही होती है। क्योंकि वेबर ने इस सत्ता का स्रोत व्यक्तिगत गुणों से माना है, इसलिए यह सत्ता किसी भी व्यक्ति के पास हो सकती है, चाहे वह उच्च पद पर नियुक्त है अथवा निम्न पद पर। हो सकता है कि निम्न पद पर नियुक्त व्यक्ति भी अपने गुणों के आधार पर अपने से ऊँचे पदों पर नियुक्त व्यक्तियों को प्रभावित कर दे।

एटजियोनी की इन आलोचनाओं के बावजूद वेबर का सत्ता का सिद्धान्त समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में मुख्य स्थान रखता है।

17.7 सारांश

मैक्स वेबर का समाजशास्त्र को एक महत्वपूर्ण योगदान उनका सत्ता का सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने नौकरशाही की अवधारणा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। सत्ता को शक्ति का एक रूप माना जाता है। शक्ति को किसी व्यक्ति के नकारात्मक अथवा सकारात्मक अनुमोदन द्वारा दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करने की क्षमता कहा जाता है। यदि शक्ति का आधार वैधता होता है, तो उसे सत्ता कहा जाता है। इस प्रकार वैध शक्ति को ही सत्ता कहा जाता है। वेबर ने सत्ता को वैधता प्रदान करने वाले तीन प्रमुख आधारों (चमत्कार, परम्परा तथा तार्किक वैधानिकता) के अनुरूप तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—चमत्कारिक सत्ता (जिसमें सत्ता का अनुपालन व्यक्ति के चमत्कारिक गुणों के आधार पर होता है), परम्परागत सत्ता (जिसमें वैधता का आधार प्राचीनकाल से चली आ रही परम्पराएँ होती हैं) तथा तार्किक वैधानिक सत्ता (जिसमें वैधता का आधार व्यक्ति का वैधानिक पद होता है)। अनेक विद्वानों ने वेबर के सिद्धान्त की इस आधार पर आलोचना की है कि व्यवहार में सत्ता के इन तीनों स्वरूपों में भेद करना कठिन है।

17.8 शब्दावली

| | |
|-----------------|---|
| प्रभाव | — इससे अभिप्राय किसी व्यक्ति की अपनी इच्छानुसार दूसरे व्यक्तियों को बदलने की क्षमता से है। इसमें दूसरे व्यक्ति स्वेच्छा से अनुपालन करते हैं तथा अनुपालन हेतु किसी प्रकार की धमकी नहीं दी जाती है। |
| शक्ति | — शक्ति दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार को उनकी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक प्रभावित करने की क्षमता है। इसमें प्रभावित करने वाला व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के प्रतिरोध के बावजूद अपनी बात मनवाने में सफल रहता है। |
| सत्ता | — जब शक्ति को वैधानिक रूप प्रदान कर दिया जाता है, तो उसे सत्ता कहते हैं। सत्ता का अनुपालन अन्य व्यक्ति स्वेच्छा से इसलिए करते हैं क्योंकि इसके पीछे वैधानिक व्यवस्था होती है। |
| चमत्कारिक सत्ता | — जब किसी व्यक्ति का अनुपालन अन्य व्यक्ति उसके चमत्कारिक गुणों के आधार पर करते हैं, तो उसे चमत्कारिक सत्ता कहते हैं। |
| परम्परागत सत्ता | — जिस शक्ति की वैधता का आधार प्राचीनकाल से चली आ रही परम्पराएँ होती हैं, उसे परम्परागत सत्ता कहते हैं। |
| तार्किक सत्ता | — इस प्रकार की सत्ता में वैधता पद नियुक्ति के साथ जुड़ी होती है। |

17.9 अभ्यास प्रश्न

1. वेबर के विचारों के सन्दर्भ में प्रभाव, शक्ति एवं सत्ता की अवधारणाएँ स्पष्ट कीजिए।
2. सत्ता किसे कहते हैं? इसके प्रमुख आधार कौन-से हैं? संक्षेप में समझाइए।
3. वेबर द्वारा प्रतिपादित सत्ता की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
4. वेबर के सत्ता के सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

17.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

Amitai Etzioni (1964), *Modern Organizations*, Prentice-Hall, Englewood Cliffs, N.J.

H. D. Lasswell, Quoted by T. B. Bottomore (1964), *Elites and Society*, Penguin Books, London.

M. Haralambos and R. M. Heald (1991), **Sociology : Themes and Perspectives**, Oxford University Press, Delhi.

Max Weber (1922), **Economy and Society**, University of California Press, New York.

Max Weber (1949), **The Methodology of Social Sciences**, The Free Press, New York.

Max Weber (1947), **The Theory of Social and Economic Organization** (Edited by Talcott Parsons), Oxford University Press, New York.

Robert A. Dahl (1981), **Political Man : The Social Bases of Politics**, The Johns Hopkins University Press, Baltimore.

Talcott Parsons (1963) On the Concept of Political Power in **Proceedings of the American Philosophical Society**, Vol. 107, No. 3 (June 19, 1963), pp. 232-262.

इकाई 18 धर्म तथा अर्थव्यवस्था : प्रोटेस्टैण्ट इथिक एवं पूँजीवाद Religion & Economy: Protestant Ethic & Capitalism

इकाई की रूपरेखा

- 18.0 उद्देश्य
- 18.1 प्रस्तावना
- 18.2 धर्म की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
- 18.3 अर्थव्यवस्था की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
- 18.4 प्रोटेस्टैण्ट इथिक एवं पूँजीवाद
- 18.5 सारांश
- 18.6 शब्दावली
- 18.7 अभ्यास प्रश्न
- 18.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

18.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में मैक्स वेबर के धर्म तथा अर्थव्यवस्था के बारे में विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। उन्होंने अपने अध्ययन में इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित किया है। उनका धर्म का अध्ययन प्रोटेस्टैण्ट इथिक से सम्बन्धित है, जबकि अर्थव्यवस्था को उन्होंने यूरोप में पाए जाने वाले पूँजीवाद तक अपने को सीमित रखा है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- धर्म की अवधारणा को समझ सकेंगे;
- अर्थव्यवस्था की अवधारणा की व्याख्या कर सकेंगे;
- वेबर के प्रोटेस्टैण्ट इथिक एवं पूँजीवाद के आदर्श प्रारूपों को स्पष्ट कर पाएँगे; तथा
- वेबर द्वारा प्रतिपादित धर्म एवं अर्थव्यवस्था में सम्बन्धों की समीक्षा कर पाएँगे।

18.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र का सम्बन्ध धार्मिक घटनाओं के सार के अध्ययन से नहीं है अपितु धर्म द्वारा प्रभावित व्यवहार के अध्ययन से है क्योंकि यह विशेष अनुभवों तथा विशिष्ट धारणाओं एवं लक्ष्यों पर आधारित है। समाजशास्त्री को धार्मिक जीवन के अर्थपूर्ण व्यवहार का ही अध्ययन करना चाहिए। समाजशास्त्री को अपना ध्यान धार्मिक व्यवहार से उत्पन्न अन्य क्रियाओं (जैसे नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक, कलात्मक इत्यादि) के प्रभाव पर केन्द्रित करना चाहिए तथा उन संघर्षों का पता लगाने का प्रयास करना चाहिए जो कि धार्मिक मूल्यों में विजातीयता के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

वेबर ने समाजशास्त्र में धर्म को विशेष महत्त्व दिया है। इनका कहना है कि समाजशास्त्र की धार्मिक घटना के सार के अध्ययन में कोई रुचि नहीं है अपितु धर्म द्वारा निर्धारित व्यवहार के अध्ययन में है। धार्मिक जीवों के अर्थपूर्ण व्यवहार का समाजशास्त्रियों द्वारा अध्ययन किया जाना चाहिए। धर्म के समाजशास्त्रीय अध्ययन आर्थिक अथवा राजनीतिक और विशेष रूप से नैतिकता सम्बन्धी समाजशास्त्रीय

अध्ययन भी हैं। यद्यपि वेबर ने अपना जीवन एक अर्थशास्त्री के रूप में शुरू किया, फिर भी धर्म का समाजशास्त्र उनके अध्ययनों का केन्द्रीय बिन्दु बना रहा। वेबर का प्रोटेस्टैण्ट इथिक का अध्ययन उनका इस क्षेत्र में किया गया महत्वपूर्ण अध्ययन है जिसमें वे प्रोटेस्टैण्ट इथिक का आदर्श प्रारूप बनाकर अन्य धर्मों से इसकी तुलना करते हैं तथा इनमें भिन्नता बताते हैं। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रोटेस्टैण्ट इथिक के उपदेश इस प्रकार के हैं कि इनके दूरगामी आर्थिक परिणाम होते हैं तथा इनसे पूँजीवाद की आत्मा विकसित होती है।

18.2 धर्म की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

धर्म मनुष्य के जीवन का एक अनिवार्य तत्त्व है। धर्म की विशेषताओं, आदर्शों और जीवन को संगठित करने से सम्बन्धित उसके कार्यों को देखते हुए यह स्वीकार कर लेना पड़ता है कि धर्म एक ऐसा अमूर्त तत्त्व है जो मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं से भी बढ़कर महत्वपूर्ण है। डेविस (Davis) के शब्दों में, “मानव समाज में धर्म इतना सार्वभौमिक, स्थायी एवं व्यापक है कि धर्म को स्पष्ट रूप से समझे बिना हम समाज को नहीं समझ सकते हैं।” इसी कारण धर्म काफी लम्बे समय से अध्ययन एवं चिन्तन का विषय रहा है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि धर्म केवल सभ्य समाज के साथ ही जुड़ा हुआ है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। धर्म जनजातियों में भी किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है। वास्तविकता यह है कि सभ्य समाज के धर्म की पृष्ठभूमि जनजातीय समाज से ही निर्मित हुई है और सभ्य जीवन का धर्म जनजातीय धर्म का ही संशोधित एवं परिवर्तित रूप है। यद्यपि धर्म सभी ज्ञात समाजों में विद्यमान है, तथापि धार्मिक विश्वास और व्यवहार एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में बदलते रहते हैं। धर्म के साथ अनेक अनुष्ठान जुड़े हुए होते हैं। प्रार्थना करना, गुणगान करना, भजन गाना, विशेष प्रकार का भोजन करना या न करना, उपवास रखना आदि आनुष्ठानिक कार्य ही हैं। समाजशास्त्र में धर्म का अध्ययन धार्मिक या ईश्वरमीमांसीय अध्ययन से भिन्न है।

गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार सामाजिक विज्ञानों में धर्म की वास्तविकता के सन्दर्भ में उसकी सत्यता या असत्यता का अध्ययन नहीं किया जाता, वरन् सामाजिक जीवन के एक पहलू के रूप में धर्म का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र की मुख्य रुचि यह ज्ञात करने में है कि धर्म समाज में कैसे कार्य करता है तथा अन्य संस्थाओं से इसका क्या सम्बन्ध है। विभिन्न समाजों के तुलनात्मक अध्ययनों द्वारा धर्म की भूमिका की समीक्षा करने का प्रयास किया जाता है। धर्म, धार्मिक विश्वास, व्यवहार एवं संस्थाएँ संस्कृति के अन्य पक्षों को जिस रूप में प्रभावित करती हैं, इसे ज्ञात करने में भी समाजशास्त्रियों की विशेष रुचि होती है। धर्म एक पवित्र क्षेत्र है। दुर्खीम एवं वेबर द्वारा धर्म पर किए गए अध्ययन धार्मिक या ईश्वरमीमांसीय अध्ययनों से पूर्णतः भिन्न हैं। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र की रुचि धर्म का अलग क्षेत्र के रूप में अध्ययन करने में नहीं है, अपितु इसे समाज की अन्य संस्थाओं के साथ सम्बन्धों के सन्दर्भ में ही देखा जाता है। साथ ही, समाजशास्त्र में धर्म के अध्ययन में अधिकतर तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया जाता है। धर्म किसी व्यक्ति की निजी आस्था का मामला ही नहीं होता, अपितु इसका सार्वजनिक स्वरूप भी होता है। धर्म का यही सार्वजनिक स्वरूप समाज की अन्य संस्थाओं के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण होता है।

धर्म अलौकिक शक्तियों में विश्वास एवं इनकी उपासना पर आधारित है। धर्म का सम्बन्ध हमारी मानसिक प्रवृत्ति से होता है जिसका प्रादुर्भाव हमारे विचारों और संस्कारों द्वारा होता है। ‘धर्म’ शब्द ‘धृ’ धातु

से बना है जिसका अर्थ धारण करना है अर्थात् जिसके द्वारा ब्रह्माण्ड धारण किया जाता है। अधिकतर धर्म को किसी अतिमानवीय शक्ति के प्रति विश्वास, किसी पवित्र वस्तु के प्रति विश्वास या किसी आध्यात्मिक शक्ति के प्रति विश्वास के रूप में देखा जाता है। यह एक प्रकार से विश्वासों, प्रतीकों, मूल्यों एवं क्रियाओं की संस्थागत प्रणाली है जो मनुष्यों के समूहों को जीवन के परम लक्ष्यों या प्रश्नों का समाधान प्रदान करती है। विभिन्न विचारकों ने धर्म की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं—

टॉयलर (Tylor) के अनुसार—“धर्म आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास है।” टॉयलर ने अपनी परिभाषा में धर्म को प्रत्यक्ष रूप से आध्यात्मिक विश्वास के साथ सम्बन्धित किया है। जब मनुष्य अपनी शक्ति और विवेक से किसी घटना के कारण को समझने में असमर्थ हो जाता है तो वह भय और श्रद्धा के फलस्वरूप किसी-न-किसी अलौकिक शक्ति पर विश्वास करने लगता है। यही धर्म है।

मैलिनोव्स्की (Malinowski) के अनुसार—“धर्म क्रिया की एक विधि और साथ ही विश्वासों की एक व्यवस्था भी है। धर्म एक समाजशास्त्रातय तथ्य होने के साथ ही एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।” मैलिनोव्स्की ने धर्म को विश्वासों पर आधारित एक व्यवस्था माना है जिसे पूरा करने के लिए अनेक प्रक्रियाओं से होकर गुजरना पड़ता है। साथ ही, मैलिनोव्स्की ने धर्म को एक ऐसा तथ्य माना है जो सम्पूर्ण समाज को सामूहिक रूप से प्रभावित करने के साथ-साथ व्यक्तिगत रूप से समाज के प्रत्येक सदस्य को भी प्रभावित करता है।

मजूमदार एवं मदन (Majumdar and Madan) के अनुसार—“धर्म किसी अलौकिक और अतीन्द्रिय शक्ति के भय का एक मानवीय प्रत्युत्तर है। यह व्यवहार की अभिव्यक्ति अथवा परिस्थितियों से किए गए अनुकूलन का वह रूप है जो अलौकिक शक्ति की धारणा से प्रभावित होता है।” मजूमदार एवं मदन के अनुसार जब मनुष्य अतीन्द्रिय (परामानवीय) शक्ति से भयभीत हो जाता है तो वह धर्म के रूप में ही अपने भय को अभिव्यक्त करता है। इस तरह से, धर्म असामान्य परिस्थितियों को सामान्य बनाने के लिए किया गया मानवीय प्रयास है जो अतिमानवीय धारणा पर विश्वास करके ही सफल हो सकता है।

जॉनसन (Johnson) के अनुसार—“धर्म कम या अधिक रूप में उच्च अलौकिक व्यवस्था या प्राणियों, शक्तियों, स्थानों एवं अन्य तत्त्वों के सम्बन्ध में विश्वासों एवं व्यवहारों की एक स्थिर प्रणाली है।” इस परिभाषा से धर्म के बारे में निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

- (1) धर्म ईश्वर या ईश्वरों के सम्बन्ध में विश्वासों व व्यवहारों की प्रणाली है।
- (2) उच्च अलौकिक प्राणियों से अभिप्राय ईश्वर अथवा देवताओं से है।
- (3) अलौकिक शक्तियों से तात्पर्य पवित्र भावनाओं अथवा आत्माओं से है।
- (4) स्थानों का अर्थ स्वर्ग, नरक आदि से है।
- (5) अन्य तत्त्वों से तात्पर्य आत्मा से है।
- (6) उच्च अलौकिक से तात्पर्य है—जिसकी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जाँच न की जा सके।

इस प्रकार, धर्म को किसी-न-किसी रूप में अतिमानवीय शक्ति पर विश्वास के रूप में ही स्पष्ट किया गया है। इसके विपरीत, डॉ० राधाकृष्णन् द्वारा धर्म की दी हुई परिभाषा, धर्म को सीधे-सीधे सामाजिक रूप देती है। उन्हीं के शब्दों में, “जिन सिद्धान्तों के अनुसार हम अपना दैनिक जीवन व्यतीत करते हैं, जिसके द्वारा हमारे सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना होती है, वही धर्म है। वह जीवन का सत्य है और हमारी प्रकृति को निर्धारित करने वाली शक्ति है।”

धर्म के दो पक्ष हैं—आन्तरिक पक्ष (Internal aspect) तथा बाह्य पक्ष (External aspect)। प्रथम पक्ष में विचारों का समूह, संवेग व भावनाएँ, धार्मिक प्रथाएँ तथा मानव के ईश्वर से सम्बन्धित कार्यों के सम्बन्ध में विश्वास आदि आन्तरिक बातें सम्मिलित होती हैं, जबकि द्वितीय पक्ष में प्रार्थना की प्रथा, धार्मिक उत्सव,

स्मृतियाँ आदि आते हैं। इनके माध्यम से धार्मिक विश्वास की अभिव्यक्ति की जाती है। इसी में धार्मिक संस्थाएँ—जैसे चर्च, मन्दिर, मसजिद आदि भी आते हैं।

18.3 अर्थव्यवस्था की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

अर्थव्यवस्था संगठनों एवं संसाधनों की एक ऐसी प्रणाली है जो किसी समाज में वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन एवं वितरण को सुगम बनाती है अथवा किसी-न-किसी रूप में इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निष्पादित करती है। अर्थव्यवस्था ही यह निर्धारित करती है कि समाज के सदस्यों में संसाधन किस प्रकार से वितरित होंगे, वस्तुओं एवं सेवाओं का मूल्य क्या होगा तथा किन वस्तुओं एवं सेवाओं का व्यापार अथवा विनिमय होगा। **जेम्स पाल (James Paul)** एवं सहयोगियों ने अर्थव्यवस्था को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, “अर्थव्यवस्था वह सामाजिक अधिकार क्षेत्र (Social domain) है जो संसाधनों के उत्पादन, प्रयोग एवं प्रबन्धन से सम्बन्धित क्रियाओं, सम्भाषणों तथा भौतिक अभिव्यक्ति से आबद्ध होता है।” इस शब्द का आज सर्वाधिक प्रयोग ‘किसी समाज की आर्थिक व्यवस्था’ हेतु किया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जिस व्यवस्था या ढाँचे के अन्तर्गत समस्त आर्थिक क्रियाओं का वर्णन किया जाता है उसे अर्थव्यवस्था कहते हैं। इसका तात्पर्य किसी क्षेत्र, प्रदेश या देश की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से भी है। जिस क्षेत्र, प्रदेश या देश में आवश्यकताओं की सन्तुष्टि जितनी अधिक होगी, वहाँ की अर्थव्यवस्था उतनी ही अधिक मजबूत मानी जाएगी।

अर्थव्यवस्था किसी समाज की वह प्रकार्यात्मक उप-व्यवस्था है जो समाज के अनुकूलन की समस्या को हल करती है। इसीलिए इसे अनुकूलनकारी उप-व्यवस्था (Adaptive sub-system) भी कहा गया है। अर्थव्यवस्था को एक सामाजिक उप-व्यवस्था के रूप में परिभाषित करते हुए **नील जे० स्मेलसर (Neil J. Smelser)** ने लिखा है, “अर्थव्यवस्था को एक सामाजिक उप-व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है क्योंकि वह सीमित वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन, वितरण और उपभोग में लगी इकाइयों के मध्य परस्पर अन्तर्सम्बन्धों से बनती है।” उदाहरण के लिए—उत्पादन की प्रक्रिया को लेते हैं। उत्पादन की आवश्यकताओं की पूर्ति में अनेक इकाइयों का संकुल भाग लेता है। अर्थव्यवस्था की एक सीमा पर उच्च शिक्षा और विज्ञान की वे संरचनाएँ हैं जो ज्ञान और प्रौद्योगिकी प्रदान करती हैं जिन्हें उत्पादन के भूमि रूपी कारक में शामिल किया जा सकता है। अर्थव्यवस्था की दूसरी सीमा पर गृहस्थ और शिक्षा संस्थाएँ हैं जो उत्पादन के लिए प्रशिक्षित एवं अप्रशिक्षित श्रम की पूर्ति करती हैं। अर्थव्यवस्था की तीसरी सीमा पर बैंक, सरकार और अन्य वित्तीय संरचनाएँ होती हैं जो उत्पादन के लिए आवश्यक पूँजी की पूर्ति करती हैं। इसी प्रकार, अर्थव्यवस्था की अन्तिम सीमा पर वे विशिष्ट संरचनाएँ हैं जो इस व्यवस्था के लिए संगठनात्मक नियमों का निर्देशन करती हैं। उत्पादन के ये चारों कारक किसी फर्म में माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित दर पर प्रवेश पाते हैं। तब फर्म वस्तुओं का उत्पादन करती है। उत्पादन के पश्चात् बाजार और विनिमय की प्रक्रिया और माँग एवं पूर्ति के यन्त्रविन्यास से गुजरते हुए एक निश्चित मूल्य पर वस्तुएँ उपभोक्ताओं तक पहुँचती हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि अर्थव्यवस्था प्रकार्यात्मक रूप में समाज की एक पृथक् उप-व्यवस्था है। वह समाज के लिए आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन और वितरण करती है।

उपर्युक्त अर्थ में अर्थव्यवस्था ऐसी सुविधाओं को उत्पन्न करती है जो सामान्य रूप से परिवार, समुदाय, राज्य आदि सभी के लिए आवश्यक है। यहाँ यह भी स्मरण रखने योग्य है कि हम अर्थव्यवस्था को जब समाज की एक प्रकार्यात्मक उप-व्यवस्था के रूप में देख रहे हैं तो हम उससे जुड़े मूर्त समूहों जैसे कल-कारखाने, व्यापारिक फर्मों तथा श्रम-संघों का वर्णन नहीं कर रहे हैं। हमारा ध्यान इन मूर्त समूहों के

बीच संस्थात्मक सम्बन्धों पर केन्द्रित है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि अर्थव्यवस्था ही समाज के अनुकूलन की समस्या से जुड़ी नहीं है। परिवार, नातेदारी और सरकार जैसी संरचनाएँ भी उसमें भाग लेती हैं और अर्थव्यवस्था भी इन अन्य संरचनाओं के विशिष्ट प्रकार्यों में सहायता देती है। परन्तु अनुकूलन में प्रमुख भूमिका अर्थव्यवस्था की ही है।

18.4 प्रोटेस्टैण्ट इथिक एवं पूँजीवाद

वेबर के अनुसार धर्म का समाजशास्त्रीय अध्ययन एक प्रकार से आर्थिक, राजनीतिक तथा विशेष रूप से नैतिकता सम्बन्धी समाजशास्त्रीय अध्ययन भी है। यद्यपि वेबर ने अपना समाजशास्त्रीय जीवन अर्थशास्त्र के बारे में विचार व्यक्त करने से शुरू किया, फिर भी धर्म का समाजशास्त्र उनके अध्ययन का केन्द्र बिन्दु रहा है। वेबर ने प्रमुख रूप से धार्मिक व्यवहार का नैतिकता तथा आर्थिक घटनाओं पर प्रभाव का अध्ययन किया तथा राजनीति और शिक्षा पर प्रभाव पर भी अपने विचार व्यक्त किए। इनके अनुसार धार्मिक व जादुई क्रियाएँ सापेक्षिक रूप से तार्किक हैं क्योंकि ये अनुभवों के सामान्य नियमों पर आधारित हैं। इसलिए इन क्रियाओं को लक्ष्य निर्धारित क्रियाओं (Goal-oriented activities) की परिधि से बाहर रखना ठीक नहीं है। वेबर ने धर्म के समाजशास्त्र में दैवी शक्ति की अवधारणा को केन्द्रीय बिन्दु माना है, यद्यपि कुछ धर्म (जादुई अथवा आत्मवादी) ईश्वर को नहीं मानते तथा 'आत्माओं' को महत्त्व देते हैं। उदाहरण के लिए—बौद्ध धर्म में ईश्वरीय शक्ति के विचार नहीं पाए जाते। धर्म के समाजशास्त्र के लिए जो बात महत्त्वपूर्ण है वह है प्राकृतिक शक्तियों के सम्बन्ध में व्यक्ति की धार्मिक क्रियाएँ अथवा व्यवहार। क्योंकि ये शक्तियाँ सामान्य अवलोकन क्षेत्र से बाहर हैं, इसलिए इनके प्रतीकों को व्यक्ति की क्रियाएँ समझते समय सामने रखा जा सकता है।

वेबर का धर्म के समाजशास्त्र से सम्बन्धित सबसे प्रमुख अध्ययन 'प्रोटेस्टैण्ट इथिक एण्ड द स्पिरिट ऑफ़ केपिटेलिज्म' माना जाता है। पूँजीवाद के तत्त्व रोम, चीन तथा भारतीय समाजों में भी पाए जाते हैं, परन्तु इन तत्त्वों से इन समाजों में तार्किकता नहीं आई जो कि आधुनिक पूँजीवाद की विशेषता है। यह घटना (पूँजीवाद) केवल पश्चिमी देशों तक ही सीमित है। प्रश्न यह है कि आधुनिक पूँजीवाद केवल पश्चिमी देशों में ही क्यों विकसित हुआ, अन्य देशों में क्यों नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में वेबर ने प्रोटेस्टैण्ट इथिक तथा पूँजीवाद की आत्मा का अध्ययन किया और इनमें कार्य-कारण सम्बन्धों की प्रामाणिकता को सिद्ध किया। प्रोटेस्टैण्ट इथिक जीवन की तार्किकता का एक आधार है जिसने पूँजीवाद की आत्मा को विकसित करने में सहायता दी है। फिर भी, यह पूँजीवाद का केवल मात्र तथा पर्याप्त कारण नहीं है। प्रोटेस्टैण्ट इथिक पूँजीवाद का एकमात्र कारण नहीं है अपितु विभिन्न कारणों में से एक कारण है जो पूँजीवाद के कुछ पहलुओं को विकसित करता है। कौन से विचार अथवा मूल्य पूँजीवाद की आत्मा को विकसित करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए वेबर ने प्रोटेस्टैण्ट समूहों—जैसे केलविनिस्ट (Calvinist), प्रीटिस्ट (Pretist), मैथोडिस्ट (Methodist), बेपटिस्ट (Bapatist) इत्यादि का अध्ययन करके इनके आधारभूत उपदेशों तथा शिक्षाओं का पता लगाया।

यद्यपि मैक्स वेबर की यह मान्यता थी कि आर्थिक कारण मानव समाज में मौलिक कारण है, फिर भी वह इस बात से इनकार नहीं करते कि अन्य कारणों की समाज में कोई भूमिका ही नहीं है। वेबर ने आर्थिक कारणों के अतिरिक्त, मूल्यों की भूमिका की ओर भी काफी ध्यान दिया। वास्तव में, इनके अनुसार जितने अधिक कारकों को ध्यान में रखा जाए उतना ही अच्छा है। मार्क्स तथा वेबर के विचारों में आर्थिक कारणों को महत्त्वपूर्ण मानने की दृष्टि से मौलिक अन्तर नहीं पाया जाता।

पश्चिमी यूरोप में पूँजीवाद का विकास एक विशिष्ट अथवा अनुपम घटना है। मैक्स वेबर ने इस प्रश्न पर विचार करना शुरू किया कि पूँजीवाद का विकास केवल पश्चिमी समाजों में ही क्यों हुआ अन्य समाजों में क्यों नहीं, जबकि वहाँ की परिस्थितियाँ भी पश्चिमी देशों के समान ही थीं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए वेबर ने विभिन्न समाजों की तुलना की तथा यह पाया कि यद्यपि परिस्थितियाँ कुछ गैर-पश्चिमी समाजों में भी ऐसी थीं कि पूँजीवाद विकसित हो सकता था, परन्तु वास्तव में नहीं हुआ क्योंकि उन समाजों तथा पश्चिमी समाजों के धार्मिक आचारों में भिन्नता थी। पश्चिमी देशों में धार्मिक आचार ऐसे हैं कि उनका आर्थिक जीवन पर भी काफी प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार, वेबर का यह अध्ययन तुलनात्मक विधि पर आधारित है।

वेबर के पूँजीवादी एवं प्रोटेस्टैण्ट धर्म के अध्ययन में समाजशास्त्र तथा इतिहास का संकलित रूप दिखाई देता है क्योंकि यह ऐतिहासिक घटना का समाजशास्त्रीय अध्ययन है। इस अध्ययन में भी वेबर आदर्श प्रारूप की अवधारणा की सहायता लेते हैं तथा प्रोटेस्टैण्ट इथिक का आदर्श प्रारूप बनाकर इसकी अन्य धर्मों से तुलना करके उनमें अन्तर देखने का प्रयास करते हैं।

प्रोटेस्टैण्ट ईसाई धर्म का एक मत है। 'इथिक' से अभिप्राय व्यवहार के आचार या नियम (Code of conduct) हैं, जबकि पूँजीवाद एक आर्थिक घटना है और 'स्प्रिट' से अभिप्राय अनिवार्य विशेषताएँ या मानसिक शक्ति (Essential features or mentality) है। वेबर के मतानुसार प्रोटेस्टैण्ट इथिक के प्रमुख तत्त्व तार्किकता, लाभ की इच्छा, परिश्रम, बचत एवं पूँजी संग्रह, साहस तथा नौकरशाही संगठन है। वेबर का उद्देश्य प्रोटेस्टैण्ट धर्म के व्यवहार के नियमों तथा पूँजीवाद की मानसिक शक्ति में पाए जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करना था। इसके लिए उन्होंने ईसाई धर्म का विस्तृत अध्ययन किया तथा इसकी तुलना संसार के अन्य प्रमुख धर्मों से की। इस तुलना से वेबर ने यह उपकल्पना बनाई कि पश्चिमी यूरोप में प्रोटेस्टैण्ट इथिक का पाया जाना पूँजीवाद की आत्मा का कारण है। वेबर मानते हैं कि आधुनिक पश्चिमी पूँजीवाद का उदय प्रोटेस्टैण्ट इथिक की मान्यताओं का परिणाम है। आधुनिक पूँजीवाद की आत्मा प्रोटेस्टैण्टवाद तथा इसके व्यवहार के नियमों एवं व्यावहारिक नैतिकता में समाई हुई है।

वेबर ने धर्म के अध्ययन में 'प्रोटेस्टैण्ट इथिक' तथा 'आधुनिक पूँजीवाद' के आदर्श प्रारूप निर्मित किए तथा यह दर्शाने का प्रयास किया कि यूरोप में आधुनिक पूँजीवाद के उदय के कारण प्रोटेस्टैण्ट इथिक है अर्थात् प्रोटेस्टैण्ट इथिक कारण है, जबकि आधुनिक पूँजीवाद इसका परिणाम। इनके इन्हीं दो आदर्श प्रारूपों को निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है—

(अ) प्रोटेस्टैण्ट इथिक का आदर्श प्रारूप—सर्वप्रथम वेबर प्रोटेस्टैण्ट इथिक को आदर्श प्रारूप बनाते हैं जिससे वह यह जानने का प्रयास करते हैं कि इनमें कौन-कौन से व्यवहार नियम (आचार) हैं जिन्हें पूँजीवाद की आत्मा कहा जा सकता है। वेबर ने प्रोटेस्टैण्ट धर्म के आचारों का तथा इसके उपदेशकों, विशेषकर **बेन्जामिन फ्रैंकलिन**, की क्रियाओं के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि प्रोटेस्टैण्ट धर्म के दैनिक जीवन से सम्बन्धित व्यावहारिक आचार आधुनिक पूँजीवाद की आत्मा से मिलते हैं। इन उपदेशों में से कुछ उपदेश इस प्रकार हैं—भगवान की सेवा केवल वास्तविक जगत अर्थात् पृथ्वी पर ही की जा सकती है। किसी व्यक्ति की जीवन स्थिति कैसी भी क्यों न हो, उससे किसी कार्य की आशा क्यों न की जाती हो, वह जो विशेष कार्य कर रहा है उसे अपनी क्षमता के अनुसार ठीक उसी प्रकार से करना चाहिए तभी वह भगवान की सेवा कर सकता है। इथिक का दूसरा पहलू यह है—अपने कार्य के परिणामस्वरूप व्यक्ति जो कमाता है उसे व्यर्थ अथवा फिजूल में ही खर्च नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, प्रोटेस्टैण्ट इथिक अपने कार्य में ईमानदारी व उत्साही होने पर बल देता है। इसमें व्यवस्थित एवं युक्तिकरण जीवन को प्राथमिकता दी गई है। सत्यता तथा ईमानदारी से व्यक्ति जितना भी पैसा कमाता है वह पापरहित कार्य है। इसके

अतिरिक्त दिन भर परिश्रम करना, मितव्ययिता एवं पैसों का बचाना भी दैवी आदेश के अनुसार आवश्यक माना जाता है।

वेबर के अनुसार प्रोटेस्टैण्ट इथिक में निर्धारित व्यवहार के इन आचारों के कुछ निश्चित आर्थिक परिणाम होते हैं। इथिक का एक पहलू वैराग्य (Asceticism) अर्थात् सरल जीवन व्यतीत करने का उपदेश देता है न कि फिजूलखर्ची से भरा जीवन व्यतीत करने का। ये आदेश एक ओर व्यक्ति को सरल जीवन व्यतीत करने को कहते हैं तो वहीं दूसरी ओर कड़ी मेहनत तथा ईमानदारी से काम करने पर बल देकर आर्थिक बचत पर भी बल देते हैं। इन्हें वेबर पूँजीवाद की आत्मा का प्रमुख आधार मानता है।

(ब) पूँजीवाद का आदर्श प्रारूप—वेबर पूँजीवाद का भी आदर्श प्रारूप बनाते हैं जो कि एक आर्थिक घटना है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उद्योग, व्यापार और वाणिज्य बड़े पैमाने पर संगठित एवं संचालित होते हैं तथा ये निजी क्षेत्र में पाए जाते हैं। उत्पादन में व्यावसायिक दृष्टिकोण, व्यापक उत्पादन तथा श्रम—विभाजन व विशेषीकरण, व्यावसायिक निष्ठा तथा व्यावसायिक कुशलता इत्यादि भी पूँजीवादी व्यवस्था की विशेषताएँ हैं तथा ये ही आधुनिक पूँजीवाद की आत्मा अथवा पूँजीवाद का आदर्श प्रारूप हैं। जो व्यक्ति अपने कार्य व व्यवसाय में कुशल हैं वे धन और प्रतिष्ठा दोनों ही पाते हैं तथा जो अकुशल हैं तथा पुराने व्यवसायों में लगे हुए हैं उनका पतन जरूरी है।

वेबर पूँजीपतियों के व्यवहार की ओर भी ध्यान देते हैं तथा कहते हैं कि उनका व्यवहार विशेष प्रकार के आचारों द्वारा संचालित होता है। इस सम्बन्ध में वह **बेन्जामिन फ्रैंकलिन** द्वारा पूँजीपतियों तथा बड़े उद्योगपतियों के बच्चों को दिए गए उपदेशों का उल्लेख करता है जो प्रोटेस्टैण्ट विचारों द्वारा प्रभावित और उनके अनुरूप हैं। कुछ उपदेश इस प्रकार हैं—समय ही धन है, ईमानदारी सर्वोच्च नीति है, कार्य ही पूजा है, अपना कार्य ईमानदारी से करना ईश्वर की पूजा करना है। जल्दी सोना और उठना व्यक्ति को स्वस्थ, धनी और बुद्धिमान बनाता है। वेबर पूँजीपतियों तथा उद्योगपतियों के बच्चों को प्रोटेस्टैण्ट इथिक से सम्बन्धित इन उपदेशों की तुलना दुनिया के अन्य धर्मों से करते हैं तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि केवल प्रोटेस्टैण्ट धर्म ऐसा है जिसके आचार में दूरगामी आर्थिक परिणाम हैं। अन्य किसी धर्म के इतने अधिक एवं स्पष्ट आर्थिक परिणाम नहीं हैं।

प्रोटेस्टैण्ट इथिक की आदर्श प्रारूप की तुलना अन्य धर्मों से करके तथा पूँजीवाद की आत्मा का आदर्श प्रारूप बनाकर वेबर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रोटेस्टैण्ट धर्म के विचार आर्थिक विकास से जुड़े हैं तथा दोनों तरह के मूल्यों में काफी समानता है। इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है जिसे वेबर कार्य—कारण सम्बन्ध कहते हैं क्योंकि जहाँ पर प्रोटेस्टैण्ट इथिक पाया जाता है वहीं पूँजीवाद की आत्मा विकसित होती है। अपने तर्क की पुष्टि वह ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर करते हैं। इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा होलैण्ड इत्यादि देशों में पूँजीवाद का सर्वोत्तम विकास हुआ क्योंकि इन देशों में अधिकांश व्यक्ति प्रोटेस्टैण्ट धर्म के ही अनुयायी हैं। दूसरी ओर, इटली तथा स्पेन इत्यादि देशों में पूँजीवाद अधिक विकसित नहीं हो सका क्योंकि वहाँ अधिकांश कैथोलिक धर्म के अनुयायी रहते हैं तथा कैथोलिक धर्म की मान्यताएँ प्रोटेस्टैण्ट धर्म की मान्यताओं से पूर्णतः भिन्न है। इतना ही नहीं, वेबर कुछ गैर—पश्चिमी देशों का भी अध्ययन करते हैं (जैसे भारत तथा चीन) जहाँ की परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि वहाँ पूँजीवाद विकसित हो सकता था परन्तु यह विकसित नहीं हुआ क्योंकि इन देशों में भी भिन्न प्रकार का इथिक पाया जाता है जिसके आर्थिक परिणाम नहीं हैं।

अपने अध्ययन के आधार पर वेबर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रोटेस्टैण्ट इथिक तथा पूँजीवाद की आत्मा में कार्य—कारण सम्बन्ध है। प्रोटेस्टैण्ट इथिक पूर्वगामी (Antecedent) है, जबकि पूँजीवाद की आत्मा

इसका परिणाम (Consequence) है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी प्रोटेस्टैण्ट इथिक का अस्तित्व पहले से है, जबकि पूँजीवाद की आत्मा का विकास बाद में हुआ। यद्यपि वेबर ने अनेक ऐसे प्रमाण दिए हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्रोटेस्टैण्ट इथिक ही आधुनिक पूँजीवाद के विकास का कारण है, फिर भी धर्म पूँजीवाद की उत्पत्ति और विकास का एकमात्र कारण नहीं है। इसे सबसे अधिक प्रभावशाली कारक कहा जा सकता है। केवल इसी दृष्टि से वेबर के विचार कार्ल मार्क्स से भिन्न माने जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वेबर ने प्रोटेस्टैण्ट इथिक एण्ड द स्प्रिट ऑफ केपिटेलिज्म के अपने अध्ययन में धर्म तथा पूँजीवाद के आदर्श प्रारूप बनाकर यह सिद्ध कर दिया है कि ये आदर्श प्रारूप तुलनात्मक अध्ययनों में सहायक हैं। वेबर यद्यपि प्रोटेस्टैण्ट इथिक को पूँजीवाद की आत्मा को अत्यधिक प्रभावित करने वाला कारक मानते हैं फिर भी इसे पूँजीवाद का एकमात्र कारक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अन्य देशों में; विशेषकर साम्यवादी देशों में भी उद्योग अत्यधिक विकसित हैं यद्यपि इन देशों की धार्मिक मान्यताएँ पूर्णतः भिन्न हैं। लेकिन वेबर यह कहते हैं कि धर्मों के आर्थिक आचारों के आधार पर ही उस समाज की आर्थिक तथा सामाजिक संरचना निर्धारित होती है। वह हिन्दू धर्म का विस्तृत अध्ययन करके बताते हैं कि हिन्दू धर्म में कर्म व पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त की प्रधानता है तथा भौतिक उन्नति प्राप्त करने की किसी प्रेरणा अथवा रुचियों का उपदेश इसमें नहीं दिया गया है अपितु केवल आध्यात्मिक उन्नति की प्रेरणा दी गई है। भारत में परम्परावाद ने आर्थिक विकास की गति रोक दी है। भारत के आर्थिक और संस्थात्मक विकास ने एक ऐसी सांसारिक नीति को जन्म दिया जो संग्रहण की प्रवृत्ति को निम्न श्रेणी में रखती है। इसलिए यहाँ पूँजीवाद में सहायक दशाएँ विकसित नहीं हो पाईं।

यद्यपि वेबर ने पूँजीवाद के विकास में सहायक केवल एक पक्ष अर्थात् धर्म पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है फिर भी यह अध्ययन पूर्णतः वैज्ञानिक अध्ययन है। वास्तव में, वेबर की यही मान्यता थी कि सामाजिक विज्ञानों में किए जाने वाले अध्ययन एक-तरफा हैं क्योंकि सामाजिक वैज्ञानिक केवल उसी पक्ष की ओर अधिक ध्यान देता है जिसे वह महत्त्वपूर्ण मानता है।

18.5 सारांश

समाजशास्त्र में धर्म का अध्ययन समाज के अन्य पक्षों के सन्दर्भ में किया जाता है। वेबर के समाजशास्त्र में धर्म का अध्ययन केन्द्र-बिन्दु रहा है। उन्होंने प्रोटेस्टैण्ट इथिक की तुलना विश्व के अन्य सभी प्रमुख धर्मों की आचार संहिता से करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि प्रोटेस्टैण्ट इथिक से सम्बन्धित जो आर्थिक मान्यताएँ हैं, वे किसी अन्य धर्म में विद्यमान नहीं हैं। उन्होंने प्रोटेस्टैण्ट इथिक एवं पूँजीवाद की आत्मा के आदर्श प्रारूप बनाए तथा इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित किया। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि पश्चिम में पूँजीवाद के विकास का कारण प्रोटेस्टैण्ट धर्म की आचार संहिताएँ हैं, जिनके दूरगामी आर्थिक परिणाम होते हैं। यद्यपि वेबर ने पूँजीवाद के विकास का कारण प्रोटेस्टैण्ट धर्म को माना है तथापि उनका मत था कि धर्म के अतिरिक्त अन्य कारक भी पूँजीवाद के विकास में सहायक हो सकते हैं। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रोटेस्टैण्ट धर्म को ही पूँजीवाद का एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता है।

18.6 शब्दावली

धर्म — धर्म से अभिप्राय किसी-न-किसी रूप में अतिमानवीय शक्ति पर विश्वास तथा उसके बारे में पाई जाने वाली भावना से है। यह अलौकिक सत्ता पर

| | |
|--------------------|---|
| | केन्द्रित विश्वासों, मूल्यों, आस्था, पवित्रता की धारणा, कर्मकाण्डों आदि का पुँज है। |
| अर्थव्यवस्था | — सामाजिक समूहों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सीमित संसाधनों, तकनीकों तथा कार्यों का संगठन एवं आवंटन अर्थव्यवस्था कहलाता है। |
| प्रोटेस्टैण्ट इथिक | — प्रोटेस्टैण्ट ईसाई धर्म का एक मत है। 'इथिक' से अभिप्राय व्यवहार के आचार या नियम हैं। इस नाते प्रोटेस्टैण्ट इथिक से अभिप्राय प्रोटेस्टैण्ट धर्म से सम्बन्धित आचार व्यवहार के नियमों से है। |
| पूँजीवाद | — पूँजीवाद एक आर्थिक घटना है, जिसमें बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है तथा स्वामित्व निजी क्षेत्र में केन्द्रित होता है। |
| आदर्श प्रारूप | — आदर्श प्रारूप से अभिप्राय किसी घटना, वस्तु अथवा वर्ग विशेष की समस्त अनिवार्य विशेषताओं का सम्पूर्ण अथवा लगभग सम्पूर्ण रूप से चित्रण करने का प्रयास है। |

18.7 अभ्यास प्रश्न

1. धर्म एवं अर्थव्यवस्था की अवधारणाएँ स्पष्ट कीजिए।
2. धर्म को परिभाषित कीजिए तथा वेबर द्वारा प्रतिपादित प्रोटेस्टैण्ट इथिक का आदर्श प्रारूप स्पष्ट कीजिए।
3. वेबर द्वारा प्रतिपादित प्रोटेस्टैण्ट इथिक एवं पूँजीवाद की आत्मा के आदर्श प्रारूप संक्षेप में समझाइए।
4. वेबर के धर्म के समाजशास्त्र को दिए गए योगदान की समीक्षा कीजिए।
5. धर्म को परिभाषित कीजिए। वेबर के धर्म सम्बन्धी अध्ययन के सन्दर्भ में पूँजीवाद से इसका सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
6. पूँजीवाद एवं धर्म का अर्थ बताइए तथा वेबर के मतानुसार इनमें पाए जाने वाले सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।

18.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- B. Malinowski (1948), **Magic, Science and Religion and Other Essays**, Beacon Press, Boston.
- D. N. Majumdar and T. N. Madan (1963), **An Introduction to Social Anthropology**, Asia Publishing House, Bombay.
- E. B. Tylor (1873), **Primitive Culture : Researches Into the Development of Mythology, Philosophy, Religion, Art, and Custom**, Volume 1, J. Murray, London.
- Emile Durkheim (1912), **The Elementary Forms of the Religious Life**, Sage Publications, Inc., Beverly Hills, CA.
- Emile Durkheim (1982), **The Rules of Sociological Method**, The Free Press, New York.

- Harry M. Johnson (1960), **Sociology : A Systematic Introduction**, Routledge and Kegan Paul, London.
- J. L. Gillin and J. P. Gillin (1948), **Cultural Sociology**, The Macmillan Company, New York.
- [James, Paul](#), *Magee, Liam, Scerri, Andy and Steger, Manfred B. (2015)*, **Urban Sustainability in Theory and Practice : Circles of Sustainability**, Routledge, London.
- Kingsley Davis (1949), **Human Society**, The Macmillan Company, New York.
- Neil J. Smelser (1976), **The Sociology of Economic Life**, Prentice-Hall, Cliffs, N.J.
- Max Weber (1930), **The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism**, Unwin Hyman, London & Boston.
- M. Haralambos and R. M. Heald (1991), **Sociology : Themes and Perspectives**, Oxford University Press, Delhi.
- Max Weber (1949), **The Methodology of Social Sciences**, The Free Press, New York.
- Max Weber (1951), **The Religion of China : Confucianism and Taoism**, The Free Press, New York.
- Max Weber (1963), **The Sociology of Religion**, The Free Press, New York.
- Max Weber (1964), **The Religion of India : : The Sociology of Hinduism and Buddhism**, Grand Rapids, MI, U.S.A.
- S. Radhakrishnan (1947), **Religion and Society**, George Allen And Unwin Ltd., London.

इकाई 19— प्रतीकात्मक अन्तक्रियावाद (Symbolic Interactionism)

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 प्रतीकात्मकवाद का अर्थ

19.3 प्रतीको के भेद एवं महत्व

19.4 अन्तक्रिया की परिभाषा एवं अर्थ

19.5 प्रतीकात्मक अन्तक्रियावाद

19.5.1 कूले का प्रतीकात्मक अन्तक्रियावाद का सिद्धांत

19.5.2 मीड का प्रतीकात्मक अन्तक्रियावाद का सिद्धांत

19.5.3 हरबर्ट ब्लूमर का प्रतीकात्मक अन्तक्रियावाद का सिद्धांत

19.6 सारांश

19.7 पारिभाषिक शब्दावली

19.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

19.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

19.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

19.11 निबंधात्मक प्रश्न

19.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा—

- प्रतीको के अर्थ, परिभाषा व प्रकार को समझना,
- प्रतीकात्मक अन्तक्रिया को जानना,

- प्रतीकात्मक अन्तक्रिया के विभिन्न पक्षों को समाज संदर्भ में समझना,
- प्रतीकात्मक अन्तक्रिया के संबंध में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विचारों को जानना,

19.1 प्रस्तावना

इस प्रस्तुत इकाई में आपको प्रतीकात्मक अन्तक्रिया के बारे में समझाया जायेगा कि किस प्रकार से व्यक्ति समाज में प्रतीकों, संकेतों व चिन्हों आदि को प्रयोग करते हैं और भाषा के सामाजिक पक्ष को समझाने का कार्य करते हैं। समाज के संपर्क से मानव का समाजीकरण होता है और वह समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है। सामाजिक संपर्क के अभाव में मानव की शरीर रचना कितनी ही सुन्दर क्यों न हो वह विकसित नहीं हो सकती। समाज में ही मनुष्य अनेक अन्तक्रियाएँ अन्य लोगों से अपनी जरूरतों के संदर्भ में करता है और अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है। इसी अन्तक्रिया के दौरान वह कुछ अपने हाव भाव, संकेत, प्रतीक आदि का प्रयोग करता है जिसमें भाषा की अभिव्यक्ति संकेत आदि द्वारा होती है। प्रतीकात्मक अन्तक्रिया में व्यक्ति अथवा समूह की भाषा, हावभाव या भाव-भंगिमाओं को संचार एवं पारस्परिक अन्तक्रिया का प्रमुख आधार माना जाता है। इसमें भाषा के व्याकरण या शब्दकोश में उल्लेखित अर्थ को महत्व नहीं दिया जाता बल्कि सामाजिक पक्ष पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसमें भाषा के सामाजिक पक्ष को समझाने पर जोर दिया जाता है। इस इकाई में आपको आगे प्रतीकात्मक अन्तक्रिया व प्रतीकों को समझाते हुये आगे इस पर विभिन्न विचारों— कूले, मीड व हरबर्ट ब्लूमर आदि को प्रस्तुत किया जायेगा।

19.2 प्रतीकात्मकवाद का अर्थ

यहा पर हम प्रतीकात्मकवाद के अर्थ एवं परिभाषा के बारे में आपको अवगत करायेगे कि किस प्रकार समाज में मानव समाज में अपने व्यवहार व अन्तक्रिया के द्वारा प्रतीकों, संकेतों व चिन्हों आदि द्वारा अपने भाषा के सामाजिक पक्ष को समझाने का प्रयास करता है। यहा पर हम आपको प्रतीकात्मकवाद के अर्थ को बताते हैं।

आर०एन०मुकर्जी (2002) प्रतीकात्मकवाद प्रतीकों को व्यवहार में लाने की एक विधि या नियम की ओर संकेत करता है। इस प्रकार प्रतीकात्मकवाद का प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रतीकों से है। प्रतीक शब्द से ही स्पष्ट है कि बहुधा व्यक्ति को जो कुछ भी व्यक्त करना है, उसके समग्र वह साफ-साफ व्यक्त नहीं करता है, वरन विभिन्न चीजों तथा भावों को व्यक्त करने के लिए कुछ ऐसे चिन्हों या प्रतीकों का व्यवहार करता है जिनके माध्यम से वह अपने वास्तविक भाव की ओर देखने या सुनने वालों को संकेत करता है देखने या सुनने वाला इन चिन्हों, प्रतीकों या संकेतों से ही यथार्थ की कल्पना कर लेता है। उदाहरणार्थ, एक कलाकार

सांप को एक टेडी-मेडी रेखा के संकेत या प्रतीक से अभिव्यक्त करता है, इसी प्रकार नृत्य में एक विशेष मुद्रा के द्वारा क्रोध, भय, अनुराग, उल्लास आदि को अभिव्यक्त करता है। नर्तकी अपने सुख से यह नहीं कहती कि वह डर गई है पर उसकी एक विशेष मुद्रा उसके मन के भाव को दर्शक के सामने स्पष्ट व्यक्त करती है। रोज के जीवन में भी हमें इसी प्रकार के अनेक संकेतों का दर्शन होता है। उदाहरण— कॉस का चिन्ह ईसाइयों के धार्मिक जीवन का प्रतीक है और इस एक प्रतीक से ही ईसा मसीह के जीवन से सम्बद्ध अनेक घटनाएँ स्पष्ट व्यक्त हो जाती हैं। राष्ट्रीय झण्डा राष्ट्र के राजनीतिक जीवन का प्रतीक होता है और उसके पीछे अनेक शहीदों के बलिदान की कहानी छिपी होती है। इसी प्रकार रेल लाईन के सामने सिग्नल रेड लाईट रूकने का संकेत है तो ग्रीन लाईट आगे बढ़ने का संकेत व्यक्त होता है।

19.3 प्रतीको के भेद एवं महत्व

आर०एन०मुकर्जी (2002) विभिन्न विद्वानों ने प्रतीको के दो भेद बताये हैं— पहला **परिचयात्मक प्रतीकात्मकवाद** तथा दूसरा **संक्षिप्त प्रतीकात्मकवाद**। **परिचयात्मक प्रतीकात्मकवाद** में मौखिक भाषण लिखना, टेलीग्राफ कोड, राष्ट्रीय झण्डा आदि वे प्रतीक हैं जिनसे किसी वस्तु की सूचना या परिचय में सुगमता हो जाती है। **संक्षिप्त प्रतीकात्मकवाद** अत्यन्त सरल प्रकार के होते हैं जैसे— टेलीग्राम भेजने के लिए एक विशेष प्रकार का टिक टिक शब्द एक विशेष प्रकार का प्रतीक बन जाता है तथा चुप रहने के लिए हाथ की उंगुली होठों पर रख लेना इस बात का संकेत / प्रतीक करता है कि अब बोलना नहीं है। सामाजिक जीवन में प्रतीकों का अत्यधिक महत्व होता है क्योंकि इनका कार्य सामाजिक व व्यक्तिगत व्यवहारों का संगठन और नियन्त्रण करना होता है। प्रतीक सामूहिक चेतना के सामूहिक प्रतिनिधित्व करते हैं। जैसे— राष्ट्रीय जीवन में प्रतीक के रूप में राष्ट्रीय झण्डा राजनीतिक भावना व राष्ट्र के प्रति समर्पित का प्रतिनिधित्व करता है आदि।

19.4 अन्तक्रिया की परिभाषा व अर्थ

जब व्यक्तियों की क्रियाएँ एक दूसरे की क्रियाओं के सन्दर्भ में तथा उनसे प्रभावित होते हुए घटित होती हैं तो उस प्रक्रिया को अर्थात् क्रिया के प्रत्युत्तर में क्रिया को अन्तः क्रिया कहते हैं। जो कि मैक्स वेबर के सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त में विस्तार पूर्वक अध्ययन की जा सकती है।

किम्बल यंग के अनुसार “विस्तृत रूप से परिभाषित करते हुए हम कह सकते हैं कि अन्तः क्रिया इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि व्यक्ति की प्रतिक्रिया हाव-भाव, शब्द या स्थूल शारीरिक गति—दूसरे व्यक्ति को उत्तेजित करती है और यह दूसरा व्यक्ति अपनी बारी पर प्रथम व्यक्ति के प्रति प्रतिक्रिया करता है।

मैरिल तथा एलड्रिज के शब्दों में, "सामाजिक अन्तःक्रिया वह सामान्य प्रक्रिया है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्तियों में अर्थपूर्ण सम्पर्क की स्थापना होती है और जिसके फलस्वरूप उनके व्यवहार में थोड़ा-बहुत परिवर्तन न आ जाता है।

अतः सामाजिक अन्तःक्रिया वह है जो कि सामाजिक संदर्भ में दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करते हुये की जाती है और जिसका प्रत्युत्तर प्राप्त होता है।

बोध प्रश्न-1

i) प्रतीक क्या है ?

.....

.....

ii) अन्तःक्रिया की कोई एक परिभाषा लिखिए ?

.....

.....

.....

iii) प्रतीकात्मक अन्तःक्रिया को संक्षिप्त में बताइए ?

.....

.....

.....

iv) परिवर्तन की कोई एक परिभाषा लिखिए ?

.....

.....

v) किस विद्वान ने प्रतीकात्मक अन्तःक्रिया को 'स्व की अवधारणा के रूप में परिभाषित किया है ?

.....

vi) समाजीकरण की प्रक्रिया में सर्वाधिक योगदान होता है

- अ) परिवार
- ब) पड़ोस
- स) नातेदारी
- द) विद्यालय संस्था

19.5 प्रतीकात्मक अन्तक्रियावाद

अमरीकी समाज मनोविज्ञान का एक सिद्धान्त जो यह बताता है कि अन्तक्रियाओं के किस प्रकार अर्थ की रचना होती है। यह सिद्धान्त रोजमर्रा के जीवन के अर्थों को जानने के लिये अति निकटता और घनिष्टता से सामाजिक अन्तक्रियाओं के अन्तर्निहित स्वरूपों को समझा जा सके।

सिम्बॉलिक इन्टरएक्शनिज्म' शब्द की रचना सन् 1937 में हरबर्ट ब्लूमर ने की। किन्तु इस सिद्धान्त की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद हैं। कुछ लोगों ने इसे जार्ज एच. मीड की देन बताया है। कुछ भी हो, ये दोनों ही विद्वान समकालीन थे तथा शिकागों सम्प्रदाय के साथ जुड़े रहे हैं।

इस सिद्धान्त के चार प्रमुख आधार हैं: (1) मानव प्राणी विशिष्ट रूप में प्रतीक – प्रयोगकर्ता प्राणी है। सभी प्राणियों में से केवल मानव प्राणी ही प्रतीकों के माध्यम में संस्कृति का निर्माण करने और उसे हस्तांतरित करने में सक्षम है। अन्तक्रियावादी मुख्यतः उन तरीकों/ विधियों का अध्ययन करते हैं जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी देह, अपनी भावनाओं, अपने स्व, अपने जीवन-चरित्र, अपनी परिस्थितियों और सबसे ऊपर अपने विशाल सामाजिक विश्व जिसमें वे अपना जीवन जीते हैं, को अर्थ प्रदान करते हैं। इस प्रकार के अध्ययन के लिए वे अधिकांशतः सहभागिक अवलोकन पद्धति का प्रयोग करते हैं, (2) अन्तक्रियावादी सामाजिक विश्व को गतिशील और एक द्वन्द्वात्मक तानाबाना मानते हैं। उनके अनुसार परिस्थितियां हमेशा अनिश्चित परिणामों सहित संघर्षों से भरी रहती हैं और जीवन और जीवन-चरित्र हमेशा फेरबदल और निर्माण की प्रक्रिया में रहते हैं जो कभी अनिश्चित और परिवर्तनीय नहीं होते; (3) अन्तक्रियावादी सामाजिक विश्व की अन्तक्रियात्मक प्रकृति पर बल देते हैं। उनकी दृष्टि से अकेला व्यक्ति जैसी कोई चीज नहीं है। मानव हमेशा 'दूसरों' से किसी न किसी रूप में संबंधित रहता है। अन्तक्रियावादियों के विश्लेषण की मूल इकाई

‘स्व’ है जो उन तरीकों पर बल देता है जिनके द्वारा व्यक्ति अपने आपको वस्तु समझने लग सकते हैं और भूमिका-ग्रहण की प्रक्रिया द्वारा दूसरों की भूमिका सम्पादित करते हैं। इसी प्रक्रिया को कूले ने ‘आत्मदर्पण’ और मीड ने ‘स्व’ की अवधारणाओं द्वारा समझाया है। (4) अन्तर्क्रियावादी प्रतीकों के पीछे छुपी हुई प्रक्रियाओं और अन्तर्क्रियाओं की खोज करते हैं ताकि वे सामाजिक जीवन के अन्तर्निहित प्रतिमानों और स्वरूपों का निर्धारण कर सकें। वास्तव में, यह सिद्धान्त मूल सामाजिक प्रक्रियाओं (ऐसी प्रक्रियाएँ जो समान रूप से सभी में पाई जाती हैं) को खोज पर बल देता है। उदाहरणार्थ, ये लोग चिकित्सकों, मादक दवाओं के सेवन कर्त्ताओं, संगीतज्ञों और मरनासन्न व्यक्ति जैसे विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के समूहों के जीवन-अनुभवों को मालूम कर इन सभी समूहों में पाई जाने वाली समान (कॉमन) प्रक्रियाओं का अध्ययन करते हैं।

सन् 1970 के दशक में इस सिद्धान्त की काफी आलोचना हुई। यह कहा गया कि इस सिद्धान्त ने संरचना, सत्ता/शक्ति, और इतिहास की सरासर अवहेलना की है। किन्तु आधुनिक अन्तर्क्रियावादियों जैसे शेल्डन स्ट्राइकर (सोशल इन्टरएक्शन-ए सोशल स्ट्रक्चर वर्सन, 1980) ने इस आलोचना को भ्रामक बताया है। स्ट्राइकर ने प्रतीकवादी अन्तर्क्रियावादी के एक ऐसे संस्करण को प्रस्तुत किया जो रूढ़िवादी सूक्ष्म समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को विश्लेषण के संगठनात्मक एवं समाजमूलक परिप्रेक्ष्य के साथ जोड़ता है। स्ट्राइकर का यह परिप्रेक्ष्य भूमिका सिद्धान्त को पुनर्परिभाषित करता है।

19.5.1 कूले का प्रतीकात्मक अन्तर्क्रियावाद का सिद्धांत

अमरीकन समाजशास्त्री कूले ने अपनी पुस्तक “**Human Nature and the Social Order**” में अपने समाजीकरण सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। उनका सिद्धान्त “आत्म दर्पण दर्शन का सिद्धान्त” (Looking-glass self Theory) के नाम से जाना जाता है। कूले ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को स्पष्ट करने के सन्दर्भ में किया। उनका मत है कि समाज के सम्पर्क में आने पर ही व्यक्ति के ‘आत्म का विकास होता है। समाज व्यक्ति के लिए दर्पण का कार्य करता है, वह उसमें अपनी छवि देखता है और समाज के लोग उसके बारे में क्या राय रखते हैं, उसी आधार पर वह अपने बारे में अपनी धारणा बनाता है। जिस प्रकार से हम आइना देखकर यह ज्ञात करते हैं कि हम अमुक पोषाक पहनने पर कैसे लगते हैं, बाल ठीक से संवारे हुए हैं या नहीं आदि, बालक भी समाज रूपी आइने में अपने आपको देखता है। समाज के लोग उसके बारे में क्या राय रखते हैं, इसी आधार पर वह अपने बारे में राय बनाता है। जिससे उसमें हीनता या श्रेष्ठता के भाव पैदा होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के स्व: का विकास दूसरों की प्रतिक्रिया से होता है। हारटन तथा हण्ट कहते हैं कि कूले ने ‘Looking glass Self’ शब्द

थेकरे की वेनिटी फेयर नामक कृति से लिया है। इनके अनुसार, संसार एक दर्पण है जो प्रत्येक व्यक्ति को उसका स्वयं का चेहरा प्रतिबिम्बित करता है। आप भौहें चढ़ाइये तो इसमें आप चिडचिड़े दिखायी देंगे। आप इसकी ओर तथा इसके साथ हंसिये तो यह आपका खुषमिजाज व कृपालु साथी होगा।”

कूले ने 'आत्म दर्पण दर्शन' प्रक्रिया के तीन चरणों का उल्लेख किया है। -

- व्यक्ति यह सोचता है कि दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं,
- दूसरों के निर्णय के आधार पर वह स्वयं अपने बारे में क्या सोचता है,
- मैं अपने बारे में सोचकर अपने को कैसा मानता हूँ, गर्व अनुभव करता हूँ या ग्लानि।

इस प्रकार कूले के अनुसार व्यक्ति का दूसरों से सम्पर्क होने से 'स्व' का निर्माण होता है। स्व के निर्माण के आधार पर ही व्यक्ति अपना मूल्यांकन करता है, वह अपने को हीन या श्रेष्ठ समझता है। व्यक्ति समाज का ही प्रतिबिम्ब है, जो कि अंतक्रिया का प्रतीकात्मक आधार है। अब हम मीड के विचारों को समझने की कोशिश करते हैं।

19.5.2 मीड का प्रतीकात्मक अन्तक्रियावाद का सिद्धांत

आर०एन०मुर्कजी (2002) मीड ने अपने समाजशास्त्र को सामाजिक मानवशास्त्र कहा था जिसका कि प्रमुख कार्य समाज व व्यक्ति के बीच पाये जाने सम्बन्धों का अध्ययन करना है। मीड के अनुसार इन सम्बन्धों का आधार मानवीय अन्तःक्रिया है। मानवीय अन्तःक्रियाओं में सामाजिक उत्तेजना का महत्व अत्याधिक होता है। वास्तव में एक व्यक्ति की प्रतिक्रिया दूसरे व्यक्ति को उत्तेजना देती है, तभी सामाजिक अन्तःक्रिया घटित होती है। इस अर्थ में सामाजिक उत्तेजनाएं, सामाजिक अन्तःक्रियाओं का साधन या माध्यम हैं। ये उत्तेजनाएं दो प्रकार की होती हैं प्राथमिक तथा द्वितीयक। जब प्रत्यक्ष सम्बन्ध या सम्पर्क के आधार पर व्यक्ति किसी दूसरे को उत्तेजन प्रदान करता है तब वह प्राथमिक उत्तेजना है। इसके अन्तर्गत हाव-भाव, चेहरे की अभिव्यक्ति, स्वर-अभिव्यक्ति, शारीरिक आसन, भाषा, हंसी आदि आती है। द्वितीय उत्तेजना वे हैं जिनमें व्यक्ति दूर रहकर संचार के विभिन्न साधनों द्वारा दूसरों को प्रभावित करता है। मानवीय अन्तःक्रिया में "हाव-भाव शरीर के किसी भाग की ऐसी गति को कहते हैं जो व्यक्ति की मानसिक स्थिति को व्यक्त करती हैं, हाव-भाव की अपनी एक भाषा होती है। इसलिए गूंगे भाषा के स्थान पर हाव-भाव की सहायता से बहुत कुछ कहते हैं। प्रायः हम अचेतन रूप से जिन हाव-भावों को प्रकट करते हैं, वे हमारे वास्तविक विचारों तथा मनोवृत्तियों को शब्दों के द्वारा अभिव्यक्ति विचारों तथा मनोवृत्तियों से भी अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त करते हैं।

उसी प्रकार मानवीय अन्तःक्रिया में चेहरे की अभिव्यक्ति एक महत्वपूर्ण उत्तेजक है। चेहरे को देखकर सुख, दुख, क्रोध, भय, आश्चर्य आदि संवेगों को पढ़ना सबसे आसान होता है। छोटे बच्चे भी अपने माता-पिता के चेहरे की विभिन्न अभिव्यक्तियों को समझने लगते हैं, इसीलिए अलग-अलग अभिव्यक्ति प्रति उसकी प्रतिक्रियाएं भी अलग-अलग होती हैं। विद्यार्थी भी अपने शिक्षक के चेहरे की अभिव्यक्ति को समझकर उसी के अनुसार व्यवहार करते हैं। अपने प्रियजनों को चेहरे को खुशी से खिल उठते देखकर हम भी खुशी से झूम उठते हैं और उन्हें अपनी बाहों में भर लेते हैं। इसी प्रकार लज्जा के गाल लाल हो जाना, भय से आंखे फैल जाना, क्रोध से भौंहे तन जाना आदि चेहरे की लोकप्रिय अभिव्यक्तियों हैं, जो कि दूसरे व्यक्तियों को एक विशेष ढंग से अपने प्रति प्रतिक्रिया या अन्तःक्रिया करने को प्रेरित या उत्तेजित करती हैं।

मीड के अनुसार मानवीय अन्तःक्रिया के उत्तेजक के रूप में स्वर अभिव्यक्ति का भी अपना अलग महत्व है। स्वर के सहारे केवल अपने संवेगों को ही अभिव्यक्ति नहीं किया जाता, बल्कि दूसरे में भी उसी प्रकार के संवेग उत्पन्न किए जा सकते हैं। हम भारी और कर्कष आवाज के द्वारा केवल अपने क्रोध को ही व्यक्त नहीं करते अपितु दूसरे के क्रोध को भी भड़का सकते हैं। इसी प्रकार मधुर आवाज प्यार को अभिव्यक्ति करती है, और बदले में में प्यार पा भी सकती है। अपने-अपने देश के देहातो में ऐसे उदाहरण मिले हैं, स्वतन्त्रता-संग्राम में भी जयहिन्द, वन्देमातरम ' भारत माता की जय हो' आदि नारों ने लोगों में जोश कूट-कूट भरा, और वे अपने प्राणों तक की बाजी लगा बैठे। इन्हीं नारों ने अंग्रेज शासकों के सिंहासन तक को हिलाकर रख दिया। आसनिक अभिव्यक्ति भी मानवीय अन्तःक्रिया का एक उत्तेजक है। शरीर के विभिन्न आसनों के द्वारा भी दूसरों को प्रभावित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ प्रेम में आलिंगन, चुम्बन आदि आसनिक अभिव्यक्तियों द्वारा दूसरे को भी उसी भांति व्यवहार करने या विरोधी क्रिया करने के लिए प्रेरित किया करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। इसी प्रकार हाथ मलने, मुट्ठी बांधने, तनकर खड़े होने, सिर थामकर बैठ जाना आदि से विभिन्न संवेगों का पता चलता है, जो दूसरों को भी वैसी क्रिया करने को उत्तेजित कर सकते हैं।

हंसी भी एक सामाजिक उत्तेजना है। हंसी दूसरों को कई प्रकार से प्रभावित करती है। सबसे पहले दूसरों पर हंसने की क्रिया को ही लीजिए। हम दूसरों को बेढंगी पोषाक में देखकर हंसते हैं, दूसरों की बेवकूफी पर भी हंसते हैं इस प्रकार की हंसी के द्वारा हम उस व्यक्ति को यह बता देना चाहते हैं कि वह जो कुछ कर रहा है वह गलत है। हम उससे भिन्न प्रकार के व्यवहार की आशा करते हैं। इस पर व्यक्ति अपने को सुधारने का प्रयत्न करता है। क्योंकि कोई भी आत्मचेतन व्यक्ति दूसरों की हंसी का पात्र बनकर नहीं रहना चाहता। इसलिए हंसी सामाजिक अनुशासन के रूप में कार्य कर सकती हैं।

मीड का भूमिका ग्रहण का सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त के माध्यम से मीड ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि आत्म के विकास में मानवीय अन्तःक्रिया ही प्रमुख आधार है। आत्म का विकास इस बात पर निर्भर करता है कि दूसरे के साथ अन्तःक्रिया करते हुए व्यक्ति स्वयं को अपने सामने एक वस्तु के रूप में प्रस्तुत करने की कितनी योग्यता रखता है। इसीलिए वह जब खिलौने से खेलता है तो उन्हें भी जानदार मान लेना है और उनके प्रति वैसा ही व्यवहार करता है जैसा कि उसके प्रति उसके माता या पिता व्यवहार करते हैं। मीड ने अन्य विद्वानों की भाँति संदेशवाहन अर्थात् भाषा, एकात्मीकरण तथा भूमिकाग्रहण को आत्म के विकास का प्रमुख कारण माना और सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

एन० के० सिंधी (2006) मनुष्य के विश्व को मूलरूप से प्रतीकात्मक माना गया है। मनुष्य अपने इर्द-गिर्द होने वाली सारी घटनाओं का विभिन्न नामों एवं अर्थों के आधार पर अपने व्यवहार व क्रिया का निर्माण करता है। अतः मनुष्य स्वयं को बाह्य वातावरण के भौतिक रूप से नहीं लेकिन उसके सामाजिक व सांस्कृतिक अर्थों के आधार पर सम्बन्धित करता है। अतः यह वातावरण, प्रतीकों से अर्थ ग्रहण करता है। इस दृष्टिकोण से वातावरण प्रतीकात्मक है न कि मात्र भौतिक वस्तुओं को ही सांस्कृतिक नाम प्रदान किए जाते हैं। माथे की बिन्दी, भाल में तिलक, मांग में सिंदूर से लेकर, परिचय पत्र, पासपोर्ट पुस्तक, कार, घर के भी सांस्कृतिक व सामाजिक अर्थ होते हैं। सुहागन व विधवा होने के भौतिक प्रतीक हैं। व्यक्ति के किसी सामाजिक वर्ग की पहचान भी प्रतीकों से होती है। अभिवादन के तरीके— हाथ जोड़ना, हाथ मिलाना, गले लगाना, पाँव छूने के भी भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। सम्बन्धों की प्रकृति इनसे ही स्पष्ट होती है। प्रतीकीकरण की प्रक्रिया सृजनात्मक क्रिया है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत हम हमारी इन्द्रिय क्रियाओं को एक रूपता प्रदान करते हैं जो कि अन्वयात्मक स्वरूपहीन अथवा अर्थहीन हो सकती है। समाज में व्यवस्था प्रतीकों से निर्मित होती है। दायें चलना या बायें, लाल बत्ती पर गाड़ी का रुकना, पुलिस की वर्दी पहने व्यक्ति के प्रतीकों के अनुरूप क्रियाएँ होती हैं। मीड (Herbert Mead) और हर्बर्ट ब्लूमर (Herbert Blumer) ने अपनी लेखनियों के माध्यम से इस विचार को परिपक्व बनाने का प्रयास किया। ह्यूजेस (Hughes) ने इस विचार को आनुभाविक महत्व प्रदान किया। यहाँ यह कहना सही होगा कि प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावाद की विचारधारा अल्पगत की परम्परा के अंतर्गत मानी जाती है।

मीड ने जानवरों की प्रतिक्रिया एवं मनुष्य के व्यवहार में अन्तर किया। व्यवहार के लिये बुद्धि आवश्यक मानी गयी है और बुद्धि मनुष्य की विशिष्ट धरोहर है। इसके अतिरिक्त मीड ने यह भी कहा कि मनुष्य इस मायने में भी भिन्न है कि उसका 'स्व' है, वह एक ऐसा प्राणी है, जो कि विषय (Subject) व वस्तु (Object) दोनों हो सकता है अर्थात् मनुष्य अनुभव करता है और उस अनुभव के बारे में यह अनुभव करता है कि वह अनुभव कर रहा है। अतः जागरूक व सजग भी है। मीड के अनुसार जानवरों का जीवन

उत्तेजना प्रत्युत्तर (Stimulus-Response) द्वारा उत्पन्न सम्बन्धों पर निर्भर है। इन सम्बन्धों में स्वचालन का बोध होता है। जब कुछ घटित होता का व्यवहार क्रिया और अवसर के मध्य स्वचालित एवं निश्चयात्मक रूप से निर्मित नहीं होता। उनके व्यवहारों में बहुत अधिक मात्रा में लचीलापन होता है। एक मनुष्य किन्हीं परिस्थितियों में एक तरह से व्यवहार करता है और दूसरी परिस्थितियों में ठीक दूसरे रूप में। मनुष्य अपने व्यवहारों को अपेक्षाओं एवं सम्भावनाओं के आधार पर योजनाबद्ध कर सकते हैं। अपने विगत अनुभवों के आधार पर वे भविष्य के व्यवहार की योजना बना सकते हैं। अगर व्यक्तियों को भविष्य की पूर्वाभासी कल्पना करनी है, अपनी वर्तमान की क्रिया को योजनाबद्ध करना है और अतीत के व्यवहार पर चिन्तन करना है तो उनमें चिन्तन करने की क्षमता का होना आवश्यक है जिससे वे स्वयं को उसी तरह से देख सकें जिस तरह से वे किसी वस्तु को देखते हैं। उन्हें अन्य वस्तुओं अथवा व्यक्तियों के बारे में जिस तरह से सजगता होती है उसी तरह स्वयं के बारे में भी सजगता होनी चाहिये। यह स्व चेतना की क्षमता जिसके माध्यम से स्वयं के बारे में भी सजगता होनी चाहिये। यह स्व चेतना की क्षमता जिसके माध्यम से स्वयं का चिन्तन सम्भव है मनुष्य का विशिष्ट गुण बन जाता है। स्व चेतना के आधार पर व्यक्ति अपने बारे में वह धारण रख सकता है जो कि अन्य व्यक्ति उसकी ओर रखते हैं।

मीड ने बालक के विकास का उदाहरण देते हुए कहा कि बालक खेलने की प्रक्रिया में अपने इर्द-गिर्द घटित होने वाले व्यवहार की नकल करता है। कभी वह पुलिस वाला बन जाता है तो कभी पोस्टमैन और कभी मम्मी पापा अथवा कभी डाक्टर। खेल में वह औरों के दृष्टिकोण को समझने की क्षमता भी प्राप्त करता है। स्पर्धात्मक खेलों में हम तभी जीत सकते हैं जब हम पता लगा सकते हैं कि हमारा विरोधी किस तरह की चाल चलने वाला है। शतरंज के खेल में हमारी गोटियों को हम उसी से देखते हैं जैसे हमारा विरोधी देखता है। मीड के अनुसार बालक के अनुकरण की वृत्ति शनैः-शनैः स्वचेतन की अभिव्यक्ति के रूप में परिवर्तित होती है जो कि माननीय विकास की साधारण व व्यापक प्रक्रिया का लघु स्वरूप है। स्वचेतन की प्रक्रिया लेखों में ही नहीं अपितु सारी सामाजिक क्रियाओं में देखी जा सकती है। कोई भी व्यक्ति यह तो नहीं जान सकता कि इस दुनिया का हर आदमी उसे किस तरह से देखता है क्योंकि दुनिया में इतने सारे आदमी हैं और यह कार्य बहुत कठिन हो जायेगा। इसके पहले बदले वह सामान्यीकृत अन्य (Generalized Others) के प्रति प्रतिक्रिया करता है। दूसरे अर्थों में वह साधारण प्रभावशाली एवं विशिष्ट दृष्टिकोण जो कि अन्य उसके लिए अपनाते हैं, के प्रति प्रतिक्रिया करता है। दूसरे अर्थों में वह साधारण, प्रभावशाली एवं विशिष्ट दृष्टिकोण जो कि अन्य उसके लिए अपनाते हैं, के प्रति प्रतिक्रिया करता है। औरों के विचारों एवं प्रतिक्रिया के प्रति समझ इसलिये सम्भव होती है क्योंकि मनुष्य की

महत्वपूर्ण प्रतीकों की साझेदारी में भागीदारी है। अर्थात् मनुष्य एक दूसरे से भाषा व अन्य प्रतीकों के द्वारा अर्थयुक्त संचार स्थापित करने की क्षमता रखता है।

मीड के लिये एक महत्वपूर्ण दर्शनशास्त्रीय समस्या यह है कि मस्तिष्क और प्रकृति के मध्य कैसे स्थापित किये जायें। इसका अर्थ यह हुआ कि क्या वे तरीके, जिनका उपयोग प्राकृतिक विज्ञानों में होता है मनुष्य के मस्तिष्क और सामाजिक क्रियाओं को समझने में उपयोगी हो सकते हैं। मीड के अनुसार प्रकृति और मस्तिष्क में अत्यधिक भेद करना सही नहीं है क्योंकि मस्तिष्क भी प्रकृति का अंग है। मीड के अनुसार भाषा पर नियन्त्रण की क्षमता मनुष्य की शारीरिक क्रिया के विकास पर निर्भर करती है अर्थात् बोलने की क्षमता हमारे गले की भीतर कंठ अवयव के विकास पर निर्भर करती है।

मीड यह नहीं कह रहे हैं कि शारीरिक एवं जैविक विशेषताओं के आधार पर यथार्थ को समझा जाये और विचारों और भावनाओं को महत्वपूर्ण न माना जाये। उनके अनुसार विचार, चेतना एवं अनुभव सबका अध्ययन आवश्यक है। मीड ने सामाजिक जीवन की सामान्य घटनाओं के अध्ययन पर बल दिया है। मीड सामाजिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों को निरन्तरता के आधार पर समझाते हैं। वे मस्तिष्क को वैज्ञानिक अध्ययन का उतना ही उपयुक्त विषय मानते हैं जैसा कि प्रकृति का अन्य कोई अंग। इसप्रकार आप यहा मीड के विचारों से भलीभांति परिचित हो गये होंगे।

19.5.3 हरबर्ट ब्लूमर का प्रतीकात्मक अन्तक्रियावाद का सिद्धांत

हरबर्ट ब्लूमर जो कि प्रो० जार्ज हरबर्ट मीड के विद्यार्थी थे, ने अपने गुरु के विचारों को और भी व्यवस्थित ढंग से विकसित करने का प्रयास किया। ब्लूमर के मतानुसार प्रतीकात्मक अन्तः क्रियावाद (Symbolic Interactionism) की निम्नलिखित तीन आधारभूत मान्यताएं हैं—

प्रथम (मनुष्य उन अर्थों या अभिप्रायों (Meaning) के आधार पर कार्य करते हैं जो कि वे अपने आस-पास की वस्तुओं या घटनाओं के लिए प्रयुक्त करते हैं। ऐसा नहीं है कि वे मात्र बाह्य प्रेरणा (external stimuli) जैसे सामाजिक शक्तियां अथवा आन्तरिक प्रेरणा (internal stimuli) जैसी सावयवी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर कार्य करते हैं।

द्वितीय, वस्तुओं या घटनाओं के जो अर्थ लगाये जाते हैं, वे अन्तःक्रिया की प्रक्रिया के दौरान पनपते हैं, न कि वे पहले से ही मौजूद होते हैं और भविष्य को प्रभावित करते हैं। कुछ हद तक ये अर्थ अन्तः क्रियात्मक परिस्थितियों के अन्तर्गत बनते, संशोधित होते, विकसित व परिवर्तित होते रहते हैं; न कि पूर्व निश्चित होते हैं।

तृतीय, इसीलिए वस्तुओं व घटनाओं का जो अर्थ वे लगाते हैं वह अन्तः क्रियात्मक सन्दर्भों के अन्तर्गत कर्ताओं के द्वारा प्रयुक्त प्रणालियों का परिणाम होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अन्तःक्रियात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गतकर्ता दूसरों की भूमिका को ग्रहण करता है और उस रूप में दूसरों के अर्थों व इरादों (intentions) की व्याख्या करता है। साथ ही, 'आत्म-अन्तःक्रिया की कार्यविधि' (the mechanism of self-interaction) द्वारा कर्ता परिस्थिति की परिभाषा का संशोधित करता, अथवा बदलता है क्रिया के विकल्पों को ढूँढता है एवं उनके सम्भावित परिणामों के सम्बन्ध में सोचता है। इस प्रकार वे अर्थ जो कि क्रिया को निर्देशित करते हैं, व्याख्यात्मक प्रणालियों के एक जटिल श्रृंखला के माध्यम से अन्तः क्रिया के सन्दर्भ में ही उत्पन्न होते हैं।

ब्लूमर का यह अन्तःक्रियावादी दृष्टिकोण उन समाजशास्त्रियों विशेषकर प्रकार्यवादी विद्वानों के सामाजिक क्रिया सम्बन्धी सिद्धान्तों से बिल्कुल भिन्न है जो क्रिया को सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रतिबन्धों (Constraints) के प्रति एक यंत्रवत् प्रत्युत्तर के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ब्लूमर की मान्यता यह है कि समाज को निरन्तर चलने वाली अन्तःक्रिया की एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखना चाहिए जिसके अन्तर्गत अनेक कर्ताएँ एक दूसरे के साथ लगातार अनुकूल करने और परिस्थिति की व्याख्या करने में प्रयत्नशील हैं।

ब्लूमर इस बात को स्वीकार करते हैं कि मानव क्रिया कुछसीमा तक संरचित एवं नियमित होती है। उनका कहना है कि अधिकांश परिस्थितियों में जबकि लोग एक दूसरे के साथ अन्तः क्रिया कर रहे होते हैं तो उन्हें पहले से ही इस बात का स्पष्ट व दृढ़ बोध या ज्ञान होता है कि उन्हें किस भांति कार्य करना है और दूसरे लोग किस भांति कार्य करेंगे। फिर भी इस प्रकार का ज्ञान केवल सामान्य मार्गदर्शन के रूप में ही कार्य करता है क्योंकि वास्तविक परिस्थिति में क्रिया में अनेक संशोधन, आपसी तालमेल, दांवपेच आदि की गुंजाइश, आपसी तालमेल, दांवपेच आदि की गुंजाइश सदा ही बनी रहती है।

ब्लूमर इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि सामाजिक संस्थाएं मानव आचरण को एक सीमा के अन्दर बांधे रखती हैं। परन्तु संस्थागत कठोर नियमों व प्रतिबन्धों के होते हुए भी मानवीय पहल व सृजनात्मक (initiative and creativity) के गुंजाइश रहती ही है।

ब्लूमर यह चाहते हैं कि समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए एक ऐसा पद्धतिशास्त्र विकसित किया जाये जो कि मानवीय अन्तःक्रिया को उचित मान्यता दे सके। केवल कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करना विषय को अत्यन्त सरल बना देना होगा। उदाहरणार्थ, यह दावा किया जाता है कि उद्योगीकरण के संयुक्त परिवारों को एकांकी परिवारों में बदल दिया है। इस प्रकार का कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करना न केवल अनुचित है, अपितु अवैज्ञानिक भी। ब्लूमर के अनुसार स्वयं उद्योगीकरण ने संयुक्त परिवार को

विद्यटित नहीं किया है, यह विघटन तो उद्योगीकरण के फलस्वरूप घटित हुआ है। उद्योगीकरण ने जिस परिस्थितियों को उत्पन्न किया है उनमें पारिवारिक सदस्यों के बीच होने वाली अन्तः क्रियाओं का परम्परात्मक स्वरूप बदल गया है। परिवार से बाहर सामाजिक अन्तःक्रियाओं के स्वरूप भी बदले हैं। फलतः पारिवारिक जीवन की परिभाषा भी बदली है। इस बदले हुए अर्थ या परिभाषा में संयुक्त परिवार 'फिट' नहीं बैठता है। इस कारण उसके स्वरूप को भी बदलना पड़ा है। दूसरे शब्दों में, परिवर्तित अन्तःक्रियात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत जब पारिवारिक जीवन की व्याख्या ही बदल जाती है तो परिवार का पुराना स्वरूप अर्थात् संयुक्त परिवार अर्थहीन हो जाता है और उसे एक नया अर्थ देने के लिए एकाकी परिवार का उदय होता है। इस प्रकार संयुक्त परिवार के स्थान पर एकाकी परिवार का आना वास्तव में बदली हुई अन्तःक्रियात्मक प्रक्रिया से सन्दर्भ में पारिवारिक जीवन को दिये गये अर्थों का ही प्रतिफल है।

अतः ब्लूमर का सुझाव है कि "समाजशास्त्रीय शोधकर्ताओं को कुछ बने-बनाये पूर्व-निर्धारित निष्कर्ष में ही अपने अध्ययन-परिणामों को 'फिट' करने का प्रयास न करके कर्ता लगाये गये अर्थों को समझना होगा और इसके लिए उन्हें उस क्रियारत इकाई की भूमिका को अदा करना होगा जिसके व्यवहार का अध्ययन वे कर रहे हैं।" (मुकजी, आर0एन0 : 2002)

इस प्रकार आप यहा प्रतीकात्मक अन्तक्रियावाद के संबध में विभिन्न विचारों से परिचित होकर अच्छी तरह से समझ गये होंगे।

बोध प्रश्न-2

i) मै और मुझे की धारणा से क्या तात्पर्य है

.....

.....

.....

.....

.....

ii) प्रतीकात्मक अन्तक्रिया में मीड का क्या योगदान है

.....

.....

iii) प्रतीकात्मक अन्तक्रिया में ब्लूमर के विचारों को संक्षिप्त में बताइए।

19.6 सारांश

इस इकाई में आपने प्रतीकात्मक अन्तक्रियावाद के बारे में जाना है। प्रतीकात्मक अन्तक्रियावाद एक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम समाज के सक्रिय सदस्य बनते हैं। इस प्रक्रिया में व्यक्ति समाज के मानदंडों और मूल्यों के आन्तरीकरण के साथ-साथ अपनी सामाजिक भूमिकाओं को सम्पादन करना सीखता है। इसी प्रक्रिया के द्वारा स्वः का विकास होता है। भाषा अथवा संकेतात्मक भाव भंगिमाओं पर आधारित संप्रेषण एवं अन्तर्क्रिया के विशिष्ट रूप को प्रतीकात्मक अन्तर्क्रिया कहते हैं। यह मानव व्यवहार की एक विशिष्टता है। मानव का संपूर्ण सामाजिक जीवन संप्रेषण की इस विशिष्टता पर आधारित है। इसी के साथ आपने कुले, मीड व ब्लूमर के विचारों को प्रतीकात्मक अंतक्रिया के संदर्भ में समझा है कि किस प्रकार व्यक्ति अपनी दिनप्रतिदिन की सामाजिक घटनाओं में प्रतीकों के सहारे संक्षिप्त रूप से अंतक्रिया करता है और दूसरों को अर्थ प्रदान कर स्वयं धारणा बनाता है। इसी को समझाने के लिए मीड ने आगे मै, मुझे व सामान्यकृत अन्य के शब्दों का प्रयोग किया। प्रतीकात्मक अन्तःक्रिया में आपको यह समझाया गया कि किस प्रकार से व्यक्ति समाज में प्रतीकों, संकेतों व चिन्हों आदि को प्रयोग करते हैं और भाषा के सामाजिक पक्ष को समझाने का कार्य करते हैं।

19.7 पारिभाषिक शब्दावली

प्रतीक/संकेत— सामान्य अर्थों में कोई क्रिया या वस्तु जो किसी अन्य क्रिया, वस्तु या विचार का प्रतिनिधित्व करती है वो प्रतीक कहलाती है। अधिक विशिष्ट रूप में संस्कार, स्वप्न या मिथक के शब्दार्थ के क्षेत्रों में अति लघु अर्थ इकाई को प्रतीक कहा जाता है। मनोविश्लेषण में किसी दमित अचेतन इच्छा को प्रतिनिधित्व करने वाला व्यवहार या वस्तु को प्रतीक कहा जाता है।

प्रतीकात्मक अन्तर्क्रिया— भाषा अथवा संकेतात्मक भाव भंगिमाओं पर आधारित संप्रेषण एवं अन्तर्क्रिया के विशिष्ट रूप को प्रतीकात्मक अन्तर्क्रिया कहते हैं। यह मानव व्यवहार की एक विशिष्टता है। मानव का संपूर्ण सामाजिक जीवन संप्रेषण की इस विशिष्टता पर आधारित है।

परिवर्तन— किसी भी वस्तु में दो समय में होने वाली भिन्नता ही परिवर्तन कहलाती है।

समाजीकरण — समाजीकरण सीखने की एक आजन्म प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह अथवा समाज की समय व स्थान सापेक्ष सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है जिससे वह समाज का क्रियाशील सदस्य बन सके। समाजीकरण द्वारा बच्चा सामाजिक प्रतिमानों को सीखकर उनके अनुरूप आचरण करता है इससे समाज में नियन्त्रण बना रहता है।

मैं तथा मुझे — मैं का अर्थ व्यक्ति द्वारा दूसरों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार से है, तथा मुझे का अर्थ है व्यक्ति द्वारा किये गये व्यवहार पर दूसरों की प्रतिक्रिया जिसे व्यक्ति आन्तरीकृत करता है।

सामान्यकृत अन्य — किसी व्यक्ति की स्वयं के बारे में वह धारणा जो दूसरे लोग उसके बारे में रखते हैं।

19.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

i) सामान्य अर्थों में कोई क्रिया या वस्तु जो किसी अन्य क्रिया, वस्तु या विचार का प्रतिनिधित्व करती है वो प्रतीक कहलाती है।

ii) किसी क्रिया को सामाजिक क्रिया तभी कहा जा सकता है जबकि इस क्रिया को करने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा लगाए गए व्यक्तिनिष्ठ अर्थ अर्थात् प्रातीतिक अर्थ के कारण यह क्रिया दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार द्वारा प्रभावित हो और उसी के अनुसार उसकी गतिविधि निर्धारित हो।

iii) भाषा अथवा संकेतात्मक भाव भंगिमाओं पर आधारित संप्रेषण एवं अन्तर्क्रिया के विशिष्ट रूप को प्रतीकात्मक अन्तर्क्रिया कहते हैं। यह मानव व्यवहार की एक विशिष्टता है। मानव का संपूर्ण सामाजिक जीवन संप्रेषण की इस विशिष्टता पर आधारित है।

iv) किसी भी वस्तु में दो समय में दिखायी देने वाली भिन्नता ही परिवर्तन है, किंग्सले डेविस के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन से हम केवल उन्हीं परिवर्तनों को समझते हैं जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढांचे और प्रकार्यों में घटित होते हैं।

v) मीड

vi) परिवार

बोध प्रश्न-2

i) मीड ने व्यक्ति में आत्म-चेतन को स्पष्ट करने के लिए मैं (I) तथा मुझे (Me) शब्दों का प्रयोग किया है। मैं का अर्थ व्यक्ति द्वारा दूसरों की प्रति किये जाने वाले व्यवहार से है, तथा मुझे का अर्थ है व्यक्ति द्वारा किये गये व्यवहार पर दूसरों की प्रतिक्रिया जिसे व्यक्ति आन्तरीकृत करता है। 'मैं' और मुझे में अन्तः क्रिया के कारण ही 'स्व' का विकास होता है।

ii) मीड ने प्रतीकात्मक अंतर्क्रियावाद में व्यवहारों के लिए बुद्धि को आवश्यक माना है, जो कि मनुष्य की विशिष्ट धरोहर है। इन्होंने सामाजिक जीवन की सामान्य घटनाओं के अध्ययन पर बल दिया और कहा कि एक व्यक्ति की प्रतिक्रिया दूसरे व्यक्ति को उत्तेजना देती है। व्यक्ति अपनी सामान्य जीवन में अपने प्रतीको अर्थात् हाव भाव, चेहरे व हाथों आदि के द्वारा अनेक समाज में दिनप्रतिदिन अंतर्क्रिया करता है जिससे दूसरा व्यक्ति उसका प्रतियुत्तर लगाता है। मीड के अनुसार स्वर के सहारे केवल अपने संवेगों को ही अभिव्यक्ति नहीं किया जाता, बल्कि दूसरे में भी उसी प्रकार के संवेग उत्पन्न किए जा सकते हैं। हम भारी और कर्कष आवाज के द्वारा केवल अपने क्रोध को ही व्यक्त नहीं करते अपितु दूसरे के क्रोध को भी भड़का सकते हैं। इसी प्रकार मधुर आवाज प्यार को अभिव्यक्ति करती है, और बदले में में प्यार पा भी सकती है।

iii) ब्लूमर ने प्रतीकात्मक अन्तः क्रियावाद (Symbolic Interactionism) की निम्नलिखित मान्यताएं के आधार पर बताया हैं-

- मनुष्य उन अर्थों या अभिप्रायों (Meaning) के आधार पर कार्य करते हैं जो कि वे अपने आस-पास की वस्तुओं या घटनाओं के लिए प्रयुक्त करते हैं।
- वस्तुओं या घटनाओं के जो अर्थ लगाये जाते हैं, वे अन्तःक्रिया की प्रक्रिया के दौरान बनते हैं, न कि वे पहले से ही मौजूद होते हैं और भविष्य को प्रभावित करते हैं।
- इसीलिए वस्तुओं व घटनाओं का जो अर्थ वे लगाते हैं वह अन्तः क्रियात्मक सन्दर्भों के अन्तर्गत कर्ताओं के द्वारा प्रयुक्त प्रणालियों का परिणाम होता है।

19.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

Young, Kimball, (1946) *Hand book of social psychology*, Kegan Paul, California

Aron, Raymond, (1970) *Main currents in sociological thought*, vol.1 &

2, Penguin books, London

Bottomore, T.B., (1969) *Sociology: A guide to problem and literature*,

Allen and Unwin, London

Johnson, Harry M, (1960), *Sociology*, Allied Publ., New Delhi

Mead, G.H. (1934) *Mind, Self and Society*, The University of Chicago Press, Chicago

गुप्ता एवं शर्मा, (2006) *समाजशास्त्र*, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

मुकर्जी, आर०एन०, (2002) *समकालीन उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त*, विवेक प्रकाशन, दिल्ली

सिंधी, नरेन्द्र कुमार (2004) *समाजशास्त्रीय सिद्धान्त— विवेचना एवं व्याख्या* दिल्ली

कोजर लेविस ए 1971 मास्टर्स ऑफ सोशियॉलाजिकल थॉट : आइडियाज इन हिस्टारिकल एण्ड सोशल

कॉन्टेक्स्ट, हरकोर्ट ब्रेस जोवैनोविश्व : न्यूयार्क

19.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

Coser, Lewis A, (1996) *Masters of Sociological Thought*, Rawat

publication, Jaipur

Mead, G.H., "A behavioristic account of the significant symbol" Journal of philosophy, vol.19, p.160

Giddens, Anthony, (1993) *Sociology*, Polity Press, Cambridge

Mitchell, G Duncan, (1979) *A New Dictionary of Sociology*, Routledge & Kegan Paul, London

Huebner, Daniel (2014), *Becoming Mead*, the University of Chicago press, Chicago

सिंह, जे० पी०, (2008) समाजशास्त्र-अवधारणाएं एवं सिद्धान्त, पीएचआई लर्निंग नई दिल्ली

श्रीनिवास, एम०एन० (1991) आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

19.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्रतीकात्मक अन्तर्क्रिया से आप क्या समझते हैं, इसके प्रमुख सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए ?
2. प्रतीको का अर्थ स्पष्ट करते हुये सामाजिक अन्तर्क्रिया का वर्णन कीजिए ?
3. प्रतीकात्मक अन्तर्क्रिया के संदर्भ में मीड के विचारों की व्याख्या कीजिए ?
4. प्रतीकात्मक अन्तर्क्रिया के संदर्भ में हरबर्ट ब्लूमर के विचारों का उल्लेख कीजिए ?

इकाई 20— स्वयं एवं समाज (Self and Society)

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 स्वयं एवं समाज का अर्थ

20.3 मैं और मुझे का अर्थ

20.4 प्रतीको एवं अन्तक्रियाओं का समाज संदर्भ में अर्थ एवं महत्व

20.5 स्वयं एवं समाज

20.5.1 मीड का सिद्धान्त

20.6 सारांश

20.7 पारिभाषिक शब्दावली

20.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

20.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

20.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

20.11 निबंधात्मक प्रश्न

20.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा—

- स्वयं व समाज की अवधारणा को समझना,
- मैं व मुझे को समझना
- सामान्यकृत अन्य को समझना,
- मीड के विचारों को स्वयं व समाज पर समाज संदर्भ में समझना,

20.1 प्रस्तावना

इस प्रस्तुत इकाई में आपको स्वयं एवं समाज के बारे में समझाया जायेगा कि किस प्रकार से व्यक्ति समाज में प्रतीकों व संकेतों आदि को प्रयोग करते हुये भाषा के सामाजिक पक्ष को समझने का कार्य करता है। समाज में ही मनुष्य अनेक अन्तक्रियाएँ अन्य लोगों से अपनी जरूरतों के संदर्भ में करता है और अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है। समाज के संपर्क से मानव का समाजीकरण होता है और वह समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है। आगे मीड के विचारों को समाज संदर्भ में समझाने का प्रयास किया जायेगा। मीड ने स्वयं व समाज पर किस प्रकार अपने विचार व्यक्त किये तथा **मै व मुझे** की अवधारणा का प्रयोग किया व इन दोनों में भेद भी किया और **सामान्यकृत अन्य** की अवधारणा को भी समझाया। वह कहते हैं कि समाज के संपर्क के कारण बच्चा जो कुछ सीखता है वह पुनः अपने खेल के दौरान प्रकट करता है और अपना आत्म का विकास करता है। मीड आत्म के विकास में समाज को ज्यादा महत्व देता है कि समाज के सामान्यकृत व्यवहार प्रत्येक व्यक्ति की आत्म चेतना को प्रभावित करते हैं जिससे उसके स्वयं का विकास होता है।

20.2 स्वयं एवं समाज का अर्थ

यहा पर हम स्वयं एवं समाज के अर्थ के बारे में आपको अवगत करायेगें कि किस प्रकार समाज में मानव समाज में अपने व्यवहार व अन्तक्रिया के द्वारा प्रतीको, संकेतो व चिन्हो आदि द्वारा अपने भाषा के सामाजिक पक्ष को समझाने का प्रयास करता है। **स्वयं** वह धारणा है जो कि व्यक्ति समाज में संपर्क करके अन्तक्रिया करता है और सामाजिक संबंधो के आधार पर अपनी राय बनाता है कि वह समाज रूपी आईने में अपने आपको देखकर कैसा महसूस करता है— अच्छा या बुरा। मै और मुझे की धारणा द्वारा वह अपना स्व का विकास करता है। जिससे उसका आत्म का विकास होता है। और वह अपनी अंतक्रियाओं को दूसरों द्वारा आकलन करके तय करता है।

जहां जीवन होता है वहां समाज भी होता है। व्यक्ति और समाज में काफी पारस्परिक निर्भरता पायी जाती है। जहां व्यक्ति ने एक-दूसरे के साथ सामाजिक संबंध स्थापित कर समाज के निर्माण में और विकास में सहायता प्रदान की वही समाज ने व्यक्ति का समाजीकरण कर उसके व्यक्तित्व के विकास में योग दिया है। व्यक्ति को संस्कृति से परिचित कराने में समाज ने सदैव महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। समाजशास्त्र में समाज शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया है। यहा व्यक्ति व्यक्ति के बीच पाये जाने वाले सामाजिक संबंधो के आधार पर निर्मित व्यवस्था को समाज कहा गया है। कुछ विद्वानों ने इसे अपने अनुसार परिभाषित किया है।

जार्ज सिमेल के अनुसार, समाज को उन व्यक्तियों का समूह माना है जो अन्तक्रिया द्वारा संबन्धित है।

गिडिंग्स ने कहा कि समाज स्वयं संघ है, संगठन है, औपचारिक संबंधों का योग है, जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति एक दूसरे के साथ जुड़े हुए या सम्बद्ध हैं।

फेयरचाइल्ड के अनुसार, समाज व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो अपने बहुत से प्रमुख हितों, जिनमें अनिवार्य रूप से स्वयं की रक्षा या भरण पोषण तथा स्वयं को स्थायित्व प्रदान करना सम्मिलित है को पूरा करने के लिए सहयोग करते हैं।

मैकाइवर एवं पेज ने समाज को सामाजिक संबंधों के जाल या ताने – बाने के रूप में परिभाषित किया है। मैकाइवर एवं पेज ने संबंधों की इस सदैव परिवर्तित होती रहने वाली जटिल व्यवस्था को समाज माना है। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने अपने अनुसार समाज को परिभाषित किया है।

अतः स्पष्ट है कि सभी समाजशास्त्री समाज के लिए सामाजिक संबंधों को आवश्यक मानते हैं और वे ऐसे संबंधों की जटिल व्यवस्था को ही समाज कहते हैं। समाज में सामाजिक संबंधों को प्रधानता दी जाती है। यहाँ सामाजिक संबंधों को समझ लेना आवश्यक है।

सामाजिक संबंध— समाजशास्त्र में जिन संबंधों को प्रधानता दी जाती है उन्हें सामाजिक संबंध कहा जाता है। सामाजिक संबंधों के बिना समाज नहीं हो सकता है। जहाँ सामाजिक प्राणी पारस्परिक रूप से जागरूक रहते हुये और एक-दूसरे की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए व्यवहार करते हैं वही समाज पाया जाता है। **सामाजिक संबंधों में दो तत्व आवश्यक रूप से पाये जाते हैं— पारस्परिक जागरूकता व सामान्य जीवन में भागीदार होने की भावना।** सामाजिक संबंध कई प्रकार के होते हैं जैसे— पति और पत्नी का, माता और पुत्र का, भाई और बहिन का, गृहक व दुकानदार का आदि। सामाजिक संबंध कुछ आर्थिक आधार पर, कुछ राजनीतिक व धार्मिक व कुछ व्यक्तिक प्रकार के होते हैं। कुछ संबंध प्रत्यक्ष तो कुछ अप्रत्यक्ष, कुछ शत्रुतापूर्ण तो कुछ मित्रतापूर्ण होते हैं। ये विभिन्न प्रकार के संबंध पारस्परिक जागरूकता के कारण ही सामाजिक संबंधों की श्रेणी में आते हैं। सामाजिक संबंध व भौतिक संबंध में प्रमुख अन्तर पारस्परिक जागरूकता का पाया जाता है। भौतिक संबंध में पारस्परिक जागरूकता नहीं पायी जाती है। जैसे— एक टेबल पेन व किताबे रखी है इन सबका टेबल के साथ एक संबंध अवश्य है लेकिन उसमें मानसिक दशा का अभाव है। इसप्रकार स्वयं व समाज एक दूसरे से संबन्धित हैं और एक दूसरे को लाभ पहुँचाते हैं। मनुष्य का स्व समाज से ही विकसित होता है।

20.3 मैं और मुझे का अर्थ

गुप्ता एवं शर्मा (2014) मीड ने समाजीकरण व स्व व समाज सम्बन्धी अपने विचार “Mind, Self and Society” नामक अपनी कृति में प्रकट किये हैं। मीड यह मानते हैं कि व्यक्ति ही समाज का निर्माता है। जन्म के समय बच्चा एक जैविकीय व्यक्ति होता है, जिसमें बुद्धि का अभाव होता है। अतः वह आन्तरिक प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही क्रियायं करता है। धीरे-धीरे परिवार एवं अन्य समूहों के सम्पर्क के कारण बच्चे को यह समझ पैदा होने लगती है कि उससे लोग किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा करते हैं और उसके व्यवहारों का क्या अर्थ लगाया जाता है। इस प्रकार बच्चे का ‘स्व’ व्यवहार से प्रभावित होने लगता है। मीड कहते हैं कि व्यक्ति में आत्म-चेतन का विकास किस प्रकार से होता है, इसे वह दो शब्दों के प्रयोग से समझाता है— मैं (I) तथा मुझे (Me)। इसलिए इस सिद्धान्त को मैं और मुझे का सिद्धान्त भी कहते हैं। मैं का अर्थ व्यक्ति द्वारा दूसरों की प्रति किये जाने वाले व्यवहार से है, तथा मुझे का अर्थ है व्यक्ति द्वारा किये गये व्यवहार पर दूसरों की प्रतिक्रिया जिसे व्यक्ति आन्तरीकृत करता है। ‘मैं’ और मुझे में अन्तः क्रिया के कारण ही ‘स्व’ का विकास होता है। प्रारम्भ में ये दोनों धारणाएं एक-दूसरे से अलग होती हैं, किन्तु परिवार एवं समाज के सम्पर्क के कारण उनमें समानता स्थापित होने लगती है और वे एक ही चीज के दो पहलू हो जाते हैं। व्यक्तित्व के मैं पक्ष को प्रत्यक्ष रूप से जानना अथवा अनुभव करना एक व्यक्ति के लिए कठिन होता है। इसकी अनुभूति व्यक्ति को तभी होती है जब वह किसी सामाजिक घटना के प्रति अपनी कोई व्यक्तिपरक तथा रचनात्मक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। यह समाजीकरण की उपज है और इसका विकास समुदाय के दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया स्वरूप होता है। दूसरे व्यक्ति उसे किस प्रकार से चाहते हैं यह भाव मुझे को प्रतिबिम्बित करता है। मुझे स्व के सामाजिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। इसका विकास आन्तरीकृत सामाजिक दृष्टिकोण द्वारा होता है जो एक व्यक्ति किसी सामाजिक स्थिति में अपनाता है। इन दोनों प्रक्रियाओं द्वारा स्व अथवा व्यक्तित्व का विकास होता है।

20.4 प्रतीकों एवं अन्तक्रियाओं का समाज संदर्भ में अर्थ व महत्त्व

किसी भी वस्तु में दो समय में होने वाली भिन्नता ही परिवर्तन कहलाती है। समाज परिवर्तन के दौर से हमेशा गुजरता है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है और यह परिवर्तन समाज में भाषा व प्रतीकों में भी होता रहता है। मनुष्य समाज में दूसरों से अपनी आवश्यकताओं के लिए अन्तक्रिया करता रहता है, जिसमें वह भाषा व प्रतीकों का प्रयोग करता है। आइए सबसे पहले प्रतीक व अन्तक्रिया को जानते हैं। आर0एन0मुकर्जी (2002) कोई क्रिया या वस्तु जो किसी अन्य क्रिया, वस्तु या विचार का प्रतिनिधित्व करती है वो प्रतीक कहलाती है। संस्कार, स्वप्न या मिथक के शब्दार्थ के क्षेत्रों में अति लघु अर्थ इकाई को प्रतीक

कहा जाता है। मनोविश्लेषण में किसी दमित अचेतन इच्छा को प्रतिनिधित्व करने वाला व्यवहार या वस्तु को प्रतीक कहा जाता है। विभिन्न विद्वानों ने प्रतीको के दो भेद बताये हैं— पहला **परिचयात्मक प्रतीकात्मकवाद** में मौखिक भाषण लिखना, टेलीग्राफ कोड, राष्ट्रीय झण्डा आदि वे प्रतीक हैं जिनसे किसी वस्तु की सूचना या परिचय में सुगमता हो जाती है दूसरा **संक्षिप्त प्रतीकात्मकवाद** अत्यन्त सरल प्रकार के होते हैं जैसे— टेलीग्राम भेजने के लिए एक विशेष प्रकार का टिक टिक शब्द एक विशेष प्रकार का प्रतीक बन जाता है तथा चुप रहने के लिए हाथ की उंगुली होठों पर रख लेना इस बात का संकेत / प्रतीक करता है कि अब बोलना नहीं है। सामाजिक जीवन में प्रतीकों का अत्यधिक महत्व होता है क्योंकि इनका कार्य सामाजिक व व्यक्तिगत व्यवहारों का संगठन और नियन्त्रण करना होता है (मुकर्जी, आर०एन०: 2002)। अब थोड़ा अन्तःक्रिया को जानते हैं। जब व्यक्तियों की क्रियाएं एक दूसरे की क्रियाओं के सन्दर्भ में तथा उनसे प्रभावित होते हुए घटित होती हैं तो उस प्रक्रिया को अर्थात् क्रिया के प्रत्युत्तर में क्रिया को अन्तःक्रिया कहते हैं। **मैरिल तथा एलड्रिज के अनुसार**, "सामाजिक अन्तःक्रिया वह सामान्य प्रक्रिया है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्तियों में अर्थपूर्ण सम्पर्क की स्थापना होती है और जिसके फलस्वरूप उनके व्यवहार में थोड़ा-बहुत परिवर्तन न आ जाता है।

बोध प्रश्न-1

i) पुस्तक "Mind, self and society" किसकी है ?

.....

.....

ii) अन्तःक्रिया क्या है ?

.....

.....

.....

iii) स्व क्या है ?

.....

.....

iv) समाज की कोई एक परिभाषा लिखिए ?

20.5 स्व एवं समाज

मीड का सिद्धान्त

गुप्ता एवं शर्मा (2004) अमेरिका के शिकागो वैचारिक परम्परा के एक अग्रणी दार्शनिक और अर्थक्रियावादी मीड को समाजशास्त्र के क्षेत्र में एक नवीन परम्परा की आधारशिला रखने का गौरव प्राप्त है। मीड की प्रसिद्ध पुस्तक **"Mind, Self and Society"** सन् 1934 में उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुयी, उन्होंने सामाजिक मनोविज्ञान की एक नवीन समाजशास्त्रीय ढंग से व्याख्या की। इस पुस्तक में मीड ने पुर्णतः समाज पर आधारित अनुभव, मानवीयसमूह जीवन में भाषा प्रतीक और संप्रेषण का महत्व भूमिका धारण की प्रक्रिया के माध्यम से उन तरीकों का जिनसे हमारे शब्द और मुखाभाव दूसरों में प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करती है स्व की परावर्ती और प्रतिवर्ती प्रकृति तथा क्रिया की मुख्यता जैसे विषयों का गूढ वर्णन विश्लेषण किया है। मीड ने वेबर की क्रिया की धारणा तथा इसके समाज वैज्ञानिक बोध को समझाने के लिये आवेगों, स्थितियों की परिभाषाओं और निष्पादन के रूपों के आधार पर निर्मित विभिन्न प्रकार की क्रियाओं में अन्तर को भी स्पष्ट किया है। मीड एक दार्शनिक के साथ साथ मनोवैज्ञानिक भी थे। एक दार्शनिक के रूप में वे स्व के उदभव को समझने और समझाने में रुचि रखते थे। इसके लिए इन्होंने स्व की उत्पत्ति की सामाजिक अन्तर्क्रियावादी व्याख्या प्रस्तुत की। एक मनोवैज्ञानिक के रूप में वे पशु और मानवीय व्यवहार की बेजौडता और अनूठेपन के लिए उसकी अन्तर्निहित सांकेतिक प्रवृत्ति को महत्वपूर्ण बताया। व्यक्ति के समाजीकरण में मीड ने समाज की महत्ती भूमिका को इंगित करते हुए लिखा कि बालक को अपने बारे में सामाजिक अन्तर्क्रिया के द्वारा ही बोध होता है। इसी के द्वारा स्व की उत्पत्ति होती है। स्व का ज्ञान उसे दूसरे व्यक्तियों की भूमिकाओं को ग्रहण करने से ही होता है। मीड ने इन्हे सामान्यकृत अन्य कहा है।

मीड के अनुसार, मैं एक ऐसे असमाजीकृत शिशू को इंगित करता है जो नैसर्गिक जरूरतों और इच्छाओं का एक पूंज होता है। मैं व्यक्ति के जैवकीय पक्ष को अभिव्यक्त करता है। इसके विपरीत मुझे सामाजिक स्वचेतन व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। जिसकी उत्पत्ति दूसरों के द्वारा स्वयं को देखने की

जानकारी से होती है अर्थात् दूसरे व्यक्ति उसे किन निगाहों से देखते हैं उसी रूप में वह स्वयं को देखने लगता है। मीड ने मुझे की अवधारणा का प्रयोग सामाजिक स्व के लिये किया है। मीड के स्व संबंधी विचार सी0एच0कूले से मिलते जुलते हैं जो उनके एक सहकर्मी रहे हैं। कूले की भांति मीड यह जानने के इच्छुक थे कि स्व का निर्माण कैसे होता है। यह कैसे कार्य करता है तथा इसके निर्माण में दूसरे व्यक्तियों की क्या भूमिका है। जहां कूले ने इस प्रक्रिया को समझने के लिये स्व के आत्मदर्पण की अवधारणा का प्रयोग किया है वही मीड ने इसके लिये मै, मुझे और मानस की अवधारणाओं का प्रयोग किया है।

मीड के योगदान के प्रमुख आयाम उनकी पुस्तक माइण्ड, सेल्फ व सोसाइटी में प्रस्तुत किए गए हैं।

- (1) **प्रतीकीकरण (Symbolization)** : क्रिया व अंतःक्रियाओं का निर्वाह प्रतीको के माध्यम से होता है। ये प्रतीक अर्मूत, मूर्त, मौखिक—भाषायी, लिखित भाषायी, सावयवी—अभाषायी, होते हैं।
- (2) **‘स्व’ निर्माण** : स्व के निर्माण का प्रक्रियात्मक स्वरूप है। औरों की धारणा के अनुसार स्व की धारणा, स्थिति अनुरूप स्व की धारणा स्व द्वारा स्व की धारणा ये आयाम स्व को प्रवाही मानते हैं न कि उसे संरचनात्मक स्थायित्व। ‘स्व’ बदलता रहता है, वह प्रवाही है।
- (3) **स्व—बोध व स्व नियन्त्रण** : व्यक्ति की अपनी पहचान होती है जो कि स्व—धारणा अथवा स्व बोध है। स्व बोध के अनेक स्तर हैं, भावगत (Emotive), विचारगत (Mental), शरीरगत (Pyhsical) स्थितिगत, (Situational), सोपानगत (Stages of life, Career)
- (4) व्यक्ति अपनी क्रियाओं को स्वयं नियन्त्रित करता है। एक सी और एक ही स्थिति में विभिन्न व्यक्तियों के उसके नियन्त्रण का गुण, शैली व प्रकृति अलग—अलग होती हैं।

मीड (Mead) के योगदान को तीन अभ्युपगों के आधार पर समझा जा सकता है।

- (1) सामाजिक यथार्थ को व्यक्ति, प्रतीकात्मक स्वरूप के माध्यम से समझता है।
- (2) सामाजिक यथार्थ मनुष्य के नये प्रत्यक्षण के आधार बदलता रहता है।
- (3) यह विश्व वस्तुपरक घटना है जो कि स्थायित्व के प्रतिमान व परिवर्तन की प्रक्रिया को चलाने व रोकने का कार्य करती है।

मीड में सोचने वाले व्यक्ति एवं सामाजिक शक्तियों के मध्य द्विभाजन को पाटने का प्रयास : किया गया है। मीड ने इस विचार का प्रतिपादन किया कि स्व एक सामाजिक इकाई है। जो कि सामाजिक अन्तक्रिया के माध्यम से निर्मित होती है। व्यक्ति समाज के माध्यम से मूल्यों और विचारों को आत्मसात

करते हैं। इन मूल्यों को वह अपने स्वप्रत्यक्षण का इस प्रकार अंग बना देता है कि उपयुक्त अवसरों पर वे सहज भाव से उभरते हैं और उपयुक्त भावनाओं के निर्माण के आधार पर उपयुक्त क्रिया कराने में मदद करते हैं। मनुष्य का स्व होता है जो कि समाजीकरण की प्रक्रिया में समाज में अन्तक्रिया द्वारा निर्मित होता है। और स्व के बारे में अपनी धारणा बनाता है। इसलिए स्व के लिए समाज महत्वपूर्ण है (सिंधी, एन०के०: 2004)। अतः आप यहाँ स्व व समाज को मीड के विचारों की दृष्टि से समझ गये होंगे।

बोध प्रश्न-2

i) मैं और मुझे की धारणा से क्या तात्पर्य है

.....

.....

.....

.....

.....

ii) सामाजिक संबंधों में कौन से दो तत्व पाये जाते हैं

.....

.....

.....

.....

.....

iii) मीड के योगदान को स्व व समाज संदर्भ में संक्षिप्त में समझाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

20.6 सारांश

इस इकाई में आपने स्वयं व समाज के बारे में जाना है। कि किस प्रकार मीड स्वयं व समाज के बारे में विचार करके इसे समझाते हैं मीड ने स्व व समाज संबंधी अपने विचार **“Mind, Self and Society”** नामक अपनी कृति में प्रकट किये हैं। मीड ने इस विचार का प्रतिपादन किया कि स्व एक सामाजिक इकाई है। जो कि सामाजिक अन्तक्रिया के माध्यम से निर्मित होती है। व्यक्ति समाज के माध्यम से मूल्यों और विचारों को आत्मसात करते है। इन मूल्यों को वह अपने स्वप्रत्यक्षण का इस प्रकार अंग बना देता है कि उपयुक्त अवसरों पर वे सहज भाव से उभरते है और उपयुक्त भावनाओं के निर्माण के आधार पर उपयुक्त क्रिया कराने में मदद करते हैं। मनुष्य का स्व होता है जो कि समाजीकरण की प्रक्रिया में निर्मित होता है। स्व के अन्तर्गत इगो, स्वबोध व सावयवी होते है। इसके माध्यम से व्यक्ति स्वयं की क्रिया के लिए वस्तु बन जाता है। वह स्वयं से ऐसे क्रिया कर सकता है जैसे किसी अन्य से करता है। अतः स्व विषय व वस्तु दोनों ही बन जाता है। यह अन्तर उसे जानवर से अलग करता है। व्यक्ति में अनेक स्व हो जाते है। स्व की कोई स्थायी संरचना नहीं होती है। उसकी अंतक्रियाओं में गत्यात्मकता होती है। हालांकि उसके व्यवहार में एक सीमा तक एकरूपता भी होती है। मीड ने मैं और मुझे का भेद करके यह स्पष्ट किया कि मैं पूर्णरूपेण सामाजिक नहीं होता है। न ही वह पूर्ण निष्क्रिय अथवा स्वचालित होता है। मैं स्थिति विश्व को परिवर्तित करता है। व्यक्ति हर स्थिति में विश्व को अपने ढंग से परिभाषित व निर्मित करता है। वह सीमित होता है। इस दृष्टि से हर क्रिया में एक तरह की मौलिकता है। मुझे सामाजिक स्व है मैं आन्तरिक वास्वविक स्व है। मुझे में सामाजिक नियन्त्रण है वह मानदण्डों से निर्मित है एवं संचालित है। संगठित समुदाय व्यक्ति के स्व को एकता प्रदान करता है। जिसे सामान्यीकृत अन्य के आधार पर समझा जा सकता है। मीड यह मानते है कि ‘स्व’ के जन्म के बाद ही व्यक्ति सामाजिक अनुभव करता है। मीड ने उस प्रक्रिया का भी उल्लेख किया है जिसके द्वारा ‘स्व’ का विकास होता है और व्यक्ति तब दूसरों के विचारों को ग्रहण करता है। जन्म के समय बच्चा एक जैविकीय व्यक्ति होता है, जिसमें बुद्धि का अभाव होता है। अतः वह आन्तरिक प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही क्रियायें करता है। धीरे-धीरे परिवार एवं अन्य समूहों के सम्पर्क के कारण बच्चे को यह समझ पैदा होने लगती है कि उससे लोग किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा करते हैं और उसके व्यवहारों का क्या अर्थ लगाया जाता है। इस प्रकार बच्चे का ‘स्व’ व्यवहार से प्रभावित होने लगता है। इसे ही वह ‘सामान्यकृत अन्य (Generalized others)’ कहता है सामान्यकृत अन्य का अर्थ है कि – किसी व्यक्ति की स्वयं के बारे में वह धारणा जो दूसरे लोग उसके बारे में रखते है। मीड ने बताया कि व्यक्ति में आत्म-चेतन का विकास किस प्रकार से होता है, मैं (I) तथा मुझे (Me) शब्दों का प्रयोग किया है। ‘मैं’ और मुझे में अन्तः क्रिया के कारण ही ‘स्व’ का विकास होता है। प्रारम्भ में

ये दोनों धारणाएं एक-दूसरे से अलग होती हैं, किन्तु परिवार एवं समाज के सम्पर्क के कारण उनमें समानता स्थापित होने लगती है और वे एक ही चीज के दो पहलू हो जाते हैं। अनुकरण, संकेत व भाषा के माध्यम से बच्चा दूसरों के व्यवहारों को ग्रहण करता है और उसमें विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं को निभाने की क्षमताएं पैदा हो जाती हैं। जिसको मीड आत्म का विकास कहता है। इसप्रकार आप इस इकाई में स्व व समाज के संबंध को भली भांति जान गये होंगे।

20.7 पारिभाषिक शब्दावली

स्व— स्व वह धारणा है जो कि व्यक्ति समाज में संपर्क करके अन्तक्रिया करता है और सामाजिक संबंधों के आधार पर अपनी राय बनाता है कि वह समाज रूपी आईने में अपने आपको देखकर कैसा महसूस करता है— अच्छा या बुरा। मैं और मुझे की धारणा द्वारा वह अपना स्व का विकास करता है। जिससे उसका आत्म का विकास होता है। और वह अपनी अंतक्रियाओं को दूसरों द्वारा आकलन करके तय करता है।

अन्तक्रिया— कोई क्रिया जिसमें एक कर्ता की क्रिया से दूसरे कर्ता की क्रिया में अथवा उसमें परिवर्तन उत्पन्न होता है, तब वह अन्तक्रिया कहलाती है।

प्रतीक/संकेत— सामान्य अर्थों में कोई क्रिया या वस्तु जो किसी अन्य क्रिया, वस्तु या विचार का प्रतिनिधित्व करती है वो प्रतीक कहलाती है। अधिक विशिष्ट रूप में संस्कार, स्वप्न या मिथक के शब्दार्थ के क्षेत्रों में अति लघु अर्थ इकाई को प्रतीक कहा जाता है। मनोविश्लेषण में किसी दमित अचेतन इच्छा को प्रतिनिधित्व करने वाला व्यवहार या वस्तु को प्रतीक कहा जाता है।

प्रतीकात्मक अन्तक्रिया— भाषा अथवा संकेतात्मक भाव भंगिमाओं पर आधारित संप्रेषण एवं अन्तक्रिया के विशिष्ट रूप को प्रतीकात्मक अन्तक्रिया कहते हैं। यह मानव व्यवहार की एक विशिष्टता है। मानव का संपूर्ण सामाजिक जीवन संप्रेषण की इस विशिष्टता पर आधारित है।

परिवर्तन— किसी भी वस्तु में दो समय में होने वाली भिन्नता ही परिवर्तन कहलाती है।

समाजीकरण — समाजीकरण सीखने की एक आजन्म प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह अथवा समाज की समय व स्थान सापेक्ष सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है जिससे वह समाज का क्रियाशील सदस्य बन सके। समाजीकरण द्वारा बच्चा सामाजिक प्रतिमानों को सीखकर उनके अनुरूप आचरण करता है इससे समाज में नियन्त्रण बना रहता है।

मैं तथा मुझे — मैं का अर्थ व्यक्ति द्वारा दूसरों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार से है, तथा मुझे का अर्थ है व्यक्ति द्वारा किये गये व्यवहार पर दूसरों की प्रतिक्रिया जिसे व्यक्ति आन्तरीकृत करता है।

सामान्यकृत अन्य – किसी व्यक्ति की स्वयं के बारे में वह धारणा जो दूसरे लोग उसके बारे में रखते हैं।

20.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

i) जी० एच० मीड

ii) कोई क्रिया जिसमें एक कर्ता की क्रिया से दूसरे कर्ता की क्रिया में अथवा उसमें परिवर्तन उत्पन्न होता है, तब वह अन्तक्रिया कहलाती है। तथा इस क्रिया को सामाजिक क्रिया तभी कहा जा सकता है जबकि इस क्रिया को करने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा लगाए गए व्यक्तिनिष्ठ अर्थ अर्थात् प्रातीतिक अर्थ के कारण यह क्रिया दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार द्वारा प्रभावित हो और उसी के अनुसार उसकी गतिविधि निर्धारित हो।

iii) स्व मौलिक रूप से एक सामाजिक संरचना है और यह सामाजिक अनुभवों के कारण पैदा होता है।

iv) फेयरचाइल्ड के अनुसार, समाज व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो अपने बहुत से प्रमुख हितों, जिनमें अनिवार्य रूप से स्वयं की रक्षा या भरण पोषण तथा स्वयं को स्थायित्व प्रदान करना सम्मिलित है को पूरा करने के लिए सहयोग करते हैं।

बोध प्रश्न-2

i) मीड ने व्यक्ति में आत्म-चेतन को स्पष्ट करने के लिए मैं (I) तथा मुझे (Me) शब्दों का प्रयोग किया है। मैं का अर्थ व्यक्ति द्वारा दूसरों की प्रति किये जाने वाले व्यवहार से है, तथा मुझे का अर्थ है व्यक्ति द्वारा किये गये व्यवहार पर दूसरों की प्रतिक्रिया जिसे व्यक्ति आन्तरीकृत करता है। 'मैं' और मुझे में अन्तः क्रिया के कारण ही 'स्व' का विकास होता है।

ii) सामाजिक संबंधों में दो तत्व आवश्यक रूप से पाये जाते हैं- पारस्परिक जागरूकता व सामान्य जीवन में भागीदार होने की भावना।

iii) मीड ने समाजशास्त्र में कई प्रमुख सिद्धान्त दिये हैं। जिसमें स्व व समाज के संबंध में उन्होंने अपनी पुस्तक "Mind Self and Society" में बताया कि व्यक्ति ही समाज का निर्माता है जिसमें दिमाग और 'स्व' होता है। जन्म के समय बच्चा एक जैविकीय व्यक्ति होता है। धीरे-धीरे परिवार एवं अन्य प्राथमिक व द्वितीयक समूहों के सम्पर्क के कारण बच्चा यह समझने लगता है कि उससे लोग किस प्रकार के व्यवहार

की अपेक्षा करते हैं और उसके व्यवहारों का क्या अर्थ लगाया जाता है। इस प्रकार बच्चे का 'स्व' व्यवहार से प्रभावित होने लगता है। इसे ही वह 'सामान्यकृत अन्य (Generalized others) कहता है। वह अपना स्व का विकास, समाज में अन्तर्क्रियाओं व उनके व्यवहार द्वारा निर्धारित करता है।

20.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Young, Kimball, (1946) *Hand book of social psychology*, Kegan Paul, California
- Aron, Raymond, (1970) *Main currents in sociological thought*, vol.1 & 2, Penguin books, London
- Bottomore, T.B., (1969) *Sociology: A guide to problem and literature*, Allen and Unwin, London
- Johnson, Harry M, (1960), *Sociology*, Allied Publ., New Delhi
- Mead, G.H. (1934) *Mind, Self and Society*, The University of Chicago press, Chicago
- गुप्ता एवं शर्मा, (2006) *समाजशास्त्र*, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- मुकर्जी, आर०एन०, (2002) *समकालीन उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त*, विवेक प्रकाशन, दिल्ली
- सिंधी, नरेन्द्र कुमार (2004) *समाजशास्त्रीय सिद्धान्त— विवेचना एवं व्याख्या* दिल्ली
- कोजर लेविस ए 1971 *मास्टर्स ऑफ सोशियोलॉजिकल थॉट : आइडियाज इन हिस्टोरिकल एण्ड सोशल कॉन्टेक्स्ट*, हरकोर्ट ब्रेस जोवैनोविश्व : न्यूयार्क

20.10 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

- Coser, Lewis A, (1996) *Masters of Sociological Thought*, Rawat publication, Jaipur
- Mead, G.H., "A behavioristic account of the significant symbol" *Journal of philosophy*, vol.19, p.160
- Giddens, Anthony, (1993) *Sociology*, Polity press, Cambridge
- Mitchell, G Duncan, (1979) *A New Dictionary of Sociology*, Routledge & Kegan Paul, London
- Huebner, Daniel (2014), *Becoming Mead*, the University of Chicago press, Chicago
- सिंह, जे० पी०, (2008) *समाजशास्त्र—अवधारणाएं एवं सिद्धान्त*, पीएचआई लर्निंग नई दिल्ली

20.11 निबंधात्मक प्रश्न

5. अन्तर्क्रिया से आप क्या समझते हैं, इसकी विस्तार से व्याख्या कीजिए ?
6. प्रतीको का अर्थ स्पष्ट करते हुये सामाजिक अन्तर्क्रिया का वर्णन कीजिए ?
7. स्व व समाज के संदर्भ में मीड के विचारों की व्याख्या कीजिए ?
8. मीड के सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए ?

इकाई 21— समाजीकरण (Socialization)

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 समाजीकरण का अर्थ, परिभाषा एवं उद्देश्य

21.3 समाजीकरण के स्तर एवं प्रक्रिया

21.4 समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण

21.5 समाजीकरण के प्रमुख सिद्धांत

21.5.1 कूले का सिद्धांत

21.5.2 मीड का सिद्धांत

21.5.3 फ़ायड का सिद्धांत

21.5.4 दुर्खीम का सिद्धांत

21.6 सारांश

21.7 पारिभाषिक शब्दावली

21.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

21.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

21.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

21.11 निबंधात्मक प्रश्न

21.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा—

- समाजीकरण के अर्थ एवं परिभाषा को समझना,

- समाजीकरण एक आजन्म प्रक्रिया है इसके उद्देश्यों को जानना,
- समाजीकरण के प्रमुख स्तर एवं प्रक्रिया को समाज संदर्भ में समझना,
- समाजीकरण के प्रमुख अभिकरणों को जानना,
- समाजीकरण के प्रमुख सिद्धांतों को समाज संदर्भ में समझना।

21.1 प्रस्तावना

इस प्रस्तुत इकाई में आपको समाजीकरण के बारे में समझाया जायेगा कि किस प्रकार मानव शिशु जन्म से लेकर मृत्यु तक उसका समाजीकरण होता है। समाजीकरण एक आजन्म समय व स्थान सापेक्ष सीखने की प्रक्रिया है जिसमें उसे एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति से परिचित कराया जाता है और इस आजन्म प्रक्रिया में व्यक्ति को अपने समूह एवं समाज के मूल्यों, जनरीतियों, लोकाचारों, आदर्शों एवं सामाजिक उद्देश्यों को सीखता है। समाज के संपर्क से मानव का समाजीकरण होता है और वह समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है। सामाजिक संपर्क के अभाव में मानव की शरीर रचना कितनी ही सुन्दर क्यों न हो वह विकसित नहीं हो सकती। समाजीकरण के द्वारा ही शरीर रचना सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करने एवं उनसे अनुकूलन करने की क्षमता का विकास कर पाती है। इस इकाई में आगे समाजीकरण को स्पष्ट करते हुये इसके स्तर एवं प्रक्रिया तथा समाजीकरण किन प्रमुख संस्थाओं द्वारा होता है उससे परिचित कराया जायेगा साथ ही समाजीकरण के प्रमुख सिद्धांतों के बारे में भलिभांति आपको जानकारी दी जायेगी, जिससे आप समाजीकरण को समाज संदर्भ में समझ सकें।

21.2 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

यहा पर हम आपको समाजीकरण के अर्थ एवं परिभाषा के बारे में अवगत करायेगें कि किस प्रकार समाज में मानव शिशु का जन्म से लेकर मृत्यु तक समाजीकरण होता है। समाजीकरण एक आजन्म प्रक्रिया है। जैसे मानव में भाषा का प्रयोग करने की क्षमता होती है जो समाज के संपर्क के कारण ही व्यक्ति समाज के रीति-रिवाजों, प्रथाओं, मूल्यों, विश्वासों, संस्कृति एवं सामाजिक गुणों को सीखता है और एक सामाजिक प्राणी का दर्जा प्राप्त करता है। सामाजिक सीख की इस प्रक्रिया को समाजीकरण कहते हैं समाजीकरण की प्रक्रिया प्राणीशास्त्रीय प्राणी को सामाजिक प्राणी में बदल देती है। समाजशास्त्र में समाजीकरण नामक अवधारणा का प्रयोग उन प्रक्रियाओं के लिए किया जाता है जिनके द्वारा व्यक्ति को सामाजिक-सांस्कृतिक संसार से परिचित कराया जाता है। इस प्रक्रिया में संस्कृति को एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित

किया जाता है इसमें व्यक्ति अपने समूह एवं समाज के मूल्यों, जनरीतियों, लोकाचारों, आदर्शों एवं सामाजिक उद्देश्यों को सीखता है। समाजीकरण को विभिन्न विद्वानों ने परिभाषित किया है—

टालकॉट पारसनस के अनुसार, व्यक्ति द्वारा सामाजिक मूल्यों को सीखने और उन्हें आन्तरीकृत करने को ही समाजीकरण कहते हैं।

हेनरी जॉन्सन के अनुसार, समाजीकरण एक प्रकार की सीख है जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य को करने के योग्य बनाती है।

हारालाम्बोस के अनुसार, वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्ति अपने समाज की संस्कृति को सीखते हैं समाजीकरण के नाम से जानी जाती है।

ग्रीन के अनुसार, समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्मपन और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति, समूह में एक क्रियाशील सदस्य बनता है, समूह की कार्यविधियों से समन्वय स्थापित करता है, उसकी परम्पराओं का ध्यान रखता है और सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन करके अपने साथियों के प्रति सहनशक्ति की भावना विकसित करता है।

अतः उपरोक्त उल्लेखित परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजीकरण सीखने की एक आजन्म प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह अथवा समाज की समय व स्थान सापेक्ष सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है जिससे वह समाज का क्रियाशील सदस्य बन सके। समाजीकरण द्वारा बच्चा सामाजिक प्रतिमानों को सीखकर उनके अनुरूप आचरण करता है इससे समाज में नियन्त्रण बना रहता है। अब हम समाजीकरण के उद्देश्यों के बारे में बात करते हैं।

समाजीकरण के उद्देश्य—

ब्रूम तथा सेजनिन ने समाजीकरण के संदर्भ में **चार प्रमुख उद्देश्यों** का उल्लेख किया जो कि निम्न है—

अ) आधारभूत नियमबद्धता का विकास— समाजीकरण का उद्देश्य समाज के भावी लक्ष्यों और सामाजिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुये व्यवहार करना सीखना होता है। मानव की प्राकृतिक प्रेरणाएं उसे नियमहीन व्यवहार करने को प्रोत्साहित करती है लेकिन समाजीकरण के द्वारा उसको नियमबद्धता और

अनुशासन में रहना सीखाया जाता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति तत्काल ही करने पर जोर नहीं देती अपितु परिस्थिति के अनुसार लक्ष्यों को आगे के लिए स्थगित करना, छोड़ देना अथवा संशोधित करना भी सिखाती है।

ब) आंकाक्षाओं की पूर्ति—समाजीकरण नियमबद्धता के साथ ही आंकाक्षाओं की पूर्ति भी करता है, अनुशासन व्यक्ति को कोई पुरस्कार नहीं देकर आंकाक्षाओं की पूर्ति में सहायक होता है। समाज सामान्य सांस्कृतिक मूल्यों का ही संचारण नहीं करता है वरन विशिष्ट आंकाक्षाओं भी पैदा करके व्यक्ति का समाजीकरण करता है। जैसे— धर्म कुछ लोगों में पुरोहित बनने की इच्छा पैदा करता है।

स) सामाजिक भूमिकाओं को निभाने की सीख— समाजीकरण द्वारा व्यक्ति को अपनी सामाजिक भूमिका निभाने और उससे संबन्धित अभिवृत्तियों को सीखाने का कार्य भी किया जाता है। समूह की सदस्यता की मांग है कि व्यक्ति सामान्य योग्यता के साथ—साथ विशिष्ट भूमिकाओं को निभाने की योग्यता भी प्राप्त करें। व्यक्ति समाज में अनेक पद ग्रहण करता है तो कई लोगों के संपर्क में वह आता है प्रत्येक परिस्थिति के अनुसार व्यक्ति को एक विशेष प्रकार की भूमिका निभानी होती है जो समाजीकरण के द्वारा ही सीखी जाती है।

द) क्षमताओं का विकास— समाजीकरण का उद्देश्य व्यक्ति में ऐसी क्षमताओं को पैदा करना होता है जिससे कि वह अपने को समाज के अनुकूलन बना ले। सरल समाजों के परम्परागत व्यवहार पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं और सामान्यतः अनुकरण के द्वारा उन्हें सीखा एवं दैनिक जीवन में प्रयोग में लाया जाता है किन्तु उच्च तकनीकी ज्ञान से परिपूर्ण समाजों में औपचारिक शिक्षा द्वारा सामाजिक क्षमताओं का विकास करना समाजीकरण का प्रमुख कार्य है।

अतः आप यहाँ पर समाजीकरण के अर्थ, परिभाषा एवं उद्देश्य से भलिभाति परिचित हो गये होंगे। अब हम आपको समाजीकरण के स्तर एवं प्रक्रिया के बारे में बताते हैं।

21.3 समाजीकरण के स्तर एवं प्रक्रिया

समाजीकरण के स्तर एवं प्रक्रिया—

गुप्ता एवं शर्मा (2014) समाजीकरण की प्रक्रिया बच्चे के जन्म के बाद से ही प्रारम्भ हो जाती है। पारसन्स कहते हैं कि बच्चा उस पत्थर के समान है जिसे जन्म के समय सामाजिक तालाब में फेंक दिया जाता है जिसमें रहकर वह अपना समाजीकरण करता है और समाज का अंग बन जाता है। मानव शरीर की रचना अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है विकसित मस्तिष्क केन्द्रित की जाने वाली दृष्टि घुमायी जा सकने वाली गर्दन हाथ

की रचना और अंगूठे की विशिष्ट स्थिति आदि के कारण मानव में ही सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण की क्षमता है उसकी इसी विशिष्ट संरचना के कारण ही उसमें सीखने के गुण पाये जाते हैं और सामाजिक सीख के द्वारा वह अपने व्यक्तित्व का विकास करता है सीखने का कार्य केवल समाज में ही संभव है। बच्चे का मस्तिष्क इतना कोमल होता है कि उसे किसी भी दिशा में मोड़ा जा सकता है। विभिन्न समयों व स्तरों में बच्चा विभिन्न प्रकार की बातें सिखता है और यह कार्य परिवार, पड़ोस, मित्र मंडली, स्कूल व द्वितीयक संस्थाओं द्वारा किया जाता है। समाजीकरण का कार्य विभिन्न स्तरों व सोपानों में होता है जिनका उल्लेख विभिन्न विद्वानों ने निम्न किया है—

1. मौखिक अवस्था—

इस अवस्था में शिशु अपना सुख दुख मुंह के माध्यम से व मुंह के हाव भाव से प्रकट करता है इसलिए इसे मौखिक अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में बच्चा अपनी मां के संपर्क में रहता है। जब गर्भ में भ्रूण गर्म और आरामपूर्वक रहता है। जन्म के समय शिशु प्रथम संकट का सामना करता है, उसे सांस लेनी होती है पेट भरने के लिए काफी श्रम करना पड़ता है, उसे सर्दी गीलेपन और अन्य असुविधाओं से पीडा होती है वह रोता व चिल्लाता है, समाजीकरण का यह प्रथम चरण है जिसमें बच्चा मौखिक रूप से दूसरों पर निर्भर है। इस सोपान की अवधि लगभग एक डेढ़ वर्ष तक की होती है। पारसन्स कहते हैं कि परिवार के अन्य सदस्यों के लिए बच्चा एक संपदा से थोड़ा अधिक होता है इस अवस्था में बच्चा अपनी व अपनी मां की भूमिका में अन्तर नहीं कर पाता है। वह अपनी मां को पृथक नहीं समझता है इसमें माता और शिशु परस्पर मिले रहते हैं इस स्थिति को फ्रायड प्राथमिक परिचय कहते हैं।

2, शौच अवस्था —

यह समाजीकरण की दूसरी अवस्था है जिसमें यहाँ आयु लगभग डेढ़-दो वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर तीन चार वर्ष की आयु तक चलती है। इस अवस्था में बच्चे से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने आपको थोड़ा बहुत स्वयं संभाले। इस अवस्था में उसे शौच प्रशिक्षण दिया जाता है। साथ ही हाथ साफ करना, कपड़े मैले न करना आदि की भी उसे शिक्षा दी जाती है। इस अवस्था में बच्चा अपनी और अपनी मां की भूमिका को आन्तरीकृत करता है। सही व्यवहार करने पर उसे मां से प्यार और गलत व्यवहार करने पर दण्ड मिलता है। इस अवस्था में बच्चे के लिए वह साधक नेता के रूप में होती है। वह बच्चे को अपने परिवार व समाज के सामान्य मूल्यों से परिचित करवाती है तथा प्रेम भाव द्वारा उसे सीखाती चली जाती है। इसमें बच्चा परिवार व अन्य सदस्यों के संपर्क में आकर प्यार, क्रोध, स्नेह, विरोध और सहयोग के अनुसार अपने को ढालना सीखता है जिससे बच्चे में व्यक्तित्व के विविध गुण उत्पन्न होते हैं। समाजीकरण की इस अवस्था में बच्चे को दूध छुडाते समय, शौच प्रशिक्षण देते समय तथा उसे कष्ट उठाते देखकर मां को आनन्द नहीं मिलता, फिर भी उसके अन्तिम परिणामों को सोचकर वह अपने को सान्त्वना देती है। माता

की दुहरी भूमिका होने के कारण वह कुछ हद तक बालक को परिवार के अन्य सदस्यों के दबाव से बचा पाती है और वह अपनी भावात्मक भूमिका निभाती है इस अवस्था में बच्चा थोड़ा बहुत बोलने व चलने फिरने लगता है और उसके सामाजिक संबन्धों का विकास हो जाता है क्योंकि वह अब मां के अतिरिक्त अन्य सदस्यों के संपर्क में भी आता है।

3. इडिपल या तादात्म्यीकरण अवस्था—

यह अवस्था लगभग चार वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर बारह—तेरह वर्ष की आयु तक चलती है। इसमें बच्चा पूरे परिवार का सदस्य हो जाता है। इस अवस्था में वह यौनिक भेद देख लेता है उसे इसके बारे में थोड़ा ज्ञान होता है लेकिन उसे इसका पूरा ज्ञान नहीं होता है। धीरे-धीरे उसमें यौन भावना अव्यक्त रूप से विकसित होने लगती है। बच्चे से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने लिंग के अनुसार अपने को ढाले। बच्चे को दिये जाने वाले खिलौने व वस्त्र उनके लिंग के अनुसार ही तय होते हैं। जिससे बच्चा लिंगभेद करना सीखता है। और अपने हमजोलियों के समूह में जाता है।

जानसन ने सफल तादात्म्य के लिए निम्न परिस्थितियों का होना बताया है— 1. लड़के को पिता व लड़की को मां का पूरा स्नेह मिले, 2. बच्चा परिवार या समूह में जिस सदस्य को अपना आदर्श मानता है उसका बच्चे से धनिष्ठ संबन्ध हो, 3. अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति विशेष रूप से माता लड़के को अपने पिता को आदर्श मानने के लिए प्रोत्साहित करे, 4. पिता का मा से सम्मानपूर्ण व्यवहार हो। जानसन कहते हैं कि ये परिस्थितिया बच्चे में भावात्मक सुरक्षा उत्पन्न करेंगी और उसे कुण्डा तथा तनावों से बचायेगी जो कि सफल समाजीकरण के लिए आवश्यक है। तादात्म्यीकरण स्थापना दो रूपों में होती है— एक सामाजिक भूमिका से तादात्म्यीकरण और दूसरा सामाजिक समूह से तादात्म्यीकरण। सामाजिक भूमिका से तादात्म्यीकरण करने के लिए वह अपनी भूमिका को आन्तरीकृत करता है। उससे संबन्धित योग्यता को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जैसे— बालक पिता, भाई, संबन्धियों तथा परिवार के अन्य सदस्यों की आशाओं के अनुरूप भूमिका निभाना सीखता है। समूह से तादात्म्यीकरण करने के लिए वह परिवार, अपने लिंग के साथियों, स्कूल के साथियों व मित्रों के अनुरूप कार्य करता है।

4. किशोरावस्था— किशोरावस्था भारी तनाव का काल होती है। यह अवस्था प्रायः यौवनारम्भ के समय से शुरू हो जाती है जिसमें युवा बालक अथवा बालिका अपने माता पिता के नियन्त्रण से अधिकाधिक स्वतन्त्रता चाहते हैं विशेष रूप से यौन संबन्धी गतिविधियों में। क्योंकि बालक या बालिका के शरीर में कुछ स्वष्ट शारीरिक परिवर्तन होने लगते हैं। इन शारीरिक परिवर्तनों के कारण किशोर के मन में एक तरफ स्वतन्त्रता की कामना तीव्र होती जाती है तथा दूसरी ओर वह स्वतन्त्रता से भयभीत होने लगता है। वह जीवन साथी का चुनाव और अपने व्यवसाय का चुनाव आदि के निर्णय उसे स्वयं ही लेने हो तो उसके सामने दुविधा अवश्य आ जाती है क्योंकि उसके बाद उसे नयी स्थिति के अनुसार नये कार्य करने होते हैं।

उससे यह अपेक्षा भी की जाती है कि वह निर्णय करते समय पारिवारिक परम्पराओं और सांस्कृतिक मूल्यों को ध्यान में रखे। किशोर पर लगाये गये इस प्रकार के नियन्त्रण उसके मनोभावों के अनुकूल होते हैं जिससे तनाव बराबर बना रहता है। किशौरावस्था में बच्चा परिवार के अतिरिक्त पड़ोस, विद्यालय, खेल के साथियों और नवागन्तुकों के संपर्क में आता है इन सभी के विचारों एवं व्यवहारों से उसे समायोजन करना होता है। वह अपनी संस्कृति के अनेक निषेधों एवं यौन संबन्धी निषेधों का पालन करना सीखता है। इस अवस्था में उसे अनेक नयी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है और उसे कई नये-नये अनुभव होते हैं। कई समाजों में तो किशोर को आर्थिक क्रियाओं में भी भाग लेना होता है। अपने आर्थिक जीवन में सफलता बहुत कुछ उसके समाजीकरण पर निर्भर है। इस अवस्था में सांस्कृतिक मूल्यों एवं व्यक्तिगत अनुभवों के द्वारा किशोर में आत्म नियंत्रण की क्षमता पैदा होती है।

5. युवावस्था— युवावस्था में व्यक्ति को अनेक नये पद प्राप्त होते हैं और उनसे संबन्धित भूमिकाओं को उसे निभाना होता है। उसे एक पति, पिता, दामाद, अधिकारी आदि की प्रास्थितियां प्राप्त होती हैं और उनके अनुरूप भूमिकाएं भी निभानी होती हैं। इस अवस्था में वह परिवार तथा वाहय जगत में कई महत्वपूर्ण दायित्वों को निभाता है कभी कभी उसे भूमिका संघर्ष की स्थिति का सामना करना पड़ता है।

6. प्रौढावस्था— प्रौढावस्था में व्यक्ति पर सामाजिक दायित्व और बढ़ जाते हैं उस पर अपने बच्चों की शिक्षा दीक्षा एवं विवाह आदि का भार पड़ता है उसे मां बाप के रूप में एवं आफिस में वरिष्ठ अधिकारी या सेवक के रूप में नये उत्तरदायित्व संभालने होते हैं।

7. वृद्धावस्था— वृद्धावस्था में व्यक्ति में शारीरिक, मानसिक व सामाजिक दृष्टि से कई परिवर्तन आ जाते हैं अब वह दादा, परदादा, श्वसुर, नाना आदि के रूप में कई नये पद ग्रहण करता है और उसके अनुरूप भूमिका भी निभाता है अगर नौकरी करता है तो वह सेवानिर्वत होकर नयी जीवन शैली में नयी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है और पीढीगत चुनौतियों का भी सामना करना पड़ता है। अतः व्यक्ति का समाजीकरण आजन्म चलता है। आप यहा पर समाजीकरण के सोपानों को समक्ष गये होंगे।

बोध प्रश्न-1

i) समाजीकरण का क्या अर्थ है ?

.....

.....

ii) समाजीकरण की कोई एक परिभाषा लिखिए ?

.....

.....

.....

iii) समाजीकरण प्रक्रिया का एक प्रमुख उद्देश्य लिखिए ?

.....

.....

.....

iv) समाजीकरण के प्रमुख स्तरों को लिखिए ?

.....

.....

.....

v) किस विद्वान ने समाजीकरण को 'समाज के नियमों के अनुसार सीख' के रूप में परिभाषित किया है ?

.....

.....

.....

vi) समाजीकरण की प्रक्रिया में सर्वाधिक योगदान होता है

अ) परिवार

ब) पड़ोस

स) नातेदारी

द) विद्यालय संस्था

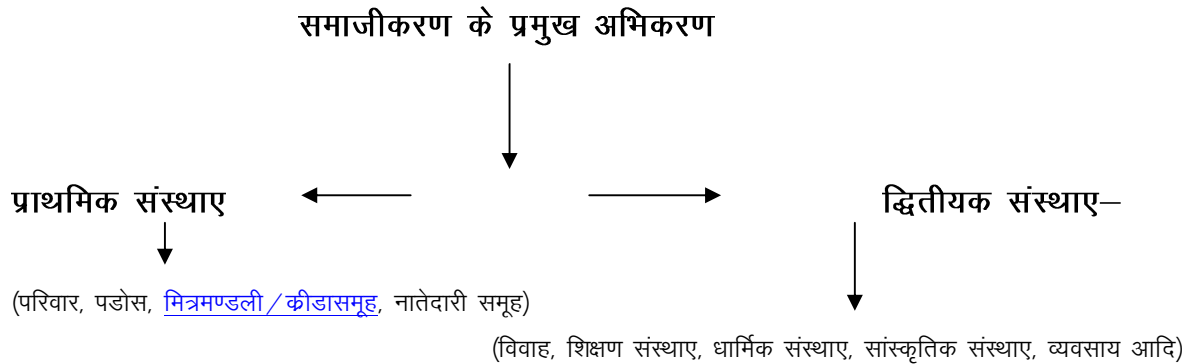
हाँ/ नहीं बताइए ?

vii) क्या समाजीकरण की प्रक्रिया आजन्म प्रक्रिया है ?

21.4 समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण

समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण

मानव के समाजीकरण की प्रक्रिया आजन्म चलती रहती है इस प्रक्रिया में अनेक प्राथमिक व द्वितीयक संस्थाओं का योगदान होता है जिससे उसका समाजीकरण सही दिशा में हो सके। मानव समय समय पर अनेक बातें अपने जीवन में सीखता चला जाता है। विभिन्न विद्वानों द्वारा समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण निम्न बताए गये हैं—



समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण का उल्लेख निम्न है—

- | | |
|--|---|
| <ol style="list-style-type: none"> 1. परिवार 2. पड़ोस 3. कीड़ा समूह 4. नातेदारी समूह 5. विवाह | <ol style="list-style-type: none"> 6. शिक्षण संस्थाए 7. धार्मिक संस्थाए 8. आर्थिक संस्थाए 9. राजनीतिक संस्थाए 10. व्यवसाय समूह आदि |
|--|---|

उपरोक्त का विवरण निम्न प्रकार से है—

1. **परिवार**— परिवार का बच्चे का समाजीकरण करने में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि बच्चा परिवार के संपर्क में ही सबसे पहले आता है। परिवार में ही उसे समाज के रीतिरिवाजों, लोकाचारों, प्रथाओं व संस्कृति का ज्ञान होता है साथ ही पति— पिता, पत्नी —माता, पुत्र— भाई व पुत्री—बहिन आदि का

ज्ञान होता है। परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है। जैल्डिज ने छप्पन समाजों का मानवशास्त्रीय अध्ययन करके समाजीकरण में माता एवं पिता की भूमिका का उल्लेख किया और कहा कि माता – भावात्मक नेतृत्व व पिता– साधक नेतृत्व प्रदान करते हैं। पिता से बच्चा खेत व्यवसाय व नौकरी आदि के बारे में ज्ञान करता है और माता से घर आदि भावात्मक चीजें सीखता है जब पिता किसी गलत बात के लिए बच्चे को दण्ड देता है तो उस समय मां भावात्मक लगाव रखकर उसका समाजीकरण करती है। इस प्रकार बच्चे पर मां व पिता का प्रभाव सर्वाधिक पडता है। परिवार के अन्य सदस्य जैसे– भाई व बहनों का भी बच्चे के समाजीकरण पर गहरा प्रभाव पडता है। सदस्यों के पारस्परिक प्रेम, सहयोग, त्याग, अधिकार, बलिदान, सेवा, भाषा व आदर्श आदि से बच्चे में भी सदगुण जन्म लेते हैं। अधिकार व दायित्व बच्चा परिवार में ही सीखता है। परिवार में जो कुछ बच्चा सीखता है वह उसके जीवन की स्थायी पूंजी होती है। लेकिन अगर परिवार विघटित है तो उसका बच्चे पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। अतः परिवार ही सर्वप्रथम बच्चे के समाजीकरण में महत्वपूर्ण है। अतः कहा जा सकता है कि परिवार शिशु की प्रथम पाठशाला है।

2. क्रीडा समूह—

परिवार के बाद बच्चे का संपर्क क्रीडा समूह से होता है वह अपने मित्रों के साथ खेलता है, हँसता है, बोलता है और कभी कभी समूह में लडाई भी करता है। क्रीडा के दौरान वह कभी जीतता है तो वह कभी हारता है। इस दौरान वह समूह के साथ अनुकूलन करना सीखता है कि दुसरो के साथ वह कैसा व्यवहार करे। अपनी प्रशंसा व अपनी अवहेलना भी सुनना सीखता है। इस प्रकार क्रीडा समूह की प्रक्रिया समाजीकरण की प्रक्रिया को सफल बनाने में सहायक होती है। रिजमैन कहते हैं कि खेल समूह वर्तमान समय में समाजीकरण करने वाला एक महत्वपूर्ण समूह है क्योंकि आजकल व्यक्ति मार्ग दर्शन एवं दिशानिर्देश के लिए अपने हम उम्र के लोगों पर अधिक निर्भर करता है इसलिए व्यक्ति अपने निर्णयों के लिए मित्रों की सलाह को अधिक महत्व देता है।

3. **पडोस—** समाजीकरण में बच्चे के पडोस का महत्वपूर्ण स्थान होता है बच्चा जब चलना फिरना जान जाता है तो वह पडोस में भी जाना शुरू करता है पडोस के सदस्यों के द्वारा वह प्यार स्नेह व्यवहार करना सीखता है बच्चे अनजाने में ही पडोस से कई बातें सीख जाते हैं जैसे बच्चे के व्यवहार व प्यार द्वारा उसकी पडोस से प्रशंसा व निन्दा भी होती है जिससे उसके समाजीकरण में आचरण की भावना पैदा होती है।
4. **नातेदारी समूह—** समाजीकरण में नातेदारी का स्थान महत्वपूर्ण होता है। व्यक्ति की नातेदारी दो संबंधों— रक्तसंबन्धी व वैवाहिक संबन्धी होती है। इसमें बच्चा माता–पिता, चाचा–चाची, दादा दादी, भाई–बहिन आदि रिश्तों को जानकर उनके प्रति कैसे व्यवहार किया जाता है उसको सीखता है।

तथा वैवाहिक नातेदारी में मामा-मामी, मौसी, नाना नानी आदि जो नातेदारी होती है उनको जानकर उनके प्रति अपनी अपेक्षा व व्यवहार को सीखता है। किसी नातेदारी में घनिष्ठ व हंसी मजाक संबंध व किसी नातेदारी में परिहार संबंध होते हैं। अतः नातेदारी भी बच्चे के अच्छे समाजीकरण में अगर सही दिशा की ओर अपने कर्तव्य करे तो बच्चे का समाजीकरण अच्छा होता है।

5. **विवाह**— विवाह का भी व्यक्ति के समाजीकरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। विवाह के बाद लड़के व लड़की को पति व पत्नी की भूमिका निभानी होती है। विवाह के बाद दोनो पर नये दायित्व आ जाते हैं तथा एक दूसरे के प्रति प्रेम व सम्पर्ण का भाव होता है आगे चलकर यही दोनो माता पिता, दादा दादी व नाना नानी आदि प्रस्थितियां ग्रहण करते हैं साथ ही दोनो वर व वधू पक्ष की नातेदारी को भी निभाना सीखता है। इस प्रकार व्यक्ति विवाह के माध्यम से प्रत्येक प्रस्थिति को आत्मसात कर उसकी भूमिका को निभाना सीखता है। जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति का समाजीकरण होता रहता है।

उपरोक्त प्राथमिक संस्थाओं के अतिरिक्त अनेक द्वितीयक संस्थाएँ भी व्यक्ति के समाजीकरण में अपना योगदान करती हैं। आइए अब हम द्वितीयक संस्थाओं के योगदान को जानते हैं—

6. **शिक्षण संस्थाएं**— शिक्षण संस्थाओं का समाजीकरण में महत्वपूर्ण योगदान होता है। शिक्षण संस्थाओं में— स्कूल, कालेज एवं विश्वविद्यालय आदि संस्था आती हैं। शिक्षण संस्थाओं में बच्चा अपने अध्यापको के संपर्क में आकर कठिन परिश्रम करके ज्ञान व शिक्षा अर्जित करता है तथा किसी एक अध्यापक को अपना आदर्श मानता है उसके अनुसार अपने को ढालने की कौशिश करता है। साथ ही सहपाठियों के साथ व्यवहार व नवीन किताबों से ज्ञान अर्जित करता है। शिक्षा ही व्यक्ति की एक मात्र कुंजी होती है जो उसका चहुमुखी विकास करती है। अतः बच्चे के समाजीकरण में शिक्षा उसे रोजगार देने के साथ ही उसे कैसे व्यवहार व कैसा ज्ञान अर्जित करना है वह सीखाती है। जिससे उसका समाज में सही दिशा की ओर समाजीकरण होता है।
7. **धार्मिक संस्थाएं**— व्यक्ति के जीवन पर धर्म का गहरा प्रभाव पड़ता है अपने धर्म के अनुरूप व्यक्ति आचरण, पूजा, पाठ, श्रद्धा, व्यवहार आदि सीखता है और अन्य धर्म के ग्रन्थ व उस धर्म से संबंधित जानकारी प्राप्त करता है। धर्म व्यक्ति को अनुशासन में रहना सीखाता है। ईश्वरीय भय एवं श्रद्धा के कारण वह नैतिकता तथा अन्य गुणों को ग्रहण करता है। स्वयं मैलोनॉवस्की कहते हैं कि संसार में मनुष्यों का कोई भी समूह धर्म के बिना नहीं रह सकता चाहे वह कितना भी जंगली क्यों

न हो। सभी धार्मिक संगठन अपने अनुयायियों में मानवीय गुणों को बढ़ाने का कार्य करते हैं। इसप्रकार धार्मिक संस्थाएँ मनुष्यों का धर्म संदर्भ में समाजीकरण करती हैं।

- 8. राजनीतिक संस्थाएँ—** राजनीतिक संस्थाओं के माध्यम से व्यक्ति राजनीति की बातें सीखता है। राज्य, सरकार, कानून, दल व पंचायत आदि राजनीति के संबंध में व्यक्ति का समाजीकरण होता है। तानाशाही व प्रजातन्त्रीय शासन में भिन्न-भिन्न प्रकार का समाजीकरण होता है। तानाशाही सरकार में व्यक्ति के जीवन में सुरक्षा की भावना कम होती है जबकि प्रजातान्त्रिक राज्य में सरकार लोगों की भलाई के लिए अनेक कार्य करती है जिससे समाज में उन्नति हो सके और व्यक्तियों को व्यक्तित्व निर्माण के सुअवसर प्राप्त हो सके। जिससे व्यक्ति समाज व राजनीति के महत्वपूर्ण पहलुओं की सही जानकारी प्राप्त कर समाज में अपनी भूमिका निभाता है।
- 9. आर्थिक संस्थाएँ—** व्यक्ति को आर्थिक संबंधी जानकारी आर्थिक संस्थाओं के माध्यम से होती है। यह संस्थाएँ व्यक्ति को जीवन यापन के लिए समर्थ बनाती हैं। आर्थिक जीवन में प्रवेश करते ही व्यक्ति को अपने कारखानों, कार्यालय, व्यापारिक प्रतिष्ठान एवं दूसरे संगठनों में ऐसे बहुत से व्यक्तियों से अनुकूलन करना होता है जिनके आर्थिक उद्देश्य एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इन समूहों के बीच सहयोग और समायोजन के साथ व्यक्ति को प्रतिस्पर्धा में भी कुशल बनना आवश्यक होता है। वर्तमान में सामाजिक स्थिति का निर्धारण व्यक्ति की आर्थिक स्थिति से होने लगा है। व्यक्ति अपनी आर्थिक गतिविधियों जैसे— बाजार, मूल्य प्रणाली, रूपया व उत्पादन आदि की जानकारी प्राप्त कर सीखता है। जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक संस्थाओं के द्वारा उसका समाजीकरण होता है।
- 10. व्यवसाय समूह—** व्यक्ति जिस व्यवसाय में लगा होता है उसके मूल्यों को भी ग्रहण करता है। वह व्यवसाय के दौरान अनेक व्यक्तियों के पदानुसार संपर्क में आता है। जिससे वह व्यावसायिक ज्ञान व गुण ग्रहण करता है तथा प्रशासनिक ढांचे से परिचित होता है और अपना समाजीकरण करता जाता है। (अग्रवाल, जी०के०: 2016)
- अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति का समाजीकरण अनेक संस्थाओं के द्वारा होता है जिससे उसके जन्म लेते ही उसका समाजीकरण शुरू हो जाता है और जीवन के विभिन्न पड़ाओं पर वह सीखता जाता है। वह जन्म से मृत्यु तक उसका समाजीकरण होता है जिसमें समाज द्वारा परिवार, पड़ोस, क्रीडा समूह, नातेदारी, विवाह, शिक्षण संस्था, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक व व्यावसायिक आदि संस्थाएँ अपनी भूमिका निभाती हैं। स्वयं डेविस कहते हैं कि व्यक्ति दो भिन्न प्रकार के संचरण की उपज होता है— आनुवंशिक व सामाजिक। आनुवंशिक में माता पिता के वाहकगणुओं, गुणसूत्रों एवं प्रजनन की क्रिया द्वारा व्यक्ति को शरीर एवं शारीरिक क्षमताएं प्राप्त होती हैं। वही दूसरी ओर सामाजिक में

सामाजिक सांस्कृतिक सीख तथा प्रतीकात्मक संवहन द्वारा व्यक्ति की सामाजिक विशेषताएं प्राप्त होती हैं। आनुवंशिक व सामाजिक के द्वारा ही व्यक्ति का समाजीकरण होता जाता है। इसप्रकार आप यहाँ पर बच्चे का विभिन्न स्तरों पर समाजीकरण प्रमुख अभिकरणों अथवा संस्थाओं द्वारा होता है, से भलिभाति परिचित हो गये होंगे।

21.5 समाजीकरण के प्रमुख सिद्धान्त

समाजीकरण के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों ने व्यक्ति का समाजीकरण कैसे होता है उस संदर्भ में विद्वानों ने अपने विचारों द्वारा निम्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, जिनका उल्लेख निम्न है—

1. कूले का सिद्धान्त (Cooley's Theory)

अमरीकरन समाजशास्त्री कूले ने अपनी पुस्तक “**Human Nature and the Social Order**” में अपने समाजीकरण सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। उनका सिद्धान्त “आत्म दर्पण दर्शन का सिद्धान्त” (Looking-glass self Theory) के नाम से जाना जाता है। कूल ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को स्पष्ट करने के सन्दर्भ में किया। उनका मत है कि समाज के सम्पर्क में आने पर ही व्यक्ति के ‘आत्म का विकास होता है। समाज व्यक्ति के लिए दर्पण का कार्य करता है, वह उसमें अपनी छवि देखता है और समाज के लोग उसके बारे में क्या राय रखते हैं, उसी आधार पर वह अपने बारे में अपनी धारणा बनाता है। जिस प्रकार से हम आइना देखकर यह ज्ञात करते हैं कि हम अमुक पोषाक पहनने पर कैसे लगते हैं, बाल ठीक से संवारे हुए हैं या नहीं आदि, बालक भी समाज रूपी आइने में अपने आपको देखता है। समाज के लोग उसके बारे में क्या राय रखते हैं, इसी आधार पर वह अपने बारे में राय बनाता है। जिससे उसमें हीनता या श्रेष्ठता के भाव पैदा होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के स्व: का विकास दूसरों की प्रतिक्रिया से होता है।

हारटन तथा हण्ट कहते हैं कि कूले ने ‘Looking glass Self’ शब्द थेकरे की वेनिटी फेयर नामक कृति से लिया है। इनके अनुसार, संसार एक दर्पण है जो प्रत्येक व्यक्ति को उसका स्वयं का चेहरा प्रतिबिम्बित करता है। आप भौहें चढ़ाइये तो इसमें आप चिडचिड़े दिखायी देंगे। आप इसकी ओर तथा इसके साथ हंसिये तो यह आपका खुषमिजाज व कृपालु साथी होगा।”

कूले ने ‘आत्म दर्पण दर्शन’ प्रक्रिया के तीन चरणों का उल्लेख किया है। —

- व्यक्ति यह सोचता है कि दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं,

- दूसरों के निर्णय के आधार पर वह स्वयं अपने बारे में क्या सोचता है,
- मैं अपने बारे में सोचकर अपने को कैसा मानता हूँ, गर्व अनुभव करता हूँ या ग्लानि।

इन तीनों बातों को स्पष्ट करने के लिए हॉर्टन व हण्ट ने एक उदाहरण द्वारा समझाया, मान लीजिए आप एक कमरे में प्रवेश करते हैं जहां कुछ व्यक्ति एक समूह में परस्पर बातें कर रहे हैं। आपके आते ही वे बहाना बनाकर वहां से चले जाते हैं और ऐसा कई बार होता है तो आपको अपने बारे में हीनता की भावना महसूस होगी। इसके विपरीत, आपके कमरे में प्रवेश करने पर सभी व्यक्ति आपको घेर लेते हैं और आपसे चर्चा करना चाहते हैं तो आपको गर्व महसूस होगा। इस प्रकार दूसरे व्यक्ति हमारे प्रति जिस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं हम अपने बारे में वैसी धारणा बनाते हैं। लेकिन कई बार ऐसा भी होता है कि दूसरे हमारे बारे में जो राय बनाते हैं उसे जिस रूप में हम सोचते हैं उसमें तथा वास्तव में दूसरों द्वारा हमारे प्रति बनायी गयी धारणा में अन्तर होता है।

इस प्रकार कूले के अनुसार व्यक्ति का दूसरों से सम्पर्क होने से 'स्व' का निर्माण होता है जो कि समाजीकरण का प्रमुख आधार है। स्व के निर्माण के आधार पर ही व्यक्ति अपना मूल्यांकन करता है, वह अपने को हीन या श्रेष्ठ समझता है और समाजीकरण की दिशा तय करता है। व्यक्ति समाज का ही प्रतिबिम्ब है।

2. मीड का सिद्धान्त (Mead's Theory) –

मीड ने समाजीकरण सम्बन्धी अपने विचार "Mind, Self and Society" नामक अपनी कृति में प्रकट किये हैं। मीड यह मानते हैं कि व्यक्ति ही समाज का निर्माता है जिसमें दिमाग और 'स्व' होता है। 'स्व' मौलिक रूप से एक सामाजिक संरचना है और सामाजिक अनुभवों के कारण ही पैदा होता है। 'स्व' के जन्म के बाद ही व्यक्ति सामाजिक अनुभव करता है। मीड ने उस प्रक्रिया का भी उल्लेख किया है जिसके द्वारा 'स्व' का विकास होता है और व्यक्ति तब दूसरों के विचारों को ग्रहण करता है। जन्म के समय बच्चा एक जैविकीय व्यक्ति होता है, जिसमें बुद्धि का अभाव होता है। अतः वह आन्तरिक प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही क्रियायं करता है। धीरे-धीरे परिवार एवं अन्य समूहों के सम्पर्क के कारण बच्चे को यह समझ पैदा होने लगती है कि उससे लोग किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा करते हैं और उसके व्यवहारों का क्या अर्थ लगाया जाता है। इस प्रकार बच्चे का 'स्व' व्यवहार से प्रभावित होने लगता है। इसे ही वह 'सामान्यकृत अन्य (Generalized others)' कहता है सामान्यकृत अन्य का अर्थ है कि – किसी व्यक्ति की स्वयं के बारे में वह धारणा जो दूसरे लोग उसके बारे में रखते हैं।

मीड ने बताया कि व्यक्ति में आत्म-चेतन का विकास किस प्रकार से होता है, मैं (I) तथा मुझे (Me) शब्दों का प्रयोग किया है। इसलिए इस सिद्धान्त को मैं और मुझे का सिद्धान्त भी कहते हैं। मैं का अर्थ व्यक्ति द्वारा दूसरों की प्रति किये जाने वाले व्यवहार से है, तथा मुझे का अर्थ है व्यक्ति द्वारा किये गये व्यवहार पर दूसरों की प्रतिक्रिया जिसे व्यक्ति आन्तरीकृत करता है। 'मैं' और मुझे में अन्तः क्रिया के कारण ही 'स्व' का विकास होता है। प्रारम्भ में ये दोनों धारणाएं एक-दूसरे से अलग होती हैं, किन्तु परिवार एवं समाज के सम्पर्क के कारण उनमें समानता स्थापित होने लगती है और वे एक ही चीज के दो पहलू हो जाते हैं। अनुकरण, संकेत व भाषा के माध्यम से बच्चा दूसरों के व्यवहारों को ग्रहण करता है और उसमें विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं को निभाने की क्षमताएं पैदा हो जाती हैं। जिसको मीड आत्म का विकास कहता है। कूले अपने सिद्धान्त में व्यक्ति व समाज को समान रूप से महत्वपूर्ण मानते हैं लेकिन मीड समाज को ज्यादा महत्व देते हैं। कूले आत्म को एक धारणा मानते हैं जबकि मीड आत्म को स्वयं के बारे में चेतना मानते हैं। मीड का सिद्धान्त समाजीकरण के लिए ज्यादा स्पष्ट प्रतीत होता है।

3. फ्रायड का सिद्धान्त (Freud's Theory) –

फ्रायड नाम मनोवैज्ञानिक ने समाजीकरण का सिद्धान्त मानसिक क्रियाओं के आधार पर समझाया है। इनके अनुसार, मानव का समस्त व्यवहार लिबिडो अर्थात् काम-प्रवृत्तियों से तय होता है। फ्रायड ने समाजीकृत आत्म की समाजशस्त्रियों की अवधारणा को चुनौती दी और कहा कि 'स्व' एवं समाज में कोई ताल-मेल नहीं होता है। वह यह मानते हैं कि मानव व्यवहार का तार्किक पक्ष उसी प्रकार है जिस प्रकार किसी समुद्र में हिमखण्ड का बाहरी भाग होता है, जिस प्रकार हिमखण्ड का अधिकांश भाग पानी में रहता है उसी प्रकार मानव व्यवहार का अधिकांश भाग भी अनदेखा व अचेतन शक्तियों द्वारा संचालित होता है। फ्रायड ने 'स्व' को 'इड (Id)', 'अहम' (Ego) और 'पराअहम' (Super ego) इन तीन भागों में बांटा। 'इड' अहम की मूल-प्रवृत्तियों, प्रेरणाओं, असमाजीकृत इच्छाओं एवं स्वार्थों का योग है। इड के सामने नैतिक-अनैतिक, अच्छे-बुरे का कोई प्रश्न नहीं होता है। यह पाशविक प्रवृत्ति के निकट है जो किसी न किसी प्रकार सन्तुष्टि चाहता है 'अहम' (Ego) स्व का चेतन एवं तार्किक पक्ष है जो व्यक्ति को समाजिक परिस्थितियों के अनुकूल व्यवहार करने का निर्देश देता है और 'इड' पर नियन्त्रण रखता है। 'अहम' भी 'इड' के समान नैतिक-अनैतिक, प्रेम व घृणा को अधिक महत्व तो नहीं देता फिर भी यह अधिक व्यावहारिक है क्योंकि यह 'इड' को परिस्थितियों के अनुकूल होने पर ही अपनी इच्छा की पूर्ति की स्वीकृति देता है। पराअहम (Super ego) सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों का संयोग है जिसे व्यक्ति ने आत्मसात् कर रखा है और जो उसकी आन्तरात्मा का निर्माण करते हैं। जैसे- यदि एक व्यक्ति बहुत भूखा है उसे खाना चाहिए तो यह भूख इड कहलाती है, अब अहम कहेगा कि यदि खाना चाहिए तो मेहनत कर पैसा कमाकर

खाओ और न मिले तो चोरी करके खाओं लेकिन पराअहम कहेगा कि चोरी करना पाप है अनैतिक है व सामाजिक मूल्यों के विपरीत है। अतः : ऐसा मत करो। इसप्रकार अहम् व इड सामाजिक परिस्थितियों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है लेकिन पराअहम विवके और सामाजिक मूल्यों को प्रकट करता है। जो कि व्यक्ति के समाजीकरण का प्रमुख आधार है।

फ्राइड कहते हैं कि इड और पराअहम में सदैव संघर्ष पाया जाता है, क्योंकि समाज यौन इच्छाओं और आक्रमण भावनाओं पर प्रतिबन्ध लगाता है। सामान्यतः इड उस संघर्ष में हार जाता है, किन्तु कभी-कभी वह पराअहम की अवहेलना भी कर देता है और व्यक्ति समाज-विरोधी कार्य कर बैठता है। इस प्रकार फ्राइड स्व और समाज को एक-दूसरे के पूरक न मानकर परस्पर विरोधी मानता है। फ्राइड के अनुसार 'इड- व -पराअहम' के पारस्परिक संघर्ष की प्रक्रिया से ही व्यक्ति का समाजीकरण होता है। बचपन में व्यक्ति जब सामाजिक व्यवहार से परिचित नहीं होता है तो 'इड' से प्रभावित होकर व्यवहार करता है। दूसरे लोगों के संपर्क में आने पर उसे इस बात का ज्ञान होता है कि अपनी आवश्यकता किस प्रकार पूरी की जानी चाहिए, यही अहम के विकास की स्थिति हैं अन्य व्यक्ति के सम्पर्क से ही वह सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों से परिचित होता है, वह यह जानने लगता है कि समाज किस प्रकार के व्यवहार को स्वीकार व अस्वीकार करता है। नैतिक व अनैतिक समझता है। वइ 'इड' ओर 'अहम' की बात को ठुकरा कर जितना पराअहम आचरण करता है, उतना ही उसका समाजीकरण सफल माना जाता है। इस प्रकार आप यहा यह समझ गये होंगे कि कूले व मीड आत्म को सामाजिक अन्तक्रिया का परिणाम मानते हैं लेकिन फ्राइड समाजीकरण को मानसिक क्रियाओं का परिणाम मानते हैं। फ्राइड ने मानव व्यक्तित्व को इड अहम व पराअहम में जिस प्रकार विभाजित किया है उसे हम आनुभाविक प्रयोग के आधार पर सिद्ध नहीं कर सकते। अतः यह सभ्यता से परे एवं काल्पनिक अधिक लगता है।

4. दुर्खीम का सिद्धान्त — दुर्खीम ने समाजीकरण संबधी विचार **“Sociology and philosophy”** कृति में प्रतिपादित किये। दुर्खीम ने समाजीकरण संबधी विचारों को सामूहिक प्रतिनिधित्व तथा सामूहिक चेतना के आधार पर स्पष्ट किया और बताया कि व्यक्ति द्वारा सामाजिक प्रतिनिधानों का आन्तरीकरण करना ही समाजीकरण है। प्रत्येक समाज में कुछ विचार, धारणाएं व भावनाएं ऐसी होती हैं जिसे सभी सदस्य स्वीकार करते हैं क्योंकि ये सभी के द्वारा मान्य होते हैं और सारे समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं शुरुआत में इनका संबध व्यक्तित्व चेतना से होता है लेकिन सभी लोगों की पारस्परिक अन्तक्रिया के कारण सामूहिक चेतना का निर्माण होता है जो कि सामूहिक प्रतिनिधानों को जन्म देती है जैसे- सामाजिक परम्परा, धर्म, रीतिरिवाज, प्रथाएं, मूल्य एवं आदर्श सामूहिक आदर्श हैं। समूह के सभी लोग इनका पालन करते हैं। सामूहिक प्रतिनिधानों का पालन करना व्यक्ति अपना दायित्व समक्षते है इनके पीछे

नैतिकता का दबाव होता है इनकी अवहेलना करने पर सामूहिक प्रतिक्रिया होती है, दण्ड की व्यवस्था की जाती है। व्यक्ति द्वारा सामूहिक प्रतिनिधानों को सीखता है आत्मसात् करता है और उनके अनुरूप आचरण करता है जिससे परिणामस्वरूप व्यक्ति का समाजीकरण होता जाता है। सामूहिक प्रतिनिधान वे विचार या व्यवहार है जिन्हें सारे समूह की स्वीकृति प्राप्त होती है जो सामूहिक चेतना के प्रतीक हो, संपूर्ण समाज में समान रूप से व्यापत हो तथा जो व्यक्तियों पर नियंत्रण बनाए रखते हो। सामाजिक प्रतिनिधानों का दबाव उसमें सामाजिक गुणों का विकास करता है (गुप्ता एवं शर्मा: 2014)। इस प्रकार आप यहा पर समाजीकरण के प्रमुख सिद्धान्तों को व्यक्ति के समाजीकरण के संदर्भ में भलीभांति समझ गये होंगे।

बोध प्रश्न-2

i) समाजीकरण से क्या तात्पर्य है

.....

.....

.....

.....

.....

ii) समाजीकरण के स्तर में परिवार का क्या योगदान है

.....

.....

.....

.....

.....

iii) समाजीकरण में शैक्षणिक संस्थाओं का क्या योगदान है

.....

.....

.....

iv) मीड का समाजीकरण सिद्धांत संक्षिप्त में बताइए।

v) कुछ प्रमुख समाजीकरण के सिद्धांतों के नामों का उल्लेख संक्षिप्त में कीजिए।

21.6 सारांश

इस इकाई में आपने समाजीकरण के बारे में जाना है। समाजीकरण एक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम समाज के सक्रिय सदस्य बनते हैं। इस प्रक्रिया में व्यक्ति समाज के मानदंडों और मूल्यों के आन्तरीकरण के साथ-साथ अपनी सामाजिक भूमिकाओं को सम्पादन करना सीखता है। इसी प्रक्रिया के द्वारा स्व: का विकास होता है। इस प्रक्रिया में परिवार, क्रीडा समूह, नातेदारी, विद्यालय आदि संस्थाओं द्वारा अपने जीवन के विभिन्न समयान्तरालों पर व्यक्ति सीखता जाता है। व्यक्ति को सीखने की क्षमता सामाजिक संपर्क से ही संभव होती है। स्वयं स्टीवर्ट एवं गिलिन ने समाजीकरण के तीन आवश्यक तत्व बताये हैं—अन्तक्रिया, भावात्मक स्वीकृति और संचार या भाषा। समाजीकरण एक आजन्म प्रक्रिया है। जिसमें समाजीकरण के सोपानों में मौखिक अवस्था, शौच अवस्था, तादात्मीकरण अवस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था व वृद्धावस्था आदि जीवन के सोपान होते हैं जिसमें व्यक्ति प्रत्येक सोपानो पर सीखता जाता है। साथ ही आपको समाजीकरण के विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के बारे में बताया गया है। जिसमें बताया गया कि व्यक्ति अपने स्वं का विकास, व्यवहार व दूसरों की प्रतिक्रिया से कैसे प्रभावित होता है। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा समूह अथवा समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करता है अपने व्यक्तित्व का विकास करता है और समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है। समाजीकरण द्वारा बच्चा सामाजिक प्रतिमानों को सीखकर उनके अनुरूप आचरण करता है जिससे समाज में नियन्त्रण बना रहता है। लेकिन अगर

व्यक्ति का समाजीकरण गलत तरीको या गलत संगत आदि कारणों से घटित हो तो समाजीकरण की दिशा भी बदल जाती है। इसलिए सफल समाजीकरण के लिए समाज में विभिन्न संस्थाएँ अपना योगदान देती हैं।

21.7 पारिभाषिक शब्दावली

समाजीकरण – समाजीकरण सीखने की एक आजन्म प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह अथवा समाज की समय व स्थान सापेक्ष सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है जिससे वह समाज का क्रियाशील सदस्य बन सके। समाजीकरण द्वारा बच्चा सामाजिक प्रतिमानों को सीखकर उनके अनुरूप आचरण करता है इससे समाज में नियन्त्रण बना रहता है।

आजन्म प्रक्रिया – आजन्म प्रक्रिया वह है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक चलने वाली प्रक्रिया है।

मौखिक अवस्था– शिशु अपना सुख-दुख मुँह के माध्यम से व मुँह के हाव-भाव से प्रकट करता है उस अवस्था को मौखिक अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में बच्चा परिवार में माँ के अतिरिक्त किसी को नहीं जानता है।

नातेदारी– नातेदारी दो प्रकार से बनती है– रक्त संबन्धी व विवाह संबन्धी, रक्त संबन्धी में भाई-बहिन, माता पिता आदि होते हैं जो कि रक्त व वंश के आधार पर बनती है तथा विवाह संबन्धी में वर व वधु का विवाह होने के उपरान्त दोनों पक्ष की बनती है जैसे– जीजा, साली व श्वसुर तथा नन्द व देवर आदि।

मैं तथा मुझे – मैं का अर्थ व्यक्ति द्वारा दूसरों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार से है, तथा मुझे का अर्थ है व्यक्ति द्वारा किये गये व्यवहार पर दूसरों की प्रतिक्रिया जिसे व्यक्ति आन्तरीकृत करता है।

सामान्यकृत अन्य – किसी व्यक्ति की स्वयं के बारे में वह धारणा जो दूसरे लोग उसके बारे में रखते हैं।

परिवर्तन– किसी भी वस्तु में दो समय में होने वाली भिन्नता ही परिवर्तन कहलाती है।

नकारात्मक समाजीकरण– व्यक्ति कई बार समाज द्वारा अस्वीकृत व्यवहारों को सीखता है जैसे– एक बच्चा चोरी करना व गाली देना अगर सीखता है तो उसे नकारात्मक समाजीकरण कहते हैं।

21.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

i) समाजीकरण सीखने की एक आजन्म प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह अथवा समाज की समय व स्थान सापेक्ष सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है जिससे वह समाज का क्रियाशील सदस्य बन सके।

ii) ग्रीन के अनुसार, समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्मपन और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।

iii) समाजीकरण के प्रमुख उद्देश्यों में से एक उद्देश्य बच्चे के अन्दर आधारभूत नियमबद्धता का विकास करना है।

iv) समाजीकरण में प्रमुख स्तर– मौखिक अवस्था, शौच अवस्था, इडिपल या तादात्मीकरण, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था व वृद्धावस्था है।

v) हेनरी जॉन्सन

vi) परिवार

vii) हाँ

बोध प्रश्न-2

i) समाजीकरण सीखने की एक आजन्म प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह अथवा समाज की समय व स्थान सापेक्ष सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है जिससे वह समाज का क्रियाशील सदस्य बन सके। समाजीकरण द्वारा बच्चा सामाजिक प्रतिमानों को सीखकर उनके अनुरूप आचरण करता है इससे समाज में नियन्त्रण बना रहता है।

ii) परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है। परिवार का बच्चे के समाजीकरण करने में महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि बच्चा सर्वप्रथम परिवार के संपर्क में ही सबसे पहले आता है। परिवार से ही वह प्यार, दुलार, डांट आदि अपने कार्य के प्रति सीखता है। परिवार में ही उसे समाज के रीतिरिवाजों, लोकाचारों, प्रथाओं व संस्कृति का ज्ञान होता है साथ ही पिता, माता, भाई व बहिन आदि नातेदारी का ज्ञान होता है। अतः समाजीकरण में परिवार उसकी प्रथम पाठशाला होती है।

iii) शिक्षण संस्थाओं द्वारा व्यक्ति के समाजीकरण में शिक्षा संबन्धी योगदान होता है। शिक्षण संस्थाओं में-स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय व शोध केन्द्र आदि संस्था आती है। शिक्षण संस्थाओं में बच्चा अपने अध्यापकों के संपर्क में आकर कठिन परिश्रम करके ज्ञान व शिक्षा अर्जित करता है। साथ ही सहपाठियों के साथ व्यवहार व नवीन किताबों से ज्ञान अर्जित करता है। अतः बच्चे के समाजीकरण में शिक्षा उसे रोजगार देने के साथ ही उसे कैसे व्यवहार व कैसा ज्ञान अर्जित करना होता है वह सीखाती है। जिससे उसका समाज में सही दिशा की ओर समाजीकरण हो सके।

iv) मीड ने समाजीकरण सम्बन्धी अपने विचार “Mind Self and Society” नामक कृति में प्रकट किये और बताया कि व्यक्ति ही समाज का निर्माता है जिसमें दिमाग और ‘स्व’ होता है। जन्म के समय बच्चा एक जैविकीय व्यक्ति होता है। धीरे-धीरे परिवार एवं अन्य समूहों के सम्पर्क के कारण बच्चे को यह समझ पैदा होने लगती है कि उससे लोग किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा करते हैं और उसके व्यवहारों का क्या अर्थ लगाया जाता है। इस प्रकार बच्चे का ‘स्व’ व्यवहार से प्रभावित होने लगता है। इसे ही वह ‘सामान्यकृत अन्य (Generalized others) कहता है। मीड ने व्यक्ति में आत्म-चेतन को स्पष्ट करने के लिए मैं (I) तथा मुझे (Me) शब्दों का प्रयोग किया है। मैं का अर्थ व्यक्ति द्वारा दूसरों की प्रति किये जाने वाले व्यवहार से है, तथा मुझे का अर्थ है व्यक्ति द्वारा किये गये व्यवहार पर दूसरों की प्रतिक्रिया जिसे व्यक्ति आन्तरीकृत करता है। ‘मैं’ और मुझे में अन्तः क्रिया के कारण ही ‘स्व’ का विकास होकर उसका आत्म का विकास होता है जिससे वह अपना समाजीकरण करता है।

v) समाजीकरण के प्रमुख सिद्धान्त निम्न है-

कूले का सिद्धान्त- आत्म दर्पण दर्शन का सिद्धान्त

मीड का सिद्धान्त- मैं तथा मुझे का सिद्धान्त

फ्रायड का सिद्धान्त- मानसिक क्रियाओं का समाजीकरण का सिद्धान्त

दुर्खीम का सिद्धान्त- सामूहिक प्रतिनिधित्व व सामूहिक चेतना का सिद्धान्त आदि।

21.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

Young, Kimball, (1946) *Hand book of social psychology*, Kegan Paul, California

Aron, Raymond, (1970) *Main currents in sociological thought*, vol.1 &

2, Penguin books, London

Bottomore, T.B., (1969) *Sociology: A guide to problem and literature*, Allen and Unwin, London

Johnson, Harry M, (1960), *Sociology*, Allied Publ., New Delhi

Durkheim, Emile (1974) *Sociology and philosophy*, The Free Press, New York

Mead, G.H. (1934) *Mind, Self and Society*, The University of Chicago press, Chicago

गुप्ता एवं शर्मा, (2006) *समाजशास्त्र*, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

कोजर लेविस ए 1971 मास्टर्स ऑफ सोशियॉलाजिकल थॉट : आइडियाज इन हिस्टारिकल एण्ड सोशल

कॉन्टेक्ट, हरकोर्ट ब्रेस जोवैनोविश्व : न्यूयार्क

21.10 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

Coser, Lewis A, (1996) *Masters of Sociological Thought*, Rawat publication, Jaipur

Giddens, Anthony, (1993) *Sociology*, polity press, Cambridge

Mitchell, G Duncan, (1979) *A New Dictionary of Sociology*, Routledge &

Kegan Paul, London

Huebner, Daniel (2014), *Becoming Mead*, the University of Chicago press, Chicago

सिंह, जे0 पी0, (2008) *समाजशास्त्र-अवधारणाएं एवं सिद्धान्त*, पीएचआई लर्निंग नई दिल्ली

श्रीनिवास, एम0एन0 (1991) *आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

21.11 निबंधात्मक प्रश्न

- समाजीकरण से आप क्या समझते हैं, समाजीकरण के प्रमुख सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए ?
- समाजीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुये इसके प्रमुख चरणों का वर्णन कीजिए ?
- समाजीकरण के प्रमुख साधनों / अभिकरणों की व्याख्या कीजिए ?
- समाजीकरण को परिभाषित करते हुये इसके प्रमुख उद्देश्यों का उल्लेख कीजिए ?

 इकाई 22 — सामाजिक क्रिया की अवधारणा (Concept of Social Action)

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 टालकॉट पारसन्स का परिचय

22.3 सामाजिक क्रिया से संबन्धित विभिन्न विद्वानों के विचार

22.3.1 विल्फ्रेडो पैरेटो

22.3.2 मैक्स वेबर

22.4 टालकॉट पारसंस का सामाजिक क्रिया का सिद्धांत

22.5 पारसन्स के सामाजिक क्रिया के सिद्धांत से अभिप्रेरण तथा मूल्य

22.6 सामाजिक क्रिया की रूपरेखा

22.7 सारांश

22.8 पारिभाषिक शब्दावली

22.9 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

22.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

22.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

22.12 निबंधात्मक प्रश्न

 22.0 उद्देश्य—

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान पाएँगे कि

1. सामाजिक क्रिया का क्या अर्थ है?
2. सामाजिक क्रिया के प्रकार, विभिन्न विद्वानों— पैरेटो, मैक्स वेबर द्वारा किया है।
3. टालकॉट पारसंस के सामाजिक क्रिया के सिद्धांत क्या है?

 22.1 प्रस्तावना—

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्राणी के रूप में विभिन्न आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति को कुछ न कुछ प्रयास करना पड़ता है जिसे समाजशास्त्रीय अवधारणा में "सामाजिक क्रिया" (Social Action) कहा जाता है। लेकिन सामाजिक क्रिया एकान्त में नहीं होती बल्कि एक सामाजिक परिस्थिति में होती है जहाँ विभिन्न व्यक्तियों को देखते हैं, प्रभावित होते हैं। साथ ही एक लक्ष्य एवं अनुशासन होता है। अतः सामाजिक क्रिया के लिए सामाजिक परिस्थिति होता है जहाँ व्यक्तियों के व्यवहार क्रिया करने वाले को प्रभावित करते हैं, इसी से प्रेरित होकर क्रिया करते हैं।

22.2 टालकॉट पारसंस का परिचय—

पारसंस का जन्म अमेरिका में सन् 1902 में हुआ था। 1924 में उन्होंने एम्हार्ट कॉलेज से स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद, हैडलबर्ग विश्वविद्यालय (जर्मनी) से डॉक्टरेट किया और इसके बाद लंदन में रहकर मैलिनॉस्की के साथ आदिवासियों पर काम किया। जर्मनी और लंदन ने यानी यूरोप ने पारसंस के युवा बौद्धिक जीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया। सन् 1927 से लेकर 1931 तक वे हारवर्ड विश्वविद्यालय, अमेरिका में अर्थशास्त्र के अध्यापक रहे और इसी विश्वविद्यालय में 1944 में वे समाजशास्त्र के प्रोफेसर हो गये।

पारसंस का उद्देश्य समाजशास्त्र में ऐसे सिद्धांतों का निर्माण करना था जिससे सही सामाजिक स्थिति की वैज्ञानिक पड़ताल हो सके। वे ऐसी अवधारणाओं को बनाना चाहते थे जो अमूर्त हो और जिनके माध्यम से सामाजिक व्यवस्था को समझा जा सके। इसके लिये उन्होंने अपनी सबसे पहली पुस्तक दि स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन () को सन् 1937 में प्रस्तुत किया जिसमें क्रिया सिद्धान्त को रखा। इस सिद्धांत में उन्होंने यूरोप के कई विचारकों (दुर्खीम, वेबर, मार्क्स, परेटो और मार्शल) के विचारों को समन्वित करते हुए क्रिया सिद्धांत को प्रस्तुत किया। इसमें उन्होंने कहा कि मनुष्य जब किसी क्रिया को करता है तो वह साधन और साध्य में विकल्प रखता है और इस विकल्प का प्रयोग करके ही वह क्रिया करता है। यहाँ पहली बार पारसंस ने तीन अमूर्त अवधारणाओं को रखा। ये अवधारणाएँ हैं :

1. क्रिया सिद्धान्त (Action Theory)
2. सामाजिक व्यवस्था (Social System)
3. प्रकार्यवाद (Functionalism)

सन् 1937 में पहली पुस्तक आने के बाद पारसंस लगातार 40 वर्षों तक लिखते रहे और कई पुस्तकों के अलावा दि सोशल सिस्टम (The Social System) जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक को प्रस्तुत किया और इन सभी कृतियों में पारसंस ने अपने संरचनात्मक प्रकार्यवाद (Structural Functionalism) को विकसित किया।

22.3 सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित विभिन्न विद्वानों के विचार –

कर्ता अर्थात् क्रिया करने वाला व्यक्ति की विभिन्न आवश्यकताएँ होती हैं जैसे—आर्थिक आवश्यकताएँ, जैविकीय आवश्यकताएँ, मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ, सामाजिक आवश्यकताएँ आदि। इन विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति को कुछ-न-कुछ प्रयत्न करना पड़ता है। जिन्हें समाजशास्त्रीय भाषा में "क्रिया" (Action) कहा जाता है। समाजशास्त्र में क्रिया और व्यवहार के बीच सर्वप्रथम अन्तर

मैक्स वेबर ने स्थापित किया। समाजशास्त्र के क्षेत्र में सामाजिक क्रिया की एक लम्बी परम्परा देखने को मिलती है। डॉन मार्टिन्डल के अनुसार सामाजिक व्यवहारवाद की तीन मुख्य शाखाएँ हैं—

1. सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त (Social Action Theory)
2. सुझाव व नकल का सिद्धान्त (Suggestion and Imitation Theory)
3. प्रतीकात्मक अन्तः क्रिया का सिद्धान्त (Symbolic Interaction Theory)

स्पष्टतः सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त सामाजिक व्यवहारवाद की तीन महत्वपूर्ण शाखाओं में से एक है। समाजशास्त्र के क्षेत्र में सामाजिक क्रिया सिद्धान्त के समर्थकों में दुर्खीम, परेटो, मैक्स वेबर एवं टालकॉट पारसंस आते हैं।

22.3.1 विल्फ्रेडो परेटो—

सामाजिक क्रिया की अवधारणा के संदर्भ में सर्वप्रथम अल्फ्रेड मार्शल का नाम आता है लेकिन समाजशास्त्र के क्षेत्र में कई विद्वान विल्फ्रेडो परेटो को महत्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि इन्होंने इसकी विस्तृत चर्चा प्रथम बार की।

परेटो ने सामाजिक क्रिया को दो भागों में बाँटा है—

1. तार्किक क्रिया (Logical Action)
2. अतार्किक क्रिया (Non-logical Action)

इनके अनुसार, तार्किक क्रिया वे हैं जिनके साधन एवं साध्य के बीच तार्किक अर्थात् वस्तुनिष्ठ तालमेल होता है जैसे— एक व्यक्ति धनी बनना चाहता है और इसके लिए व्यापार का रास्ता अपनाता है तो यह तार्किक क्रिया है। अतार्किक क्रिया वे हैं जिनके साधन एवं साध्य के बीच कोई तार्किक अर्थात् वस्तुनिष्ठ तालमेल नहीं होता है।

इन्होंने अतार्किक क्रिया के दो संघटक तत्वों की चर्चा अपनी पुस्तक "ट्रीटीज ऑन जेनरल सोशियोलॉजी" में की है—

विशिष्ट चालक—

विशिष्ट चालक स्थिर तत्व है, जिसका सम्बन्ध मनुष्य की उस प्रवृत्ति से है, जिसके द्वारा वह विभिन्न वस्तुओं अथवा दशाओं के बीच एक विशेष सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न करता है।

भ्रान्त तर्क—

भ्रान्त तर्क में विलक्षण सिद्धान्त है (Ingenious Theories) जिनके आधार पर व्यक्ति अपने व्यवहारों के औचित्य को प्रमाणित करता है।

विशिष्ट चालक (Residues) के सम्बन्ध में परेटो का कहना है कि विशिष्ट चालक संवेगों का प्रकटीकरण है (Residues are manifestation Sentiments)। तात्पर्य यह है कि विशिष्ट चालक एक प्रकार की

अमूर्त धारण है जिसे मूल्य प्रवृत्तियों और संवेगों का परिणाम कहा जा सकता है। जिस प्रकार तापक्रम का बढ़ना और अतरना पारे के बढ़ने और उतरने से स्पष्ट होता है। उसी प्रकार संवेग भी विशिष्ट चालक द्वारा स्पष्ट होता है। आगे पैरेटो कहते हैं कि मानव व्यवहार के पीछे पाये जाने वाले बल (Force) को ही विशिष्ट चालक कहते हैं।

विशिष्ट चालक दो प्रकार का होता है— एक क्षणिक और दूसरा स्थायी।

स्थायी विशिष्ट चालक, वे हैं जो समय-समय पर मानव व्यवहार में उपस्थित होते हैं। पैरेटो के अनुसार, स्थायी विशिष्ट चालक ही वास्तविक विशिष्ट चालक है।

विशिष्ट चालक की चर्चा करते हुए इनका कहना है कि सामान्यतः इसकी संख्या 50 है। पर इन्होंने इसे मुख्यतः छः (6) भागों में विभक्त किया है। वे हैं:—

1. सामूहिकता के स्थायित्व के विशिष्ट चालक(Residues of the Persistence of Aggregate)
2. संयोजन के विशिष्ट चालक(Residues of Combination)
3. सामाजिकता से सम्बन्धित विशिष्ट चालक(Residues of Sociability)
4. व्यक्तित्व के संगठन के विशिष्ट चालक(Residues of Integrity of Personality)
5. बाह्य क्रियाओं द्वारा संवेगों की अभिव्यक्ति के विशिष्ट चालक(Residues of expression of Sentiments Through overt Action)
6. "काम" सम्बन्धी विशिष्ट चालक(Residues of Sex)

1. सामूहिकता के स्थायित्व के विशिष्ट चालक(Residues of the Persistence of Aggregate)—

पैरेटो ने सामूहिकता के स्थायित्व के विशिष्ट चालक(Residues of the Persistence of Aggregate) की चर्चा करते हुए कहा है कि इसमें वे विशिष्ट चालक हैं जो किसी भी परिवर्तन के विरुद्ध व्यक्ति को तैयार करते हैं। यानि, जो व्यक्ति इस प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते हैं फलतः समाज में एकता और स्थिरता बनी रहती है।

2. संयोजन के विशिष्ट चालक(Residues of Combination)—

Residues of Combination की चर्चा करते हुए पैरेटो का कहना है कि इसमें वे विशिष्ट प्रकार की प्रेरणाएँ हैं जो दो वस्तुओं को भौतिक या मानसिक आधार पर मिलाने का प्रयत्न करती हैं। ये दोनों वस्तुएँ परस्पर समान भी हो सकती हैं और असमान भी। असमान बातों में Combination का उदाहरण यह है कि अंग्रेज 13 की संख्या को अशुभ मानते हैं, जबकि 13 की संख्या और Misfortune में कोई संबंध नहीं है। दूसरी आरे दो समान बातों में Combination होने विज्ञान का विकास होता है, जैसे— स्टीफेन्स ने खौलते हुए पानी के भाप से केतली के ढक्कन को उठते देखा और उसके दिमाग में Steam engine

बनाने का विचार आया। इसी तरह नए-नए वैज्ञानिक आविष्कार इन्हीं Combination of two likes के कारण होते हैं।

3. सामाजिकता से सम्बन्धित विशिष्ट चालक(Residues of Sociability)– Residues of Sociability के संबंध में परेटो का कहना है कि इस प्रकार के विशिष्ट चालक व्यक्ति को इस बात की शिक्षा देते हैं कि वह ऐसा व्यवहार करें जो समाज के हित में हो। तात्पर्य यह है कि अगर कोई व्यक्ति, समानता, न्याय, प्रेम, स्नेह आदि।

4. व्यक्तित्व के संगठन के विशिष्ट चालक(Residues of Integrity of Personality)–

इस श्रेणी के विशिष्ट चालकों में परेटो ने उन प्रेरणाओं का उल्लेख किया जो व्यक्तित्व के विभिन्न तत्वों को संगठित करती है। इन्हीं विशिष्ट चालकों के प्रभाव से हम ऐसी सभी दशाओं का विरोध करते हैं जो व्यक्तित्व सम्बन्धी संगठन को नष्ट करने वाली होती हैं तथा उन दशाओं को स्वीकार करते हैं जिनसे व्यक्तित्व के अधिक संगठित बनने की सम्भावना हो। यह सभी चालक वे हैं जो व्यक्तित्व को संगठित रखने के उद्देश्य से समाज के सन्तुलन में होने वाले किसी भी परिवर्तन का विरोध करते हैं।

5. बाह्य क्रियाओं द्वारा संवेगों की अभिव्यक्ति के विशिष्ट चालक(Residues of expression of Sentiments Through overt Action)–

इस श्रेणी में परेटो ने उन विशिष्ट चालकों को सम्मिलित किया है जो व्यक्ति को अपने संवेगों को बाह्य क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त करने की प्रेरणा देते हैं। उन्हें दो उप-वर्गों में विभाजित किया गया है। पहले उप-वर्ग में परेटो ने उन विशिष्ट चालकों का उल्लेख किया जो सामूहिक जीवन में व्यक्ति के संवेगात्मक व्यवहारों को स्पष्ट करते हैं। उदाहरण के लिए कोई कार्यक्रम पसन्द आने पर दर्शकों द्वारा ताली बजाना अथवा कार्यक्रम पसन्द न आने पर बीच में ही उठकर चले जाना, शोर मचाना या विरोध प्रदर्शित करना इसी तरह के विशिष्ट चालक हैं। दूसरा उप-वर्ग उन चालकों से सम्बन्धित है जिनके द्वारा व्यक्ति विभिन्न क्रियाओं के द्वारा ईश्वर के प्रति अपनी धार्मिक आस्थाओं को प्रकट करता है।

6. "काम" सम्बन्धी विशिष्ट चालक(Residues of Sex)–

परेटो का कथन है कि संसार के प्रत्येक धर्म ने काम सन्तुष्टि के लिए कुछ निषेधों तथा नियन्त्रणों को प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है लेकिन फिर भी काम सम्बन्धी व्यवहारों का विस्तार प्रत्येक मानव-समूह की विशेषता है। इसका कारण वे विशिष्ट चालक हैं जो काम सम्बन्धी भावनाओं को उत्पन्न और प्रेरित करते हैं। साधारणतया काम सम्बन्धी विशिष्ट चालकों को वैयक्तिक समझा जाता है जेकिन परेटो ने इनसे उत्पन्न व्यवहारों के सामाजिक प्रभाव की चर्चा करते हुए इनकी व्यापकता को स्पष्ट किया। यह चालक जहाँ एक ओर यौन सम्बन्धी व्यवहारों के प्रेरक होते हैं, वहीं दूसरी ओर यह पाँचवीं श्रेणी के विशिष्ट चालकों से संयुक्त होकर यौन नैतिकता को विकसित करने की भी प्रेरणा प्रदान करते हैं।

वास्तव में, प्रत्येक समाज में विशिष्ट चालक हमारे व्यवहारों का निर्धारण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं लेकिन विभिन्न समूहों और विभिन्न व्यक्तियों में इन विशिष्ट चालकों के प्रभाव की सीमा अलग-अलग हो सकती है। इसका तात्पर्य है कि कुछ लोगों के व्यवहार "संयोजन के विशिष्ट चालकों" से

अधिक प्रभावित होते हैं जबकि कुछ लोगों को "व्यक्तित्व के संगठन के विशिष्ट चालक" अधिक प्रभावित कर सकते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि व्यक्ति के व्यवहारों पर विशिष्ट चालकों का प्रभाव बहुत-कुछ सामाजिक दशाओं तथा समय कारक (Time Factor) से प्रभावित होता है। **पेरेटो** ने स्पष्ट किया कि यद्यपि विशिष्ट चालकों का कोई तार्किक-प्रयोगात्मक आधार नहीं होता लेकिन मानव व्यवहारों को प्रभावित करने में इनकी एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उदाहरण के लिए सामाजिकता से सम्बन्धित विशिष्ट चालक व्यक्ति में मानवीय गुणों को प्रोत्साहन देकर व्यक्ति को समाज के अनुरूप बनाते हैं जबकि संयोजन के विशिष्ट चालक हमें विभिन्न घटनाओं के बीच एक तार्किक सम्बन्ध जोड़ने की प्रेरणा देकर मानसिक सन्तुष्टि प्रदान करते हैं। सच तो यह है कि इसी तरह के विशिष्ट चालक विभिन्न प्रकार के विश्वासों को प्रभावपूर्ण बनाकर उनके माध्यम से घटनाओं की एक सरल व्याख्या प्रस्तुत करने का आधार प्रदान करते हैं। सामाजिक व्यवस्था के सन्तुलन को बनाये रखने में भी विशिष्ट चालकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सामाजिक व्यवस्था एक बड़ी सीमा तक व्यक्तित्व के संगठन पर आधारित है। जिस समाज में व्यक्तियों का व्यक्तित्व अधिक संगठित होता है, वहाँ सामाजिक व्यवस्था उतनी ही सन्तुलित और प्रभावपूर्ण देखने को मिलती है। विशिष्ट चालक लोगों को अपने व्यक्तित्व में नैतिक मूल्यों का समावेश करने और सामाजिक मूल्यों से भिन्न व्यवहार का तिरस्कार करने की प्रेरणा देते हैं। यह कार्य तार्किक आधार पर उतने व्यवस्थित रूप से नहीं किया जा सकता जितना कि विशिष्ट चालकों से प्राप्त प्रेरणाओं की सहायता से किया जा सकता है।

22.3.2 मैक्स वेबर

जर्मन समाजशास्त्री **मैक्स वेबर** वह प्रमुख सामाजिक विचारक हैं जिन्हें आधुनिक समाजशास्त्र के जनकों में से एक माना जाता है। मैक्स वेबर का जन्म जर्मनी में उस समय हुआ जिस समय **बिस्मार्क** का शासन था। साथ ही उस समय जर्मनी में एक ओर ऐतिहासिक पद्धति पर जोर दिया जा रहा था तो दूसरी ओर आदर्शवादी विचारधारा काफी जोरों पर थी। वेबर ने कानून, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र का व्यापक अध्ययन कर जिन व्यवस्थित विचारों को प्रस्तुत किया उनका सामाजिक विचारधारा के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। अब्राहम मार्गन के अनुसार जर्मनी में जिन विचारकों ने समाजशास्त्र को समृद्ध किया उनमें **मैक्स वेबर** सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। मैक्स वेबर के समय जर्मनी में मार्क्सवाद पूरी तरह छाया हुआ था। **जेटलिन(Zeitlin)** का कहना है कि इन्हीं मार्क्सवादियों के साथ गहन एवं विस्तृत बातचीत करते-करते **मैक्स वेबर** अर्थशास्त्री से समाजशास्त्री बन गये।

मैक्स वेबर के लेखों में उनकी चिन्तन की विविधता तथा गहराई की एक स्पष्ट झलक देखने को मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेबर ने अपने जीवन काल में विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित अनुभव संचित किए जिस कारण उनकी सम्पूर्ण रचनाओं में विविधता देखने को मिलती है। वेबर उन प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों में से एक हैं जिन्होंने सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करने के लिए एक पृथक वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया। इनके अनुसार सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में भी वैज्ञानिक मानदण्ड को बनाये रखना सम्भव है, पर यह तभी हो सकता है जब हम सभी तरह की घटनाओं का अध्ययन न करके समाजशास्त्र में मानवीय संबंधों एवं मानवीय क्रियाओं का ही अध्ययन करें। स्पष्टतः वेबर ने समाजशास्त्र को नये सिरे से परिभाषित करके इसकी अध्ययन वस्तु तथा अध्ययन पद्धति को स्पष्ट किया।

वेबर के अनुसार समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया का व्याख्यात्मक बोध इस तरह करने का प्रयास करता है जिससे सामाजिक क्रिया संबंधी गतिविधियों एवं परिणामों के कारण संबंधी विवेचना तक पहुँचा जा सके। इसे स्पष्ट करते हुए इनका कहना है कि किसी भी क्रिया को तभी समझा

जा सकता है जब उस क्रिया को करने वाले व्यक्ति के द्वारा लगाये गये आत्मनिष्ठ (Subjective) अर्थ का पता लगाया जाये। स्पष्टतः इन्होंने सामाजिक क्रिया को समाजशास्त्र का मूल अध्ययन विषय माना और इसे समझने के लिए स्वयं कर्ता के द्वारा लगाये गये अर्थ को जानने पर बल दिया।

मैक्स वेबर का सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त (Social Action Theory of Max Weber)–

मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया के अध्ययन पर बल दिया है। इनके अनुसार समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया का अर्थपूर्ण बोध कराने का प्रयास करता है जिससे कि उसकी गतिविधि तथा परिणामों का कारण सहित व्याख्या प्रस्तुत की जा सके। स्पष्टतः वेबर सामाजिक क्रिया को आधारभूत परमाणु (Atom) मानते हैं जिस पर समाज का अस्तित्व टिका हुआ है। इसी कारण रेमण्ड एरन ने वेबर के समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया की अवधारणा को एक अस्तित्ववादी अवधारणा कहा है।

सामाजिक क्रिया के संबंध में वेबर का कहना है कि किसी भी क्रिया को सामाजिक क्रिया तभी कहा जा सकता है जब इस क्रिया को करने वाले व्यक्तियों के द्वारा लगाये गये आत्मनिष्ठ अर्थ के कारण यह क्रिया दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार द्वारा प्रभावित हो तथा उसी के अनुसार इसकी गतिविधि निर्धारित हो स्पष्टतः वेबर के अनुसार सामाजिक क्रिया अर्थपूर्ण होती है और यह किसी बाह्य क्रिया के रूप में प्रकट होती है। वेबर साफ शब्दों में कहा है कि हर क्रिया सामाजिक क्रिया नहीं है बल्कि किसी भी क्रिया को सामाजिक क्रिया मानने से पूर्व चार बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

प्रथमतः, सामाजिक क्रिया दूसरे व्यक्तियों के भूत, वर्तमान या भावी व्यवहार द्वारा प्रभावित हो सकती है। जैसे—किसी ने किसी के साथ दुर्व्यवहार किया और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप यदि वह उसके साथ मारपीट करता है तो वेबर के अनुसार यह सामाजिक क्रिया है। उसी तरह यदि कोई विद्यार्थी I.A.S. पदाधिकारी बनने के लिए प्रतियोगिता की तैयारी करता है तो उसकी यह क्रिया भी सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत आती है। स्पष्टतः सामाजिक क्रिया कहलाने के लिए भूत, वर्तमान या भविष्य की घटनाओं से जुड़ा होना जरूरी है।

द्वितीय, वेबर का कहना है कि अकेले में या किसी जड़ पदार्थ के सामने की गई क्रिया सामाजिक क्रिया नहीं है। सामाजिक क्रिया कहलाने के लिए एक सामाजिक परिवेश होना जरूरी है। इनके अनुसार अकेले में बैठकर मूर्ति के सामने पूजा करना सामाजिक क्रिया नहीं है लेकिन यदि कोई व्यक्ति पूजा कर रहा है और, दूसरा व्यक्ति उससे पूजा करता रहा है तो वह सामाजिक क्रिया है क्योंकि यहाँ दोनों के व्यवहार एक-दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं।

तृतीय, वेबर का कहना है कि केवल सम्पर्क मात्र से ही सामाजिक क्रिया नहीं हो जाती। दरअसल, सामाजिक क्रिया के लिए अन्तर्क्रिया का होना आवश्यक है। जैसे— दो व्यक्ति बस में एक जगह समान सीट पर बैठें और किसी कारणवश आपस में टकरा जाएँ तो यह तब तक सामाजिक क्रिया नहीं हो सकती जब तक कि एक दूसरे को देखकर वे मुस्कुरा न दें, क्षमा याचना न कर दें, आदि—आदि। स्पष्टतः सामाजिक क्रिया के लिए सम्पर्क के साथ-साथ संचार का होना भी आवश्यक है।

चतुर्थतः, वेबर का यह कहना है कि बहुत से व्यक्तियों के द्वारा की जानेवाली एक सी क्रिया को तब तक सामाजिक क्रिया नहीं कहा जा सकता है जब तक कि वे एक दूसरे को प्रभावित न कर दें। यहाँ वेबर

का स्पष्ट शब्दों में कहना है कि मात्र अनुकरण (Emulation) करता है या उनके आदर्शों पर चलता है तो यह सामाजिक क्रिया है।

ऊपर की चर्चाओं से स्पष्ट है कि वेबर के अनुसार, सामाजिक क्रिया के लिए एक सामाजिक परिवेश का होना आवश्यक है। हर क्रिया के पीछे प्रेरणा (Motive) होती है जो क्रिया करने को प्रेरित करती है। इसे अर्थपूर्ण होना चाहिए और साथ ही यह भी स्पष्ट है कि बिना अर्न्तक्रिया के सामाजिक क्रिया का अस्तित्व नहीं होता। वेबर का यह भी कहना है कि हर क्रिया के पीछे कोई प्रेरणा (Motive) होती है जिसे वेबर ने उस क्रिया का कारण माना है। वेबर सामाजिक क्रिया के अध्ययन में उसी प्रेरणा का पता लगाने पर बल देते हैं। स्पष्टतः वेबर सामाजिक क्रिया के उस अर्थ को महत्व नहीं देते हैं जो बाहरी व्यक्तियों के द्वारा लगाया जाता है, बल्कि उनका कहना है कर्त्ता अपनी क्रिया का जो अर्थ लगाता है उसे जानना समाजशास्त्रियों का काम है।

वेबर ने सामाजिक क्रिया को चार भागों में बाँटा है। वे हैं—

1. तार्किक क्रिया
2. मूल्यात्मक क्रिया
3. प्रभावात्मक क्रिया (भावानात्मक क्रिया)
4. परम्परागत क्रिया

तार्किक क्रिया वेबर के अनुसार, उस क्रिया को कहते हैं जब कोई कर्त्ता अपने लक्ष्य का निर्धारण तथा उसे प्राप्त करने के लिए विभिन्न साधनों का चुनाव अपनी क्षमता एवं विवेक के अनुसार करता है। यदि कोई कर्त्ता अपने लक्ष्य तथा साधनों के बीच संतुलन नहीं रखता है तो इस क्रिया को तार्किक क्रिया नहीं कहा जा सकता है। जैसे—एक व्यक्ति धनी बनना चाहता है और अगर इसके लिए व्यवसाय करता है तो उसकी यह क्रिया तार्किक कहलायेगी। पर यदि वह डकैती या तस्करी करता है तो उसकी यह क्रिया तार्किक नहीं कहलायेगी क्योंकि धनी बनने के लिए उसने जिन साधनों को अपनाया है वह समाज में स्वीकृत नहीं हैं।

दूसरे प्रकार की क्रिया को स्पष्ट करते हुए अब्राहम और मॉर्गन ने लिखा है कि इस प्रकार की क्रिया में कर्त्ता किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साधनों का तर्कपूर्ण उपयोग तो करता है पर जिन लक्ष्यों का चुनाव वह करता है वे विशेष मूल्य पर आधारित होते हैं जैसे— किसी डूबते हुए जहाज के साथ उसका कप्तान स्वयं भी डूब जाने का निर्णय लेते हैं तो उसकी वह क्रिया एक विशेष मूल्य से सम्बन्धित है। ऐसा इसलिए कि जहाज छोड़कर निकल जाने से लोग उसे सम्मानपूर्ण दृष्टि से नहीं देखेंगे। इसी मूल्य से प्रभावित होकर यदि वह जहाज नहीं छोड़ता है तो उसकी यह क्रिया मूल्यात्मक क्रिया कहलाती है। इस तरह वे समस्त क्रियायाँ जो नैतिक, धार्मिक या आदर्शात्मक आचारों पर की जाती हैं वे इसी श्रेणी में आती हैं। जैसे— ईश्वर का भजन करना, दान पुण्य करना या हिन्दुओं के द्वारा अपनी ही जाति में विवाह करना आदि।

तीसरे प्रकार की क्रिया प्रभावात्मक (Affectual) क्रिया हैं जो प्रेम, दया, सहानुभूति आदि से प्रभावित होकर की जाती हैं। इसके साथ ही यदि क्रोध एवं घृणा से प्रभावित होकर भी क्रियाएँ की जाती हैं तो वे इसी श्रेणी में आती हैं। जैसे— खेल के मैदान में यदि एक खिलाड़ी दूसरे खिलाड़ी को चोट पहुँचाकर भी मैच जीतना चाहता है तो उसे प्रभावात्मक क्रिया कहेंगे। इसी तरह यदि एक व्यक्ति किसी डूबते हुए व्यक्ति को रस्सी फेंककर उसे डूबने से बचाने का प्रयास करता है तो उसे प्रभावात्मक क्रिया कहेंगे। स्पष्टतः यह कहा जा सकता है कि इस तरह की क्रियाओं में आवेग का तत्व होता है।

परम्परागत क्रिया के अन्तर्गत वे क्रियाएँ आती हैं जिनका संबंध परम्पराओं, प्रथाओं रीति-रिवाजों आदि से होता है। इस तरह की क्रिया में तार्किकता का अभाव पाया जाता है। दरअसल, ऐसी क्रियाएँ परम्पराओं के निर्वाह के लिए की जाती हैं। जैसे माता-पिता द्वारा बच्चों की पालन-पोषण करना, समाज में बड़ों की इज्जत करना, अतिथि सत्कार करना आदि क्रियाएँ इसी श्रेणी में आती हैं।

यद्यपि वेबर ने अपने सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है लेकिन फिर भी यह आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। **रेमण्ड एरन (Raymond Aron)** ने लिखा है कि वेबर ने सामाजिक क्रियाओं की अवधारणा को सामाजिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले एक अमूर्त अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया है। इस कारण इसका वैशयिक विश्लेषण करना कठिन हो गया है। द्वितीय, वेबर ने सामाजिक क्रिया की अवधारणा में आत्मनिष्ठ (Subjective) अर्थ को तो स्पष्ट किया है पर उन्होंने सामाजिक क्रिया की वस्तुनिष्ठता (Objectivity) पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। साथ ही, आधुनिक विश्व की एक प्रमुख विशेषता तार्किकीकरण (Rationalization) की है। फलस्वरूप तार्किक क्रियाओं का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है, अतः तार्किक क्रियाओं के अध्ययन पर अब ज्यादा ध्यान देने की आवश्यकता है।

ऊपर की चर्चाओं के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र के अल्प विकसित स्तर में अध्ययन विषय का मूल विषय-वस्तु बनाकर प्रस्तुत किया जो अपने आप में एक महत्वपूर्ण योगदान है। वेबर के इस सामाजिक क्रिया का प्रभाव हमें पारसंस की सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त पर भी देखने का मिलता है जो इस सिद्धान्त की महत्ता को और ज्यादा स्पष्ट करता है।

22.4 टॉलकट पारसंस का सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त (Social Action Theory of Talcott Parsons)–

टॉलकट पारसंस (Talcott Parsons) ने 1937 में अपनी पुस्तक ‘**The Structure of Social Action**’ में सर्वप्रथम अपने सामाजिक क्रिया सम्बन्धी विचारों का स्पष्ट उल्लेख किया। यह सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त ही पारसंस की समाजशास्त्रीय विचारधारा का सर्वप्रमुख अंग है। पारसंस ने अपने सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त को विश्लेषणात्मक रूप में प्रस्तुत किया और उनका यही सिद्धान्त बाद में सामाजिक व्यवस्था सिद्धान्त के रूप में हमारे समक्ष आया।

वे एक ऐसे सिद्धान्त का निर्माण करना चाहते थे जो विश्लेषणात्मक यथार्थवाद से सम्बन्धित हो। उनके द्वारा जिस सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त का निर्माण किया गया है, वह सामाजिक क्रिया पर ही आधारित है। पारसंस के सिद्धान्त निर्माण का उद्देश्य विश्लेषणात्मक यथार्थवाद (Analytical Realism) को जानना था। उनका उद्देश्य था कि आनुभविकता के पीछे जो यथार्थवाद है, उसे उजागर किया जाये।

उन्होंने विश्लेषणोपरान्त इन समाज वैज्ञानिकों को तीन पृथक्-पृथक् अवधारणाओं के अन्तर्गत रखा–

1. **उपयोगितावाद (Utilitarianism)**
2. **प्रत्यक्षयवाद (Positivism)**
3. **आदर्शवाद (Idealism)**

1. उपयोगितावाद (Utilitarianism)

उपयोगितावाद के अन्तर्गत क्लासिकल अर्थशास्त्री **मार्शल, रिकार्डो तथा एडम स्मिथ** आदि आते हैं। उपयोगितावादियों ने यह तर्क दिया कि व्यक्ति बाजार में वस्तुओं का तोलमोल उनकी उपयोगिता के

आधार पर करते हैं। पारसंस को उपयोगितावादियों का यह दृष्टिकोण रास नहीं आया और उनको ऐसा आभास हुआ कि उपयोगितावादी अवधारणा के माध्यम से किसी सर्वसम्मत समाज की कल्पना असम्भव है क्योंकि उपयोगितावाद समाज में गला-काट प्रतियोगिता को जन्म देती है।

2. प्रत्यक्षवाद (Positivism)

प्रत्यक्षवाद के अनतर्गत पारसंस ने परेटो, दुर्खीम, मेक्स वेबर आदि की सैद्धान्तिक अवधारणाओं का विश्लेषण किया। प्रत्यक्षवाद की मान्यता है कि जिस प्रकार भौतिक घटनाओं के सम्बन्ध होते हैं वैसे ही सम्बन्ध सामाजिक घटनाओं में पाये जाते हैं। पारसंस को प्रत्यक्षवादियों का यह मत स्वीकार नहीं था कि भौतिक घटनाओं की भांति ही हम सामाजिक घटनाओं के सम्बन्धों को भी देख सकते हैं। फिर भी, उनको प्रत्यक्षवादियों की "तार्किकता" अच्छी लगी।

3. आदर्शवाद (Idealism)

पारसंस ने इसका भी विश्लेषण किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि आदर्शवाद समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निश्चित आधार नहीं बन सकता क्योंकि व्यक्ति का सामाजिक जीवन कभी-कभी विचारों की धारा से कट जाता है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण के क्षेत्र में पारसंस ने संश्लेषण या एकीकरण का कार्य किया है। उन्होंने उपयोगितावाद, प्रत्यक्षवाद और आदर्शवाद से बहुत कुछ उधार लिया है और उनका सामाजिक क्रिया की सिद्धान्त इन तीनों का समन्वित स्वरूप है।

सामाजिक क्रिया का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Action)

पारसंस ने अपनी पुस्तक 'The Structure of Social Action' और शिल्स (Shils) के साथ लिखी गयी अपनी पुस्तक 'Towards and Theory of Social' में स्पष्ट किया है कि सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त एक स्वैच्छिक सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त स्वैच्छिक इस कारण है कि कर्ता (Actor) अपने लक्ष्य (Goal) हासिल करने के लिए मौजूद विकल्पों में उसे जो उचित दिखाई देता है, उसे वह अपनाता है। पारसंस का मानना है कि "सामाजिक क्रिया कर्ता परिस्थिति व्यवस्था (Actor Situation System) में वह प्रक्रिया है जिसका कि अकेले कर्ता के लिए या सामूहिक रूप में उस समूह के कुछ व्यक्तियों के लिए प्रेरणात्मक महत्व होता है।"

प्रत्येक क्रिया को सम्पन्न करने के लिए किसी-न-किसी कर्ता की आवश्यकता होती है। कर्ता कोई एक व्यक्ति या अपने व्यक्ति भी हो सकते हैं। क्रिया का स्वरूप व प्रकृति क्या होगी, यह उस समय की परिस्थिति पर निर्भर है। अलग-अलग परिस्थितियों में कर्ता की क्रियाएं भी भिन्न-भिन्न होंगी। कर्ता किसी उद्देश्य की प्राप्ति या प्रेरणा से प्रेरित होकर ही क्रिया करता है। समाजशास्त्र के अनुसार, "उद्देश्य निहित गतिविधि ही क्रिया है।" (Action is a goal directed activity)। प्रेरणा का जन्म शरीर से, समाज से और संस्कृति से हो सकता है।

इस प्रकार पारसंस का सामाजिक क्रिया का स्वैच्छिक सिद्धान्त उपयोगितावाद, प्रत्यक्षवाद और आदर्शवाद को अपने अन्दर समाहित कर लेता है। पारसंस ने सामाजिक क्रिया के स्वैच्छिक सिद्धान्त में उपयोगितावाद, प्रत्यक्षवाद और आदर्शवाद की आलोचना करने के पश्चात् स्पष्ट रूप से यह मत व्यक्त किया कि इन तीनों अवधारणाओं का उपयोग प्रकार्यवादी सिद्धान्त के निर्माण में होना चाहिए। पारसंस

सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त निर्माण में इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सामाजिक स्थिति में कर्ता अपनी इच्छा (Voluntary) से निर्णय लेता है।

पारसंस ने अपने सिद्धान्त निर्माण में वेबर से बहुत कुछ उधार लिया है। वेबर के अनुसार क्रिया वह है जिसके पीछे कर्ता का अपना अर्थ (Verstehen) निहित होता है। इसी आधार पर पारसंस ने कहा है कि क्रिया करने का अर्थ कर्ता स्वयं परिभाषित करता है। पारसंस ने सामाजिक क्रिया का परिभाषित करते हुए लिखा है, "सामाजिक क्रिया वह गतिविधि है जिसका उद्देश्य किसी न किसी लक्ष्य को प्राप्त करना होता है।"

उपरोक्त परिभाषा से यह निष्कर्ष निकला कि जब कर्ता लक्ष्य प्राप्ति के उद्देश्य से कोई गतिविधि करता है तब वह सामाजिक क्रिया बन जाती है। निम्न सूत्र से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाएगी—

सामाजिक क्रिया = गतिविधि + लक्ष्य

यदि किसी क्रिया से लक्ष्य को हटा दिया जाए तो वह सामाजिक क्रिया न बनकर मात्र एक गतिविधि रह जाएगी। जैसे—

सामाजिक क्रिया – लक्ष्य = गतिविधि

22.5 पारसंस के सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त में अभिप्रेरण तथा मूल्य (Motivation and Values in Parsons' Theory of Social Action)

पारसंस के अनुसार कर्ता के समक्ष क्रिया सम्पादन के दौरान अनेक अभिप्रेरण और मूल्य होते हैं जिनका प्रभाव क्रिया की दशा पर निश्चित रूप से पड़ता है। पारसंस ने निम्नलिखित तीन प्रकार के अभिप्रेरण और मूल्यों की चर्चा की है—

अभिप्रेरण के प्रकार—

1. संज्ञानात्मक अभिप्रेरण (Cognitive Motivation)–

इन अभिप्रेरणों द्वारा क्रिया से जुड़ी सूचनाएं कर्ता को उपलब्ध करायी जाती हैं।

2. संवेगात्मक अभिप्रेरण (Cathatic Motivation)–

ये ऐसे अभिप्रेरण हैं जिनके साथ कर्ता का संवेगात्मक लगाव होता है। जैसे रमेश का तीर्थ यात्रा के दौरान मात्र पूजा-पाठ से जुड़े रहना तथा सैर सपाटे से अपने आप को दूर रखना।

3. मूल्यांकनात्मक अभिप्रेरण (Evaluative Motivation)–

इन अभिप्रेरणों द्वारा कर्ता अपने द्वारा की जाने वाली क्रिया का हानि-लाभ की दृष्टि से मूल्यांकन करता है।

मूल्यों के प्रकार—

सामाजिक क्रिया के सम्पादन से पूर्व कर्ता क्रिया से सम्बन्धित मूल्यों को देखता है क्योंकि पारसंस का मत है कि कर्ता के ऊपर व्यक्तिगत और समूह के मूल्यों के भी निम्नलिखित तीन प्रकार बतलाये हैं—

1. **संज्ञानात्मक (Cognitive)**— इन मूल्यों के द्वारा कर्ता क्रिया का वस्तुनिष्ठता से मूल्यांकन करता है।
2. **प्रशंसात्मक (Appreciative)**— इन मूल्यों के आधार पर व्यक्ति की समूह और समाज द्वारा प्रशंसा की जाती है।
3. **नैतिक (Moral)**— इन मूल्यों के आधार पर क्रिया के नैतिकता के स्तर का मूल्यांकन किया जाता है। इन मूल्यों का सम्बन्ध नैतिकता से होता है।

पारसंस ने अपने सैद्धान्तिकरण में उपयोगितावाद, प्रत्यक्षवाद तथा आदर्शवाद का समन्वय किया है। पारसंस के अनुसार सामाजिक क्रिया का उद्देश्य कुछ निश्चित अवस्थाओं में लक्ष्य प्राप्ति होता है। इन निश्चित अवस्थाओं में अभिप्रेरण और मूल्यों की भूमिका अत्यधिक महत्व-पूर्ण होती है।

क्रिया की संशोधित अवधारणा में पारसंस ने यह स्पष्ट किया कि सामाजिक क्रिया मुख्यतः व्यवस्था की तीन उप-व्यवस्थाओं से प्रभावित होती है। यह –व्यवस्थाएँ इस प्रकार हैं :

- **सामाजिक क्रिया एवं प्रतिमान**— पारसंस ने स्पष्ट किया कि कर्ता जब विशेष परिस्थितियों में अपने लक्ष्य और साधनों का चयन करता है जब उसकी चेतना सामाजिक प्रतिमानों से प्रभावित होती है। लक्ष्य और साधनों का चयन जिन प्रतिमानित विकल्पों से प्रभावित होता है, उन्हें पारसंस ने पाँच युग्मों में विभाजित करके स्पष्ट किया है। प्रतिमानित विकल्पों के यह युग्म अथवा जोड़े इस प्रकार हैं, सार्वभौमिकता बनाम व्यक्तिवादिता, विशिष्टता बनाम मिश्रित, विशिष्टता बनाम मिश्रित, रागात्मक निष्पक्षता बनाम रागात्मकता, अर्जित बनाम प्रदत्त, समूह केन्द्रता बनाम स्व-केन्द्रता। इन प्रतिमानित विकल्पों के द्वारा पारसंस ने यह स्पष्ट किया कि कर्ता द्वारा की जाने वाली क्रिया स्वेच्छाचारी नहीं होती बल्कि उस पर सामाजिक नियन्त्रण का एक स्पष्ट प्रभाव होता है। इनकी विस्तृत विवेचना हम 'प्रतिमानित विकल्प' की आगामी विवेचना में करेंगे।
- **सामाजिक क्रिया तथा अन्य क्रिया-व्यवस्थाएँ**— पारसंस तथा एडवर्ड शिल्स ने अपनी पुस्तक 'टुवर्डस ए जनरल थियरी ऑफ एक्शन' में स्पष्ट किया कि व्यक्ति अथवा कर्ता द्वारा की जाने वाली क्रियाओं के कार्य-कारण के रूप में कुछ प्रेरणाओं का विशेष स्थान होता है। यह प्रेरणाएँ मुख्य रूप से तीन हैं:
 - ज्ञानात्मक प्रेरणा**— वह प्रेरणा है जिसमें व्यक्ति तथ्यों और विश्वासों का निर्धारण उचित की भावना अथवा किसी अन्य प्रकार के ज्ञान के आधार पर करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब व्यक्ति की क्रिया किसी जिज्ञासा, विश्वास, अथवा उपलब्ध ज्ञान से प्रभावित होती है तब इसे ज्ञानात्मक प्रेरणा से प्रेरित होने वाली सामाजिक क्रिया कहा जाता है।
 - भावनात्मक प्रेरणा**— वह दूसरी प्रेरणा है जो कर्ता द्वारा की जाने वाली क्रिया का आधार होती है। इस प्रेरणा से प्रभावित सामाजिक क्रियाएँ विवेक या तर्क पर आधारित नहीं होती हैं।
 - मूल्यांकन प्रेरणा**— विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित होती है। तथा इसमें विश्वास या भावना का कोई समावेश नहीं होता। यह प्रेरणा कर्ता को किसी भी क्रिया को करने से पहले परिस्थितियों का तटस्थ मूल्यांकन करने के लिए प्रेरित करती है। पारसंस और शिल्स ने बतलाया कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और अवसरों पर विभिन्न कर्ताओं की क्रियाएँ इनमें से अलग-अलग

प्रेरणाओं से संचालित हो सकती है। अथवा एक ही कर्त्ता विभिन्न अवसरों पर इन तीनों तरह की प्रेरणाओं से प्रभावित हो सकता है। इतना अवश्य है कि कोई भी कर्त्ता जब अनेक लक्ष्यों और साधनों में से कुछ विशेष लक्ष्यों तथा साधनों का चयन करके कोई क्रिया करता है तब वह इन्हीं प्रेरणाओं में से होकर गुजरता है।

- **सामाजिक क्रिया तथा भूमिका-व्यवस्थाएँ**— पारसन्स के मतानुसार समाज में कोई क्रिया करते समय कर्त्ता की अपनी विशिष्ट भूमिकाएँ होती हैं। इन भूमिकाओं का कर्त्ता द्वारा की जाने वाली क्रियाओं के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि पारसन्स ने व्यक्ति को केवल कर्त्ता के रूप में ही स्वीकार नहीं किया। बल्कि उनके अनुसार व्यक्ति भूमिका धारक भी होता है। उदाहरण के लिए परिवार में क्रिया करने वाला व्यक्ति एक पिता, पुत्र अथवा भाई की भूमिका का भी धारक होता है। तथा उसके द्वारा की जाने वाली क्रियाओं पर उसकी भूमिका का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। सामाजिक क्रिया और भूमिका व्यवस्था के सह संबंध का उल्लेख करते हुये पारसन्स ने भूमिका व्यवस्था को दो भागों में विभाजित किया है।

पहली भूमिका व्यवस्था वह है, जिसमें कर्त्ता जिन अनव्यक्ति के बीच रहकर क्रिया करता है। वो उनकी क्रियाओं से प्रभावित होता है। कोई भी क्रिया करने से पहले वह अवश्य सोचता है कि दूसरे कर्त्ता के साथ किस तरह का व्यवहार करने से उसका व्यवहार अन्य कर्त्ता के व्यवहार के समान बन सकता है। इस क्रिया को पारसन्स ने तकनीकी भूमिका व्यवहार का नाम दिया।

दूसरी भूमिका व्यवस्था कर्त्ता के उन वास्तविक व्यवहारों से सम्बन्धित है जो कर्त्ता अनव्यक्तियों के साथ करता है। इसके द्वारा पारसन्स ने यह बतलाया कि कोई भी सामाजिक क्रिया करने से पहले प्रत्येक कर्त्ता अन्य कर्त्ताओं से प्रभावित होता है। तथा अन्य कर्त्ताओं को प्रभावित करता है।

सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत पारसन्स ने विशेष रूप से पाँच तत्वों को माना है। जो तत्व हैं—

1. कर्त्ताओं की बहुलता,
2. लक्ष्यों की अनेकता,
3. साधनों की विविधता, परिस्थितियाँ तथा
4. उत्प्रेरण।

अपनी पुस्तक सोशल सिस्टम में पारसन्स ने पुनः स्पष्ट किया है कि सामाजिक क्रिया को सामाजिक व्यवस्था की एक प्रमुख इकाई के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है, उन्होंने लिखा है कि समाज की व्यवस्था मानवीय क्रिया व्यवस्था की एक प्रमुख उप-व्यवस्था है। पारसन्स का कथन है कि प्रत्येक समाज व्यवस्था इसलिए बनी रहती है कि कर्त्ता समाज के मूल्यों और सामाजिक प्रतिमानों से प्रभावित होकर ही कोई क्रिया करता है।

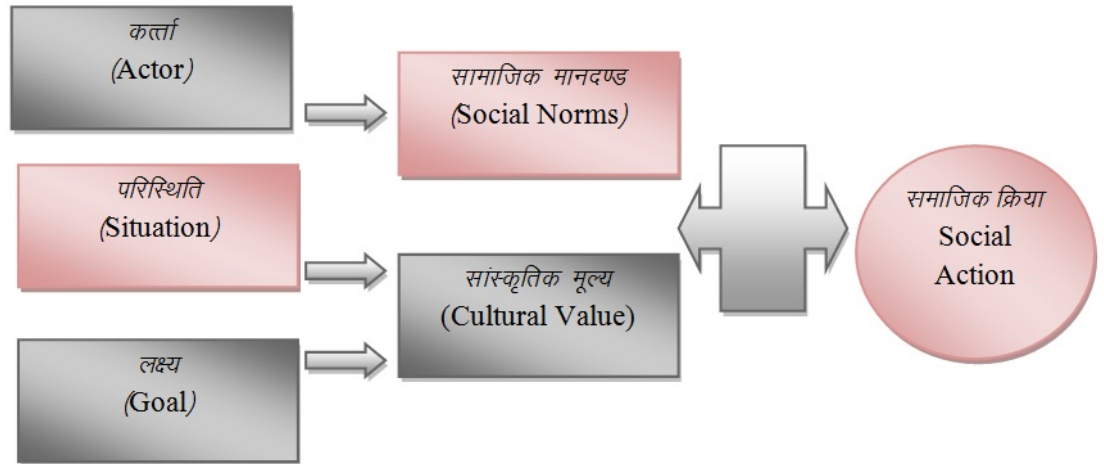
22.6 सामाजिक क्रिया की रूपरेखा (Outline of Social Action)—

इसके अन्तर्गत पारसन्स ने निम्न रूपरेखा प्रस्तुत की है जिससे कि सामाजिक क्रिया की अवधारणा व्याख्या अत्यधिक सरल रूप में स्पष्ट हो जाती है—

1. कर्त्ता / सामूहिकता (Actor/Collectivity)

2. लक्ष्य (Goal)
3. स्थिति/दृष्टा (Situation)– इसके अन्तर्गत दो स्थितियां आती हैं–
अ–भौतिक (Physical) तथा
ब–अभौतिक (Non Physical)।
4. कर्ता की स्थिति के विशय में अभिस्थापना (Actor's Orientation to situation)–
इसके अन्तर्गत मानक और मूल्य (Norms and Values) आते हैं।
5. कर्ता के अभिप्रेरण (Actor's Motivation)– इनको पारसंस ने तीन भागों में विभक्त किया है–
अ–संज्ञानात्मक अभिप्रेरण (Cognitive Motivation)
ब–संवेगात्मक अभिप्रेरण (Cathatic Motivation)
स–मूल्यांकनात्मक अभिप्रेरण (Evaluative Motivation)
6. मूल्य अभिस्थापन (Value Orientation)–इनको भी पारसंस ने तीन भागों में विभाजित किया है–
अ–संज्ञानात्मक अभिस्थापन(Cognitive Orientation)
ब–प्रशंसात्मक अभिस्थापन (Appreciative Orientation)
स–नैतिक अभिस्थापन (Moral Orientation)

चित्र :- पारसंस का सामाजिक क्रिया



पारसंस ने अपने सैद्धान्तीकरण में उपयोगितावाद, प्रत्यक्षवाद तथा आदर्शवाद का समन्वय किया है। पारसंस के अनुसार सामाजिक क्रिया का उद्देश्य कुछ निश्चित अवस्थाओं में लक्ष्य प्राप्ति होता है। इन निश्चित अवस्थाओं में अभिप्रेरण और मूल्यों की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है।

पारसंस का सामाजिक क्रिया का स्वैच्छिक सिद्धान्त विभिन्न अवधारणाओं का समन्वय है। इस सिद्धान्त का प्रमुख आधार कर्ता या सामूहिकता है। कोई भी क्रिया बिना अभिप्रेरण और मूल्य के नहीं होती

है क्योंकि बिना अभिप्रेरण और मूल्य के कर्ता अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकता है। पारसंस ने कर्ता द्वारा की जाने वाली इन क्रियाओं को किसी भी व्यवस्था के संदर्भ में यूनिट एक्ट्स (Unit Acts) हैं। यूनिट एक्ट्स (Unit Acts) के पीछे लक्ष्य और अभिप्रेरण होते हैं तथा भौतिक और अभौतिक परिस्थितियां अनिवार्य रूप से होती हैं।

22.7 सारांश—

इस इकाई के अध्ययन से आप जान चुके हैं कि सामाजिक क्रिया क्या है। पैरेटो ने सामाजिक क्रिया के दो प्रकार की चर्चा की है। मैक्स वेबर के अनुसार, सामाजिक क्रिया की अवधारणा तथा इसके प्रकार। साथ ही पारसंस के सामाजिक क्रिया का सिद्धांत, पारसंस ने सामाजिक क्रिया में किन तत्वों को समावेश किया है।

22.8 पारिभाषिक शब्दावली—

विषिष्ट चालक (Residues) – पैरेटो के अनुसार, मनुष्य की अधिकांश क्रिया कुछ चालकों पर निर्भर होती है। पैरेटो ने इन्हीं चालकों को विषिष्ट चालक कहा है। इनकी प्रकृति बहुत कुछ संवेगों से मिलती जुलती होती है। इसी कारण विषिष्ट चालकों को संवेगों की अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाता है।

भ्रान्त तर्क (Derivations)— पैरेटो ने अपने सामाजिक क्रिया के विश्लेषण क्रम में भ्रान्त तर्क की चर्चा की। जब कर्ता कोई अतार्किक क्रिया करता है तो अपने क्रिया को सही साबित करने के लिए भ्रान्त तर्क का सहारा लेता है, जिससे यह क्रिया का औचित्य साबित हो सके। इसी प्रकार के तर्क को भ्रान्त तर्क कहा जाता है।

22.9 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

- पैरेटो के अनुसार, सामाजिक क्रिया कितने प्रकार के हैं?
(क) एक (ख) दो
(ग) तीन (घ) चार
- समाजशास्त्र, सामाजिक क्रिया का व्याख्यात्मक बोध कराने वाला विज्ञान है, किसने कहा?
(क) हरबर्ट स्पेन्सर (ख) पैरेटो
(ग) मैक्स वेबर (घ) पारसंस
- मैक्स वेबर के अनुसार, सामाजिक क्रिया कितने प्रकार के हैं?
(क) दो (ख) तीन
(ग) चार (घ) पाँच
- सामाजिक क्रिया का स्वैच्छिक सिद्धांत किसने प्रस्तुत किया है?
(क) मैक्स वेबर (ख) पारसंस
(ग) पारसंस (घ) पैरेटो
- इनमें से कौन सामाजिक क्रिया के व्यक्तिनिष्ठ अर्थ पर जोर देते हैं?
(क) मैक्स वेबर (ख) पारसंस
(ग) पैरेटो (घ) दुर्खीम
- सामाजिक क्रिया को सम्पन्न होने के लिए इनमें से कौन कर्ता परिस्थिति एवं प्रेरणा को आवश्यक मानते हैं?

- | | |
|----------------|------------|
| (क) मैक्स वेबर | (ख) पैरेटो |
| (ग) दर्खीम | (घ) पारसंस |
7. पारसंस के अनुसारक्रिया के तत्वहैं—
- | | |
|-----------|----------------|
| क. कर्ता | ग. परिस्थिति |
| ख. लक्ष्य | घ. उपरोक्त सभी |

उत्तर— 1—ख, 2—ग, 3—ग, 4—ख, 5—क, 6—घ ।

22.10 संदर्भ ग्रंथ सूची—

- (1) शम्भूलाल दोशी एवं मधुसूदन त्रिवेदी, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (1997)
रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 40-150
- (2) एस. एल. दोशी एवं पी. सी. जैन, सामाजिक विचारक (1997), सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 100-350
- (3) डा. शीबा सिद्दीकी, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (2012)
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली, P- 24&30
- (4) डा. एम. एम. लवानिया एवं शशी के. जैन, सैद्धान्तिक समाजशास्त्र (1998),
रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, P- 129-175
- (5) एस. एस. पाण्डेय, टीएमएच, P- 16.1, 16.9
- (6) डा० अफरोज एकबाल, भारत में सामाजिक परिवर्तन दशा एवं दिशा, ल्यूसेंट पटना, P 1- 55

22.11 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री—

- (1) M. Francis Abraham, Modern Sociological Theory, Oxford University, Press Bombay, Calcutta, Madras (1982) —P- 40-88
- (2) Sujit Kumar Choudhary, Thinkers and Theories in Sociology — P 181-220

22.12 निबन्धात्मक प्रश्न—

- (1) सामाजिक क्रिया की अवधारणा को परिभाषित करते हुए बतायें कि पैरेटो ने सामाजिक क्रिया के कितने प्रकार बताए हैं?
- (2) पैरेटो के अनुसार अतार्किक क्रिया के क्या कारण हैं?
- (3) मैक्स वेबर के अनुसार, सामाजिक क्रिया कितने प्रकार के होते हैं? वर्णन करें।
- (4) पारसंस द्वारा स्थापित सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त का वर्णन करें।
- (5) सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त में पारसंस का योगदान दर्शाइए। इस सिद्धान्त की क्या मर्यादाएँ हैं?

इकाई 23 — संरचनात्मक-प्रकार्यवाद एवं प्रतिमान चर (Structural-Functionalism And Pattern Variable)

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 पारसंस के अनुसार संरचना तथा व्यवस्था

23.3 पारसंस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था की पूर्व आवश्यकताएँ

23.4 प्रतिमान चर

23.5 आलोचनात्मक मूल्यांकन

23.6 सारांश

23.7 पारिभाषिक शब्दावली

23.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

23.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

23.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

23.11 निबंधात्मक प्रश्न

23.0 उद्देश्य—

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप जान पायेंगे कि

1. प्रकार्यवाद क्या है ?
2. टालकट पारसन्स के सामाजिक संरचना के चार प्रमुख प्रारूपों क्या हैं?
3. प्रकार्यवाद से सम्बन्धित विभिन्न विद्वानों के विचार क्या हैं ?
4. पारसन्स द्वारा दिये हुए प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं क्या हैं?
5. प्रतिमान चर की अवधारणा क्या है?

प्रकार्यवाद के क्षेत्र में टैलकॉट पारसन्स का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वे एक ऐसे समाजशास्त्री थे जिन्होंने स्पेन्सर एवं दुर्खीम के प्रकार्यवाद को मालिनॉस्की एवं रैडक्लिफ-ब्राउन के मानवशास्त्रीय साहित्य से निकालते हुए इसे फिर से समाजशास्त्र में स्थापित किया। पारसन्स का विचार है

कि समाज का सही अध्ययन संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक (Structural Functional) दृष्टिकोण से ही संभव है। सामाजिक व्यवस्था की यथार्थता को तब तक भली-भाँति नहीं समझा जा सकता जब तक कि उनको गठित करने वाली इकाइयों के प्रकार्यों को अच्छी तरह समझ नहीं लिया जाय।

23.1 प्रस्तावना—

प्रकार्यवाद से तात्पर्य वैसे दृष्टिकोण से है जो मानता है, कि समाज की जो भी इकाई है या जो भी इकाई अस्तित्व में है उसका समाज के लिए कोई सकारात्मक योगदान होता है। प्रकार्यवाद के क्षेत्र में टॉलकट पारसन्स (Talcott Parsons) का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वे एक ऐसे समाजशास्त्री थे जिन्होंने स्पेन्सर एवं दुर्खीम के प्रकार्यवाद को मैलिनीस्की एवं रेडक्लक-ब्राउन के मानव शास्त्र साहित्य से निकालते हुए इसे फिर से समाजशास्त्र में स्थापित किया। पारसन्स का विचार है कि समाज का सही अध्ययन संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक (Structural-functional) दृष्टिकोण से ही सम्भव है। सामाजिक व्यवस्था की यथार्थता को तब तक भली-भाँति नहीं समझा जा सकता जब तक कि उनको गठित करने वाली इकाइयों के प्रकार्यों को अच्छी तरह समझ नहीं लिया जाये।

23.2 पारसन्स के अनुसार सामाजिक संरचना तथा व्यवस्था

पारसन्स के अनुसार सामाजिक संरचना या व्यवस्था के अध्ययन से हमें यही ज्ञात होता है कि इसके अंतर्गत अनेक परस्पर सम्बन्धित इकाइयाँ हैं जो सम्पूर्ण व्यवस्था या संरचना को एक निश्चित प्रतिरूप प्रदान करती हैं। पारसन्स के अनुसार उन अन्तःसम्बन्धित इकाइयों के अध्ययन का उत्तम तरीका यह है कि इन्हें सामान्यीकृत संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक व्यवस्था के रूप में देखा जाय। समाज व्यवस्था को हमें एक गतिशील व्यवस्था के रूप में देखना चाहिए।

समाजशास्त्र में सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था के दो भाग माने जाते हैं। प्रथम सामाजिक संरचना, द्वितीय प्रकार्य। अतः सामाजिक व्यवस्था को भी समझना आवश्यक है। मानव जीवन के क्रम और निरन्तरता को बनाए रखने के लिये समाज का महत्वपूर्ण योगदान है। इसीलिए मानव जीवन के अस्तित्व एवं प्रगति के लिये सामाजिक व्यवस्था आवश्यक है। व्यवस्था का अभिप्राय उस क्रमबद्धता से है जो किसी संरचना के विभिन्न इकाइयों के मध्य एक निश्चित प्रकार्यात्मक आधार पर पायी जाती है व्यवस्था को निम्नलिखित बिन्दुओं से समझा जा सकता है।

- व्यवस्था का निर्माण एक से अधिक इकाइयों से होता है और ये सभी इकाइयाँ क्रमबद्ध रूप में एक-दूसरे से जुड़ी होती हैं।
- व्यवस्था का संबंध एक संरचना से होता है। संरचना के बिना व्यवस्था नहीं हो सकती।
- व्यवस्था एक ऐसी स्थिति का बोध कराती है। जिसमें विभिन्न तत्व अनेकता से एकता के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं।
- व्यवस्था के निर्णायक अनेक इकाइयों एक-दूसरे से इस प्रकार अन्तःसम्बन्धित होती हैं कि वे प्रकार्यात्मक आधार पर महत्वपूर्ण होती हैं।

- व्यवस्था में परिवर्तनशीलता होती है क्योंकि व्यवस्था का संबंध आवश्यकता पूर्ति से होता है। और व्यक्तियों की आवश्यकता में परिवर्तन होते रहने से व्यवस्था की संरचना में परिवर्तन होता रहता है।
- व्यवस्था कुछ इकाइयों का संयोग मात्र नहीं है, अपितु इसे व्यवस्था तभी कह जा सकता है जब वह समाज के लिए उपयोगी है।

एम.ई. जोन्स ने लिखा है सामाजिक व्यवस्था वह स्थिति है जिसमें समाज के विभिन्न क्रियाशील इकाइयाँ एक-दूसरे से तथा सम्पूर्ण समाज के साथ अपूर्ण ढंग से जुड़कर कार्य करती है। जोन्स की परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक व्यवस्था में केवल सहयोग का ही समावेश होना आवश्यक नहीं है। समाज में वस्तुतः सहयोग और संघर्ष सभी प्रकार के तत्त्व क्रियाशील रहते हैं। लेकिन सामाजिक व्यवस्था का आशय उस स्थिति से लगाया जाता है जिसमें प्रत्येक भाग को एक-दूसरे से अन्तःक्रिया करने और अपने सामाजिक हितों को पूरा करने के अधिकतम अवसर प्राप्त हो सके।

पारसन्स ने सामाजिक व्यवस्था को परिभाषित करते हुए लिखा है “ एक सामाजिक परिस्थिति में जिसका की एक भौतिक तथा एक पर्यावरणीय संबंधी पक्ष होता है। जब अनेक व्यक्ति कर्त्ता सामान्यतः स्वीकृत सांस्कृतिक प्रतीकों की व्यवस्था के अन्तर्गत आदर्श लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अन्तःक्रिया कर रहे होते हैं तब इसी स्थिति को हम सामाजिक व्यवस्था कहते हैं।” पारसन्स आगे लिखते हैं, “सामाजिक व्यवस्था क्रिया की एक संगठित प्रणाली है, जिसमें बहुत से कार्यकर्त्ताओं की अन्तःक्रियाओं का समावेश होता है।”

सामाजिक व्यवस्था में अनेक वैयक्तिक कर्त्ताओं के बीच ‘अन्तःक्रियाएँ’ होती हैं जिनका एक ‘आदर्श लक्ष्य’ होता है। सामाजिक व्यवस्था का सम्बन्ध अनुकूल परिस्थितियों के सन्तुलन से होता है, जिसके अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था को संगठित रखने के लिए कुछ स्वीकृत सांस्कृतिक प्रतीकों के अनुसार ही अन्तःक्रिया की जाती है। पारसन्स की सामाजिक व्यवस्था को इन पक्षों में समझा जा सकता है—प्रथम पक्ष वह है, जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होता है, जिसे संरचनात्मक पक्ष कहा जाता है। दूसरा पक्ष यह है, जो अनेक संस्थाओं के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था को समाज उपयोगी बनाता है और स्थायित्व प्रदान करता है जिसे संस्थात्मक पक्ष कहते हैं।

पारसन्स सामाजिक व्यवस्था में तीन तत्वों पर विशेष बल देते हैं—

- सामाजिक क्रिया
- कर्त्ता
- प्रस्थिति एवं भूमिका।

चार्ल्स पी. लूमीस ने सामाजिक व्यवस्था को समाज में पाई जाने वाली एक आन्तरिक स्थिति माना है और बताया है कि इसके लिए आन्तरिकरण का अध्ययन आवश्यक है, जिनमें सामाजिक प्रक्रियाओं की गतिशीलता ही सामाजिक उन्नति तथा उसके स्थायित्व को

बनाये रखने में मदद करती है। सामाजिक व्यवस्था में पायी जाने वाली सामाजिक अन्तःक्रियाओं के परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। चार्ल्स लूमीस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था के नौ महत्वपूर्ण तथ्य हैं। इसका वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक सोशल सिस्टम में की है। जो निम्नलिखित हैं—

| | |
|---|----------------------|
| ❖ | विश्वास और ज्ञान |
| ❖ | भावनाएँ |
| ❖ | लक्ष्य |
| ❖ | आदर्श नियम |
| ❖ | प्रस्थिति एवं भूमिका |
| ❖ | पद |
| ❖ | शक्ति अथवा सत्ता |
| ❖ | मान्यताएँ |
| ❖ | सुविधा |

सामाजिक व्यवस्था के व्यवस्था के विशेषताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं पर समझा जा सकता है।

- सामाजिक व्यवस्था में एक से अधिक कर्त्ता व्यक्ति होते हैं जो अधिकतम संतुष्टि के लिये प्रेरित होकर अन्तःक्रिया करते हैं। व्यक्तियों की अन्तःक्रिया को एक सूत्र में पिरोने का काम व्यवस्था के मूल्य और प्रतिमान करते हैं।
- सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न तत्त्वों में जो एकता पायी जाती है। उसका आधार प्रकार्यात्मक संबंध होता है।
- सामाजिक व्यवस्था में अन्तःक्रिया करने वाले व्यक्ति व्यवस्था के मूल्यों के प्रति सहमति रखते हैं।
- सामाजिक व्यवस्था में अनूकूलन का गुण होता है इसके दो पक्ष हैं। प्रथम – सामाजिक व्यवस्था जड़ और स्थिर नहीं है अथवा ये गतिशील होती है। द्वितीय— इस गतिशीलता के कारण इसका अनूकूलन बाह्य परिस्थितियों से होता रहता है।
- सामाजिक व्यवस्था यह मानकर चलती है कि समाज में निरन्तरता और सतर्कता होती है। यद्यपि सामाजिक व्यवस्था की इकाइयां परिवर्तनशील होती है। लेकिन इससे संपूर्ण व्यवस्था की संरचना और इसके प्रकार्यों में कोई अन्तर नहीं आता।
- सामाजिक व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता साम्यवास्था है अर्थात् व्यवस्था की यह प्रकृति होती है। कि वे अपनी यथास्थिति को बनाए रखे।
- सामाजिक व्यवस्था एक सामाजिक परिस्थिति में जिसका की एक भौतिक तथा एक पर्यावरणीय संबंधी पक्ष होता है। जब अनेक व्यक्ति कर्त्ता सामान्यतः स्वीकृत सांस्कृतिक प्रतीकों की व्यवस्था के अन्तर्गत आदर्श लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अन्तःक्रिया कर रहे होते हैं तब इसी स्थिति को हम सामाजिक व्यवस्था कहते हैं।
- सामाजिक व्यवस्था में संतुलन एवं क्रमबद्धता होती है।

- प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था की एक निश्चित सीमा होती है।
- प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था की सामाजिक, संस्कृतिक परिस्थितियों के अन्तर्गत व्यक्ति के व्यवहारों पर नियंत्रण रखने के लिए आदर्श नियमों की एक व्यवस्था होती है।

23.3 पारसन्स के अनुसार सामाजिक संरचना के चार प्रमुख प्रारूप

टालकट पारसन्स ने अपनी सामाजिक संरचना के चार प्रमुख प्रारूपों का उल्लेख किया है। चार प्रकार के सामाजिक मूल्यों पर आधारित है—

- सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य
- विशिष्ट सामाजिक मूल्य
- अर्जित सामाजिक मूल्य
- प्रदत्त सामाजिक मूल्य

पारसन्स का मानना है कि सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य वो होते हैं। जो कि समस्त समाजों में व्यापक रूप से पाये जाते हैं। और सभी व्यक्तियों पर लागू होते हैं। इसके विपरीत विशिष्ट सामाजिक मूल्य किन्हीं विशेष सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं। अर्जित सामाजिक मूल्य वे होते हैं जिन्हें एक व्यक्ति अपने प्रत्यन्तो द्वारा प्राप्त करता है। जबकि परंपरा द्वारा निर्धारित पदों से सम्बन्धित मूल्य, प्रदत्त सामाजिक मूल्य कहे जाते हैं। इन्हीं चार सामाजिक मूल्यों के आधार पर पारसन्स ने सामाजिक संरचना के चार प्रारूपों को समझाया है।

1. **सार्वभौमिक अर्जित प्रतिमान—** सामाजिक संरचना के इस प्रथम प्रतिमान में सार्वभौमिक एवं अर्जित प्रकार के सामाजिक मूल्यों का समावेश होता है। सार्वभौमिक मूल्यों में समाज में नातेदारी, समुदाय, प्रजाति अथवा वर्ग आदि के सम्बन्ध प्रभावित होते हैं। इन मूल्यों के कारण व्यक्ति को कुछ निश्चित पदों की प्राप्ति होती है। लेकिन इनसे समाज की गतिशीलता में कमी आती है। एवं रुढ़िवादिता में वृद्धि होती है। इसके विपरीत अर्जित सामाजिक मूल्यों को व्यक्ति अपने परिश्रम से प्राप्त करता है। अतः अर्जित मूल्य व्यक्तिगत एवं सामूहिक अर्जन को प्राप्त करते हैं। इससे प्रथा एवं परम्परा का विशेष प्रभाव नहीं रहता। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था अर्जित मूल्यों का एक उदाहरण है। जिसमें धन के अर्जन एवं संचय को काफी महत्व दिया जाता है। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के सामाजिक मूल्यों के संयोग से सार्वभौमिक अर्जित प्रतिमान का निर्माण होता है। पारसन्स के अनुसार औद्योगिक समाजों की संरचना इस प्रकार के प्रतिमानों का उदाहरण है इस प्रकार के समाजों की संरचना में वर्ग व्यवस्था पायी जाती है। जो कि सार्वभौमिक मूल्यों पर आधारित है। साथ ही अर्जित मूल्यों का भी महत्व होता है।
2. **सार्वभौमिक प्रदत्त प्रतिमान—** पारसन्स के अनुसार सामाजिक संरचना के इस प्रतिमान में सार्वभौमिक मूल्य तो वही होते हैं। जिनका उल्लेख प्रथम प्रतिमान में है लेकिन इनमें अर्जित मूल्यों का स्थान प्रदत्त मूल्य ले लेते हैं। इसमें अतीत तथा भविष्य से संबंधित दोनों प्रकार के आदर्श प्रतिमान में संयुक्त रूप से सम्मिलित रहते हैं। आदर्शों के चुनाव में रुढ़ियों और परम्पराओं को विशेष महत्व नहीं दिया जाता। फलस्वरूप व्यक्तियों के समक्ष आदर्शों की अधिकता रहती है। साथ ही परिस्थितियों के अनुसार इनमें परिवर्तन भी होता रहता है। पारसन्स ने इस प्रकार के प्रतिमान का उदाहरण “ आधुनिक वैज्ञानिक समाजों” का दिया है जिनमें दोनों प्रकार के मूल्यों का समावेश है।

3. **विशिष्ट-अर्जित प्रतिमान-** इस प्रकार के प्रतिमान में सार्वभौमिक मूल्यों की अपेक्षा विशिष्ट सामाजिक मूल्यों की प्रमुखता रहती है। ये सामाजिक मूल्य विशेष सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं, जो पारलौकिक भी हो सकते हैं। इसके साथ अर्जित मूल्यों का समावेश कर सामाजिक संरचना के इस प्रतिमान को प्रस्तुत किया गया है। पारसन्स के अनुसार प्राचीन भारतीय व चीनी सामाजिक संरचना को इस श्रेणी के प्रतिमान में रखा जा सकता है। मैक्स बेबर ने कन्फ्यूशियन चीनी सामाजिक संरचना का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आता है।
4. **विशिष्ट-प्रदत्त प्रतिमान-** पारसन्स के अनुसार सामाजिक संरचना का अन्तिम प्रारूप विशिष्ट एवं प्रदत्त सामाजिक मूल्यों के संयोग से बना है। इस प्रकार के सामाजिक संरचना में रक्त-सम्बन्ध और स्थानीय समुदायों पर आधारित समूह पाये जाते हैं। नैतिकता का महत्व इस प्रकार की संरचना की एक विशेषता है। यहाँ विशिष्ट वैयक्तिक गुणों को विशेष महत्व दिया जाता है। पारसन्स के अनुसार स्पेन की सामाजिक संरचना इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

सामाजिक संरचना का अभिप्राय उस स्वरूप से है, जो समाज के विभिन्न अंगों के संयुक्त होने के उपरान्त एक निश्चित क्रमबद्धता के रूप में विकसित होता है। समाज के विभिन्न अंगों की प्रकृति एक-दूसरे से भिन्न है अतः प्रकृति के अनुसार ही सामाजिक संरचना के अनेक रूप हैं।

आधुनिक समाजशास्त्र में संरचनात्मक प्रकार्यवाद का वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का महत्वपूर्ण श्रेय पारसन्स के शिष्य आर० के० मर्टन को जाता है।

मर्टन के प्रकार्यवादी विचारों पर मानवशास्त्री मालिनॉफस्की, रैडक्लिफ-ब्राउन, क्लाइड क्लकहॉन आदि का काफी प्रभाव है।

टैलकॉट पारसन्स, आर० के० मर्टन, डेविस, स्मेलसर इत्यादि प्रकार्यवादियों ने सामाजिक व्यवस्था को दो स्तरों पर देखने का प्रयास किया है— एक संरचना के स्तर पर और दूसरा प्रकार्य के स्तर पर। यहाँ हम सामाजिक व्यवस्था के दोनों स्तरों पर बारी-बारी से विचार करना चाहेंगे।

सामान्यतः सामाजिक व्यवस्था से तात्पर्य किसी बहुत बड़े सामाजिक समूह की व्यवस्था से है। उसी अर्थ में हम हिन्दू समाज, मुस्लिम समाज, या सिक्ख समाज की बात करते हैं। कभी-कभी तो हम उससे भी बड़ी सामाजिक व्यवस्था को ध्यान में रखकर इस शब्द का प्रयोग करते हैं, जैसे— भारतीय समाज, चीनी समाज, अमरीकी समाज इत्यादि। सामाजिक व्यवस्था का यह अर्थ गलत नहीं है, लेकिन मात्र यही अर्थ है, यह भी सही नहीं है। मात्र दो व्यक्ति भी सामाजिक समूह का निर्माण कर सकते हैं और उस समूह को भी सामाजिक व्यवस्था कहा जा सकता है, जैसे— मूल परिवार एक सामाजिक व्यवस्था है।

पारसन्स ने समस्त समाज को एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखने का प्रयास किया है। यहाँ इस विषय पर कुछ लिखने के पहले पाठकों को यह याद दिलाना आवश्यक है कि पारसन्स ने समाज को मकीवर एवं पेज की तरह परिभाषित करने का प्रयास नहीं किया है, बल्कि समाज को एक मूर्त व्यवस्था के रूप में देखने का प्रयास किया है। पारसन्स ने समाज की व्याख्या जिस रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, उसे ही ध्यान में रखकर जॉनसन ने अपनी पुस्तक 'व्यवस्थावहल में विस्तारपूर्वक समाज की चर्चा की है।

पारसन्स की सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त को ठीक से समझने के लिए उनके सामाजिक क्रिया सिद्धान्त (Theory of Action) को समझ लेना आवश्यक है। उन्होंने 'क्रिया' (Action) शब्द का प्रयोग सामाजिक व्यवहार (Social Behaviour) के पर्यायवाची के रूप में किया है। सामाजिक क्रिया किसे कहते हैं यह समझने के लिए सामाजिक क्रिया की संरचना (Structure of Social Action) को समझना आवश्यक है।

टॉलकट पारसंस (Talcott Parsons) ने 1937 में अपनी पुस्तक '**The Structure of Social Action**' में सर्वप्रथम अपने सामाजिक क्रिया सम्बन्धी विचारों का स्पष्ट उल्लेख किया। यह सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त ही पारसंस की समाजशास्त्रीय विचारधारा का सर्वप्रमुख अंग है। पारसंस ने अपने सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त को विश्लेषणात्मक रूप में प्रस्तुत किया और उनका यही सिद्धान्त बाद में सामाजिक व्यवस्था सिद्धान्त के रूप में हमारे समक्ष आया।

वे एक ऐसे सिद्धान्त का निर्माण करना चाहते थे जो विश्लेषणात्मक यथार्थवाद से सम्बन्धित हो। उनके द्वारा जिस सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त का निर्माण किया गया है, वह सामाजिक क्रिया पर ही आधारित है। पारसंस के सिद्धान्त निर्माण का उद्देश्य विश्लेषणात्मक यथार्थवाद (Analytical Realism) को जानना था। उनका उद्देश्य था कि आनुभविकता के पीछे जो यथार्थवाद है, उसे उजागर किया जाये।

उन्होंने विश्लेषणोपरान्त इन समाज वैज्ञानिकों को तीन पृथक्-पृथक् अवधारणाओं के अन्तर्गत रखा-

1. **उपयोगितावाद (Utilitarianism)**
2. **प्रत्यक्षवाद (Positivism)**
3. **आदर्शवाद (Idealism)**

1. उपयोगितावाद (Utilitarianism)

उपयोगितावाद के अन्तर्गत क्लासिकल अर्थशास्त्री **मार्शल, रिकार्डो तथा एडम स्मिथ** आदि आते हैं। उपयोगितावादियों ने यह तर्क दिया कि व्यक्ति बाजार में वस्तुओं का तोलमोल उनकी उपयोगिता के आधार पर करते हैं। पारसंस को उपयोगितावादियों का यह दृष्टिकोण रास नहीं आया और उनको ऐसा आभास हुआ कि उपयोगितावादी अवधारणा के माध्यम से किसी सर्वसम्मत समाज की कल्पना असम्भव है क्योंकि उपयोगितावाद समाज में गला-काट प्रतियोगिता को जन्म देती है।

2. प्रत्यक्षवाद (Positivism)

प्रत्यक्षवाद के अन्तर्गत पारसंस ने **पेरेटो, दुर्खीम, मेक्स वेबर** आदि की सैद्धान्तिक अवधारणाओं का विश्लेषण किया। प्रत्यक्षवाद की मान्यता है कि जिस प्रकार भौतिक घटनाओं के सम्बन्ध होते हैं वैसे ही सम्बन्ध सामाजिक घटनाओं में पाये जाते हैं। पारसंस को प्रत्यक्षवादियों का यह मत स्वीकार नहीं था कि भौतिक घटनाओं की भांति ही हम सामाजिक घटनाओं के सम्बन्धों को भी देख सकते हैं। फिर भी, उनको प्रत्यक्षवादियों की "तार्किकता" अच्छी लगी।

3. आदर्शवाद (Idealism)

पारसंस ने इसका भी विश्लेषण किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि आदर्शवाद समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निश्चित आधार नहीं बन सकता क्योंकि व्यक्ति का सामाजिक जीवन कभी-कभी विचारों की धारा से कट जाता है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण के क्षेत्र में पारसंस ने संश्लेषण या एकीकरण का कार्य किया है। उन्होंने उपयोगितावाद, प्रत्यक्षवाद और आदर्शवाद से बहुत कुछ उधार लिया है और उनका सामाजिक क्रिया की सिद्धान्त इन तीनों का समन्वित स्वरूप है।

पारसंस ने अपनी पुस्तक 'The Structure of Social Action' और शिल्स (Shils) के साथ लिखी गयी अपनी पुस्तक 'Towards and Theory of Social' में स्पष्ट किया है कि सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त एक स्वैच्छिक सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त स्वैच्छिक इस कारण है कि कर्ता (Actor) अपने लक्ष्य (Goal) हासिल करने के लिए मौजूद विकल्पों में उसे जो उचित दिखाई देता है, उसे वह अपनाता है। पारसंस का मानना है कि "सामाजिक क्रिया कर्ता परिस्थिति व्यवस्था (Actor Situation System) में वह प्रक्रिया है जिसका कि अकेले कर्ता के लिए या सामूहिक रूप में उस समूह के कुछ व्यक्तियों के लिए प्रेरणात्मक महत्व होता है।"

प्रत्येक क्रिया को सम्पन्न करने के लिए किसी-न-किसी कर्ता की आवश्यकता होती है। कर्ता कोई एक व्यक्ति या अपने व्यक्ति भी हो सकते हैं। क्रिया का स्वरूप व प्रकृति क्या होगी, यह उस समय की परिस्थिति पर निर्भर है। अलग-अलग परिस्थितियों में कर्ता की क्रियाएं भी भिन्न-भिन्न होंगी। कर्ता किसी उद्देश्य की प्राप्ति या प्रेरणा से प्रेरित होकर ही क्रिया करता है। समाजशास्त्र के अनुसार, "उद्देश्य निहित गतिविधि ही क्रिया है।" (Action is a goal directed activity)। प्रेरणा का जन्म शरीर से, समाज से और संस्कृति से हो सकता है।

इस प्रकार पारसंस का सामाजिक क्रिया का स्वैच्छिक सिद्धान्त उपयोगितावाद, प्रत्यक्षवाद और आदर्शवाद को अपने अन्दर समाहित कर लेता है। पारसंस ने सामाजिक क्रिया के स्वैच्छिक सिद्धान्त में उपयोगितावाद, प्रत्यक्षवाद और आदर्शवाद की आलोचना करने के पश्चात् स्पष्ट रूप से यह मत व्यक्त किया कि इन तीनों अवधारणाओं का उपयोग प्रकार्यवादी सिद्धान्त के निर्माण में होना चाहिए। पारसंस सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त निर्माण में इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सामाजिक स्थिति में कर्ता अपनी इच्छा (Voluntary) से निर्णय लेता है।

पारसंस ने अपने सिद्धान्त निर्माण में वेबर से बहुत कुछ उधार लिया है। वेबर के अनुसार क्रिया वह है जिसके पीछे कर्ता का अपना अर्थ (Verstehen) निहित होता है। इसी आधार पर पारसंस ने कहा है कि क्रिया करने का अर्थ कर्ता स्वयं परिभाषित करता है। पारसंस ने सामाजिक क्रिया का परिभाषित करते हुए लिखा है, "सामाजिक क्रिया वह गतिविधि है जिसका उद्देश्य किसी न किसी लक्ष्य को प्राप्त करना होता है।"

उपरोक्त परिभाषा से यह निष्कर्ष निकला कि जब कर्ता लक्ष्य प्राप्ति के उद्देश्य से कोई गतिविधि करता है तब वह सामाजिक क्रिया बन जाती है। निम्न सूत्र से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाएगी—
सामाजिक क्रिया = गतिविधि + लक्ष्य

यदि किसी क्रिया से लक्ष्य को हटा दिया जाए तो वह सामाजिक क्रिया न बनकर मात्र एक गतिविधि रह जाएगी। जैसे—
सामाजिक क्रिया – लक्ष्य = गतिविधि

पारसंस के अनुसार कर्ता के समक्ष क्रिया सम्पादन के दौरान अनेक अभिप्रेरण और मूल्य होते हैं जिनका प्रभाव क्रिया की दशा पर निश्चित रूप से पड़ता है। पारसंस ने निम्नलिखित तीन प्रकार के अभिप्रेरण और मूल्यों की चर्चा की है—

अभिप्रेरण के प्रकार—

1. **संज्ञानात्मक अभिप्रेरण (Cognitive Motivation)**— इन अभिप्रेरणों द्वारा क्रिया से जुड़ी सूचनाएं कर्ता को उपलब्ध करायी जाती हैं।
2. **संवेगात्मक अभिप्रेरण (Cathatic Motivation)**— ये ऐसे अभिप्रेरण हैं जिनके साथ कर्ता का संवेगात्मक लगाव होता है। जैसे रमेश का तीर्थ यात्रा के दौरान मात्र पूजा-पाठ से जुड़े रहना तथा सैर सपाटे से अपने आप को दूर रखना।
3. **मूल्यांकनात्मक अभिप्रेरण (Evaluative Motivation)**— इन अभिप्रेरणों द्वारा कर्ता अपने द्वारा की जाने वाली क्रिया का हानि-लाभ की दृष्टि से मूल्यांकन करता है।

मूल्यों के प्रकार—

सामाजिक क्रिया के सम्पादन से पूर्व कर्ता क्रिया से सम्बन्धित मूल्यों को देखता है क्योंकि पारसंस का मत है कि कर्ता के ऊपर व्यक्तिगत और समूह के मूल्यों के भी निम्नलिखित तीन प्रकार बतलाये हैं—

1. **संज्ञानात्मक (Cognitive)**— इन मूल्यों के द्वारा कर्ता क्रिया का वस्तुनिष्ठता से मूल्यांकन करता है।
2. **प्रशंसात्मक (Appreciative)**— इन मूल्यों के आधार पर व्यक्ति की समूह और समाज द्वारा प्रशंसा की जाती है।
3. **नैतिक (Moral)**— इन मूल्यों के आधार पर क्रिया के नैतिकता के स्तर का मूल्यांकन किया जाता है। इन मूल्यों का सम्बन्ध नैतिकता से होता है।

पारसंस ने अपने सैद्धान्तीकरण में उपयोगितावाद, प्रत्यक्षवाद तथा आदर्शवाद का समन्वय किया है। पारसंस के अनुसार सामाजिक क्रिया का उद्देश्य कुछ निश्चित अवस्थाओं में लक्ष्य प्राप्ति होता है। इन निश्चित अवस्थाओं में अभिप्रेरण और मूल्यों की भूमिका अत्यधिक महत्व-पूर्ण होती है।

सामाजिक क्रिया की रूपरेखा (Outline of Social Action)—

इसके अन्तर्गत पारसंस ने निम्न रूपरेखा प्रस्तुत की है जिससे कि सामाजिक क्रिया की अवधारणा व्याख्या अत्यधिक सरल रूप में स्पष्ट हो जाती है—

1. कर्ता/सामूहिकता (Actor/Collectivity)
2. लक्ष्य (Goal)
3. स्थिति/दशा (Situation)— इसके अन्तर्गत दो स्थितियां आती हैं—
अ-भौतिक (Physical) तथा
ब-अभौतिक (Non Physical)।

4. कर्ता की स्थिति के विषय में अभिस्थापना (Actor's Orientation to situation)– इसके अन्तर्गत मानक और मूल्य (Norms and Values) आते हैं।
5. कर्ता के अभिप्रेरण (Actor's Motivation)– इनको पारसंस ने तीन भागों में विभक्त किया है–
 - अ–संज्ञानात्मक अभिप्रेरण (Cognitive Motivation)
 - ब–संवेगात्मक अभिप्रेरण (Cathatic Motivation)
 - स–मूल्यांकनात्मक अभिप्रेरण (Evaluative Motivation)
6. मूल्य अभिस्थापन (Value Orientation)–इनको भी पारसंस ने तीन भागों में विभाजित किया है–
 - अ–संज्ञानात्मक अभिस्थापन(Cognitive Orientation)
 - ब–प्रशंसात्मक अभिस्थापन (Appreciative Orientation)
 - स–नैतिक अभिस्थापन (Moral Orientation)

पारसंस ने अपने सैद्धान्तीकरण में उपयोगितावाद, प्रत्यक्षवाद तथा आदर्शवाद का समन्वय किया है। पारसंस के अनुसार सामाजिक क्रिया का उद्देश्य कुछ निश्चित अवस्थाओं में लक्ष्य प्राप्ति होता है। इन निश्चित अवस्थाओं में अभिप्रेरण और मूल्यों की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है।

पारसंस का सामाजिक क्रिया का स्वैच्छिक सिद्धान्त विभिन्न अवधारणाओं का समन्वय है। इस सिद्धान्त का प्रमुख आधार कर्ता या सामूहिकता है। कोई भी क्रिया बिना अभिप्रेरण और मूल्य के नहीं होती है क्योंकि बिना अभिप्रेरण और मूल्य के कर्ता अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकता है। पारसंस ने कर्ता द्वारा की जाने वाली इन क्रियाओं को किसी भी व्यवस्था के संदर्भ में यूनिट एक्ट्स (Unit Acts) हैं। यूनिट एक्ट्स (Unit Acts) के पीछे लक्ष्य और अभिप्रेरण होते हैं तथा भौतिक और अभौतिक परिस्थितियां अनिवार्य रूप से होती हैं।

सामाजिक व्यवस्था की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि सामाजिक व्यवस्था एक ऐसी परिस्थिति में जिसका की कम-से-कम एक भौतिक या पर्यावरण संबंधी पहलू हो। अपनी इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति को प्रवृत्ति से प्रेरित एकाधिक व्यक्तिक कर्त्ताओं का एक-दूसरे के साथ अन्तर्क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इन अन्तर्क्रियाओं में लगे हुए व्यक्तियों का पारस्परिक संबंध तथा उनकी परिस्थितियों के संबंध, सांस्कृतिक रूप में संरचित तथा स्वीकृत प्रतीकों की एक व्यवस्था द्वारा परिभाषित एवं मध्य स्थित होती है।

समाज व्यवस्था के तीन महत्वपूर्ण अंग हैं।

1. व्यक्तित्व व्यवस्था
2. सांस्कृतिक व्यवस्था
3. सामाजिक व्यवस्था

ये तीनों आपस में अर्न्तनिहित एवं अर्न्तसंबंधित होते हैं। इन तीनों में से किसी एक के अभाव में की समाज व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती है।

पारसन्स का यह भी कहना है कि किसी भी समाज-व्यवस्था को बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी कुछ पूर्व आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय।

23.4 पारसन्स के अनुसार सामाजिक व्यवस्था की पूर्व आवश्यकताएँ

1. जैविकीय पूर्व आवश्यकताएँ
2. सांस्कृतिक पूर्व आवश्यकताएँ
3. प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएँ

जैविकीय पूर्व आवश्यकताएँ— इसमें तीन बातें शामिल की जाती हैं—

- समाज में पर्याप्त संख्या में सदस्य हो।
- लोगों में जननक की व्यवस्था होनी चाहिये।
- कर्त्ता को अपनी बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद भी समय और शक्ति मिलती हो, ताकि वह समाज व्यवस्था में भाग ले सके।

सांस्कृतिक पूर्व आवश्यकताएँ— इसके भी तीन बिन्दु हैं—

- समाज में एक भाषा होनी चाहिये।
- प्रतीक व्यवस्था सुदृढ़ होनी चाहिये।
- संचार-व्यवस्था सुदृढ़ होनी चाहिये।

प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएँ— इसमें निम्नांकित तीन बातें होती हैं—

- बहुत से लोग अनुशासन में रहना चाहते हैं।
- लोगों में निषेधात्मक नियन्त्रण की भावना हो अर्थात् जो लोग नियम भंग करते हों उनकी रोकथाम के लिए व्यवस्था में उचित क्षमता हो।
- लोगों में स्वीकारात्मक कार्यों के प्रति सद्भावना हो अर्थात् जो समाज के लिए उचित कार्य करते हैं, उन्हें मदद करने के लिए लोग तैयार रहते हों।

जब इन सब शर्तों को कोई समाज पूरा करेगा तभी कोई समाज व्यवस्था क्रियान्वित होगी, जिसमें स्थायी और व्यवस्थित अन्तर्व्यवस्था होगी।

प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं पर पारसन्स ने विशेष बल दिया है और इसके अन्तर्गत केवल उन्हीं पूर्व आवश्यकताओं की चर्चा उन्होंने की है जो सार्वभौमिक रूप से मौजूद हो तथा जिसकी पूर्ति

वैज्ञानिक तरीके से की जा सकती है। ये चार हैं इसकी पूर्ति किसी भी समाज-व्यवस्था चार उप-व्यवस्थाएँ करती हैं जो निम्न हैं-

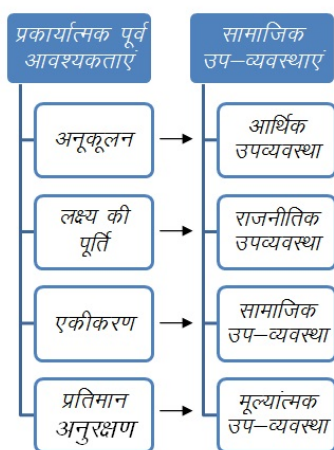
1. अनूकूलन
2. लक्ष्य की पूर्ति
3. एकीकरण
4. प्रतिमान अनुरक्षण (लैटेंसी)

अनूकूलन – सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए आवश्यक है कि सदस्यों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु न्यूनतम भोजन, वस्त्र आवास आदि की आपूर्ति हो। अतः इन आवश्यकताओं की पूर्ति समाज की **आर्थिक उप-व्यवस्था** करती हैं।

लक्ष्य प्राप्ति – किसी भी समाज के लिए जरूरी है कि उसके लक्ष्यों का निर्धारण किया जाये तथा उसकी प्राप्ति हेतु संसाधनों का चुनाव एवं उनका संगठन किया जाए। अतः इन आवश्यकताओं की पूर्ति समाज की **राजनीतिक उप-व्यवस्था** करती हैं।

प्रतिमान अनुरक्षण – समाज की निरंतरता हेतु आवश्यक है कि इसके प्रतिमानों को बनाये रखा जाए तथा व्यवस्था में तनावों का निराकरण किया जाए।

चूंकि समाज एक आत्म अनुरक्षित एवं आत्मपोषी व्यवस्था है इसलिये वह अपनी उपरोक्त आवश्यकताओं की पूर्ति भी स्वयं करता है और इस हेतु वह अपने अंगों के रूप में विभिन्न संस्थाओं को विकसित करता है जो अपने प्रकारों द्वारा समाज की इन आवश्यकताओं की पूर्ति करके सामाजिक व्यवस्थाओं को बनाये रखते हैं। जैसे अर्थव्यवस्था अनूकूलन की आवश्यकता को। राजनीतिक व्यवस्था लक्ष्य प्राप्ति की आवश्यकता को तथा परिवार, शिक्षा, व्यवस्था एवं धर्म प्रतिमान अनुरक्षण की आवश्यकता को पूरा करते हुए सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखते हैं।



पारसन्स ने अपने सिद्धान्त में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि कोई भी समाज-व्यवस्था तब तक नहीं बन सकती जब तक कि व्यक्ति कर्त्ता को उसके पद के हिसाब से न कार्य करने दिया

जाए तथा साथ ही सांस्कृतिक व्यवस्था उस अपनी आशाओं के अनुरूप कार्य करने के लिए विवश न करें।

23.5 प्रतिमान चर (Pattern Variable)

सामाजिक संबंधों के द्विभाजन की एक विशिष्ट योजना के रूप में पारसंस ने प्रतिमान चर की अवधारणा को रखा है। व्यवहार का वह तरीका या प्रतिमान या मूल्य जिसके चयन में कर्त्ता के समक्ष परिवर्तन की गुंजाइश होती है। प्रतिमान चर कहलाता है। जो मूलतः कर्त्ताओं द्वारा संपन्न की जाने वाली अंत-क्रियाओं के विभिन्न तरीकों। व्यवहार प्रतिमानों या सांस्कृतिक मूल्यों का वर्गीकरण है।

पारसंस ने इन व्यवहार प्रतिमानों एवं सांस्कृतिक के मूल्यों की 5 वैकल्पिक जोड़ों की चर्चा की है जिसको वह प्रतिमान चर की संज्ञा देने हैं। जैसे—

1. स्वहित बनाम सामूहिक हित (Self VS Collectivity)–

कर्त्ता व्यवहार करते समय अपने हितों को प्राथमिकता देते हुए व्यवहार करते समय अपने हितों को प्राथमिकता देते हुए व्यवहार कर सकता है या सामूहिक हितों को प्राथमिकता देते हुए व्यवहार कर सकता है। विद्यालय में आग लगने पर शिक्षक द्वारा सबसे पहले अपने बच्चे को बचाना पहले प्रकार के व्यवहार प्रतिमान का उदाहरण है जबकि सभी बच्चों को समान महत्त्व देते हुए बचान का प्रयास करना दूसरे प्रकार के व्यवहार प्रतिमान को दर्शाता है।

2. सार्वभौमिक बनाम विशिष्ट (Universal VS Particularistic)

कर्त्ता सार्वभौमिक मूल्यों के आधार पर व्यवहार कर सकता है या विशिष्ट मूल्यों के आधार पर भी व्यवहार कर सकता है। जज द्वारा कानून के समक्ष सभी को समान मानते हुए निष्पक्ष निर्णय लेना पहले प्रकार के व्यवहार के प्रतिमान को दर्शाता है जबकि उसके द्वारा अपराधी के साथ किसी रिश्ते को प्राथमिकता देते हुए पक्षपातपूर्ण निर्णय करना दूसरे प्रकार के व्यवहार प्रतिमान का उदाहरण है।

3. भावात्मकता बनाम तटस्थता (Affectivity VS Neutrality)

कर्त्ता किन्हीं संबंधों में भावात्मक रूप से कार्य करता है। एक ग्राहक के साथ व्यवहार प्रथम प्रकार के तथा एक पत्नी के साथ किया गया व्यवहार दूसरे प्रकार के व्यवहार प्रतिमान का उदाहरण है।

4. अर्जित बनाम प्रदत्त (Achievement VS Ascription)

अर्जित बनाम प्रदत्त प्रतिमान चर में व्यक्ति की दुविधा इस बात पर आधारित है कि व्यक्ति अपनी भूमिका का विषय की गुणवत्ता या निष्पादन की दृष्टि से निरूपित करता है। भारत में इस प्रतिमान चर का बहुत अच्छा उदाहरण जाति व्यवस्था द्वारा नियंत्रित भूमिका निष्पादन हैं। जाति व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्तियों की प्रतिष्ठा का निर्धारण उनकी व्यक्तिगत उपलब्धियां या व्यक्तिगत कौशल या ज्ञान के आधार पर न होकर उनके जन्म के आधार पर होता है। प्रदत्त का आधार किसी व्यक्ति में जन्म या आयु या लिंग या नातेदारी अथवा जाति के आधार पर

उस पर योग्यता आरोपित करना है। अर्जित का आधार व्यक्ति द्वारा व्यक्तिगत प्रयास से कौशल अर्जित करके समाज में एक विशेष स्तर तक कार्य निष्पादन के योग्य बनाना है।

5. एक पक्षीय बनाम बहुपक्षीय(Specificity VS Diffuseness)

कर्त्ता वस्तु के एक ही पक्ष तक अपनी रुचि को सीमित रखकर व्यवहार कर सकता है या उसका सभी पक्षों में रुचि लेकर व्यवहार कर सकता है। डॉक्टर का मरीज के साथ किया गया व्यवहार पहले प्रकार के व्यवहार प्रतिमान को जबकि माँ का बेटे के साथ किया गया व्यवहार दूसरे प्रकार का व्यवहार प्रतिमान है।

पारसंस समाज को एक व्यवस्था के रूप में देखते हैं जो एकाधिक कर्त्ताओं के मध्य निरंतर होने वाले प्रतिमानित अंतः क्रियात्मक संबंधों को निर्मित होता है। परंतु यहाँ पारसंस का मानना है कि कर्त्ता एवं सामाजिक व्यवस्था के बीच कोई संबंध पूर्व निर्धारित एवं पूर्व निश्चित नहीं होता है, ऐसी स्थिति में क्रिया करने समय कर्त्ता के समक्ष व्यवहार प्रतिमानों के चयन को लेकर वैकल्पिक दुविधा विद्यमान होती है। अर्थात् प्रतिमानों या सांस्कृतिक मूल्यों को वैकल्पिक जोड़े के रूप में प्रस्तुत करती है और व्यवहार करते समय कर्त्ता इन जोड़ों में से किसी एक का चयन कर उसके अनुसार अपने व्यवहार को संपादित करता है। विभिन्न समाजों या स्थितियों में इन विरोधी परस्पर प्रतिमानों का सामूहिकरण अलग-अलग हो सकता है। जैसे परंपरागत समाज या परिवार में सामूहिक हित, विशिष्टता, प्रदत्त, भावनात्मक, बहुपक्षीय की प्रधानता होती है। जबकि आधुनिक समाज या द्वितीयक समूहों में स्वहित, सार्वभौमिकता, भावनात्मकता, तटस्थता, अर्जित या एकपक्षीय की।



23.6 आलोचनात्मक मूल्यांकन

पारसंस के उपरोक्त विचारों की कई आधारों पर आलोचना की गई है, जैसे—

1. आलोचकों का कहना है कि कर्त्ता द्वारा व्यवहार प्रतिमानों के चयन की सुविधा का समाधान आवश्यक रूप से पारसंस द्वारा बनायी गयी विधि से पारसंस नहीं होता है। पुनः कोई समाधान अंशतः कोई एक श्रेणी का अंशतः दूसरी श्रेणी का हो सकता है जैसे कोई जज सभी पर समाज रूप से कानून का प्रयोग कर सकता है पर दण्ड सुनाते समय किसी अपराधी के रिश्ते से भी प्रभावित हो सकता है।
2. आलोचकों के अनुसार प्रतिमान चर के अंतर्गत यदि चयन शब्द को संकीर्ण अर्थ में लिया जाये तो क्रिया कि योजना बनाते समय किसी व्यक्ति के सामने कई प्रकार के प्रतिमान चर हो सकते हैं। जिसका स्पष्टीकरण पारसंस ने नहीं किया है।
3. आलोचकों का आरोप है कि पारसंस का यह सिद्धान्त यथास्थितिवादिता पर अधिक बल देकर सामाजिक परिवर्तन की संभावनाओं की उपेक्षा करता है। क्योंकि ये समाज को प्रकार्य की पूर्वधारणाओं पर आधारित एक संतुलन मॉडल के रूप में देखता है। जिसमें प्रत्येक सामाजिक संस्था को प्रकार्यात्मक माना जाता है। और ये संस्थाएं व्यवस्था में संतुलन बनाये रखने के लिए निरन्तर क्रियाशील होती हैं। ऐसी स्थिति में, पूरी व्यवस्था को भंग किये बगैर इसे बदल पाना संभव नहीं है। आलोचकों के अनुसार पारसंस की यह मान्यता भी अवैज्ञानिक है।
4. बीरस्टीड के अनुसार पारसंस ने अपने प्रतिमान चर को योजना को आवश्यक रूप से बोझिल बना दिया है। यदि ताश खेलते समय कर्त्ता इन प्रतिमान चरों का प्रयोग करना शुरू कर दे तो उसके लिए ताश खेलना असंभव हो जाएगा।
5. आलोचकों का आरोप है कि पारसंस अपनी इस योजना के माध्यम से क्रिया सिद्धान्त एवं व्यवस्था सिद्धान्त में तालमेल बैठाने में असफल रहा है। यह सिद्धान्त व्यक्तिगत क्रिया संपादन में कर्त्ता को व्यवहार प्रतिमान के विकल्पों में से चयन की स्वतंत्रता तो देता है परन्तु व्यवस्था में व्यवहार प्रतिमान के अन्तर्गत कर्त्ता को व्यवहार करने हेतु बाध्य करता है और वह यह प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक निर्धारणवाद के दुर्गुणों से ग्रसित हो जाता है।

उपरोक्त आलोचनाएँ निश्चित रूप से पारसंस के विचारों में निहित त्रुटियों को उजागर करती हैं। किन्तु न तो ये पर्याप्त हैं और न ही इनके आधार पर पारसंस के विचारों को पूरी तरह खारिज किया जा सकता है। पारसंस की यह अवधारणा सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक क्रिया के मध्य संबंधों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस प्रक्रिया में उनमें यहाँ एक तरफ व्यवहारों के विकल्पों के चयन में कर्त्ता के समक्ष व्यवहार प्रतिमान के सीमित विकल्पों को प्रस्तुत करके और कर्त्ता के व्यवहार को उन प्रतिमानों के अनुसार निर्धारित बताकर कर्त्ता की क्रिया पर समाज के प्रभाव को भी विस्थापित किया है।

इसके अलावा, पारसंस की यह अवधारणा कर्त्ता के क्रियाओं की प्रवृत्ति और उसके माध्यम से समाज की प्रकृति को समझने हेतु एक अंतर्दृष्टि प्रदान करती है जिसके द्वारा विभिन्न समाजों में (परम्परागत या आधुनिक) या विभिन्न समूहों में (प्राथमिक या द्वितीयक) होने वाले क्रियाकलापों की प्रकृति को समझा जा सकता है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि

समाज की प्रकृति एवं स्वरूप को समझने के लिए क्रियात्मक दृष्टिकोण के अंतर्गत प्रतिमान चर की अवधारणा समाजशास्त्र के लिए पारसंस का महत्वपूर्ण योगदान है।

23.7 सारांश –

इस इकाई के अध्ययन से आप जान चुके हैं कि किसी भी कर्ता को क्रिया करने के लिए परिस्थिति एवं लक्ष्य का होना आवश्यक है। साथ ही साथ कर्ता के पास हमेशा दो विकल्प होता है। उन दो विकल्पों में से किसी एक विकल्प को क्रिया करने के लिए चुना जाता है। इसे प्रतिमान चर कहते हैं। उदाहरण के तौर पर स्वहित बनाम सामूहिक हित, सार्वभौमिक बनाम विशिष्ट, भावात्मकता बनाम तटस्थता, अर्जित बनाम प्रदत्त, एक पक्षीय बनाम बहुपक्षीय आदि।

3.8 पारिभाषिक शब्दावली–

विशिष्ट चालक (Residues) – पैरेटो के अनुसार, मनुष्य की अधिकांश क्रिया कुछ चालकों पर निर्भर होती है। पैरेटो ने इन्हीं चालकों को विशिष्ट चालक कहा है। इनकी प्रकृति बहुत कुछ संवेगों से मिलती जुलती होती है। इसी कारण विशिष्ट चालकों को संवेगों की अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाता है।

भ्रान्त तर्क (Derivations)– पैरेटो ने अपने सामाजिक क्रिया के विश्लेषण क्रम में भ्रान्त तर्क की चर्चा की। जब कर्ता कोई अतार्किक क्रिया करता है तो अपने क्रिया को सही साबित करने के लिए भ्रान्त तर्क का सहारा लेता है, जिससे यह क्रिया का औचित्य साबित हो सके। इसी प्रकार के तर्क को भ्रान्त तर्क कहा जाता है।

23.9 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

- पैरेटो के अनुसार, सामाजिक क्रिया कितने प्रकार के हैं?
(क) एक (ख) दो
(ग) तीन (घ) चार
- समाजशास्त्र, सामाजिक क्रिया का व्याख्यात्मक बोध कराने वाला विज्ञान है, किसने कहा?
(क) हरबर्ट स्पेन्सर (ख) पैरेटो
(ग) मैक्स वेबर (घ) पारसंस
- मैक्स वेबर के अनुसार, सामाजिक क्रिया कितने प्रकार के हैं?
(क) दो (ख) तीन
(ग) चार (घ) पाँच
- सामाजिक क्रिया का स्वैच्छिक सिद्धांत किसने प्रस्तुत किया है?
(क) मैक्स वेबर (ख) पारसंस
(ग) पारसंस (घ) पैरेटो
- इनमें से कौन सामाजिक क्रिया के व्यक्तिनिष्ठ अर्थ पर जोर देते हैं?
(क) मैक्स वेबर (ख) पारसंस
(ग) पैरेटो (घ) दुर्खीम
- सामाजिक क्रिया को सम्पन्न होने के लिए इनमें से कौन कर्ता परिस्थिति एवं प्रेरणा को आवश्यक मानते हैं?

- (क) मैक्स वेबर (ख) पैरेटो
(ग) दर्खीम (घ) पारसंस

7. सोशल सिस्टम पुस्तक किस विद्वान ने लिखी?

- (क) मैक्स वेबर (ख) पैरेटो
(ग) दर्खीम (घ) पारसंस

8. अनुकूलन के प्रकार्य को समाज की कौन सी उप-व्यवस्था पूर्ति करती हैं।

- (क) आर्थिक व्यवस्था (ख) राजनैतिक व्यवस्था
(ग) मूल्य व्यवस्था (घ) सामाजिक व्यवस्था

9. लक्ष्य की प्राप्ति के प्रकार्य को समाज की कौन सी उप-व्यवस्था पूर्ति करती हैं।

- (क) आर्थिक व्यवस्था (ख) राजनैतिक व्यवस्था
(ग) मूल्य व्यवस्था (घ) सामाजिक व्यवस्था

10. एकीकरण के प्रकार्य को समाज की कौन सी उप-व्यवस्था पूर्ति करती हैं।

- (क) आर्थिक व्यवस्था (ख) राजनैतिक व्यवस्था
(ग) मूल्य व्यवस्था (घ) सामाजिक व्यवस्था

11. प्रतिमान अनुरक्षण के प्रकार्य को समाज की कौन सी उप-व्यवस्था पूर्ति करती हैं।

- (क) आर्थिक व्यवस्था (ख) राजनैतिक व्यवस्था
(ग) मूल्य व्यवस्था (घ) सामाजिक व्यवस्था

12. प्रतिमान चर का वर्णन किस विद्वान ने किया?

- (क) मैक्स वेबर (ख) पैरेटो
(ग) दर्खीम (घ) पारसंस

13. प्रतिमान चर के कितने जोड़ों की बात पारसंस ने की हैं?

- (क) 3 (ख) 4
(ग) 5 (घ) 6

उत्तर— 1—ख, 2—ग, 3—ग, 4—ग, 5—क, 6—घ, 7—घ, 8—क, 9—ख, 10—घ, 11—घ, 12—घ, 13—ग।

23.10 संदर्भ ग्रंथ सूची—

- (1) शम्भूलाल दोशी एवं मधुसूदन त्रिवेदी, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (1997)
रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 40-150
- (2) एस. एल. दोशी एवं पी. सी. जैन, सामाजिक विचारक (1997), सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 100-350
- (3) डा. शीबा सिद्दीकी, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (2012)
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली, P- 24&30
- (4) डा. एम. एम. लवानिया एवं शशी के. जैन, सैद्धान्तिक समाजशास्त्र (1998),

रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, P- 129-175

(5) एस. एस. पाण्डेय, टीएमएच, P- 16.1, 16.9

(6) डा० अफरोज एकबाल, भारत में सामाजिक परिवर्तन दशा एवं दिशा, ल्यूसेंट पटना, P 1- 55

23.11 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री—

(1) M. Francis Abraham, Modern Sociological Theory, Oxford University, Press Bombay, Calcutta, Madras (1982) —P- 40-88

(2) Sujit Kumar Choudhary, Thinkers and Theories in Sociology — P 181-220

23.12 निबन्धात्मक प्रश्न—

(1) प्रतिमान चर क्या है? इसका वर्णन करें।

(2) पारसंस का संतुलन का विचार क्या है?

(3) मैक्स वेबर के अनुसार, सामाजिक क्रिया कितने प्रकार के होते हैं? वर्णन करें।

(4) पारसंस द्वारा स्थापित सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त का वर्णन करें।

इकाई 24 — सामाजिक व्यवस्था एवं अन्तर्सम्बन्धित उपव्यवस्थाएँ

(SOCIAL SYSTEM AND SUB SYSTEM INTERLINKAGES)

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 पारसंस के अनुसार संरचना तथा व्यवस्था

24.3 पारसंस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था की पूर्व आवश्यकताएँ

24.4 प्रतिमान चर

24.5 आलोचनात्मक मूल्यांकन

24.6 सारांश

24.7 पारिभाषिक शब्दावली

24.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

24.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

24.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

24.11 निबंधात्मक प्रश्न

24.0 उद्देश्य—

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान पाएँगे कि

(1) सामाजिक व्यवस्थाएँ क्या हैं?

(2) सामाजिक संरचना एवं सामाजिक व्यवस्था दोनों ही अवधारणायों एक दूसरे से घनिष्ठतम रूप से सम्बन्धित हैं?

(2) सामाजिक व्यवस्था किस प्रकार सामाजिक उप-व्यवस्था से जुड़ी है।

(3) सामाजिक व्यवस्था का क्या अर्थ है?

24.1 प्रस्तावना—

अमेरिकन समाजशास्त्री टालकॉट पारसन्स ने अपनी पुस्तक "दि सोशल सिस्टम" (The Social System) 1951 में सामाजिक व्यवस्था को सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इनके अनुसार सामाजिक व्यवस्था, क्रिया व्यवस्था पर आधारित है तथा क्रिया व्यवस्था, कर्ता, परिस्थिति एवं प्रेरणा पर आधारित है।

पारन्स की सामाजिक व्यवस्था के सिद्धांत को ठीक से समझने के लिए उनके सामाजिक क्रिया के सिद्धांत को समझ लेना आवश्यक है। सामाजिक क्रिया किसे कहते हैं यह समझने के लिए सामाजिक क्रिया की संरचना को समझना आवश्यक है।

अमेरिकन समाजशास्त्री टालकॉट पारसनस ने अपनी पुस्तक 'दि सोशल सिस्टम' 1951 में सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त प्रतिपादन किया। उनके अनुसार सामाजिक व्यवस्था क्रिया-व्यवस्था पर आधारित है तथा क्रिया व्यवस्था, कर्त्ता, परिस्थिकीय एवं प्रेरणा पर आधारित है। सामाजिक व्यवस्था की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि सामाजिक व्यवस्था एक ऐसी परिस्थिति में जिसका की कम-से-कम एक भौतिक या पर्यावरण संबंधी पहलू हो। अपनी इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति को प्रवृत्ति से प्रेरित एकाधिक व्यक्तिक कर्त्ताओं का एक-दूसरे के साथ अन्तर्क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इन अन्तर्क्रियाओं में लगे हुए व्यक्तियों का पारस्परिक संबंध तथा उनकी परिस्थितियों के संबंध, सांस्कृतिक रूप में संरचित तथा स्वीकृत प्रतीकों की एक व्यवस्था द्वारा परिभाषित एवं मध्य स्थित होती है।

समाजशास्त्र में सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था के दो भाग माने जाते हैं। प्रथम सामाजिक संरचना, द्वितीय प्रकार्य। अतः सामाजिक व्यवस्था को भी समझना आवश्यक है। मानव जीवन के क्रम और निरन्तरता को बनाए रखने के लिये समाज का महत्वपूर्ण योगदान है। इसीलिए मानव जीवन के अस्तित्व एवं प्रगति के लिये सामाजिक व्यवस्था आवश्यक है। व्यवस्था का अभिप्राय उस क्रमबद्धता से है जो किसी संरचना के विभिन्न इकाइयों के मध्य एक निश्चित प्रकार्यात्मक आधार पर पायी जाती है व्यवस्था को निम्नलिखित बिन्दुओं से समझा जा सकता है।

- व्यवस्था का निर्माण एक से अधिक इकाइयों से होता है और ये सभी इकाइयां क्रमबद्ध रूप में एक-दूसरे से जुड़ी होती है।
- व्यवस्था का संबंध एक संरचना से होता है। संरचना के बिना व्यवस्था नहीं हो सकती।
- व्यवस्था एक ऐसी स्थिति का बोध कराती है। जिसमें विभिन्न तत्व अनेकता से एकता के स्वरूप को स्पष्ट करती है।
- व्यवस्था के निर्णायक अनेक इकाइयों एक-दूसरे से इस प्रकार अन्तर्सम्बन्धित होती हैं कि वे प्रकार्यात्मक आधार पर महत्वपूर्ण होती हैं।
- व्यवस्था में परिवर्तनशीलता होती है क्योंकि व्यवस्था का संबंध आवश्यकता पूर्ति से होता है। और व्यक्तियों की आवश्यकता में परिवर्तन होते रहने से व्यवस्था की संरचना में परिवर्तन होता रहता है।
- व्यवस्था कुछ इकाइयों का संयोग मात्र नहीं है, अपितु इसे व्यवस्था तभी कह जा सकता है जब वह समाज के लिए उपयोगी है।

एम.ई. जोन्स ने लिखा है सामाजिक व्यवस्था वह स्थिति है जिसमें समाज के विभिन्न क्रियाशील इकाइयां एक-दूसरे से तथा सम्पूर्ण समाज के साथ अपूर्ण ढंग से जुड़कर कार्य करती है। जोन्स की परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक व्यवस्था में केवल सहयोग का ही समावेश होना आवश्यक नहीं है। समाज में वस्तुतः सहयोग और संघर्ष सभी प्रकार के तत्व क्रियाशील रहते हैं। लेकिन सामाजिक व्यवस्था का आशय उस स्थिति से लगाया जाता है जिसमें प्रत्येक भाग को एक-दूसरे से अन्तर्क्रिया करने और अपने सामाजिक हितों को पूरा करने के अधिकतम अवसर प्राप्त हो सके।

पारसनस ने सामाजिक व्यवस्था को परिभाषित करते हुए लिखा है " एक सामाजिक परिस्थिति में जिसका की एक भौतिक तथा एक पर्यावरणीय संबंधी पक्ष होता है। जब अनेक व्यक्ति कर्त्ता सामान्यतः स्वीकृत सांस्कृतिक प्रतीकों की व्यवस्था के अन्तर्गत आदर्श लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अन्तःक्रिया कर रहे होते हैं तब

इसी स्थिति को हम सामाजिक व्यवस्था कहते हैं।" पारसन्स आगे लिखते हैं, "सामाजिक व्यवस्था क्रिया की एक संगठित प्रणाली है, जिसमें बहुत से कार्यकर्ताओं की अन्तःक्रियाओं का समावेश होता है।"

सामाजिक व्यवस्था में अनेक वैयक्तिक कर्ताओं के बीच 'अन्तःक्रियाएँ' होती हैं जिनका एक 'आदर्श लक्ष्य' होता है। सामाजिक व्यवस्था का सम्बन्ध अनुकूल परिस्थितियों के सन्तुलन से होता है, जिसके अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था को संगठित रखने के लिए कुछ स्वीकृत सांस्कृतिक प्रतीकों के अनुसार ही अन्तःक्रिया की जाती है। पारसन्स की सामाजिक व्यवस्था को इन पक्षों में समझा जा सकता है—प्रथम पक्ष वह है, जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होता है, जिसे संरचनात्मक पक्ष कहा जाता है। दूसरा पक्ष यह है, जो अनेक संस्थाओं के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था को समाज उपयोगी बनाता है और स्थायित्व प्रदान करता है जिसे संस्थात्मक पक्ष कहते हैं।

पारसन्स सामाजिक व्यवस्था में तीन तत्वों पर विशेष बल देते हैं—

- सामाजिक क्रिया
- कर्ता
- प्रस्थिति एवं भूमिका।

चार्ल्स पी. लूमीस ने सामाजिक व्यवस्था को समाज में पाई जाने वाली एक आन्तरिक स्थिति माना है और बताया है कि इसके लिए आन्तरिकरण का अध्ययन आवश्यक है, जिनमें सामाजिक प्रक्रियाओं की गतिशीलता ही सामाजिक उन्नति तथा उसके स्थायित्व को बनाये रखने में मदद करती है। सामाजिक व्यवस्था में पायी जाने वाली सामाजिक अन्तःक्रियाओं के परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। चार्ल्स लूमीस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था के नौ महत्वपूर्ण तथ्य हैं। इसका वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक सोशल सिस्टम में की है। जो निम्नलिखित हैं—

- ❖ विश्वास और ज्ञान
- ❖ भावनाएँ
- ❖ लक्ष्य
- ❖ आदर्श नियम
- ❖ प्रस्थिति एवं भूमिका
- ❖ पद
- ❖ शक्ति अथवा सत्ता
- ❖ मान्यताएँ
- ❖ सुविधा

सामाजिक व्यवस्था के व्यवस्था के विशेषताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं पर समझा जा सकता है।

- सामाजिक व्यवस्था में एक से अधिक कर्ता व्यक्ति होते हैं जो अधिकतम संतुष्टि के लिये प्रेरित होकर अन्तःक्रिया करते हैं। व्यक्तियों की अन्तःक्रिया को एक सूत्र में पिरोने का काम व्यवस्था के मूल्य और प्रतिमान करते हैं।

- सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न तत्वों में जो एकता पायी जाती है। उसका आधार प्रकार्यात्मक संबंध होता है।
- सामाजिक व्यवस्था में अन्तःक्रिया करने वाले व्यक्ति व्यवस्था के मूल्यों के प्रति सहमति रखते हैं।
- सामाजिक व्यवस्था में अनूकूलन का गुण होता है इसके दो पक्ष हैं। प्रथम – सामाजिक व्यवस्था जड़ और स्थिर नहीं है अथवा ये गतिशील होती है। द्वितीय– इस गतिशीलता के कारण इसका अनूकूलन बाह्य परिस्थितियों से होता रहता है।
- सामाजिक व्यवस्था यह मानकर चलती है कि समाज में निरन्तरता और सतर्कता होती है। यद्यपि सामाजिक व्यवस्था की इकाइयां परिवर्तनशील होती है। लेकिन इससे संपूर्ण व्यवस्था की संरचना और इसके प्रकार्यों में कोई अन्तर नहीं आता।
- सामाजिक व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता साम्यवास्था है अर्थात् व्यवस्था की यह प्रकृति होती है। कि वे अपनी यथास्थिति को बनाए रखे।
- सामाजिक व्यवस्था एक सामाजिक परिस्थिति में जिसका की एक भौतिक तथा एक पर्यावरणीय संबंधी पक्ष होता है। जब अनेक व्यक्ति कर्त्ता सामान्यतः स्वीकृत सांस्कृतिक प्रतीकों की व्यवस्था के अन्तर्गत आदर्श लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अन्तःक्रिया कर रहे होते हैं तब इसी स्थिति को हम सामाजिक व्यवस्था कहते हैं।
- सामाजिक व्यवस्था में संतुलन एवं क्रमबद्धता होती है।
- प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था की एक निश्चित सीमा होती है।
- प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था की सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के अन्तर्गत व्यक्ति के व्यवहारों पर नियंत्रण रखने के लिए आदर्श नियमों की एक व्यवस्था होती है।

24.2 पारसंस के अनुसार संरचना तथा व्यवस्था

“सामाजिक संरचना शब्द का प्रयोग समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र में पर्याप्त रूप से होता रहा है। सामाजिक संरचना एवं सामाजिक व्यवस्था दोनों ही अवधारणाओं एक दूसरे से घनिष्ठतम रूप से सम्बन्धित है। जहाँ सामाजिक व्यवस्था, समाज के प्रकार्यात्मक पक्ष को स्पष्ट करती है वहीं सामाजिक संरचना, समाज के ढाँचे को व्यक्त करती है। समाज एक अखंड व्यवस्था नहीं है , उसके विभिन्न भाग या अंग होते हैं। ये विभिन्न अंग व्यवस्थित होकर एक ढाँचे या रूपरेखा की रचना करते हैं, इसी को हम सामाजिक संरचना कहते हैं।

“संरचना” शब्द का प्रयोग ‘बनावट’ या ‘ढाँचे’ से लिया जाता है। एक प्रकार से यह एक प्रतिमान होता है। जब किसी भवन को बनाया जाता है तो उस भवन का ढाँचा या स्वरूप एक प्रकार की संरचना कही जाती है। सोलहवीं शताब्दी में इस अवधारणा का प्रयोग किसी एक सम्पूर्ण व्यवस्था के अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों के साथ लिया गया। वस्तुतः संरचना का यह प्रयोग शरीर-रचना विज्ञान में अधिक हुआ। इसके बाद राजनैतिक दार्शनिकों ने इसका प्रयोग किया। इन्होंने इसका प्रयोग जैविकीय रूप में किया।

24.3 विभिन्न विद्वानों के विचार

समाजशास्त्र में हरबर्ट स्पेन्सर ने 1958 में 'संरचना' के साथ प्रकार्य का प्रयोग किया, सम्भवतः रेडक्लिफ ब्राउन प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने 1910 में इमाइल दुर्खीम के समाजशास्त्र पर जो व्याख्यान दिये उनका शीर्षक सोशल स्ट्रक्चर रखा। इस पीढ़ी के अन्य लेखकों ने भी संरचना का प्रयोग जैविकीय अर्थ में किया। जैसे शरीर की संरचना हाथ, पाँव, आँख, नाक आदि से मिलकर बनती है वैसे ही सामाजिक संरचना के भी विभिन्न भाग होते हैं।

सामाजिक संरचना अवधारणा का प्रयोग 'समाजशास्त्र' एवं 'मानवशास्त्र' दोनों में होता है। इन दोनों विज्ञानों में इसका अलग-अलग प्रयोग होता है।

मोरिस जिन्सबर्ग ने सामाजिक संरचना को परिभाषित करते हुए लिखा है कि " सामाजिक संरचना का अध्ययन सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों अर्थात् समूहों समितियों तथा संस्थाओं के प्रकार एवं इन सबके संकुल जिनसे कि समाज का निर्माण होता है, से सम्बन्धित है। सामाजिक संरचना के एक सम्पूर्ण विवरण के अन्तर्गत तुलनात्मक संस्थाओं के सम्पूर्ण क्षेत्र के विश्लेषण का समावेश होगा। "

एस.एफ. नडेल के अनुसार "सामाजिक संरचना अनेक अंगों की एक क्रमबद्धता को स्पष्ट करती है। यह (संरचना) तुलनात्मक रूप से यद्यपि स्थिर होती है, लेकिन इसका निर्माण करने वाले अंग स्वयं परिवर्तनशील होते हैं। "

कार्ल मैनहीम के अनुसार " सामाजिक संरचना अन्तःक्रियात्मक सामाजिक शक्तियों का एक जाल है, जिससे अवलोकन एवं चिन्तन की विभिन्न प्रणालियों का जन्म होता है। "

यहाँ जाल को मैनहीम ने एक व्यवस्थित प्रतिमान के रूप में प्रयुक्त किया है जिसमें विभिन्न तारों के मध्य एक क्रमबद्धता होती है, इसी प्रकार सामाजिक संरचना भी एक क्रमबद्धता को प्रदर्शित करती है। सामाजिक शक्तियों से मैनहीम का आशय सामाजिक नियन्त्रण के उन साधनों से है, जो व्यक्ति व समूह के जीवन को स्थायित्व प्रदान करने में मदद देते हैं।

टॉलकट पारसन्स के शब्दों में 'सामाजिक संरचना' परस्पर सम्बन्धित संस्थाओं, 'एजेन्सियों' और 'सामाजिक प्रतिमानों' तथा समूह में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा ग्रहण किये जाने वाले पदों तथा कार्यों की क्रमबद्धता है। पारसन्स सामाजिक संरचना को एक क्रमबद्ध रूप में देखते हैं इसलिए सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाइयों (संस्थाओं, प्रतिमानों) की क्रमबद्धता को इस रूप में समझाया है। ये इकाइयाँ आपस में मिलकर क्रमबद्ध रूप से सामाजिक संरचना निर्माण करती हैं, एक-दूसरे से पृथक रह कर नहीं।

मैकाइवर एवं पेज ने लिखा है कि "समूह निर्माण के विभिन्न तरीके संयुक्त रूप में सामाजिक संरचना के जटिल प्रतिमान का निर्माण करते हैं। सामाजिक संरचना के विश्लेषण में सामाजिक प्राणियों की विविध प्रकार की मनोवृत्तियों तथा रुचियों के कार्य प्रकट होते हैं। "

इस प्रकार समूहों के बनने के विभिन्न तरीकों के संयुक्त रूप को ही 'सामाजिक संरचना' कहते हैं जो एक अमूर्त अवधारणा है।

हैरी एम. जॉनसन के अनुसार " किसी वस्तु की संरचना उसके अंगों के अपेक्षाकृत स्थायी अन्तर्सम्बन्धों से निर्मित होती है, स्वयं अंग शब्द से ही कुछ स्थायित्व के अंश का ज्ञापन होता है, चूँकि सामाजिक व्यवस्था लोगों के अन्तर्सम्बन्धित कृत्यों से बनती है, इस कारण उसकी संरचना को इन क्रियाओं में पाई जाने वाली नियमितता या पुनरावृत्ति की मात्रा में ढूँढा जाना चाहिये।"

हैरी जॉनसन की इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि ये सामाजिक संरचना को अखण्ड नहीं मानते और यह स्वीकार करते हैं कि इसका निर्माण एकाधिक इकाइयों के संयोग से होता है, जिनमें परस्पर स्थायी सम्बन्ध होता है इस प्रकार सामाजिक संरचना का निर्माण लोगों द्वारा परस्पर सम्बन्धित क्रियाओं या कृत्यों द्वारा होता है। ये क्रियाएँ या कृत्य बार-बार दोहराये जाते हैं। इनमें एक नियमबद्धता पाई जाती है।

कोजर एवं रोजनबर्ग ने लिखा है कि "संरचना का तात्पर्य सामाजिक इकाइयों के तुलनात्मक स्थिर एवं प्रतिमानित सम्बन्धों से हैं।"

मजूमदार एवं मदान के अनुसार "पुनरावृत्तीय सामाजिक सम्बन्धों के तुलनात्मक स्थायी पक्षों से सामाजिक संरचना का निर्माण होता है।"

इन उपरोक्त समाजशास्त्रियों के अलावा कुछ सामाजिक संरचना के अंग हैं। व्यक्तियों द्वारा अधिकृत पद स्थितियों के रूप में ये सामाजिक संरचना को निर्मित करते हैं।"

इग्गन का कहना है कि "अन्तःवैयक्तिक सम्बन्ध" सामाजिक संरचना के अंग हैं। व्यक्तियों द्वारा अधिकृत पद स्थितियों के रूप में ये सामाजिक संरचना को निर्मित करते हैं।"

फोर्ट्स के अनुसार "व्यक्तियों के मध्य पाने जाने वाले पारस्परिक सम्बन्ध ही सामाजिक संरचना के अंग हैं। इस अवधारणा का प्रयोग विशेषकर नातेदारी राजनैतिक व कानूनी संस्थाओं के विश्लेषण में किया जाता है।"

रेमण्ड फर्थ ने सामाजिक संरचना का प्रयोग उन बुनियादी सामाजिक सम्बन्धों के रूप में किया है जो समाज के मूल स्वरूप को बनाये रखते हैं तथा सामाजिक संगठन की सीमाओं को निर्धारित करते हैं।

ईवान्स प्रिटचार्ड ने सामाजिक संरचना का प्रयोग समूहों के मध्य पाये जाने वाले सम्बन्धों के लिये किया है।

रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, "सामाजिक संरचना के अंग या भाग मनुष्य ही हैं, और स्वयं संरचना, संस्था द्वारा परिभाषित और नियमित सम्बन्धों में लगे हुए व्यक्तियों की एक क्रमबद्धता हैं

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना की अवधारणा के बारे में विभिन्न लेखकों के विचारों में पर्याप्त अन्तर है। यह अन्तर समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं में और भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। फिर भी लगभग सभी विद्वान सामाजिक संरचना के कुछ निम्नलिखित महत्वपूर्ण पक्षों से सहमत हैं—

- सामाजिक संरचना अनेक अंगों या इकाइयों से मिलकर बनती है।

- सामाजिक संरचना में ये अंग परस्पर रूप से अन्तर्सम्बन्धित हैं।
- सामाजिक संरचना एक प्रकार से शरीर-रचना की तरह है और इसका प्रयोग भी इसी अर्थ में किया जाता है।
- सामाजिक संरचना का प्रयोग व्यापक अर्थ में सामाजिक संगठन, सामाजिक व्यवस्था या सामाजिक स्वरूप के अर्थ में हुआ है तथा सामाजिक समूह, संस्थाएँ, समितियाँ आदि इसकी प्रमुख इकाइयाँ हैं।

सामाजिक संरचना की उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर इसकी महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

- **सामाजिक संरचना बाह्य स्वरूप का बोध कराती है—**
सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न अंगों एवं इकाइयों से होता है। ये इकाइयाँ या अंग जब एक अन्तर्सम्बन्धित व्यवस्था के रूप में क्रमबद्ध रूप से संयुक्त हो जाते हैं तो एक ढाँचे या प्रतिमान का निर्माण होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार पत्थर, सीमेण्ट, लोहा आदि के द्वारा एक भवन का निर्माण होता है। भवन के बाह्य स्वरूप की भाँति ही सामाजिक संरचना समाज के बाह्य स्वरूप का बोध कराती है।
- **एकाधिक अंग या इकाइयाँ—**
सामाजिक संरचना, स्वयं में अखण्ड न होकर अनेक अंगों या इकाइयों की एक व्यवस्था है। संरचना की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसका गठन केवल किसी एक अंग या इकाई के आधार पर नहीं हो सकता बल्कि एकाधिक अंगों या इकाइयों के संयुक्तिकरण से ही संरचना का निर्माण सम्भव है। सामाजिक संरचना के अंग या इकाइयाँ विभिन्न सामाजिक समूह, संस्थाएँ, समितियाँ आदि हैं।
- **व्यवस्थित क्रम-विन्यास—**
सामाजिक संरचना एक व्यवस्थित क्रमबद्धता है, जो विभिन्न अंगों या इकाइयों के मध्य पाई जाती है, अर्थात् केवल अंगों या इकाइयों के संकलन मात्र से ही किसी सामाजिक संरचना का निर्माण नहीं होता, जब तक कि इसके सभी अंग सुव्यवस्थित रूप से क्रमबद्ध न हो। जिस प्रकार ईंट, सीमेण्ट, लोहे, पत्थर के ढेर से या संकलन से मकान नहीं बन सकता है, उसी प्रकार इकाइयों की क्रमबद्धता के अभाव में सामाजिक संरचना नहीं बन सकती।
- **प्रतिमानित अन्तर्सम्बन्ध—**
प्रत्येक सामाजिक संरचना, अंगों या इकाइयों के प्रतिमानित अन्तर्सम्बन्धों से ही निर्मित होती है। वास्तव में विभिन्न अंगों या इकाइयों का केवल व्यवस्थित रूप में क्रमबद्ध होना ही आवश्यक नहीं है बल्कि उनमें 'अन्तर्सम्बन्ध' का होना भी आवश्यक है। उदाहरण के लिये घड़ी का निर्माण करने वाली सभी इकाइयों के परस्पर अन्तर्सम्बन्धित होने पर ही घड़ी की संरचना बनाती है।
- **अपेक्षाकृत स्थिर व स्थायी—**
सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत स्थिर एवं स्थायी अवधारणा है। जॉनसन ने बताया कि सामाजिक संरचना का निर्माण जिन समूहों और उपसमूहों से होता है, वे अपेक्षाकृत रूप से कहीं अधिक स्थायी

होते हैं। समूह, समितियाँ, परिवार, श्रमिक संघ आदि सभी अपेक्षाकृत स्थायी समूह हैं। नडेल के अनुसार सामाजिक संरचना इस अर्थ में भी स्थिर व स्थायी है कि इसमें हम किसी वस्तु के सम्पूर्ण अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं जो कि सामान्यतः स्थिर व स्थायी होते हैं।

- **अमूर्तता—**

सामाजिक संरचना की एक विशेषता अमूर्तता है। मैकाइवर एवं पेज तथा टालकट पारसनस दोनों ने ही सामाजिक संरचना की इस विशेषता की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इनका मानना है कि सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली इकाइयाँ या भाग, संस्थाएँ, एजेन्सियाँ एवं सामाजिक प्रतिमान हैं, सभी अमूर्त हैं। इन इकाइयों का भौतिक वस्तुओं की तरह कोई मूर्त स्वरूप या आकार नहीं है। राइट का कहना है कि सामाजिक संरचना का तात्पर्य एक 'दशा' अथवा स्थिति से है और इसीलिये आवश्यक रूप से यह अमूर्त है।

- **उपसंरचनाओं का होना—**

सामाजिक संरचना एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है, बल्कि इसका निर्माण अनेक उपसंरचनाओं से मिलकर होता है। सामाजिक संरचनाओं की उपसंरचनाओं में परिवार, जाति, वर्ग, शिक्षण संस्था, धार्मिक संस्था, आर्थिक संस्था आदि मुख्य हैं, जिनकी स्वयं की एक संरचना होती है। इस प्रकार ये अनेक उप-संरचनाएँ मिलकर एक सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं।

- **स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित—**

प्रत्येक समाज की अपनी सामाजिक संरचना होती है जो उस समाज विशेष की स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित होती है। अपनी भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक विशेषताएँ होती हैं, इसीलिए एक समाज की सामाजिक संरचना दूसरे समाज की सामाजिक संरचना से भिन्न होती है। रेडक्लिफ ब्राउन ने लिखा है कि सामाजिक संरचना की अवधारणा में स्थानीय विशेषताओं का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

- **विघटन की सम्भावना—**

सामाजिक संरचना में अनेक बार विघटन के तत्व भी पाये जाते हैं। रोबर्ट मर्टन और इमाइल दुर्खीम ने इसी संदर्भ में नियमहीनता या विसंगति का उल्लेख किया है और बताया है कि अनेक बार सामाजिक संरचना स्वयं समाज में विसंगति पैदा करती है। इस प्रकार सामाजिक संरचना में विघटन के तत्वों की सम्भावना रहती है।

- **सामाजिक प्रक्रियाओं का महत्व—**

सामाजिक संरचना के निर्माण में सहयोगी एवं असहयोगी दोनों प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाओं, जैसे—सहयोग, अनुकूलन, व्यवस्थापन, सात्मीकरण, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष आदि की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है। इन्हीं सामाजिक प्रक्रियाओं के कारण सामाजिक संरचना का स्वरूप निर्धारित होता है।

24.4 संरचनात्मक एवं अर्द्ध-संरचनात्मक पक्ष

हैरी एम. जॉनसन ने अपनी कृति 'सोशियोलोजी—ए सिस्टेमेटिक इंट्रोडक्शन' में सामाजिक प्रणालियों के संरचनात्मक एवं अर्द्ध संरचनात्मक पक्षों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार सामाजिक प्रणाली की संरचना में निम्न चार तत्व होते हैं—

➤ कई प्रकार के उप-समूह, जो सम्बन्धित सामान्यकों द्वारा अन्तर्सम्बन्धित होते हैं।

- कई प्रकार की भूमिकायें और उसके उप-समूहों में प्रत्येक भूमिका सम्बन्धित सामान्यकों द्वारा अन्य प्रणालियों से सम्बन्धित होती है।
- उप-समूहों और भूमिकाओं को शासित करने वाले सामान्यक नियामक।
- सांस्कृतिक मूल्य।
इन तत्वों में से कोई भी किसी प्रकार का उप-समूह, कोई भूमिका, कोई सामाजिक सामान्यक, या कोई मूल्य-आंशिक-संरचना, कहा जा सकता है।

सामाजिक प्रणालियों के निम्नांकित पाँच अन्य पक्ष भी हैं जो 'सामाजिक संरचना' से इतने धनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं कि जॉनसन इन्हें 'अर्द्ध-संरचनात्मक पक्ष' कहते हैं—

- प्रत्येक भिन्न प्रकार के उप-समूहों की संख्या तथा किसी एक प्रकार के उप-समूहों की संख्या और उसी से बहुत कुछ मिलते-जुलते उप समूहों की संख्या का अनुपात।
- प्रत्येक प्रकार के उप-समूहों में सदस्यों का वितरण।
- उप-समूहों में और पूरी प्रणाली में, विभिन्न भूमिका-धारियों की संख्या
- सुविधाओं का वितरण।
- पारितोषिकों का विवरण।

टालकट पारसन्स ने अपनी सामाजिक संरचना के चार प्रमुख प्रारूपों का उल्लेख किया है। चार प्रकार के सामाजिक मूल्यों पर आधारित हैं—

- सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य
- विशिष्ट सामाजिक मूल्य
- अर्जित सामाजिक मूल्य
- प्रदत्त सामाजिक मूल्य

पारसन्स का मानना है कि सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य वो होते हैं। जो कि समस्त समाजों में व्यापक रूप से पाये जाते हैं। और सभी व्यक्तियों पर लागू होते हैं। इसके विपरीत विशिष्ट सामाजिक मूल्य किन्हीं विशेष सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं। अर्जित सामाजिक मूल्य वे होते हैं जिन्हें एक व्यक्ति अपने प्रत्यन्तो द्वारा प्राप्त करता है। जबकि पंरपरा द्वारा निर्धारित पदों से सम्बन्धित मूल्य, प्रदत्त सामाजिक मूल्य कहे जाते हैं। इन्हीं चार सामाजिक मूल्यों के आधार पर पारसन्स ने सामाजिक संरचना के चार प्रारूपों को समझाया है

- **सार्वभौमिक अर्जित प्रतिमान—** सामाजिक संरचना के इस प्रथम प्रतिमान में सार्वभौमिक एवं अर्जित प्रकार के सामाजिक मूल्यों का समावेश होता है। सार्वभौमिक मूल्यों में समाज में नातेदारी, समुदाय, प्रजाति अथवा वर्ग आदि के सम्बन्ध प्रभावित होते हैं। इन मूल्यों के कारण व्यक्ति को कुछ निश्चित पदों की प्राप्ति होती है। लेकिन इनसे समाज की गतिशीलता में कमी आती है। एवं रुढ़िवादिता में वृद्धि होती है। इसके विपरीत अर्जित सामाजिक मूल्यों को व्यक्ति अपने परिश्रम से प्राप्त करता है। अतः अर्जित मूल्य व्यक्तिगत एवं सामूहिक अर्जन को प्राप्त करते हैं। इससे प्रथा एवं परम्परा का विशेष प्रभाव नहीं रहता। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था अर्जित मूल्यों का एक उदाहरण है। जिसमें धन के

अर्जन एवं संचय को काफी महत्व दिया जाता है। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के सामाजिक मूल्यों के संयोग से सार्वभौमिक अर्जित प्रतिमान का निर्माण होता है। पारसन्स के अनुसार औद्योगिक समाजों की संरचना इस प्रकार के प्रतिमानों का उदाहरण है इस प्रकार के समाजों की संरचना में वर्ग व्यवस्था पायी जाती है। जो कि सार्वभौमिक मूल्यों पर आधारित है। साथ ही अर्जित मूल्यों का भी महत्व होता है।

- **सार्वभौमिक प्रदत्त प्रतिमान**— पारसन्स के अनुसार सामाजिक संरचना के इस प्रतिमान में सार्वभौमिक मूल्य तो वही होते हैं। जिनका उल्लेख प्रथम प्रतिमान में हैं लेकिन इनमें अर्जित मूल्यों का स्थान प्रदत्त मूल्य ले लेते हैं। इसमें अतीत तथा भविष्य से संबंधित दोनों प्रकार के आदर्श प्रतिमान में संयुक्त रूप से सम्मिलित रहते हैं। आदर्शों के चुनाव में रुढ़ियों और परम्पराओं को विशेष महत्व नहीं दिया जाता। फलस्वरूप व्यक्तियों के समक्ष आदर्शों की अधिकता रहती है। साथ ही परिस्थितियों के अनुसार इनमें परिवर्तन भी होता रहता है। पारसन्स ने इस प्रकार के प्रतिमान का उदाहरण “ आधुनिक वैज्ञानिक समाजों” का दिया है जिनमें दोनों प्रकार के मूल्यों का समावेश है।
- **विशिष्ट-अर्जित प्रतिमान**— इस प्रकार के प्रतिमान में सार्वभौमिक मूल्यों की अपेक्षा विशिष्ट सामाजिक मूल्यों की प्रमुखता रहती है। ये सामाजिक मूल्य विशेष सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं, जो पारलौकिक भी हो सकते हैं। इसके साथ अर्जित मूल्यों का समावेश कर सामाजिक संरचना के इस प्रतिमान को प्रस्तुत किया गया है। पारसन्स के अनुसार प्राचीन भारतीय व चीनी सामाजिक संरचना को इस श्रेणी के प्रतिमान में रखा जा सकता है। मैक्स बेबर ने कन्फ्यूशियन चीनी सामाजिक संरचना का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आता है।
- **विशिष्ट-प्रदत्त प्रतिमान**— पारसन्स के अनुसार सामाजिक संरचना का अन्तिम प्रारूप विशिष्ट एवं प्रदत्त सामाजिक मूल्यों के संयोग से बना है। इस प्रकार के सामाजिक संरचना में रक्त-सम्बन्ध और स्थानीय समुदायों पर आधारित समूह पाये जाते हैं। नैतिकता का महत्व इस प्रकार की संरचना की एक विशेषता है। यहाँ विशिष्ट वैयक्तिक गुणों को विशेष महत्व दिया जाता है। पारसन्स के अनुसार स्पेन की सामाजिक संरचना इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

सामाजिक संरचना का अभिप्राय उस स्वरूप से है, जो समाज के विभिन्न अंगों के संयुक्त होने के उपरान्त एक निश्चित क्रमबद्धता के रूप में विकसित होता है। समाज के विभिन्न अंगों की प्रकृति एक-दूसरे से भिन्न है अतः प्रकृति के अनुसार ही सामाजिक संरचना के अनेक रूप हैं।

समाजशास्त्र में सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था के दो भाग माने जाते हैं। प्रथम सामाजिक संरचना, द्वितीय प्रकार्य। अतः सामाजिक व्यवस्था को भी समझना आवश्यक है। मानव जीवन के क्रम और निरन्तरता को बनाए रखने के लिये समाज का महत्वपूर्ण योगदान है। इसीलिए मानव जीवन के अस्तित्व एवं प्रगति के लिये सामाजिक व्यवस्था आवश्यक है। व्यवस्था का अभिप्राय उस क्रमबद्धता से है जो किसी संरचना के विभिन्न इकाइयों के मध्य एक निश्चित प्रकार्यात्मक आधार पर पायी जाती हैं व्यवस्था को निम्नलिखित बिन्दुओं से समझा जा सकता है।

- व्यवस्था का निर्माण एक से अधिक इकाइयों से होता है और ये सभी इकाइयां क्रमबद्ध रूप में एक-दूसरे से जुड़ी होती हैं।
- व्यवस्था का संबंध एक संरचना से होता है। संरचना के बिना व्यवस्था नहीं हो सकती।

- व्यवस्था एक ऐसी स्थिति का बोध कराती है। जिसमें विभिन्न तत्व अनेकता से एकता के स्वरूप को स्पष्ट कराती है।
- व्यवस्था के निर्णायक अनेक इकाइयों एक-दूसरे से इस प्रकार अन्तर्सम्बन्धित होती हैं कि वे प्रकार्यात्मक आधार पर महत्वपूर्ण होती हैं।
- व्यवस्था में परिवर्तनशीलता होती है क्योंकि व्यवस्था का संबंध आवश्यकता पूर्ति से होता है। और व्यक्तियों की आवश्यकता में परिवर्तन होते रहने से व्यवस्था की संरचना में परिवर्तन होता रहता है।
- व्यवस्था कुछ इकाइयों का संयोग मात्र नहीं है, अपितु इसे व्यवस्था तभी कह जा सकता है जब वह समाज के लिए उपयोगी है।

एम.ई. जोन्स ने लिखा है सामाजिक व्यवस्था वह स्थिति है जिसमें समाज के विभिन्न क्रियाशील इकाइयाँ एक-दूसरे से तथा सम्पूर्ण समाज के साथ अपूर्ण ढंग से जुड़कर कार्य कराती है। जोन्स की परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक व्यवस्था में केवल सहयोग का ही समावेश होना आवश्यक नहीं है। समाज में वस्तुतः सहयोग और संघर्ष सभी प्रकार के तत्व क्रियाशील रहते हैं। लेकिन सामाजिक व्यवस्था का आशय उस स्थिति से लगाया जाता है जिसमें प्रत्येक भाग को एक-दूसरे से अन्तर्क्रिया करने और अपने सामाजिक हितों को पूरा करने के अधिकतम अवसर प्राप्त हो सके।

इससे स्पष्ट होता है कि किसी भी समाज व्यवस्था के तीन महत्वपूर्ण अंग हैं—

1. व्यक्तित्व व्यवस्था
2. सांस्कृतिक व्यवस्था
3. सामाजिक व्यवस्था

ये तीनों आपस में अन्तर्निहित एवं अन्तर्संबन्धित होते हैं। इन तीनों में से किसी एक के अभाव में ही समाज व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती है।

पारसनस का यह भी कहना है कि किसी भी समाज-व्यवस्था को बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी कुछ पूर्व आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय। पारसनस ने इसे तीन वर्गों में बाँटा है—

1. जैविकीय पूर्व आवश्यकताएँ
2. सांस्कृतिक पूर्व आवश्यकताएँ
3. प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएँ

जैविकीय पूर्व आवश्यकताएँ— इसमें तीन बातें शामिल की जाती हैं—

- समाज में पर्याप्त संख्या में सदस्य हो।
- लोगों में जननक की व्यवस्था होनी चाहिये।
- कर्त्ता को अपनी बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद भी समय और शक्ति मिलती हो, ताकि वह समाज व्यवस्था में भाग ले सके।

सांस्कृतिक पूर्व आवश्यकताएँ— इसके भी तीन बिन्दु हैं—

- समाज में एक भाषा होनी चाहिये।
- प्रतीक व्यवस्था सुदृढ़ होनी चाहिये।
- संचार—व्यवस्था सुदृढ़ होनी चाहिये।

प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएँ— इसमें निम्नांकित तीन बातें होती हैं—

- बहुत से लोग अनुशासन में रहना चाहते हैं।
- लोगों में निषेधात्मक नियन्त्रण की भावना हो अर्थात् जो लोग नियम भंग करते हों उनकी रोकथाम के लिए व्यवस्था में उचित क्षमता हो।
- लोगों में स्वीकारात्मक कार्यों के प्रति सद्भावना हो अर्थात् जो समाज के लिए उचित कार्य करते हैं, उन्हें मदद करने के लिए लोग तैयार रहते हों।

जब इन सब शर्तों को कोई समाज पूरा करेगा तभी कोई समाज व्यवस्था क्रियान्वित होगी, जिसमें स्थायी और व्यवस्थित अन्तर्व्यवस्था होगी।

24.5 समाज—व्यवस्था की चार उप—व्यवस्थाएँ

प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं पर पारसन्स ने विशेष बल दिया है और इसके अन्तर्गत केवल उन्हीं पूर्व आवश्यकताओं की चर्चा उन्होंने की है जो सार्वभौमिक रूप से मौजूद हो तथा जिसकी पूर्ति वैज्ञानिक तरीके से की जा सकती है। ये चार हैं इसकी पूर्ति किसी भी समाज—व्यवस्था चार उप—व्यवस्थाएँ करती हैं जो निम्न हैं—

- अनुकूलन
- लक्ष्य की पूर्ति
- एकीकरण
- प्रतिमान अनुरक्षण (लैटेंसी)

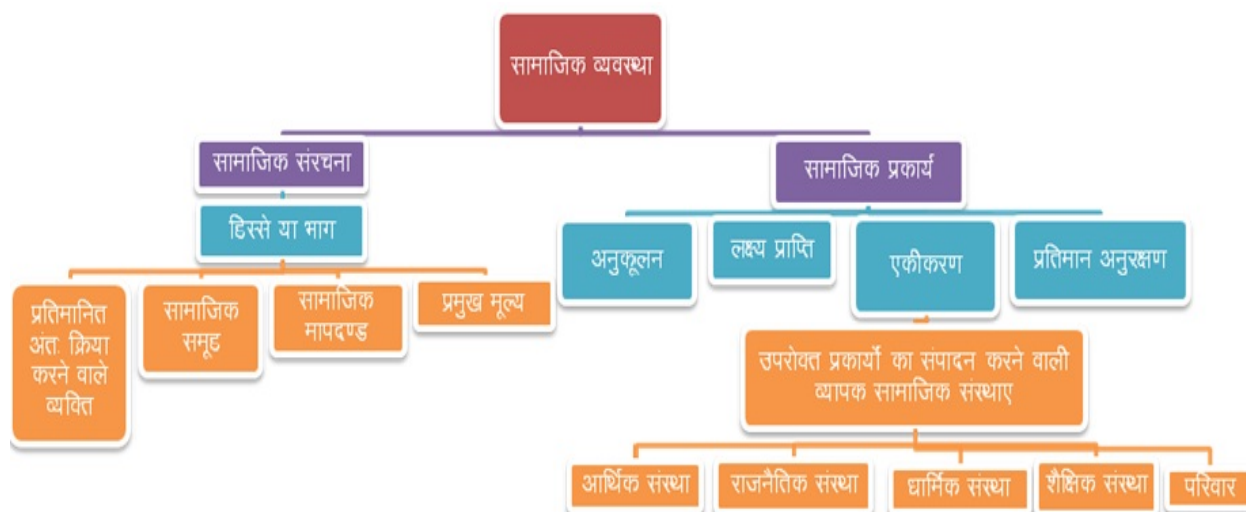
अनुकूलन — सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए आवश्यक है कि सदस्यों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु न्यूनतम भोजन, वस्त्र आवास आदि की आपूर्ति हो। अतः इन आवश्यकताओं की पूर्ति समाज की आर्थिक उप—व्यवस्था करती है।

लक्ष्य प्राप्ति — किसी भी समाज के लिए जरूरी है कि उसके लक्ष्यों का निर्धारण किया जाये तथा उसकी प्राप्ति हेतु संसाधनों का चुनाव एवं उनका संगठन किया जाए। अतः इन आवश्यकताओं की पूर्ति समाज की राजनीतिक उप—व्यवस्था करती है।

प्रतिमान अनुरक्षण — समाज की निरंतरता हेतु आवश्यक है कि इसके प्रतिमानों को बनाये रखा जाए तथा व्यवस्था में तनावों का निराकरण किया जाए। चूंकि समाज एक आत्म अनुरक्षित एवं आत्मपोषी व्यवस्था है इसलिये वह अपनी उपरोक्त आवश्यकताओं की पूर्ति भी स्वयं करता है और इस हेतु वह अपने अंगों के रूप में विभिन्न संस्थाओं को विकसित करता है जो अपने प्रकार्यों द्वारा समाज की इन आवश्यकताओं की पूर्ति

करके सामाजिक व्यवस्थाओं को बनाये रखते हैं। जैसे अर्थव्यवस्था अनुकूलन की आवश्यकता को। राजनीतिक व्यवस्था लक्ष्य प्राप्ति की आवश्यकता को तथा परिवार, शिक्षा, व्यवस्था एवं धर्म प्रतिमान अनुसरण की आवश्यकता को पूरा करते हुए सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखते हैं।

पारसन्स ने अपने सिद्धान्त में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि कोई भी समाज-व्यवस्था तब तक नहीं पनप सकती जबतक कि व्यक्ति कर्त्ता को उसके पद के हिसाब से न कार्य करने दिया जाए तथा साथ ही सांस्कृतिक व्यवस्था उस अपनी आशाओं के अनुरूप कार्य करने के लिए विवश न करें।



24.6 आलोचनात्मक मूल्यांकन

सामाजिक व्यवस्था संबंधी परम्परा के उपरोक्त विचारों की कई आलोचनाएं की गई हैं

1. गोल्डनर एवं डेहरेन्डॉर्फ का मानना है कि पारसंस के विचारों का केन्द्रीय तत्व मूल्य एकात्मता एवं संतुलन है। परंतु पारसन्स का यह मानना भ्रमपूर्ण है कि व्यवस्था के एकाधिक कर्त्ता व्यवस्था के मानदण्ड एवं मूल्यों से सहमत होते हैं। ऐसा कहकर पारसंस ने मानदंडों एवं मूल्यों को आवश्यकता से अधिक महत्व देकर व्यक्तिगत क्रिया संपादन में भौतिक हितों की उपेक्षा की है और साथ ही व्यवस्था की यथास्थितिवादिता का भी समर्थन किया है।
2. इस संदर्भ में डेहरेनडॉर्फ का आरोप है कि पारसंस की यह मान्यता सामाजिक व्यवस्था में विद्यमान तनाव एवं संघर्ष की प्रक्रियाओं की उपेक्षा करती है।
3. आलोचकों का आरोप है कि पारसंस का यह सिद्धान्त यथास्थितिवादिता पर अधिक बल देकर सामाजिक परिवर्तन की संभावनाओं की उपेक्षा करता है। क्योंकि यह समाज को परिणाम/प्रकार्य की पूर्वधारणाओं पर आधारित एक संतुलन मॉडल के रूप में दिखता है। जिसमें प्रत्येक सामाजिक संस्था को प्रकार्यात्मक माना जाता है और ये संस्थाएं व्यवस्था में संतुलन बनाये रखने के लिए निरंतर क्रियाशील होती हैं। ऐसी स्थिति में, पूरी व्यवस्था को

भंग किये बगैर इसे बदल पाना संभव नहीं है। आलोचकों के अनुसार पारसंस की यह मान्यता भी अवैज्ञानिक है।

4. आलोचकों के अनुसार पारसंस क्रिया सिद्धांत और व्यवस्था सिद्धांत में तालमेल बैठाने में असफल रहे वे व्यक्तिगत क्रिया के संदर्भ में सामाजिक निर्धारवाद के दुर्गण से ग्रस्त हो गये हैं।
5. एन्थो गिडेन्स ने अपने संरचनाकरण सिद्धान्त में बताया है कि व्यवस्था में सामाजिककर्ताओं जिनके द्वारा व्यवस्था की रचना होती है, के अतिरिक्त अद्भुत गुण नहीं होते। अर्थात् सामाजिक व्यवस्था के व्यवस्थागत गुणों का विकास स्वयं व्यवस्था की उपेक्षा सामाजिक क्रिया की प्रकृति से होता है। इसके अलावा, पारसंस के इस सिद्धान्त पर महती सिद्धान्त (वृहत सिद्धान्त), उद्देश्यपरकता, अनुभाविक साक्ष्यों को दूर, अवधारणाओं के बावजूद पारसंस का यह सिद्धान्त आधुनिक समाजशास्त्र में सामाजिक व्यवस्था अमूर्तिकरण का एक बेहतर प्रयास है। जिसमें सामाजिक व्यवस्था को देखने का पूर्व-प्रचलित दृष्टिकोणों (आदर्शवाद, प्रत्यक्षवाद, उपयोगितावाद) को समन्वित करने का प्रयास किया गया है।
6. यद्यपि, पारसंस कर्ता एवं संरचना के द्वैतवाद को अपने विचारों द्वारा पूरी तरह स्वीकृत नहीं कर पाये हैं जिसको संशोधित रूप में जेफ्री एलेक्जेंडर जैसे विचारकों ने रखा है, तथापि मार्क्सवादी परंपरा के विपरीत समाज के प्रकार्यात्मक विश्लेषण का पारसंस का यह प्रयास सराहनीय है। यदि इस अन्य सिद्धांतों के साथ समन्वित करते हुये नया पैराडाइम विकसित किया जाये तो यह समकालीन समाज के विश्लेषण हेतु अधिक कारगर हो सकता है जिसके लिए नव-प्रकार्यवादियों द्वारा किया गया प्रयास सराहनीय है।

24.7 सारांश –

इस इकाई के अध्ययन से आप जान चुके हैं कि सामाजिक क्रिया क्या है। पैरेटो ने सामाजिक क्रिया के दो प्रकार की चर्चा की है। मैक्स वेबर के अनुसार, सामाजिक क्रिया की अवधारणा तथा इसके प्रकार। साथ ही पारसंस के सामाजिक क्रिया का सिद्धांत, पारसंस ने सामाजिक क्रिया में किन तत्त्वों को समावेश किया है।

24.8 पारिभाषिक शब्दावली–

विशिष्ट चालक (Residues) – पैरेटो के अनुसार, मनुष्य की अधिकांश क्रिया कुछ चालकों पर निर्भर होती है। पैरेटो ने इन्हीं चालकों को विशिष्ट चालक कहा है। इनकी प्रकृति बहुत कुछ संवेगों से मिलती जुलती होती है। इसी कारण विशिष्ट चालकों को संवेगों की अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाता है।

भ्रान्त तर्क (Derivations)– पैरेटो ने अपने सामाजिक क्रिया के विश्लेषण क्रम में भ्रान्त तर्क की चर्चा की। जब कर्ता कोई अतार्किक क्रिया करता है तो अपने क्रिया को सही साबित करने के लिए भ्रान्त तर्क का सहारा लेता है, जिससे यह क्रिया का औचित्य साबित हो सके। इसी प्रकार के तर्क को भ्रान्त तर्क कहा जाता है।

24.9 अभ्यास / बोध प्रश्नों के उत्तर

1. टाल्कट पारसंस के अनुसार, सामाजिक प्रणाली के लिए निम्नलिखित में से कौन – कौन सी प्रकार्यात्मक पूर्वा अपेक्षाएँ हैं?

A. संमजन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण एवं समायोजन

- B. समायोजन, अनुकूलन, विन्यास अनुरक्षण एवं एकीकरण
 C. सहकारिता, लक्ष्यप्राप्ति, एकीकरण एवं विन्यास अनुरक्षण
 D. अनुकूलन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण एवं विन्यास अनुरक्षण
2. पारसन्स की सामाजिक व्यवस्था के संप्रत्ययीकरण के लिए संस्थान की धारणा निर्णायक है वह उसे देखते हैं—
 A. एक प्रक्रिया के रूप में एवं एक संरचना के रूप में
 B. एक प्रक्रिया के रूप में एवं एक ढांचे के रूप में
 C. एक ढांचा के रूप में एवं एक संरचना के रूप में
 D. एक संरचना के रूप में एवं एक प्रकार्य के रूप में
3. पारसन्स के अनुसार व्यवस्था का निर्माण करने वाला तत्व क्या है?
 A. प्रकार्य
 B. भूमिका
 C. क्रिया
 D. प्रस्थिति
4. पारसन्स सामाजिक संरचना को किस रूप में देखते हैं?
 A. सामाजिक अन्तर्क्रिया की स्थिर व्यवस्थाएं
 B. वास्तविकता के पीछे से तर्क
 C. संस्थागत व्यवस्थाएं एवं क्षेत्र
 D. स्वयं में वास्तविकता
5. टाल्कॉट पारसन्स एवं राबर्ट के0 मर्टन का समाज शास्त्र के अध्ययन का उपागम है—
 A. अन्तः क्रियात्मक
 B. व्यवहारवादी
 C. संरचनात्मक प्रकार्यात्मक
 D. प्राथमिक
6. पारसन्स ने अपनी किस पुस्तक में सामाजिक संरचना के प्रमुख प्रारूपों का वर्णन किया है?
 A. द डिवीजन ऑफ सोसाइटी
 B. दी सोशल सिस्टम
 C. द रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मैथड
 D. फ़ैमिली सोशलाइजेशन एण्ड इण्टर एक्शन प्रोसेस
7. पारसन्स के अनुसार सामाजिक संरचना का निर्माण किन इकाइयों से होता है।
 a. सामाजिक संस्थाओं
 b. एजेन्सियों
 c. सामाजिक प्रतिमान
 d. व्यक्तियों द्वारा ग्रहण किए गए पदों एवं भूमिकाओं से
 e. उपर्युक्त सभी।
8. निम्नलिखित में से कौन-सा युग्म सही रूप से सुमेलित नहीं किया गया है?

- a. सी. एच. कूले : प्राथमिक समूह
 b. टॉल्कट पॉर्सन्स : प्रत्यक्षवाद
 c. आर. के. मर्टन : संदर्भ- समूह
 d. डब्ल्यू. जी सम्नर : अंतः समूह, बहिर्समूह

9. निम्नलिखित युग्मों में से कौन-सा एक सही रूप से सुमेलित नहीं किया गया है?

- a. ए. आर. रेडक्लिफब्राउन : चार प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं
 b. आर. के. मर्टन : संदर्भ-समूह
 c. एमिल दखाइम : सामाजिक तथ्य
 d. ई. एच. कूले : प्राथमिक एवं गौण समूह

10. प्रकार्यवादियों के अनुसार, सामाजिक एकीकरण के लिये कौन-सा सबसे महत्वपूर्ण तथा मूल घटक है?

- a. मूल्य-मतैक्य
 b. सापेक्ष स्थिरता का अनुरक्षण
 c. संरचनात्मक अंतर-निर्भरता
 d. प्रतिमानहीनता की दशा

11. टाल्कट पार्सन्स के अनुसार, सामाजिक प्रणाली के लिए निम्नलिखित में से कौन-कौन सी प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं हैं?

- a. समंजन, लक्ष्यप्राप्ति, एकीकरण एवं समायोजन
 b. समायोजन, अनूकूलन, विन्यास अनुराग एवं एकीकरण
 c. सहकारिता, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण एवं विन्यास अनुरक्षण
 d. अनूकूलन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण एवं विन्यास अनुरक्षण

12. टी. पार्सन्स के अनुसार, अभिप्रेरणात्मक अभिविन्यास के तीन प्रकार होते हैं। निम्नलिखित में कौन सा एक इन प्रकारों में सम्मिलित नहीं है?

- a. संज्ञानात्मक अभिविन्यास
 b. विरेचक अभिविन्यास
 c. प्रशंसात्मक अभिविन्यास
 d. मूल्यांकीय अभिविन्यास

13. टी. पार्सन्स के अनुसार व्यवहार तब क्रिया बन जाता है जब चार शर्तें उपस्थिति होती हैं। निम्नलिखित में से कौन सी एक शर्त उनमें से नहीं है?

- a. लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अभिविन्यास
 b. विशिष्ट परिस्थितियों में घटित होना
 c. कर्ता विशेष के प्रतिमानों और मूल्यों द्वारा नियमित होना
 d. ऊर्जा के संवेगात्मक निवेश की संलग्नता

14. सूची.I को सूची.II के साथ सुमेलित कीजिये तथा सूचियों के नीचे दिए कूट का प्रयोग कर सही उत्तर चयन चुनिए :

सूची.I

- प्रत्यक्ष प्रकार्य
- प्रतिमान हीनता
- सामाजिक व्यवस्था
- वस्ट्रहेन

सूची.II

- पारसन्स
- वेबर
- काम्ट
- मर्टन
- दुखीम

कूट:

| | A | B | C | D |
|----|---|---|---|---|
| a. | 4 | 5 | 3 | 1 |
| b. | 2 | 4 | 3 | 1 |
| c. | 4 | 5 | 1 | 2 |
| d. | 1 | 4 | 5 | 2 |

15. पारसन्स के सामाजिक व्यवस्था सिद्धान्त में कर्ता के अभिप्रेरणाओं का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। निम्नलिखित में से किस अभिप्रेरणा की चर्चा पारसन्स ने नहीं की?

- मूल्यात्मक
- संज्ञानात्मक
- सौंदर्यात्मक
- मूल्यांकनात्मक

16. अनुकूलन के प्रकार्य को समाज की कौन सी उप-व्यवस्था पूर्ति करती हैं।

- आर्थिक व्यवस्था
- राजनैतिक व्यवस्था
- मूल्य व्यवस्था
- सामाजिक व्यवस्था

17. लक्ष्य की प्राप्ति के प्रकार्य को समाज की कौन सी उप-व्यवस्था पूर्ति करती हैं।

- आर्थिक व्यवस्था
- राजनैतिक व्यवस्था
- मूल्य व्यवस्था
- सामाजिक व्यवस्था

18. एकीकरण के प्रकार्य को समाज की कौन सी उप-व्यवस्था पूर्ति करती हैं।
- आर्थिक व्यवस्था
 - राजनैतिक व्यवस्था
 - मूल्य व्यवस्था
 - सामाजिक व्यवस्था
19. प्रतिमान अनुरक्षण के प्रकार्य को समाज की कौन सी उप-व्यवस्था पूर्ति करती हैं।
- आर्थिक व्यवस्था
 - राजनैतिक व्यवस्था
 - मूल्य व्यवस्था
 - सामाजिक व्यवस्था

उत्तर- 1-D, 2-D, 3-C, 4-A, 5-C, 6-B, 7-E, 8-B, 9-A, 10-C, 11-D, 12-B, 13-D, 14-C, 15-C, 16-A, 17-B, 18-D, 19-C ।

24.10 संदर्भ ग्रंथ सूची-

- शम्भूलाल दोशी एवं मधुसूदन त्रिवेदी, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (1997)
रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 40-150
- एस. एल. दोशी एवं पी. सी. जैन, सामाजिक विचारक (1997), सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 100-350
- डा. शीबा सिद्दीकी, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (2012)
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली, P- 24&30
- डा. एम. एम. लवानिया एवं शशी के. जैन, सैद्धान्तिक समाजशास्त्र (1998),
रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, P- 129-175
- एस. एस. पाण्डेय, टीएमएच, P- 16.1, 16.9
- डा० अफरोज एकबाल, भारत में सामाजिक परिवर्तन दशा एवं दिशा, P 1- 55

24.11 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री-

- M. Francis Abraham, Modern Sociological Theory, Oxford University, Press Bombay, Calcutta, Madras (1982) —P- 40-88
- Sujit Kumar Choudhary, Thinkers and Theories in Sociology — P 181-220

24.12 निबन्धात्मक प्रश्न-

- सामाजिक व्यवस्था के विश्लेषण के लिए पारसंस के योगदान की विवेचना कीजिए?
- पारसंस के सामाजिक व्यवस्था सिद्धांत की आलोचनात्मक वर्णन करें।
- पारसंस का संतुलन का विचार क्या है?
- पारसंस द्वारा स्थापित सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त का वर्णन करें।

इकाई 25 — प्रकार्य एवं प्रकार्यात्मक पैराडाइम (Function And Functional Paradigm)

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 राबर्ट के. मर्टन का परिचय

25.3 प्रकार्यवाद

25.4 प्रकार्य एवं अकार्य

25.4.1 नकार्य

25.4.2 प्रकट एवं अप्रकट

25.5 प्रकार्यात्मक पैराडाइम

25.6 पैराडाइम तैयार करने के उद्देश्य

25.7 आलोचनात्मक मूल्यांकन

25.8 सारांश

25.9 पारिभाषिक शब्दावली

25.10 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

25.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

25.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

25.13 निबंधात्मक प्रश्न

25.0 उद्देश्य—

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप जान पायेंगे कि

1. प्रकार्यवाद क्या है ?
2. प्रकार्यवाद से सम्बन्धित विभिन्न विद्वानों के विचार क्या हैं ?
3. मर्टन द्वारा बनाये हुए प्रकार्यात्मक पैराडाइम का उपयोग क्या है?

25.1 प्रस्तावना—

प्रकार्यवाद से तात्पर्य वैसे दृष्टिकोण से है कि जो मानता है, कि समाज की जो भी इकाई है या जो भी इकाई अस्तित्व में है उसका समाज के लिए कोई सकारात्मक योगदान होता है। प्रकार्यवाद के क्षेत्र में टॉलकट पारसन्स (Talcott Parsons) का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वे एक ऐसे समाजशास्त्री थे जिन्होंने स्पेन्सर एवं दुर्खीम के प्रकार्यवाद को मैलिनोस्की एवं रेडक्लक—ब्राउन के मानव शास्त्र

साहित्य से निकालते हुए इसे फिर से समाजशास्त्र में स्थापित किया। पारसन्स का विचार है कि समाज का सही अध्ययन संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक (Structural- functional) दृष्टिकोण से ही सम्भव है। समाजिक व्यवस्था की यथार्थता को तब तक भली-भांती नहीं समझा जा सकता जबतक कि उनको गठित करने वाली इकाईयों के प्रकार्यों को अच्छी तरह समझ नहीं लिया जाये।

25.2 रॉबर्ट के. मर्टन का परिचय:-

बीसवीं शताब्दी के समाजशास्त्री रॉबर्ट के. मर्टन का जन्म 1910 में अमेरिका के फिलाडेल्फिया में हुआ था। मर्टन ने सन् 1941 में कोलम्बिया विश्वविद्यालय से अपने अध्यापन की शुरुआत की और बाद में वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय से जुड़ गये जहाँ उन्हें सोरोकिन और पारसंस जैसे समाजविज्ञानों का शिष्यत्व प्राप्त हुआ। यहां वे अपनी सेवानिवृत्ति (1971) तक अध्यापन और शोध कार्य करते रहे। पारसंस की भांति, मर्टन भी उत्तर विश्व युद्धकालीन समाजशास्त्र को वैज्ञानिक आधार पर निर्मित करना चाहते थे। परन्तु मर्टन की सामान्य सिद्धांतों को आनुभविक परीक्षण की कसौटी पर कसने में विश्वास रखते हैं।

मर्टन ने समाजशास्त्र में कई भिन्न विषयों का आलोचनात्मक परीक्षण कर अपना योगदान दिया है। इनमें से उनके कुछ प्रमुख विषय सामाजिक संरचना, प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य, विचलन ओर एनॉमी, भूमिका सिद्धांत, कर्मचारी तंत्र (ब्यूरोक्रेसी), मध्यवर्ती सीमा सिद्धान्त और विज्ञान का समाजशास्त्र आदि रहे हैं, किन्तु 'विज्ञान का समाजशास्त्र' उनके शोध-लेखन के प्रिय विषयों में से एक प्रमुख विषय रहा है। इस विषय में समाजशास्त्र में विज्ञान के प्रति नई सोच उत्पन्न की जिसने बाद में कई नये समाजशास्त्रीय उपागमों की नींव रखी। इस अध्ययन से मर्टन ने विज्ञान के विकास और दिशा के विश्लेषण के साथ-साथ उद्देश्यपूर्ण सामाजिक क्रिया के अप्रत्याशित परिणामों के विचार के आधार पर 'लेटेन्ट फंक्शन' की अवधारणा को विकसित किया। इसके बाद, सन् 1940 के दशक में उन्होंने असंगत और विपथगामी व्यवहार के सामाजिक स्रोत, नौकरशाही कार्य संचालन, नौकरशाही के अन्दर और बाहर बुद्धिजनों की भूमिका जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर कार्य किया। साथ ही, इमार्शल दुर्खीम द्वारा आत्महत्या के अध्ययन के संदर्भ में सर्वप्रथम प्रयोग की गई "एनॉमी" की अवधारणा को विस्तार दिया और भूमिका आदर्श (रोल मॉडल) की अवधारणा के आधार पर उन्होंने 'संदर्भ समूह सिद्धान्त' को (Reference Group Theory) विकसित किया।

मर्टन ने तत्कालीन प्रचलित संरचनात्मक-प्रकार्यवाद में कई महत्वपूर्ण संशोधन एवं परिवर्द्धन किये हैं। उन्होंने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त के अतिवादी एवं कमजोर पक्षों को उजागर किया और प्रकार्यात्मक विश्लेषण की तीन मूलभूत प्रस्थापनाओं, यथा- 'समाज की प्रकार्यात्मकता एकता', 'सार्वभौमिक प्रकार्यवाद' और प्रकार्यात्मक तत्वों की अपरिहार्यता की कटु आलोचना की। उन्होंने कहा कि प्रकार्यात्मक प्रस्थापनाएं अमूर्त और सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं पर आधारित होने के कारण अनुभवसिद्ध नहीं है। संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक विश्लेषण का अपना एक 'पैराडायम' (वैचारिक रुपांकन) प्रस्तुत किया जिससे उन्होंने प्रमुख रूप से प्रकार्य और दुष्प्रकार्य, व्यक्त (प्रत्यक्ष) और अव्यक्त (अन्तर्निहित) प्रकार्य, बहु-प्रकार्य, अकार्य, प्रकार्यात्मक विकल्प अथवा संरचनात्मक समानार्थी अप्रत्याशित परिणाम बातों को सम्मिलित किया।

25.3 प्रकार्यावाद- (Functionalism)

अमेरिकी समाजशास्त्री राबर्ट किंग्सले मर्टन ने समाज शास्त्रीय जगत में प्रकार्यावादी विश्लेषण पर काफी बल दिया। अतः उन्हें प्रकार्यावाद के समर्थकों में से एक माना जाता है। मर्टन न केवल पारसन्स के समकालीन है बल्कि उनके शिष्य भी रह चुके हैं। फलस्वरूप मर्टन पर पारसन्स का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। टॉलकर पारसन्स के अलावा मैक्स वेबर तथा डब्ल्यू० आई० थॉमस का प्रभाव भी मर्टन पर पड़ा है। मर्टन ने मैक्स वेबर के सामाजिक क्रिया के फ्रेम वर्क (Frame Work) को स्वीकार करते हुए उनके विश्लेषण की तकनीकी को भी स्वीकार किया है। इसी तरह मर्टन डब्ल्यू० आई० थॉमस के सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण में सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त तथा सामाजिक व्यवहारवाद (Social Behaviour) का काफी प्रभाव पड़ा है। लेकिन सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण मर्टन का दृष्टिकोण बिल्कुल अलग है। मर्टन की अध्ययन पद्धति को पैराडाइम कहते हैं, जिसके आधार पर उन्होंने प्रकार्यावाद के विश्लेषण को प्रस्तुत किया है।

प्रकार्यावादी विश्लेषण कोई नयी घटना नहीं है। बल्कि इस तरह के विचार हमें पूर्व के समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवशास्त्रियों की रचनाओं में देखने को मिलता है। लेकिन समाजशास्त्री जगत में इस विचारधारा को पुनः लाने और इसे स्थापित कर एवं आधार देने का श्रेय मर्टन को ही जाता है। मर्टन ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि प्रकार्यावाद के सम्बन्ध में हमें लिखित सामग्री बहुतायत मिलती है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण (Functional analysis) पद्धति सिद्धान्त एवं तथ्य तीनों का आधार है (Method, Principles, Facts) जिसमें सबसे कमजोर पक्ष पद्धति का ही है। मर्टन ने प्रकार्य शब्द को न केवल समाजशास्त्र में लाये बल्कि इसकी पुनः व्याख्या की और इसके अलावा अन्य अवधारणाओं जैसे- प्रकार्य तथा अनेक प्रकारों प्रकट (Manifest) एवं अप्रकट (Latent) आदि की चर्चा की। मर्टन से पहले दुर्खीम (Durkheim) रेड-क्लिफ ब्राउन, मैलिनोवस्की आदि विद्वान प्रकार्यावाद की चर्चा कर चुके थे ब्राउन और मैलिनोवस्की ने प्रकार्यावाद की तीन मान्यताओं की चर्चा की थी।

पहली- समाज का हर तत्व निश्चित रूप से बने रहने में योगदान देता है यदि ऐसा नहीं करें तो वह अस्तित्वहीन हो जायेगा।

दूसरी - सभी तत्वों के बीच प्रकार्यात्मक एकता पायी जाती है।

तीसरी - किसी भी तत्व को अलग नहीं किया जा सकता है, मर्टन ने इन तीनों ही मान्यताओं का खण्डन किया।

रेडक्लिफ ब्राउन एवं मैलिनोवस्की द्वारा प्रतिपादित की पहली मान्यता का खण्डन करते हुए मर्टन ने लिखा कि मानवशास्त्रियों ने इस मान्यता के आधार पर समाज की जिस प्रकार्यात्मक एकता का उल्लेख किया उसकी वास्तविकता को परिश्रम के द्वारा ज्ञात करना जरूरी है। यह सच है कि प्रत्येक समाज में कुछ एकता अवश्य विद्यमान होती है। लेकिन विभिन्न समाजों में एकीकरण का यह स्तर अलग-अलग हो सकता है, इसका तात्पर्य यह है कि समाज में जो प्रचलन या व्यवहार प्रकार्यात्मक होते हैं, दूसरे समाज अथवा समूह में अकार्यात्मक भी हो सकते हैं, इस दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण करते समय विभिन्न इकाइयों के प्रकार्यों की विशेषताओं को अवश्य समझा जाए। इसी की सहायता से यह समझा

जा सकता है कि किसी विशेष समाज में सामाजिक एकीकरण उत्पन्न करने में विभिन्न इकाइयों के प्रकार्य जैसा और कितना योगदान करते हैं।

ब्राउन एवं मैलिनोवस्की की दूसरी मान्यता का खण्डन करते हुये मर्टन ने यह कहा कि यह आवश्यक नहीं है कि संस्कृति के स्थापित तत्व के रूप में प्रत्येक परम्परा समाज को बनाये रखने में अवश्य ही सहयोग हो। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पराम्पराएँ अनेक पीढियों तक समाज को स्थायित्व प्रदान करती हैं। वो कभी-कभी या किसी विशेष अवधि में या तो अनुपयोगी सिद्ध होने लगती हैं अथवा समाज में परिवर्तन की दशा उत्पन्न कर देती हैं। **उदाहरणार्थ**— भारत में जाति प्रथा के परम्परागत प्रकार्य वर्तमान समय में उसके अकार्य बन गए हैं तथा यह प्रथा सामाजिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने की जगह उसमें परिवर्तन उत्पन्न करने लगी है।

इस प्रकार मर्टन यह स्वीकार नहीं करते कि किसी भी ईकाई के प्रकार्यों की प्रकृति सार्वभौमिक होती है। उनका कथन है कि संस्कृति या सामाजिक संरचना का कोई तत्व प्रकार्यात्मक भी हो सकता है। लेकिन यह मान लेना उचित नहीं है कि ऐसा प्रत्येक तत्व कोई न कोई प्रकार्य अवश्य करेगा। ब्राउन एवं मैलिनोवस्की की तीसरी मान्यता को भी अस्वीकार करते हुए मर्टन ने कहा है कि ऐसा नहीं है कि 'प्रत्येक प्रकार की सभ्यता, रीति-रिवाज, भौतिक तत्व विचार और विश्वास आदि कुछ सामाजिक प्रकार्यों को पूरा करते हैं, ' मर्टन का कथन है कि इस वाक्यांश से यह पता चलता है कि इसके द्वारा **मैलिनोवस्की के प्रकार्य की अपरिहार्यता** को स्पष्ट करना चाहते हैं अथवा उनका तात्पर्य सांस्कृतिक तत्वों की अपरिहार्यता से है। वास्तविकता यह है कि प्रकार्य की अपरिहार्यता की मान्यता को दो परस्पर सम्बन्धित दशाओं के आधार पर ही समझा जा सकता है। पहला यह ही कुछ प्रकार्य इसलिए अपरिहार्य होते हैं कि यदि वे अपना कार्य न करें वो समाज अपने अस्तित्व को बनाकर नहीं रख सकता। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाज में कुछ प्रकार्य वे होते हैं जो समाज का निर्माण करने वाली पूर्व परिस्थितियों को उत्पन्न करते हैं, इन्हें मर्टन ने समाज की " **प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएँ** " कहा और इन्हीं के आधार पर उन्होंने प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं की अवधारणाओं को प्रस्तुत किया। दूसरी दशा की चर्चा करते हुए मर्टन ने बतलाया कि प्रत्येक समाज के कुछ निश्चित सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप होते हैं। जो इन प्रकार्यों को पूरा करने में सहयोग देते हैं।

इस मान्यता को सरल रूप से प्रस्तुत करते हुए मर्टन ने कहा कि जिस प्रकार समान प्रकृति के तत्वों के एक-दूसरे से भिन्न प्रकृति वाले अनेक प्रकार्य होते हैं, उसी प्रकार एक ही तरह का प्रकार्य अनेक इकाइयों से भी सम्बन्धित हो सकता है। इसका तात्पर्य है कि मर्टन ने प्रकार्य की अपरिहार्यता को इसके संशोधित रूप में "प्रकार्यात्मक विकल्प (Functional Alternative) के रूप में प्रस्तुत किया।

मर्टन का कहना है कि प्रकार्य शब्द की व्याख्या के क्रम में अनेक विद्वान इसे अब तक अनेक रूप में व्यवहार कर चुके हैं, अतः एक शब्द प्रकार्य के लिए विविध अवधारणाओं की एक समस्या खड़ी हो गयी है। प्रकार्य शब्द का प्रयोग उपयोगिता, उद्देश्य, परिणाम, लक्ष्य आदि के रूप में अब तक किये गए हैं, इनका यह भी कहना है कि प्रकार्य की अवधारणा वैषयिक (Objective) एवं अवलोकनीय है।

25.4 प्रकार्य एवं अकार्य (Function & Dysfunction)&

प्रकार्य की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा है कि किसी भी ईकाई अथवा तत्व की यह गतिशीलता जो उस व्यवस्था को बने रहने में मदद दे या दूसरी व्यवस्थाओं के साथ अनुकूलन में मदद दे तो उसे प्रकार्य कहते हैं। मर्टन का कहना है कि हर ईकाई न तो हमेशा प्रकार्यात्मक होती है और न ही सार्वभौमिक। यहीं उन्होंने दुर्खीम, ब्राउन एवं मैलिनोवस्की के विचारों की आलोचना की है। इनका कहना है कि हर व्यवस्था में कुछ ऐसी इकाईयाँ होती हैं जो व्यवस्था के सन्तुलन को कमजोर करती हैं। अतः ऐसी क्रियाशीलता प्रकार्य न कहलाकर अकार्य कहलाती है। इस तरह यही मर्टन ने अकार्य शब्द की चर्चा की है। इनका यह भी कहना है कि एक ही तत्व की व्यवस्था के लिए एक ही समय में प्रकार्यात्मक हो सकता है और दूसरे के लिए अकार्यात्मक हो सकता है।

अतः फिर ब्राउन एवं मैलिनोवस्की के खिलाफ इनका कहना है कि हर तत्व का समाज में बना रहना आवश्यक नहीं है, जो तत्व अकार्यात्मक हो चुके हैं उन्हें हटाया जा सकता है। इस आधार पर उन्होंने तत्वों की अपृथकता की मान्यता को भी अस्वीकार कर दिया है।

स्पष्टतः मर्टन के अनुसार समाज के हर तत्व के दोनों ही पक्ष होते हैं। किसी भी तत्व की वह क्रियाशीलता जो व्यवस्था को धनात्मक योगदान करती है वह प्रकार्य कहलाता है जो ऋणात्मक योगदान करती है। वह अकार्य कहलाता है।

उदाहरणार्थ— यदि धर्म किसी भी समाज में लोगों को एकता के सूत्र में बांधता है जिसके समाज का संगठन मजबूत होता है तो यह धर्म का प्रकार्य है। लेकिन यदि धर्म आपस में ईर्ष्या, द्वेष और वैमनस्य को फैलाता है। जिसके फलस्वरूप धार्मिक दंगे होते हैं, तो वह धर्म का अकार्य है।

इस तरह प्रकार्य और अकार्य को अनेकों उदाहरणों द्वारा समझा जा सकता है। **उदाहरणस्वरूप—** किसी भी संगठन द्वारा यदि अपने कर्मचारियों को काल वृद्ध पदोन्नति देने की व्यवस्था है और यदि कर्मचारियों की कार्यकुशलता बढ़ती है। उनके बीच की आपसी प्रतिद्वन्द्विता घटती है, तो यह इसका प्रकार्य है। यदि काल वृद्ध प्रोन्नति के परिणामस्वरूप कर्मचारियों में शिथिलता आती है और यह उनकी कार्य-कुशलता को घटाती है तो यह इसका अकार्य है।

25.4.1 नकार्य (Non-function)

प्रकार्य, अकार्य के अलावा मर्टन ने नकार्य (Non-function) का भी उल्लेख किया है, इनके अनुसार हर व्यवस्था में कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो न तो व्यवस्था को तोड़ने की चेष्टा करते हैं और न ही इसके संगठन को मजबूत रखते हैं, ऐसे तत्वों को ही मर्टन ने नकार्य कहा है। 'जैसे— पर्दा प्रथा' मध्य काल में चाहे पर्दा प्रथा के जो भी प्रकार्य रहे हो लेकिन आज के इस औद्योगिक समाज में इसकी कोई प्रकार्यात्मक कहता नहीं है। फिर भी यह निम्न मध्यम वर्गीय कुछ मुस्लिम परिवारों में प्रचलन में है जिसका कोई अकार्यात्मक पक्ष भी नहीं है। इस तरह नकार्य भी हैं जिसका व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

अकार्य की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए मर्टन का कहना है कि जन समाज में इसकी मात्रा काफी बढ़ जाती है और सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण इन्हें रोकने में असमर्थ हो जाते हैं तो समाज में परिवर्तन आवश्यम्भावी हो जाता है इस तरह मर्टन के अनुसार अकार्यात्मक विधि बढ़ने से ही व्यवस्था में परिवर्तन आता है।

25.4.2 प्रकट एवं अप्रकट (Manifest & Latent)

अपने विश्लेषण के क्रम में मर्टन ने प्रकार्य एवं अकार्य को पुनः दो भागों में बाँटा है— प्रकट एवं अप्रकट, मर्टन ने दोनों शब्दों को फ्रायड के स्वप्न के सिद्धान्त से लिया है। इनके अनुसार प्रकट प्रकार्य उस प्रकार्य को कहते हैं जो समाज के सदस्यों द्वारा इच्छित एवं स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है। दूसरी तरफ अप्रकट प्रकार्य उसे कहते हैं जो न इच्छित होता है और न ही स्पष्ट रूप से प्रमाणित, इनके अनुसार अप्रकट संबोधन से समाजशास्त्रियों को एक नवीन दृष्टि प्रदान होती है, जिससे वह अनुसंधान कार्य में और प्रवीण हो जाता है, अतः मर्टन के अनुसार समाजशास्त्रियों का काम समाज के बाकी छिपे रहस्यों का पता लगाना है। प्रकट एवं अप्रकट को कई उदाहरणों से समझा जा सकता है। मर्टन ने होपी जनजाति का उदाहरण दिया है। इनका कहना है कि इस जनजाति के लोग वर्षा लाने के लिए एक साथ इकट्ठा होकर कुछ संसारिक अनुष्ठान करते हैं, इस अनुष्ठान से वर्षा तो नहीं होती पर होपी जनजाति के बिखरे सदस्य एक जगह जमा होकर सामूहिक रूप से कार्य करते हैं, उनकी एकजुटता मजबूत होती है, यह मामूली उपलब्धि नहीं है, यही इस अनुष्ठान का अप्रकट प्रकार्य है। इसी तरह निकटाभिमान निषेध आज दुनिया के सभी समाजों में मान्य है। इसका प्रकट प्रकार्य यह है कि इससे परिवार में यौन संबंध के लिए ईर्ष्या एवं झगड़े नहीं होते। अतः परिवार संगठित रहता है पर इसका अप्रकट प्रकार्य यह है कि निकट रक्त संबंधियों के बीच यौन संबंध निषेध से बच्चे बदसूरत एवं अपंग नहीं होते।

थर्सटीन बेबलीन ने बताया कि कीमती चीजों को खरीदना विलासी वर्ग में काफी प्रचलित है। कीमती चीजों से खरीदने का प्रकट प्रकार्य यह है कि यह हमारी जरूरतों की पूर्ति करना है पर इसका अप्रकट प्रकार्य यह है कि यह खरीदने वाले की उच्च आर्थिक हैसियत का सूचक बन जाता है।

इसी तरह अकार्य के भी प्रकट एवं अप्रकट स्वरूप को समझा जा सकता है जैसे— किसी कारखाने में कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी तो इसका प्रकट अकार्य यह है कि इससे उत्पादन ठप पड़ जाता है, पर यदि हड़तालियों ने आमरण अनशन कर दिया और उसमें से कोई एक कर्मचारी मर गया तथा कर्मचारियों ने कारखाने में तोड़-फोड़ कर दी तो यह अप्रकट अकार्य है। क्योंकि इसकी आशा किसी ने नहीं की थी।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि मर्टन ने प्रकार्यात्मक विश्लेषण की एक विस्तृत रूप-रेखा प्रस्तुत की है। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से मर्टन सहित प्रकार्यवाद की भी तीखी आलोचना की गयी है। और यह सिद्धान्त लोकप्रियता की दृष्टि से कमजोर साबित हुआ है।

इसका प्रमुख कारण यह है कि इन वर्षों में समाजशास्त्र के क्षेत्र में अनेक उपयोगी पद्धतियों का विकास हुआ है। जैसे— विनिमय का सिद्धान्त, लोकविधि विज्ञान आदि। इसके अतिरिक्त प्रकार्यवादी विश्लेषण अनेक ऐसी मान्यताओं को लेकर चलता है जिसकी व्यवस्था की जाँच आवश्यक है, क्योंकि उन्हें किसी भी रूप में स्वयं सिद्ध नहीं माना जा सकता।

25.5 प्रकार्यात्मक पैराडाइम (Functional Paradigm)

मर्टन ने प्रकार्यात्मक सिद्धान्त का ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, इस में इन्होंने अगस्त कॉम्ट, दुर्खीम, ब्राउन एवं मैलिनोवस्की आदि सभी विद्वानों से कुछ न कुछ आधार लेकर प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए एक “ पैराडाइम ” यानि मॉडल तैयार किया है, मर्टन का कहना है कि हम दुनिया के किसी भी समाज का अध्ययन करना चाहे और यदि हमारे अध्ययन का सन्दर्भ प्रकार्यवादी है तो पैराडाइम का प्रयोग किया जा

सकता है, दरअसल 'पैराडयम' एक विधि है जिसकी सहायता से किसी भी समाज का सांगोपांग अध्ययन किया जा सकता है।

- मर्टन का कथन है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण की आवश्यकता पर अनेक समाज वैज्ञानिकों ने जोर दिया है लेकिन इन सभी की विवेचना में कोई न कोई कमी अवश्य देखने को मिलती है। इस दशा में प्रकार्यात्मक विश्लेषण को तभी व्यवस्थित बनाया जा सकता है जब इसके एक सुनिश्चित प्रारूप निर्माण कर लिया जाए। प्रकार्यात्मक विश्लेषण का एक निश्चित प्रारूप होना चाहिए इसलिए भी आवश्यक है जिससे एक निश्चित मानदण्ड के आधार पर सामाजिक तथ्यों का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से किया जा सके। इस दृष्टिकोण से मर्टन ने प्रकार्यात्मक विश्लेषण का एक प्रारूप प्रस्तुत किया जिससे कुछ निश्चित अवधारणाओं के सन्दर्भ में प्रकार्यात्मक विश्लेषण सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर किया जा सके। मर्टन द्वारा प्रस्तुत इस प्रारूप में जिन अवधारणाओं तथा विशेषताओं का समावेश है, उन्हें निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है:
- **विषय-** सामाजिक तथ्यों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए हम जिन तथ्यों का अध्ययन के लिए उपयोग करते हैं मर्टन के अनुसार उन्हें विषय कहा जाना चाहिए। इस प्रकार प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए जो विषय अधिक महत्वपूर्ण हो सकते हैं। उन्हें मर्टन ने सामाजिक भूमिका संस्थागत प्रतिमान सामाजिक प्रक्रिया, सांस्कृतिक प्रतिमान, संवेग, व्यवहार के सामाजिक मानदण्ड समूह संगठन, सामाजिक संरचना तथा सामाजिक नियन्त्रण कहा। मर्टन का विचार है कि किसी भी प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए इन सभी विषयों से सम्बन्धित तथ्यों का अध्ययन करना आवश्यक है।
- **विषयगत प्रेरणाएँ-** कुछ दशाओं में प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए व्यक्ति की प्रेरणाओं का अध्ययन किया जाता है इसके लिए यह आवश्यक है कि पहले ही यह जान लिया जाय कि किस तरह की प्रेरणाओं के अध्ययन के लिए हमें किस तरह के तथ्यों अथवा आकड़ों को एकत्रित करना जरूरी है। इसके साथ ही यह जानना भी आवश्यक है कि उन तथ्यों की प्रकृति दूसरे तथ्यों से किस तरह भिन्न हैं और उनका उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है। इसका तात्पर्य है कि जो तथ्य एक विशेष प्रेरणा और उद्देश्य के रूप में समाज में एक विशेष भूमिका निभाते हैं। प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए उनका चयन कर लेना जरूरी है।
- **उद्देश्यगत परिणाम-** मर्टन का कथन है कि किसी विशेष के प्रकार्यात्मक विश्लेषण में हमें मुख्यतः दो समस्याओं का सामना करना पड़ता है। पहली यह की सामाजिक तथ्यों के योगदान को उस सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के अन्तर्गत किस तरह ज्ञात किया जाय। जिसमें उस तथ्य के प्रकार्य निहित है। तथा दूसरा यह कि किसी तथ्यों को विषयगत प्रेरणा को उसके उद्देश्य पूर्ण परिणामों से पृथक करके किस तरह समझा जाय। पहली दशा को स्पष्ट करते हुए मर्टन ने कहा कि सामाजिक प्रक्रियाओं के परिणाम गुणात्मक होते हैं। इन परिणामों का जब सम्पूर्ण रूप हमारे सामने आता है तभी यह समझा जा सकता है कि किसी प्रक्रिया के परिणाम प्रकार्य के रूप में सामने आये हैं। अतः अकार्य के रूप में। इसी के सन्दर्भ में मर्टन ने प्रकार्य की अवधारणा को अकार्य की अवधारणा से पृथक करके स्पष्ट किया। आपके अनुसार "प्रकार्य वे देखे जा सकने वाले परिणाम हैं जो सामाजिक व्यवस्था में अनुकूलन अथवा सामंजस्य को सम्भव बनाते हैं।" दूसरी ओर "अकार्य वे स्पष्ट परिणाम हैं जो सामाजिक व्यवस्था में अनुकूलन अथवा सामंजस्य को कम करते हैं।" दूसरी समस्या को स्पष्ट करते हुए मर्टन ने बतलाया कि किसी प्रक्रिया के प्रकार्य भी प्रत्येक

दशा में समान नहीं होते । यह प्रत्यक्ष भी हो सकते हैं और निहित भी। मर्टन के शब्दों में “प्रत्यक्ष अथवा घोषित प्रकार्य वे वैषयिक परिणाम हैं जो सामाजिक व्यवस्था में अनूकूलन का गुण उत्पन्न करते हैं। तथा जो इस व्यवस्था में भाग लेने वाले व्यक्तियों द्वारा इच्छित और मान्य होते हैं।” इसके विपरीत, “निहित प्रकार्य वे हैं जो न तो इच्छित होते हैं और ना ही सामान्य लोगों के द्वारा उन्हें पहचाना जाता है।” इस तरह मर्टन ने प्रकार्य, अकार्य, प्रत्यक्ष प्रकार्य तथा निहित प्रकार्य की अवधारणा को प्रस्तुत करके प्रकार्यात्मक विश्लेषण में आने वाली समस्याओं का निदान प्रस्तुत किया। उन्होंने बतलाया कि किसी भी प्रकार्यात्मक विश्लेषण के अन्तर्गत यह जानना आवश्यक है कि जिन विषयों अथवा प्रक्रियाओं का हम अध्ययन कर रहे हैं उनके कौन से परिणाम प्रकार्य हैं और कौन से परिणाम अकार्य के रूप में स्पष्ट हैं। इसी तरह यह जानना भी आवश्यक है कि जब कोई प्रक्रिया प्रत्यक्ष प्रकार्य की जगह निहित प्रकार्य को स्पष्ट करने लगती है, तब सामाजिक व्यवस्था पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है।

- **प्रकार्य से सम्बन्धित इकाई**— मर्टन का कथन है कि जिस ‘विषय’ का हम प्रकार्य के आधार पर विश्लेषण करते हैं, वह विषय या इकाई यदि किसी व्यक्ति अथवा उपसमूह के लिए कोई प्रकार्य करती है तो यह भी सम्भव है कि वह किसी दूसरे व्यक्ति या समूह के लिए अकार्य करे। उदाहरण के लिए यदि सरकार द्वारा निजी क्षेत्र को दिया जाने वाला समर्थन कुछ पूजीपतियों के लिये प्रकार्यात्मक हो सकता है। वो वही समर्थन निर्धन समूहों के लिए अकार्यात्मक हो सकता है। इसके साथ ही अध्ययनकर्ता को यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि किसी इकाई के जो प्रकार्य उसके सामने आते हैं। वे किस प्रकार के हैं। मर्टन के अनुसार यह प्रकार्य मनोवैज्ञानिक प्रकार्य समूह प्रकार्य सामाजिक प्रकार्य तथा सांस्कृतिक प्रकार्य के रूप में व्यक्त हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में यह कह जा सकता है कि किसी भी विषय के उन प्रभावों का अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिए। जो व्यक्ति की सामाजिक स्थिति, उप समूह, वृहत सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था पर स्पष्ट होता है।

मर्टन के पैराडयम में कुल 11 मद (item) हैं, इन मदों को अध्ययन में लागू कर समाज की प्रकार्यात्मक स्थिति का विश्लेषण किया जा सकता है, इन मदों की चर्चा निम्न प्रकार से की जा सकती है।

1. **वे मद जिनके प्रकार्यों की पहचान करनी है:**

यहाँ मर्टन का कहना है कि एक अनुसंधानकर्ता के लिए सबसे पहली आवश्यकता यह है कि वह उन आदर्श, सामाजिक, सांस्कृतिक मदों को पहचाने जिनका कि वह प्रकार्यात्मक अध्ययन करना चाहता है, जब यह निश्चित हो जाता है तो मर्टन का पैराडायम आगे बढ़ता है।

2. **अध्ययन से संबंधित उद्देश्य एवं प्रेरणाएँ :**

जब किसी एक मद को अनुसंधानकर्ता अपने गहन अध्ययन के लिए तैयार कर लेता है तो उसके अध्ययन का कारण किस तरह मद से संबंधित मनोवृत्तियों से जुड़ा हुआ है, उदाहरणार्थ, यदि कोई अनुसंधानकर्ता राजनीति एवं अपराध के गठबंधन को अपने अध्ययन का विषय बनाता है तो इस तरह के अध्ययन में यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि इस तरह के अध्ययन के क्या कारण हैं? दरअसल लक्ष्य के प्रति ये चेतना प्रकार्यात्मक विश्लेषण में सहायक होती है।

3. मद के प्रकार्य किस भांति व्यवस्था को बनाये रखते हैं

सामान्यतः अनुसंधानकर्ता की प्रवृत्ति यह होती है कि वह किसी भी मद के प्रकार्य को देखता है, फलस्वरूप अकार्य उपेक्षित रह जाते हैं, अतः मर्टन का कहना है कि किसी मद के प्रकार्य को देखते हुए हमें प्रकार्य के विभिन्न प्रकारों के सम्बन्ध में विश्लेषण करना चाहिए, इनका कहना है कि प्रकार्य के बहुल परिणाम होते हैं:-

उदाहरणस्वरूप:- तलाक का एक प्रकार्य पति-पत्नी के विवाद को समाप्त करना है तो दूसरा प्रकार्य दिन-रात के झगड़ों एवं मनमुटावों से दोनों के चैन दिलाता है। स्पष्टतः मर्टन का कहना है कि एक अनुसंधानकर्ता को प्रकार्य के बहुत प्रकार्य, अकार्य तथा प्रकट एवं अप्रकट प्रकार्यों को भी विश्लेषण के समय ध्यान में रखना चाहिए।

4. इन इकाइयों की पहचान जिनके लिए मद प्रकार्यात्मक है:

मर्टन का कहना है कि यह मानकर चलाना भ्रमपूर्ण होगा कि किसी भी मद के लिए सभी गतिविधियों प्रकार्यात्मक होगी। मर्टन का कहना है कि समाज व्यवस्था में कई ऐसी इकाइयाँ होती हैं जो एक ईकाई के लिए प्रकार्यात्मक होती हैं तो दूसरे के लिए नकारात्मक या अकार्यात्मक बन जाती हैं **उदाहरणस्वरूप** परिवार में पत्नी यदि नौकरी करके परिवार की आय में वृद्धि करती है तो इसका सकारात्मक पक्ष यह है कि परिवार का जीवन स्तर ऊँचा उठ जाता है लेकिन इसका अकार्यात्मक पक्ष यह है कि संतान माँ के द्वारा पर्याप्त पालन पोषण से वंचित रह जाते हैं। अतः मर्टन का कहना है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण में इन इकाइयों की श्रृंखला का लगाना चाहिए जिनके लिए सकारात्मक प्रकार्य हुए हैं।

5. उन प्रकार्यों की खोज जो व्यवस्था की आवश्यकताओं एवं पूर्व आवश्यकता को पूरा करते हैं:-

यहाँ मर्टन का कथन है कि किसी भी व्यवस्था में कुछ बुनियादी आवश्यकताएँ होती हैं। व्यवस्था की इकाइयों का प्रकार्य इन आवश्यकताओं को पूरा करना होता है। अतः प्रकार्यवादी विश्लेषण में यह देखना चाहिए किन मदों के प्रकार्य ऐसे हैं जो सार्वभौमिक और किन मदों के प्रकार्य ऐसे हैं जो विशिष्ट प्रकार्यों को सम्पन्न करते हैं।

6. वह क्रिया विधि (Mechanism) जिसके द्वारा प्रकार्य सम्पन्न किये जाते हैं:-

मर्टन के अनुसार " किसी भी व्यवस्था की आवश्यकताएँ ही व्यवस्था को जीवित रखती हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि इन आवश्यकताओं की पूर्ति किसी न किसी क्रिया विधि द्वारा की जाती है। **उदाहरणार्थ-** विवाह एक व्यवस्था है इसकी आवश्यकता यौन इच्छा की पूर्ति प्रजनन और प्राप्ति के लिए पड़ती है।

7. प्रकार्यात्मक विवरणों की अवधारणा:-

मर्टन का साफ शब्दों में कहना है कि किसी भी आवश्यकता की कोई भी इकाई पूरी तरह से अपरिहार्य नहीं है बल्कि प्रकार्यों को करने वाले कई अन्य वैकल्पिक मद होते हैं। यदि कोई भी मद समाज के लिए हानि कारक हो तो उसकी जगह दूसरा मद लाया जा सकता है इस तरह मर्टन का कहना है कि विकल्पों की तलाश की जानी चाहिए।

8. प्रक्रिया के लिए संरचात्मक दबाव:-

अपने पेराडाइम में मर्टन का यह कहना है कि व्यवस्था में प्रकार्यात्मक विकल्पों के होते हुए भी कुछ संरचात्मक दबाव व्यक्ति पर इस तरह के होते हैं कि उसे एक निश्चित प्रकार्य या मद को ही अपनाना पड़ता है **उदाहरणस्वरूप-** यह ठीक है कि जैविकीय आवश्यकता के लिए दाल-रोटी का भोजन एक निश्चित प्रकार्य को पूरा करता है इसके विकल्प के रूप में चावल, मछली, या माँसाहारी भोजन उपलब्ध है। फिर भी व्यक्ति या उसके

जातीय समूह पर शाकाहारी भोजन का ऐसा दबाव होता है माँसाहारी भोजन के प्रकार्यात्मक विकल्प को अपना नहीं पाता। अतः मर्टन का कहना है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण में अनुसंधानकर्ता को ऐसे संरचनात्मक एवं संस्थात्मक दबावों का पता लगाना चाहिए कि उन्हें मानने के लिए भी व्यवस्था बाध्य होती है।

9. **गतिशीलता और परिवर्तनः-** मर्टन का कहना है कि प्रकार्यात्मक सिद्धान्त पर यह आरोप गलत है कि इसमें दुहराव व गतिशीलता है वास्तव में गतिहीनता का आरोप मानवशास्त्रियों ने लगाया था जिन्होंने अपना शोध कार्य अफ्रीका का एवं भारत की जन-जातियों पर किया था। दरअसल मर्टन का कहना है कि ज्यों-त्यों सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता में बदलाव आता है त्यों-त्यों प्रकार्यों में बहुत बदलाव आता है, अतः प्रकार्यवादी सिद्धान्त गतिशीलता और परिवर्तन के विश्लेषण में समर्थ है।
10. **प्रकार्यात्मक मान्यताओं और आवश्यकताओं की पूर्ति का युक्तियुक्त प्रमाणीकरणः-** मर्टन ने अपने पैराडायम में इस तथ्य को बार-बार दोहराया है कि किसी भी मद के प्रकार्य ऐसे होने चाहिए जा इस बात को प्रमाणित करें कि व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति उनके प्रकार्यों के सम्पादन द्वारा होती है अतः तार्किक रूप से यह ऐसा जाना चाहिए कि किस सीमा तक विभिन्न मदों के प्रकार्य व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं।
11. **प्रकार्यात्मक विश्लेषण से जुड़ी हुई वैचारिक समस्याएँः-** मर्टन ने साफ शब्दों में कहा है कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण में कोई आर्थिक या राजनैतिक विचारधारा अन्तर्निहित नहीं है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि प्रकार्यात्मक सिद्धान्त इन तत्त्वों से एकदम रहित है। हकीकत यह है कि प्रकार्यात्मक समाजशास्त्री जिस तरह के मूल्यों से प्रेरित होता है। उन्हीं के आधार पर अपना विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

25.6 पैराडाइम तैयार करने के उद्देश्य

मर्टन ने एक लम्बे प्रयोग के बाद निम्नलिखित तीन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर पैराडायम तैयार किया जो निम्न प्रकार से हैं।

1. पैराडाइम बनाने का पहला उद्देश्य यह था कि इस तरह का वर्गीकृत मॉडल प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए बहुत उपयोगी होगा। क्योंकि इस मॉडल में विभिन्न अवधारणाओं की भरभार नहीं है।
2. पैराडाइम बनाने का दूसरा उद्देश्य यह था कि प्रकार्यात्मक विश्लेषण के अन्तर्गत आने वाली सभी मान्यताओं को समाहित किया जा सके।
3. पैराडाइम बनाने का तीसरा उद्देश्य यह था कि पैराडाइम ने केवल सीमित अर्थों में वैज्ञानिक होगा बल्कि इस बात की भी पूरी गुजाइश रखी है कि इसे प्रकार्यात्मक समाजशास्त्री किसी विचारधारा के लिए भी काम में ला सकते हैं।
ऊपर की समस्त चर्चाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मर्टन का पैराडाइम अध्ययन की एक विधि है। ज्यों-ज्यों प्रकार्यात्मक समाजशास्त्री इस पैराडाइम को काम में लायेंगे, त्यों-त्यों अपने आप इसमें निखार आता जायेगा।

25.7 आलोचनात्मक मूल्यांकन—

पी० एच० कोहन ने प्रकार्यवाद से सम्बन्धित समस्त आलोचनाओं को तीन भागों में बाँटा है।

1. तार्किक
2. मौलिक
3. वैचारिक

- तार्किक आलोचनाओं में कोहने के अनुसार प्रकार्यवाद उद्देश्यपरक व्याख्या को बढ़ावा देता है। यह ऐसी उपकल्पनाओं का सुझाव देता है जो जाँच के योग्य नहीं हैं साथ ही, यह ऐसे वैज्ञानिक स्तर की जाँच करता है जो समाजशास्त्र में विद्यमान नहीं हैं।
- मौलिक आलोचनाओं में कोहन का कहना है कि प्रकार्यवाद सामाजिक जीवन में आदर्शात्मक तत्वों पर आवश्यकता से अधिक बल देता है। इसका परिणाम यह होता है कि सामाजिक स्थायित्व की कीमत पर सामाजिक संघर्ष के महत्व को कम कर देता है। प्रकार्यवाद में सामाजिक व्यवस्था के सामंजस्यपूर्ण प्रकृति पर इतना जोर दिया गया है कि यह सामाजिक परिवर्तन के महत्व को समझने में असफल रहता है।
- वैचारिकीय आलोचनाओं में कोहने के अनुसार प्रकार्यवाद रुढ़िवादी पूर्वाग्रहों को बढ़ावा देता है। इसके पीछे तर्क यह है कि प्रकार्यवाद सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों पर बल देकर यह सिद्ध करने की कोशिश करता है कि सभी व्यवस्थाएँ विश्व की सबसे अच्छी सम्भावित विशेषताओं में से हैं।
- गोल्डनर ने कहा है कि मर्टन द्वारा प्रकार्यवाद पर रुढ़िवादी एवं क्रान्तिकारी होने के आरोप का खण्डन कमजोर नींव पर आधारित है।
- आलोचक कहते हैं कि मर्टन के प्रकार्यवादी विश्लेषण के पैराडाइम में तुलना एवं सामान्यीकरण की भूमिका का अभाव देखा जाता है।
- यद्यपि मर्टन ने अपने पूर्व के प्रकार्यवाद में संशोधन का प्रयास किया है फिर भी डेहरेन्डार्फ कहते हैं कि प्रकार्यवाद के सभी स्वरूप (मर्टन का भी) यूटोपिया मात्र हैं क्योंकि जब इस अवधारणा को किसी भी समाज पर लागू करने का प्रयास किया जाता है तो यह सामाजिक यथार्थता को कम और सामाजिक यथार्थता से संबन्धित पूर्वनिर्धारित पक्षों का अधिक दर्शाता है।
- कोहने के अनुसार मर्टन ने अपने सिद्धांत में जिन प्राक्कल्पनाओं में रखा है उन्हें प्रमाणित करना आसान नहीं है। यह सत्य है कि प्राक्कल्पनाओं की जाँच के पर्याप्त आधुनिक प्रमाण तो हैं क्योंकि मर्टन अपने निगमन के नियम को पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर पाये हैं।
- अन्य प्रकार्यवादियों की तरह मर्टन का प्रकार्यवाद भी उद्देश्यपरकता से ग्रसित है क्योंकि मर्टन ने भी किसी इकाई के प्रभाव को ही कारण के रूप में स्वीकार किया है।
- होमन्स, टर्नर आदि आलोचकों का कहना है कि मर्टन के प्रकार्यवाद को सिद्धांत के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि प्रत्येक सिद्धांत में एक कथन होता है जिसके आधार पर निष्कर्ष को स्थापित किया जाता है परन्तु मर्टन के प्रकार्यवाद में ऐसा कुछ भी विद्यमान नहीं है। यह केवल एक मॉडल या अध्ययन की एक विधि या अध्ययन का एक तर्क मात्र है।

- आलोचकों का कहना है कि पारसंस की तरह मर्टन ने भी सामाजिक व्यवस्था में असहमति व संघर्ष के पहलू को समुचित महत्व नहीं दिया है। साथ ही, सामाजिक संस्थाओं की संरचना और प्रकार्यों के विश्लेषण में सत्ता व प्रभुत्व की भूमिका की उपेक्षा की है।

निश्चित ही उपरोक्त आलोचनाएं मर्टन के विचारों में निहित कुछ कमियों को उजागर करती है परंतु केवल इन कमियों के आधार पर मर्टन के प्रकार्यवाद को खारिज नहीं किया जा सकता है। मर्टन ने समाजशास्त्रीय विश्लेषण मुख्यतः प्रकार्यात्मक विश्लेषण की पद्धति को एक नये परिप्रेक्ष्य में रखने की कोशिश की है (11 सूत्री पैराडाइम को प्रस्तावित करके) और मर्टन ने समाप्त होते हुए प्रकार्यवाद के प्रभाव को समाजशास्त्रीय परम्परा में सुदृढ़ता से स्थापित किया है। उसका यह योगदान भी महत्वपूर्ण है यदि किसी इकाई का चयन अध्ययन हेतु किया जाए तो इससे सम्बन्धित विभिन्न आयामों व इसके परिणामों या प्रभावों (प्रकार्य, दुष्प्रकार्य, अकार्य, प्रकट व अप्रकट प्रकार्य के रूप में) को सूक्ष्मता को समझने की आवश्यकता है।

मर्टन के उपरोक्त विचारों ने बाद के कई विचारकों, नवप्रकार्यवादियों तथा नवसंघर्षवादियों (लुहमान, हेबरमास) को प्रभावित किया है और हेबरमास ने तो मर्टन के उपरोक्त सिद्धांतों के आधार पर ही शक्ति संरचना के अन्तर्गत समाज में शक्ति के प्रकार्यों को तथा दिये हुए अर्थों को जानने का प्रयास किया है।

मर्टन की आलोचना करते हुए कहा गया है कि वे यह निश्चय नहीं कर पाये हैं कि उनके सिद्धान्त में अध्ययन पद्धति की क्या भूमिका होगी साथ ही मर्टन के प्रकार्य और अकार्य की अवधारणाएँ काफी अस्पष्ट हैं, क्योंकि इनके अनुसार कोई भी परिणाम किसी के लिए प्रकार्यात्मक हो सकते हैं वो दूसरे के लिए अकार्यात्मक। ऐसी स्थिति में प्रकार्य एवं अकार्य के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है। मर्टन का कहना है कि समाज में अकार्य की मात्रा बढ़ती है तो परिवर्तन होता है। लेकिन आलोचकों को कहना है कि अकार्य की मात्रा बढ़ने से समाज में परिवर्तन नहीं होगा बल्कि समाज विघटन होगा।

ऊपर की समस्त चर्चाओं के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मर्टन का योगदान यह है कि इन्होंने प्रकार्यवाद को न केवल मानवशास्त्र से समाजशास्त्र के क्षेत्र में लाये बल्कि, उसे जीवन्तता भी प्रदान की। यद्यपि मर्टन की आलोचनाएँ की गयी हैं तथापि यह सत्य है कि 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में प्रकार्यवादी समाजशास्त्रीय जगत में एक सबल विचारधारा रही है।

25.8 सारांश—

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि प्रकार्य के बारे में मर्टन से पूर्व वैज्ञानिकों के विचार क्या है? साथ ही मर्टन ने प्रकार्य से सम्बन्धित विभिन्न अवधारणाओं— अकार्य, नकार्य, प्रकट, अप्रकट आदि को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया है। उन्होंने प्रकार्यात्मक पैराडाइम प्रस्तुत कर अध्ययनकर्त्ता के लिए प्रकार्यात्मक अध्ययन को सरल कर दिया है।

25.9 पारिभाषिक शब्दावली—

प्रकट(Manifest)— वो सभी प्रकार्य एवं अकार्य प्रकट की श्रेणी में आते हैं। जिसके परिणाम इच्छित, स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष होते हैं।

अप्रकट(Latent)- वे सभी प्रकार्य एवं अकार्य अप्रकट की श्रेणी में आते हैं। जिसके परिणाम अस्पष्ट, अनिच्छित एवं अप्रत्यक्ष होते हैं।

नकार्य (Non-Function)- यदि कोई इकाई ना तो समाज के लिए प्रकार्यात्मक या अकार्यात्मक होती है बल्कि इसका समाज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

25.10 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

1 प्रकार्यवाद का सर्वप्रथम उल्लेख किस विद्वान की रचना में मिलता है:

- a हरबर्ट स्पेन्सर
- b इमाइल दुर्खीम
- c रेडक्लिफ ब्राउन
- d बी. मैलिनोवस्की

2 प्रकार्यवाद के क्षेत्र में प्रकार्य-अकार्य, प्रकट तथा अप्रकट प्रकार्य नामक अवधारणाओं को प्रतिपादित करने का श्रेय किस विद्वान को है:

- a. पारसन्स
- b. जार्ज होमन्स
- c. मर्टन
- d. इमाईल दुर्खीम।

3 वर्तमान समय के समाजशास्त्र में हमें किस प्रकार का प्रकार्यवाद देखने को मिलता है:

- a. यान्त्रिक प्रकार्यवाद
- b. संरचनात्मक प्रकार्यवाद
- c. सामाजिक गतिशीलता
- d. सामाजिक संगठन।

4 सामाजिक थ्योरी एण्ड सोशियल स्ट्रक्चर (Social Theory And Social Structure) नामक पुस्तक के लेखक कौन है:

- a. पी. वी. यंग
- b. रेडक्लिफ ब्राउन
- c. पारसन्स
- d. राबर्ट के. मर्टन।

5 व्यक्त प्रकार्य से तात्पर्य हैं

- a. इच्छित एवं अनभिज्ञात परिणाम
- b. इच्छित एवं अभिज्ञात परिणाम
- c. अतिच्छित एवं अभिज्ञात परिणाम
- d. अनिच्छित एवं अनभिज्ञात परिणाम

- 6 सूची-I को सूची-II के साथ सुमेलित कीजिये और सूचियों के नीचे दिये गये कूट की सहायता से सही उत्तर का चयन कीजिए:

सूची-I

- अगस्त कॉम्ट
- कार्लमाक्स
- हरबर्ट स्पेंसर
- रडक्लिफ ब्राउन

सूची-II

- भौतिकवाद
- विकासवाद
- प्रत्यक्षवाद
- प्रकार्यवाद
- अस्तित्ववाद

कूट:

| | | | | |
|----|---|---|---|---|
| a. | A | B | C | D |
| | 3 | 1 | 2 | 4 |
| b. | A | B | C | D |
| | 4 | 2 | 1 | 5 |
| c. | A | B | C | D |
| | 3 | 2 | 1 | 4 |
| d. | A | B | C | D |
| | 2 | 1 | 5 | 4 |

- 7 सूची-I को सूची-II के साथ सुमेलित कीजिये तथा सूचियों के नीचे दिए कूट का प्रयोग कर सही उत्तर चयन चुनिए :

सूची-I

- प्रत्यक्ष प्रकार्य
- इ प्रतिमान हीनता
- ब सामाजिक व्यवस्था
- कवर्स्टहेन

सूची-II

- पारसन्स
- वेबर
- कॉम्ट
- मर्टन
- दुर्खीम

कूट:

| | | | | |
|----|---|---|---|---|
| | A | B | C | D |
| a. | 4 | 5 | 3 | 1 |
| b. | 2 | 4 | 3 | 1 |
| c. | 4 | 5 | 1 | 2 |
| d. | 1 | 4 | 5 | 2 |

+

8- निम्नलिखित पर विचार करें—

1. प्रकार्यात्मक एकता
2. प्रकार्यात्मक अपरिहार्यता
3. प्रकार्यात्मक सार्वभौमिकता
4. प्रकार्यात्मक अंतरनिर्भरता

मर्टन द्वारा बताए गए प्रकार्यावाद के आधारभूत तत्व कौन-कौन हैं?

कूट:

- a. 1 तथा 2
- b. 3 तथा 4
- c. 1 2 तथा 3
- d. 1 2 3 तथा 4

उत्तर— 1-a, 2-c, 3-b, 4-d, 5-b, 6-a, 7-c, 8-c ।

25.11 संदर्भ ग्रंथ सूची—

- (1) शम्भूलाल दोशी एवं मधुसूदन त्रिवेदी, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (1997)
रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 40-150
- (2) एस. एल. दोशी एवं पी. सी. जैन, सामाजिक विचारक (1997), सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन्स,
जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 80-300
- (3) डा. शीबा सिद्दीकी, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (2012)
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली, P- 24&30
- (4) डा. एम. एम. लवानिया एवं शशी के. जैन, सैद्धान्तिक समाजशास्त्र (1998),
रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, P- 119-180
- (5) एस. एस. पाण्डेय, टीएमएच, P- 17.1, 17.11
- (6) डा० अफरोज एकबाल, भारत में सामाजिक परिवर्तन दशा एवं दिशा, ल्यूसेंट पटना, P 1- 55

25.12 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री—

- (1) M. Francis Abraham, Modern Sociological Theory, Oxford University, Press Bombay,
Calcutta, Madras (1982) —P- 40-88
- (2) Sujit Kumar Choudhary, Thinkers and Theories in Sociology — P 221-260
- (1) Parimal B. Kar, Society, A Study of Social Interaction, Jawahar Publisher (1994) — P 62-70

25.13 निबंधात्मक प्रश्न—

प्रश्न— प्रकार्यावादी सिद्धांत की मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए मर्टन के विचारों की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न— प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए आधुनिक संरचनात्मक प्रकार्यावाद में एक रच तालिका (पैरोडिडम) का विकास करने में मर्टन का प्रयास सर्वाधिक महत्व का है। इस विधान का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 26 – सामाजिक संरचना एवं प्रतिमानहीनता(Social Structure And Anomie)

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य

26.1 प्रस्तावना

26.2 संरचना क्या हैं?

26.3 सामाजिक संरचना की विशेषताएँ

26.4 सामाजिक प्रणालियों के संरचनात्मक एवं अर्द्धसंरचनात्मक पक्ष

26.5 प्रतिमानहीनता

26.5.1 प्रतिमानहीनता के प्रकार

26.6 आलोचनात्मक मूल्यांकन

26.7 सारांश

26.8 पारिभाषिक शब्दावली

26.9 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

26.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

26.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

26.12 निबंधात्मक प्रश्न

26.0 उद्देश्य—

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान पाएँगे कि

नियमहीनता क्या है?

संरचना क्या हैं?

नियमहीनता पर मर्टन के क्या विचार हैं?

किस प्रकार सामाजिक संरचना नियमहीनता को प्रभावित करती है?

“ सामाजिक संरचना शब्द का प्रयोग समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र में पर्याप्त रूप से होता रहा है। सामाजिक संरचना एवं सामाजिक व्यवस्था दोनों ही अवधारणाओं एक दूसरे से घनिष्ठतम रूप से सम्बन्धित है। जहाँ सामाजिक व्यवस्था, समाज के प्रकार्यात्मक पक्ष को स्पष्ट करती है वहीं सामाजिक संरचना, समाज के ढाँचे को व्यक्त करती है। समाज एक अखंड व्यवस्था नहीं है ,

उसके विभिन्न भाग या अंग होते हैं। ये विभिन्न अंग व्यवस्थित होकर एक ढाँचे या रूपरेखा की रचना करते हैं, इसी को हम सामाजिक संरचना कहते हैं।

26.1 प्रस्तावना—

यद्यपि नियमहीनता अथवा विसंगति के सिद्धान्त की चर्चा सर्वप्रथम फ्रांसीसी समाजशास्त्री इमाइल दर्खाइम ने की पर उसे विस्तृत रूप से विश्लेषित करने का श्रेय अमेरिकी समाजशास्त्री रॉबर्ट किंग्सले मर्टन को जाता है। मर्टन से पहले मनोविज्ञान में फ्रायड ने भी मनोविज्ञानिक आधार पर इसे विश्लेषित करने का प्रयास किया है। फ्रायड के अनुसार विसंगति व्यक्ति की एक विशेष अवस्था है। यह सामाजिक संरचना की विशेषता नहीं है। दर्खाइम ने नियमहीनता का कारण स्वयं समाज को माना है। और बतलाया कि जब व्यक्ति में निराशा, असंतोष अथवा बदला लेने की भावना पनप जाती है, तो वह समाज द्वारा मान्य एवं स्थापित नियमों, आदर्शों तथा मूल्यों को स्वीकार करने से इंकार कर देता है। और इस प्रकार का व्यवहार करने लगता है जो आदर्श शून्यता (नियमहीनता) की दशा को दर्शाता है।

मर्टन ने अपनी पुस्तक एनोमी एण्ड सोशल स्ट्रक्चर (Anomie And Social Structure) में नियमहीनता ही चर्चा करते हुए कहा कि इसका सामाजिक संरचना से घनिष्ठ संबंध है। विभिन्न परिस्थितियों में सामाजिक संरचना के ही कुछ ऐसी स्थितियाँ विद्यमान रहती हैं। जो व्यक्ति पर सामाजिक नियमों के प्रतिकूल व्यवहार करने का दबाव डालती हैं। इस तरह मर्टन के अनुसार नियमहीनता, सामाजिक संरचना से गहन रूप से जुड़ी है।

26.2 संरचना क्या है?

‘संरचना’ शब्द का प्रयोग ‘बनावट’ या ‘ढाँचे’ से लिया जाता है। एक प्रकार से यह एक प्रतिमान होता है। जब किसी भवन को बनाया जाता है तो उस भवन का ढाँचा या स्वरूप एक प्रकार की संरचना कही जाती है। सोलहवीं शताब्दी में इस अवधारणा का प्रयोग किसी एक सम्पूर्ण व्यवस्था के अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों के साथ लिया गया। वस्तुतः संरचना का यह प्रयोग शरीर-रचना विज्ञान में अधिक हुआ। इसके बाद राजनैतिक दार्शनिकों ने इसका प्रयोग किया। इन्होंने इसका प्रयोग जैविकीय रूप में किया।

समाजशास्त्र में हरबर्ट स्पेन्सर ने 1958 में ‘संरचना’ के साथ प्रकार्य का प्रयोग किया, सम्भवतः रेडक्लिफ ब्राउन प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने 1910 में इमाइल दुर्खीम के समाजशास्त्र पर जो व्याख्यान दिये उनका शीर्षक सोशल स्ट्रक्चर रखा। इस पीढ़ी के अन्य लेखकों ने भी संरचना का प्रयोग जैविकीय अर्थ में किया। जैसे शरीर की संरचना हाथ, पाँव, आँख, नाक आदि से मिलकर बनती है वैसे ही सामाजिक संरचना के भी विभिन्न भाग होते हैं।

सामाजिक संरचना का अर्थ एवं परिभाषायें

सामाजिक संरचना अवधारणा का प्रयोग ‘समाजशास्त्र’ एवं ‘मानवशास्त्र’ दोनों में होता है। इन दोनों विज्ञानों में इसका अलग-अलग प्रयोग होता है।

मोरिस जिन्सबर्ग ने सामाजिक संरचना को परिभाषित करते हुए लिखा है कि “ सामाजिक संरचना का अध्ययन सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों अर्थात् समूहों समितियों तथा संस्थाओं के प्रकार एवं इन सबके

संकुल जिनसे कि समाज का निर्माण होता है, से सम्बन्धित है। सामाजिक संरचना के एक सम्पूर्ण विवरण के अन्तर्गत तुलनात्मक संस्थाओं के सम्पूर्ण क्षेत्र के विश्लेषण का समावेश होगा। ”

एस.एफ. नडेल के अनुसार “सामाजिक संरचना अनेक अंगों की एक क्रमबद्धता को स्पष्ट करती है यह (संरचना) तुलनात्मक रूप से यद्यपि स्थिर होती है, लेकिन इसका निर्माण करने वाले अंग स्वयं परिवर्तनशील होते हैं। ”

कार्ल मैन्हीम के अनुसार “ सामाजिक संरचना अन्तःक्रियात्मक सामाजिक शक्तियों का एक जाल है, जिससे अवलोकन एवं चिन्तन की विभिन्न प्रणालियों का जन्म होता है। ”

यहाँ जाल को मैन्हीम ने एक व्यवस्थित प्रतिमान के रूप में प्रयुक्त किया है जिसमें विभिन्न तारों के मध्य एक क्रमबद्धता होती है, इसी प्रकार सामाजिक संरचना भी एक क्रमबद्धता को प्रदर्शित करती है। सामाजिक शक्तियों से मैन्हीम का आशय सामाजिक नियन्त्रण के उन साधनों से है, जो व्यक्ति व समूह के जीवन को स्थायित्व प्रदान करने में मदद देते हैं।

टॉलकट पारसनस के शब्दों में ‘सामाजिक संरचना’ परस्पर सम्बन्धित संस्थाओं, ‘एजेन्सियों’ और ‘सामाजिक प्रतिमानों’ तथा समूह में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा ग्रहण किये जाने वाले पदों तथा कार्यों की क्रमबद्धता है। पारसनस सामाजिक संरचना को एक क्रमबद्ध रूप में देखते हैं इसलिए सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाइयों (संस्थाओं, प्रतिमानों) की क्रमबद्धता को इस रूप में समझाया है। ये इकाइयाँ आपस में मिलकर क्रमबद्ध रूप से सामाजिक संरचना निर्माण करती है, एक-दूसरे से पृथक रह कर नहीं।

मैकाइवर एवं पेज ने लिखा है कि “समूह निर्माण के विभिन्न तरीके संयुक्त रूप में सामाजिक संरचना के जटिल प्रतिमान का निर्माण करते हैं..... सामाजिक संरचना के विश्लेषण में सामाजिक प्राणियों की विविध प्रकार की मनोवृत्तियों तथा रुचियों के कार्य प्रकट होते हैं। ”

इस प्रकार समूहों के बनने के विभिन्न तरीकों के संयुक्त रूप को ही ‘सामाजिक संरचना’ कहते हैं जो एक अमूर्त अवधारणा है।

हैरी एम. जॉनसन के अनुसार “ किसी वस्तु की संरचना उसके अंगों के अपेक्षाकृत स्थायी अन्तर्सम्बन्धों से निर्मित होती है, स्वयं अंग शब्द से ही कुछ स्थायित्व के अंश का ज्ञापन होता है, चूँकि सामाजिक व्यवस्था लोगों के अन्तर्सम्बन्धित कृत्यों से बनती है, इस कारण उसकी संरचना को इन क्रियाओं में पाई जाने वाली नियमितता या पुनरावृत्ति की मात्रा में ढूँढा जाना चाहिये। ”

हैरी जॉनसन की इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि ये सामाजिक संरचना को अखण्ड नहीं मानते और यह स्वीकार करते हैं कि इसका निर्माण एकाधिक इकाइयों के संयोग से होता है, जिनमें परस्पर स्थायी सम्बन्ध होता है इस प्रकार सामाजिक संरचना का निर्माण लोगों द्वारा परस्पर सम्बन्धित क्रियाओं या कृत्यों द्वारा होता है। ये क्रियाएँ या कृत्य बार-बार दोहराये जाते हैं। इनमें एक नियमबद्धता पाई जाती है।

कोजर एवं रोजनबर्ग ने लिखा है कि “संरचना का तात्पर्य सामाजिक इकाइयों के तुलनात्मक स्थिर एवं प्रतिमानित सम्बन्धों से है। ”

मजूमदार एवं मदान के अनुसार "पुनरावृत्तीय सामाजिक सम्बन्धों के तुलनात्मक स्थायी पक्षों से सामाजिक संरचना का निर्माण होता है।"

इन उपरोक्त समाजशास्त्रियों के अलावा कुछ सामाजिक संरचना के अंग हैं। व्यक्तियों द्वारा अधिकृत पद स्थितियों के रूप में ये सामाजिक संरचना को निर्मित करते हैं।"

इग्गन का कहना है कि "अन्तःवैयक्तिक सम्बन्ध" सामाजिक संरचना के अंग हैं। व्यक्तियों द्वारा अधिकृत पद स्थितियों के रूप में ये सामाजिक संरचना को निर्मित करते हैं।"

फोर्ट्स के अनुसार "व्यक्तियों के मध्य पाने जाने वाले पारस्परिक सम्बन्ध ही सामाजिक संरचना के अंग हैं। इस अवधारणा का प्रयोग विशेषकर नातेदारी राजनैतिक व कानूनी संस्थाओं के विश्लेषण में किया जाता है।"

रेमण्ड फर्थ ने सामाजिक संरचना का प्रयोग उन बुनियादी सामाजिक सम्बन्धों के रूप में किया है जो समाज के मूल स्वरूप को बनाये रखते हैं तथा सामाजिक संगठन की सीमाओं को निर्धारित करते हैं।

ईवान्स प्रिटचार्ड ने सामाजिक संरचना का प्रयोग समूहों के मध्य पाये जाने वाले सम्बन्धों के लिये किया है।

रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, "सामाजिक संरचना के अंग या भाग मनुष्य ही हैं, और स्वयं संरचना, संस्था द्वारा परिभाषित और नियमित सम्बन्धों में लगे हुए व्यक्तियों की एक क्रमबद्धता हैं"

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना की अवधारणा के बारे में विभिन्न लेखकों के विचारों में पर्याप्त अन्तर है। यह अन्तर समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं में और भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। फिर भी लगभग सभी विद्वान सामाजिक संरचना के कुछ निम्नलिखित महत्वपूर्ण पक्षों से सहमत हैं—

- सामाजिक संरचना अनेक अंगों या इकाइयों से मिलकर बनती है।
- सामाजिक संरचना में ये अंग परस्पर रूप से अन्तर्सम्बन्धित हैं।
- सामाजिक संरचना एक प्रकार से शरीर-रचना की तरह है और इसका प्रयोग भी इसी अर्थ में किया जाता है।
- सामाजिक संरचना का प्रयोग व्यापक अर्थ में सामाजिक संगठन, सामाजिक व्यवस्था या सामाजिक स्वरूप के अर्थ में हुआ है तथा सामाजिक समूह, संस्थायें, समितियाँ आदि इसकी प्रमुख इकाइयाँ हैं।

26.3 सामाजिक संरचना की विशेषतायें

सामाजिक संरचना की उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर इसकी महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

- सामाजिक संरचना बाह्य स्वरूप का बोध कराती है— सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न अंगों एवं इकाइयों से होता है। ये इकाइयाँ या अंग जब एक अन्तर्सम्बन्धित व्यवस्था के रूप में क्रमबद्ध

रूप से संयुक्त हो जाते हैं तो एक ढाँचे या प्रतिमान का निर्माण होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार पत्थर, सीमेण्ट, लोहा आदि के द्वारा एक भवन का निर्माण होता है। भवन के बाह्य स्वरूप की भाँति ही सामाजिक संरचना समाज के बाह्य स्वरूप का बोध कराती है।

- **एकाधिक अंग या इकाइयाँ**— सामाजिक संरचना, स्वयं में अखण्ड न होकर अनेक अंगों या इकाइयों की एक व्यवस्था है। संरचना की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसका गठन केवल किसी एक अंग या इकाई के आधार पर नहीं हो सकता बल्कि एकाधिक अंगों या इकाइयों के संयुक्तकरण से ही संरचना का निर्माण सम्भव है। सामाजिक संरचना के अंग या इकाइयाँ विभिन्न सामाजिक समूह, संस्थाएँ, समितियाँ आदि हैं।
- **व्यवस्थित क्रम-विन्यास**— सामाजिक संरचना एक व्यवस्थित क्रमबद्धता है, जो विभिन्न अंगों या इकाइयों के मध्य पाई जाती है, अर्थात् केवल अंगों या इकाइयों के संकलन मात्र से ही किसी सामाजिक संरचना का निर्माण नहीं होता, जब तक कि इसके सभी अंग सुव्यवस्थित रूप से क्रमबद्ध न हों। जिस प्रकार ईंट, सीमेण्ट, लोहे, पत्थर के ढेर से या संकलन से मकान नहीं बन सकता है, उसी प्रकार इकाइयों की क्रमबद्धता के अभाव में सामाजिक संरचना नहीं बन सकती।
- **प्रतिमानित अन्तर्सम्बन्ध**— प्रत्येक सामाजिक संरचना, अंगों या इकाइयों के प्रतिमानित अन्तर्सम्बन्धों से ही निर्मित होती है। वास्तव में विभिन्न अंगों या इकाइयों का केवल व्यवस्थित रूप में क्रमबद्ध होना ही आवश्यक नहीं है बल्कि उनमें 'अन्तर्सम्बन्ध' का होना भी आवश्यक है। उदाहरण के लिये घड़ी का निर्माण करने वाली सभी इकाइयों के परस्पर अन्तर्सम्बन्धित होने पर ही घड़ी की संरचना बनाती है।
- **अपेक्षाकृत स्थिर व स्थायी**— सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत स्थिर एवं स्थायी अवधारणा है। जॉनसन ने बताया कि सामाजिक संरचना का निर्माण जिन समूहों और उपसमूहों से होता है, वे अपेक्षाकृत रूप से कहीं अधिक स्थायी होते हैं। समूह, समितियाँ, परिवार, श्रमिक संघ आदि सभी अपेक्षाकृत स्थायी समूह हैं। नडेल के अनुसार सामाजिक संरचना इस अर्थ में भी स्थिर व स्थायी है कि इसमें हम किसी वस्तु के सम्पूर्ण अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं जो कि सामान्यतः स्थिर व स्थायी होते हैं।
- **अमूर्तता**— सामाजिक संरचना की एक विशेषता अमूर्तता है। मैकाइवर एवं पेज तथा टालकट पारसनस दोनों ने ही सामाजिक संरचना की इस विशेषता की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इनका मानना है कि सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली इकाइयाँ या भाग, संस्थाएँ, एजेन्सियाँ एवं सामाजिक प्रतिमान हैं, सभी अमूर्त हैं। इन इकाइयों का भौतिक वस्तुओं की तरह कोई मूर्त स्वरूप या आकार नहीं है। राइट का कहना है कि सामाजिक संरचना का तात्पर्य एक 'दशा' अथवा स्थिति से है और इसीलिये आवश्यक रूप से यह अमूर्त है।
- **उपसंरचनाओं का होना**— सामाजिक संरचना एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है, बल्कि इसका निर्माण अनेक उपसंरचनाओं से मिलकर होता है। सामाजिक संरचनाओं की उपसंरचनाओं में परिवार, जाति, वर्ग, शिक्षण संस्था, धार्मिक संस्था, आर्थिक संस्था आदि मुख्य हैं, जिनकी स्वयं की एक संरचना होती है। इस प्रकार ये अनेक उप-संरचनाएँ मिलकर एक सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं।
- **स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित**— प्रत्येक समाज की अपनी सामाजिक संरचना होती है जो उस समाज विशेष की स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित होती है। अपनी भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक

एवं राजनैतिक विशेषतायें होती हैं, इसीलिए एक समाज की सामाजिक संरचना दूसरे समाज की सामाजिक संरचना से भिन्न होती है। रेडक्लिफ ब्राउन ने लिखा है कि सामाजिक संरचना की अवधारणा में स्थानीय विशेषताओं का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

- **विघटन की सम्भावना**— सामाजिक संरचना में अनेक बार विघटन के तत्व भी पाये जाते हैं। रोबर्ट मर्टन और इमाइल दुर्खीम ने इसी संदर्भ में नियमहीनता या विसंगति का उल्लेख किया है और बताया है कि अनेक बार सामाजिक संरचना स्वयं समाज में विसंगति पैदा करती है। इस प्रकार सामाजिक संरचना में विघटन के तत्वों की सम्भावना रहती है।
- **सामाजिक प्रक्रियाओं का महत्व**— सामाजिक संरचना के निर्माण में सहयोगी एवं असहयोगी दोनों प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाओं, जैसे –सहयोग, अनुकूलन, व्यवस्थापन, सात्मीकरण, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष आदि की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती हैं। इन्हीं सामाजिक प्रक्रियाओं के कारण सामाजिक संरचना का स्वरूप निर्धारित होता है।

26.4 सामाजिक प्रणालियों के संरचनात्मक एवं अर्द्ध-संरचनात्मक पक्ष

हैरी एम. जॉनसन ने अपनी कृति 'सोशियोलोजी-ए सिस्टेमेटिक इन्ट्रोडक्शन' में सामाजिक प्रणालियों के संरचनात्मक एवं अर्द्ध संरचनात्मक पक्षों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार सामाजिक प्रणाली की संरचना में निम्न चार तत्व होते हैं—

- कई प्रकार के उप-समूह, जो सम्बन्धित सामान्यकों द्वारा अन्तर्सम्बन्धित होते हैं।
 - कई प्रकार की भूमिकायें और उसके उप-समूहों में प्रत्येक भूमिका सम्बन्धित सामान्यकों द्वारा अन्य प्रणालियों से सम्बन्धित होती है।
 - उप-समूहों और भूमिकाओं को शासित करने वाले सामान्यक नियामक।
 - सांस्कृतिक मूल्य।
- इन तत्वों में से कोई भी किसी प्रकार का उप-समूह, कोई भूमिका, कोई सामाजिक सामान्यक, या कोई मूल्य-आंशिक-संरचना, कहा जा सकता है।

सामाजिक प्रणालियों के निम्नांकित पाँच अन्य पक्ष भी हैं जो 'सामाजिक संरचना' से इतने धनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं कि जॉनसन इन्हें 'अर्द्ध-संरचनात्मक पक्ष' कहते हैं—

- प्रत्येक भिन्न प्रकार के उप-समूहों की संख्या तथा किसी एक प्रकार के उप-समूहों की संख्या और उसी से बहुत कुछ मिलते-जुलते उप समूहों की संख्या का अनुपात।
- प्रत्येक प्रकार के उप-समूहों में सदस्यों का वितरण।
- उप-समूहों में और पूरी प्रणाली में, विभिन्न भूमिका-धारियों की संख्या
- सुविधाओं का वितरण।
- पारितोषिकों का विवरण।

सामाजिक संरचना के प्रारूप

टालकट पारसन्स ने अपनी सामाजिक संरचना के चार प्रमुख प्रारूपों का उल्लेख किया है। चार प्रकार के सामाजिक मूल्यों पर आधारित है—

- सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य
- विशिष्ट सामाजिक मूल्य
- अर्जित सामाजिक मूल्य
- प्रदत्त सामाजिक मूल्य

पारसन्स का मानना है कि सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य वो होते हैं। जो कि समस्त समाजों में व्यापक रूप से पाये जाते हैं। और सभी व्यक्तियों पर लागू होते हैं। इसके विपरीत विशिष्ट सामाजिक मूल्य किन्हीं विशेष सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं। अर्जित सामाजिक मूल्य वे होते हैं जिन्हें एक व्यक्ति अपने प्रत्यन्तो द्वारा प्राप्त करता है। जबकि परंपरा द्वारा निर्धारित पदों से सम्बन्धित मूल्य, प्रदत्त सामाजिक मूल्य कहे जाते हैं। इन्हीं चार सामाजिक मूल्यों के आधार पर पारसन्स ने सामाजिक संरचना के चार प्रारूपों को समझाया है

5. **सार्वभौमिक अर्जित प्रतिमान—** सामाजिक संरचना के इस प्रथम प्रतिमान में सार्वभौमिक एवं अर्जित प्रकार के सामाजिक मूल्यों का समावेश होता है। सार्वभौमिक मूल्यों में समाज में नातेदारी, समुदाय, प्रजाति अथवा वर्ग आदि के सम्बन्ध प्रभावित होते हैं। इन मूल्यों के कारण व्यक्ति को कुछ निश्चित पदों की प्राप्ति होती है। लेकिन इनसे समाज की गतिशीलता में कमी आती है। एवं रुढ़िवादिता में वृद्धि होती है। इसके विपरीत अर्जित सामाजिक मूल्यों को व्यक्ति अपने परिश्रम से प्राप्त करता है। अतः अर्जित मूल्य व्यक्तिगत एवं सामूहिक अर्जन को प्राप्त करते हैं। इससे प्रथा एवं परम्परा का विशेष प्रभाव नहीं रहता। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था अर्जित मूल्यों का एक उदाहरण है। जिसमें धन के अर्जन एवं संचय को काफी महत्व दिया जाता है। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के सामाजिक मूल्यों के संयोग से सार्वभौमिक अर्जित प्रतिमान का निर्माण होता है। पारसन्स के अनुसार औद्योगिक समाजों की संरचना इस प्रकार के प्रतिमानों का उदाहरण है इस प्रकार के समाजों की संरचना में वर्ग व्यवस्था पायी जाती है। जो कि सार्वभौमिक मूल्यों पर आधारित है। साथ ही अर्जित मूल्यों का भी महत्व होता है।
6. **सार्वभौमिक प्रदत्त प्रतिमान—** पारसन्स के अनुसार सामाजिक संरचना के इस प्रतिमान में सार्वभौमिक मूल्य तो वही होते हैं। जिनका उल्लेख प्रथम प्रतिमान में हैं लेकिन इनमें अर्जित मूल्यों का स्थान प्रदत्त मूल्य ले लेते हैं। इसमें अतीत तथा भविष्य से संबंधित दोनों प्रकार के आदर्श प्रतिमान में संयुक्त रूप से सम्मिलित रहते हैं। आदर्शों के चुनाव में रुढ़ियों और परम्पराओं को विशेष महत्व नहीं दिया जाता। फलस्वरूप व्यक्तियों के समक्ष आदर्शों की अधिकता रहती है। साथ ही परिस्थितियों के अनुसार इनमें परिवर्तन भी होता रहता है। पारसन्स ने इस प्रकार के प्रतिमान का उदाहरण “ आधुनिक वैज्ञानिक समाजों” का दिया है जिनमें दोनों प्रकार के मूल्यों का समावेश है।
7. **विशिष्ट-अर्जित प्रतिमान—** इस प्रकार के प्रतिमान में सार्वभौमिक मूल्यों की अपेक्षा विशिष्ट सामाजिक मूल्यों की प्रमुखता रहती है। ये सामाजिक मूल्य विशेष सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं, जो पारलौकिक भी हो सकते हैं। इसके साथ अर्जित मूल्यों का समावेश कर सामाजिक संरचना के इस प्रतिमान को प्रस्तुत किया गया है। पारसन्स के अनुसार प्राचीन भारतीय व चीनी

सामाजिक संरचना को इस श्रेणी के प्रतिमान में रखा जा सकता है। मैक्स बेबर ने कन्फ्यूशियन चीनी सामाजिक संरचना का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आता है।

8. **विशिष्ट-प्रदत्त प्रतिमान-** पारसन्स के अनुसार सामाजिक संरचना का अन्तिम प्रारूप विशिष्ट एवं प्रदत्त सामाजिक मूल्यों के संयोग से बना है। इस प्रकार के सामाजिक संरचना में रक्त-सम्बन्ध और स्थानीय समुदायों पर आधारित समूह पाये जाते हैं। नैतिकता का महत्व इस प्रकार की संरचना की एक विशेषता है। यहाँ विशिष्ट वैयक्तिक गुणों को विशेष महत्व दिया जाता है। पारसन्स के अनुसार स्पेन की सामाजिक संरचना इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

सामाजिक संरचना का अभिप्राय उस स्वरूप से है, जो समाज के विभिन्न अंगों के संयुक्त होने के उपरान्त एक निश्चित क्रमबद्धता के रूप में विकसित होता है। समाज के विभिन्न अंगों की प्रकृति एक-दूसरे से भिन्न है अतः प्रकृति के अनुसार ही सामाजिक संरचना के अनेक रूप हैं।

समाजशास्त्र में सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था के दो भाग माने जाते हैं। प्रथम सामाजिक संरचना, द्वितीय प्रकार्य। अतः सामाजिक व्यवस्था को भी समझना आवश्यक है। मानव जीवन के क्रम और निरन्तरता को बनाए रखने के लिये समाज का महत्वपूर्ण योगदान है। इसीलिए मानव जीवन के अस्तित्व एवं प्रगति के लिये सामाजिक व्यवस्था आवश्यक है। व्यवस्था का अभिप्राय उस क्रमबद्धता से है जो किसी संरचना के विभिन्न इकाइयों के मध्य एक निश्चित प्रकार्यात्मक आधार पर पायी जाती है व्यवस्था को निम्नलिखित बिन्दुओं से समझा जा सकता है।

- व्यवस्था का निर्माण एक से अधिक इकाइयों से होता है और ये सभी इकाइयां क्रमबद्ध रूप में एक-दूसरे से जुड़ी होती है।
- व्यवस्था का संबंध एक संरचना से होता है। संरचना के बिना व्यवस्था नहीं हो सकती।
- व्यवस्था एक ऐसी स्थिति का बोध कराती है। जिसमें विभिन्न तत्त्व अनेकता से एकता के स्वरूप को स्पष्ट करती है।
- व्यवस्था के निर्णायक अनेक इकाइयों एक-दूसरे से इस प्रकार अन्तर्सम्बन्धित होती हैं कि वे प्रकार्यात्मक आधार पर महत्वपूर्ण होती हैं।
- व्यवस्था में परिवर्तनशीलता होती है क्योंकि व्यवस्था का संबंध आवश्यकता पूर्ति से होता है। और व्यक्तियों की आवश्यकता में परिवर्तन होते रहने से व्यवस्था की संरचना में परिवर्तन होता रहता है।
- व्यवस्था कुछ इकाइयों का संयोग मात्र नहीं है, अपितु इसे व्यवस्था तभी कह जा सकता है जब वह समाज के लिए उपयोगी है।

एम.ई. जोन्स ने लिखा है सामाजिक व्यवस्था वह स्थिति है जिसमें समाज के विभिन्न क्रियाशील इकाइयां एक-दूसरे से तथा सम्पूर्ण समाज के साथ अपूर्ण ढंग से जुड़कर कार्य करती है। जोन्स की परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक व्यवस्था में केवल सहयोग का ही समावेश होना आवश्यक नहीं है। समाज में वस्तुतः सहयोग और संघर्ष सभी प्रकार के तत्त्व क्रियाशील रहते हैं। लेकिन सामाजिक व्यवस्था का आशय उस स्थिति से लगाया जाता है जिसमें प्रत्येक भाग को एक-दूसरे से अन्तर्क्रिया करने और अपने सामाजिक हितों को पूरा करने के अधिकतम अवसर प्राप्त हो सके।

पारसन्स ने सामाजिक व्यवस्था को परिभाषित करते हुए लिखा है “ एक सामाजिक परिस्थिति में जिसका की एक भौतिक तथा एक पर्यावरणीय संबंधी पक्ष होता है। जब अनेक व्यक्ति कर्त्ता सामान्यतः स्वीकृत सांस्कृतिक प्रतीकों की व्यवस्था के अन्तर्गत आदर्श लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अन्तःक्रिया कर रहे होते हैं तब इसी स्थिति को हम सामाजिक व्यवस्था कहते हैं।” पारसन्स आगे लिखते हैं, “सामाजिक व्यवस्था क्रिया की एक संगठित प्रणाली है, जिसमें बहुत से कार्यकर्त्ताओं की अन्तःक्रियाओं का समावेश होता है।”

सामाजिक व्यवस्था में अनेक वैयक्तिक कर्त्ताओं के बीच ‘अन्तःक्रियाएँ’ होती हैं जिनका एक ‘आदर्श लक्ष्य’ होता है। सामाजिक व्यवस्था का सम्बन्ध अनुकूल परिस्थितियों के सन्तुलन से होता है, जिसके अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था को संगठित रखने के लिए कुछ स्वीकृत सांस्कृतिक प्रतीकों के अनुसार ही अन्तःक्रिया की जाती है। पारसन्स की सामाजिक व्यवस्था को इन पक्षों में समझा जा सकता है—प्रथम पक्ष वह है, जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होता है, जिसे संरचनात्मक पक्ष कहा जाता है। दूसरा पक्ष यह है, जो अनेक संस्थाओं के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था को समाज उपयोगी बनाता है और स्थायित्व प्रदान करता है जिसे संस्थात्मक पक्ष कहते हैं।

पारसन्स सामाजिक व्यवस्था में तीन तत्वों पर विशेष बल देते हैं—

- सामाजिक क्रिया
- कर्त्ता
- प्रस्थिति एवं भूमिका।

चार्ल्स पी. लूमीस ने सामाजिक व्यवस्था को समाज में पाई जाने वाली एक आन्तरिक स्थिति माना है और बताया है कि इसके लिए आन्तरिकरण का अध्ययन आवश्यक है, जिनमें सामाजिक प्रक्रियाओं की गतिशीलता ही सामाजिक उन्नति तथा उसके स्थायित्व को बनाये रखने में मदद करती है। सामाजिक व्यवस्था में पायी जाने वाली सामाजिक अन्तःक्रियाओं के परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। चार्ल्स लूमीस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था के नौ महत्वपूर्ण तथ्य हैं। इसका वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक सोशल सिस्टम में की है। जो निम्नलिखित हैं—

- ❖ विश्वास और ज्ञान
- ❖ भावनाएँ
- ❖ लक्ष्य
- ❖ आदर्श नियम
- ❖ प्रस्थिति एवं भूमिका
- ❖ पद
- ❖ शक्ति अथवा सत्ता
- ❖ मान्यताएँ
- ❖ सुविधा

सामाजिक व्यवस्था के व्यवस्था के विशेषताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं पर समझा जा सकता है।

- सामाजिक व्यवस्था में एक से अधिक कर्त्ता व्यक्ति होते हैं जो अधिकतम संतुष्टि के लिये प्रेरित होकर अन्तःक्रिया करते हैं। व्यक्तियों की अन्तःक्रिया को एक सूत्र में पिरोने का काम व्यवस्था के मूल्य और प्रतिमान करते हैं।
- सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न तत्त्वों में जो एकता पायी जाती है। उसका आधार प्रकार्यात्मक संबंध होता है।
- सामाजिक व्यवस्था में अन्तःक्रिया करने वाले व्यक्ति व्यवस्था के मूल्यों के प्रति सहमति रखते हैं।
- सामाजिक व्यवस्था में अनूकूलन का गुण होता है इसके दो पक्ष हैं। प्रथम – सामाजिक व्यवस्था जड़ और स्थिर नहीं है अथवा ये गतिशील होती है। द्वितीय– इस गतिशीलता के कारण इसका अनूकूलन बाह्य परिस्थितियों से होता रहता है।
- सामाजिक व्यवस्था यह मानकर चलती है कि समाज में निरन्तरता और सतर्कता होती है। यद्यपि सामाजिक व्यवस्था की इकाइयां परिवर्तनशील होती है। लेकिन इससे संपूर्ण व्यवस्था की संरचना और इसके प्रकार्यों में कोई अन्तर नहीं आता।
- सामाजिक व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता साम्यवास्था है अर्थात् व्यवस्था की यह प्रकृति होती है। कि वे अपनी यथास्थिति को बनाए रखे।
- सामाजिक व्यवस्था एक सामाजिक परिस्थिति में जिसका की एक भौतिक तथा एक पर्यावरणीय संबंधी पक्ष होता है। जब अनेक व्यक्ति कर्त्ता सामान्यतः स्वीकृत सांस्कृतिक प्रतीकों की व्यवस्था के अन्तर्गत आदर्श लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अन्तःक्रिया कर रहे होते हैं तब इसी स्थिति को हम सामाजिक व्यवस्था कहते हैं।
- सामाजिक व्यवस्था में संतुलन एवं क्रमबद्धता होती है।
- प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था की एक निश्चित सीमा होती है।
- प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था की सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के अन्तर्गत व्यक्ति के व्यवहारों पर नियंत्रण रखने के लिए आदर्श नियमों की एक व्यवस्था होती है।

26.5 प्रतिमानहीनता

मर्टन ने अपने विश्लेषण के क्रम में कहा है कि प्रत्येक सांस्कृतिक संरचना में कुछ ऐसे लक्ष्यों का समावेश होता है जिन्हें प्राप्त करना समाज में सदस्यों के लिए महत्वपूर्ण समझा जाता है। इनके अनुसार सांस्कृतिक लक्ष्य ही तय करते हैं कि किसी समाज में लोगों की आकांक्षाएँ क्या होगी तथा वे अपने समूह में किस प्रकार व्यवहार करेंगे। सांस्कृतिक संरचना के दूसरे महत्वपूर्ण तत्व को मर्टन ने संस्थागत प्रतिमान कहा है। ये प्रतिमान व्यवहार के वे स्वीकृत तरीके हैं। जो सांस्कृतिक लक्ष्य को प्राप्त करने में साधन का काम करते हैं। वास्तव में प्रत्येक समाज में सांस्कृतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कुछ जनरीतियाँ, प्रथाएँ, लोकाचार या संस्थाओं का विकास किया जाता है जो व्यक्ति को एक विशेष प्रकार से व्यवहार करने की सीख देते हैं। उदाहरण के तौर पर परिवार की स्थापना करना एक सांस्कृतिक लक्ष्य है और हमारे समाजों

में एकल-विवाह का नियम वह संस्थागत प्रतिमान साधन हैं जिसके द्वारा उस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार मर्टन अपने प्रतिमानहीनता सिद्धांत (Anomic theory) में दो तथ्यों को सम्मिलित करते हैं।

- 1- सांस्कृतिक लक्ष्य (Cultural Goals)
- 2- संस्थागत साधन (Institutional Means)

मर्टन का कहना है कि प्रत्येक सांस्कृतिक संरचना का यह प्रयत्न होता है कि वह सांस्कृतिक लक्ष्यों एवं संस्थागत प्रतिमानों के बीच संतुलन बनाये रखे, लेकिन ऐसा संभव नहीं हो पाता। इसके कई कारण हैं, जैसे पहला कारण यह है कि समाज में सांस्कृतिक लक्ष्यों का निर्धारण उस समाज के मूल्यों के आधार पर होता है जबकि विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्तियों के मूल्य एक-दूसरे से अलग हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति का लक्ष्य परिश्रम द्वारा समाज में सम्मानित पद प्राप्त करना हो सकता है तो किसी दूसरे का लक्ष्य परिश्रम द्वारा धन कमाना हो सकता है। दूसरा कारण यह है कि विभिन्न परिस्थितियों में एक ही व्यक्ति के मूल्यों के बीच द्वन्द्व या विरोध की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। तीसरा- मर्टन के अनुसार यह भी संभव है कि किन्हीं विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति पर उस समाज की संस्कृति द्वारा अधिक बल दिया जाता है पर इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए साधन स्पष्ट एवं व्यवस्थित नहीं हैं। अतः अनेक ऐसे कारण होते हैं जिनके परिणामस्वरूप समाज में सांस्कृतिक मूल्यों एवं संस्थागत साधनों के बीच ताल-मेल गडबड़ हो जाती है। स्पष्टतः 'नियमहीनता' के कारण समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक संरचना में ही विद्यमान होते हैं।

26.5.1 प्रतिमानहीनता के प्रकार

मर्टन के अनुसार सांस्कृतिक लक्ष्यों एवं सांस्कृतिक साधनों के बीच पाँच तरह के व्यक्तिगत अनुकूलन के तरीके देखे जा सकते हैं।

- 1- सामंजन या समानुरूपता (Conformity)
- 2- नवाचार (Innovation)
- 3- परम्परावादिता या कर्मकाण्ड (Ritualism)
- 4- पलायनवाद/अपसरण (Retreatism)
- 5- विद्रोह (Rebellion)

1- सामंजन या समानुरूपता (Conformity)

सामंजन व्यक्तिगत अनुकूलन का वह तरीका है। जिसमें व्यक्ति अपने सांस्कृतिक लक्ष्यों और संस्थागत साधनों के अनुसार ही व्यवहार करता है। जैसे हमारे समाज में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष यह सब सांस्कृतिक लक्ष्य हैं। यदि इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए एक व्यक्ति परम्परागत हिन्दू धर्म का पालन करता है। इसी तरह धनी बनना एक लक्ष्य है। अगर कोई व्यक्ति उद्योग स्थापित कर या व्यापार कर धनी बनता है तो उसके व्यवहार में सामंजन है। इस तरह सामंजन की स्थिति में सांस्कृतिक लक्ष्य और परम्परागत साधन के बीच में पूर्ण ताल-मेल होता है। चूंकि मर्टन का मुख्य उद्देश्य विचलनकारी व्यवहार का विश्लेषण करना है इसलिए उन्होंने इस पर वृहत् विस्तार से प्रकाश नहीं डाला है।

2- नवाचार (Innovation)

मर्टन के अनुसार नवाचार की स्थिति में एक व्यक्ति समाज में सांस्कृतिक लक्ष्यों को तो स्वीकार करता है पर संस्थागत साधनों का वह परित्याग कर देता है। विशेषतः पश्चिमी पूंजीवादी संस्कृति द्वारा धन एवं शक्ति के लक्ष्य पर अधिक बल दिये जाने के कारण व्यक्ति ऐसे साधनों की तलाश करता है। जिससे वह रातों-रात येन-केन-प्रकारेण लखपति, करोड़पति बन जाए। मर्टन का कहना है कि सांस्कृतिक लक्ष्यों को स्वीकार करना पर संस्थागत साधनों को नहीं स्वीकार करना ही "नियमहीनता" की स्थिति को जन्म देता है। (निम्न सामाजिक वर्ग)

3- परम्परावादिता या कर्मकाण्ड (Ritualism)

परम्परावादिता या कर्मकाण्ड व्यक्तिगत अनुकूलन का वह तरीका है जिसमें व्यक्ति सांस्कृतिक लक्ष्यों को अधिक महत्त्व न देकर केवल संस्थागत साधनों को ही महत्त्व देता है। इसे स्पष्ट करते हुए मर्टन का कहना है कि जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि परम्परागत ढंग से खेल का सर्वोत्तम तरीका है तो यहां खेल से ज्यादा उसके साधनों पर बल देता है। तेजी से परिवर्तित हो रही समाज व्यवस्था में जहाँ अर्जित परिस्थिति पर अधिक बल दिया जाता है जहाँ व्यक्ति नई आकांक्षाओं की पूर्ति चाहता है ऐसी परिस्थिति में वह अपनी परिस्थिति से चेतन युक्त होकर साधनों पर लक्ष्यों की तुलना में अधिक बल देता है। उदाहरण स्वरूप नियमों से प्रतिबद्ध नौकरशाह, अस्पतालों में आपातकालीन विभाग का स्वागताधिकारी जो प्रत्येक प्रविष्ट की पूर्ति आवश्यक मानते हैं। इसी श्रेणी में आते हैं।

4- पलायनवाद/अपसरण (Retreatism)

मर्टन का कहना है कि जिस तरह समानुरूपता अनुकूलन का सर्वोत्तम रूप है इसके ठीक विपरीत पलायनवाद या अपसरण इसका नकारात्मक रूप है। यह एक ऐसी दशा है। जहाँ न तो व्यक्ति न तो सांस्कृतिक लक्ष्यों को मानता है और न ही संस्थागत साधनों के द्वारा किसी लक्ष्य की पूर्ति में विश्वास रखता है। मर्टन ने अधिक शराब पीने वाले, नशे की गोलियाँ खाने वाले, मानसिक रूप से विक्षिप्त लोगों का उदाहरण देते हुए कहा है कि ऐसे व्यक्ति सामान्यतः किसी भी सांस्कृतिक लक्ष्य और संस्थागत साधन को स्वीकार नहीं करते। हिप्पी संस्कृति को मानने वाले लोग इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

5- विद्रोह (Rebellion)

विद्रोह के रूप में अनुकूलन का तरीका एक ऐसी दशा को स्पष्ट करता है जिसमें 'विसंगति' के तत्व सबसे अधिक होते हैं। मर्टन का कहना है कि जब समाज की संस्थागत प्रणाली वैधानिक लक्ष्यों की पूर्ति में बाधा के रूप में मानी जाने लगती है तब इस दशा में किये जाने वाले अनुकूलन को विद्रोह कहा जा सकता है। इस तरह के व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था में अमूल-मूल परिवर्तन चाहते हैं। वे न तो सांस्कृतिक लक्ष्यों को पूरी तरह सही मानते हैं और न ही संस्थागत साधनों को बल्कि क्रमशः दोनों के साथ-साथ बारी-बारी से चलते हैं। कभी-कभी ऐसे व्यक्ति नये सांस्कृतिक लक्ष्यों को निर्धारित करते हैं। और उसके लिए नये साधनों का भी ईजाद करते हैं। इस तरह मर्टन का कहना है कि इस तरह के लोग असमंजस की स्थिति में होते हैं।

मर्टन ने विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्तियों द्वारा समाज से अनुकूलन करने के विभिन्न तरीकों को स्पष्ट करने हेतु एक व्यवस्थित तालिका प्रस्तुत की जो निम्न प्रकार है—

| अनुकूलन के तरीके (Type of Adeptation) | सांस्कृतिक लक्ष्य (Cultural Goal) | संस्थागत साधन (Institutionalised means) |
|---|--------------------------------------|--|
| समंजन/समानुरूपता Conformity | \$ | \$ |
| नवाचार Innovation | \$ | & |
| <u>परम्परावादिता/कर्मकाण्ड</u> Ritualism | & | \$ |
| पलायनवाद/अपसरण Retreatism | & | & |
| विद्रोह Rebellion | ± | ∓ |

उपर्युक्त चर्चाओं से स्पष्ट है कि मर्टन ने विसंगति के विश्लेषण में इस बात पर जोर दिया है बल्कि इसका संघर्ष सांस्कृतिक लक्ष्यों तथा संस्थागत साधनों के बीच अनुकूलन के असंतुलन से है। यह पूरी तरह से सामाजिक दशा को स्पष्ट करता है और इस तरह विसंगति का कारण समाज की दशाएँ हैं। यद्यपि मर्टन के इस सिद्धान्त की आलोचना की गयी है, साथ ही अनेक विद्वानों का कहना है कि यह एक मानसिक दशा है तथापि हकीकत यह है कि मर्टन ने विसंगति के इस सिद्धान्त के माध्यम से समाज में सदस्यों के विचलनकारी व्यवहार को समझने का प्रयास किया है।

26.6 आलोचनात्मक मूल्यांकन—

1. मर्टन के इस सिद्धांत पर आलोचकों का आरोप है कि ये सिद्धांत समाज में विद्यमान शक्ति संबंधों एवं सामाजिक नियंत्रण की उपेक्षा करता है जो कि समाज में अनुरूपता एवं विचलन को प्रमुख रूप से प्रभावित करते हैं।
2. आलोचकों के अनुसार मर्टन की यह मान्यता कि, अमेरिकी समाज में एकमत्यता है और व्यक्ति केवल संरचनात्मक तनावों के कारण विचलित व्यवहार करते हैं, सही नहीं है। इस संदर्भ में आलोचकों का कहना है कि आधुनिक विषमरूपीय समाज में मूल्य एकमत्यता अर्थात् ऐसे सांस्कृतिक लक्ष्य को निर्धारित कर पाना कठिन है जो सभी के लिये मान्य हो।
3. आलोचक कहते हैं कि मर्टन का यह विश्लेषण एकपक्षीय है क्योंकि केवल सांस्कृतिक लक्ष्य एवं संस्थागत साधनों के मध्य असंतुलन के आधार पर सामाजिक विसंगति या विचलन की व्याख्या पूर्ण नहीं है। यहाँ मर्टन ने संरचना को अधिक महत्व देते हुए न केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व की उपेक्षा की है वरन् समाज में अनुपालन एवं मतैक्यता (नियमों पर सहमति) पर आवश्यकता से अधिक बल देते हुए अत्यधिक समाजीकृत व्यक्ति और अत्यधिक एकीकृत समाज की परिकल्पना को प्रस्तुत की है जो तथ्यों पर आधारित नहीं है।
4. मर्टन के इस सिद्धांत पर आलोचकों का आरोप है कि यह सिद्धांत समाज में विद्यमान शक्ति संबंधों एवं सामाजिक नियंत्रण की उपेक्षा करता है जो कि समाज में अनुरूपता एवं विचलन को प्रमुख रूप से प्रभावित करते हैं।

5. आलोचकों का कहना है कि मर्टन का यह सिद्धांत निम्न श्रमिकवर्गीय अपराध का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण रूप से करता है और मध्यमवर्गीय अपराध या सफेदपोश अपराध के विश्लेषण में सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाता है जो कि अवैज्ञानिक है। यंग, वाल्टर व टेलर जैसे समाजविज्ञानियों का आरोप है कि यह सिद्धांत राजनीतिक रूप से अभिप्रेरित अपराध (जैसे—स्वतंत्रता सेनानी) की व्याख्या नहीं करता जहाँ व्यक्ति कानून का उल्लंघन विसंगति के प्रभावों के कारण न करके कुछ मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता के कारण करता है। कोहेन के अनुसार मर्टन का यह सिद्धांत अनुपयोगितावादी अपराध, जिसको लोग केवल हँसी-मजाक में करते हैं और समाज के किसी विशेष लक्ष्य को प्राप्त नहीं करते हैं (जैसे— घूमने के लिए कार चुराना) और बाल अपराध की व्याख्या करने में भी अक्षम है।
6. मर्टन के इस सिद्धांत पर यह भी आरोप लगाया गया है कि इस सिद्धांत का परीक्षण आनुभविक आधार पर नहीं किया गया है। उपरोक्त आलोचनाएँ निश्चित रूप से मर्टन के विचारों में निहित कमियों को उजागर करती हैं परंतु केवल इसके आधार पर मर्टन के विचारों को पूरी तरह खारिज नहीं किया जा सकता है। जहाँ तक मर्टन के एकपक्षीय होने का सवाल है तो उल्लेखनीय है कि मर्टन विचलन एवं अपराध को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करता है और विचलन के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के प्रतिमान को स्थापित करता है।

26.7 सारांश—

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि नियमहीनता के बारे में मर्टन से पूर्व वैज्ञानिकों की क्या विचारधारा थी। इस अध्याय में यह समझ आ चुका होगा कि किस प्रकार मर्टन ने नियमहीनता को सामाजिक संरचना से जोड़कर देखा है। किस प्रकार सामाजिक संरचना व्यक्तियों में विचलन पैदा करते हैं। और इसके लिये मर्टन दो कारक को जिम्मेदार समझते हैं। प्रथम सांस्कृतिक लक्ष्य तथा द्वितीय संस्थागत साधन। इन दोनों के संपूर्ण तालमेल से सामंजस्य की स्थिति बनी रहती है। हम जान चुके हैं कि इन दोनों के असंतुलन के कारण विभिन्न प्रकार की विचलन की स्थिति पैदा होती है।

26.8 पारिभाषिक शब्दावली—

सांस्कृतिक लक्ष्य (Cultural Goal)— आर० के० मर्टन कहते हैं कि प्रत्येक सामाजिक संरचना का अपना एक लक्ष्य होता है, समाज के लोग इस लक्ष्य को प्राप्त करने की कोषिष करते हैं। उदाहरण के तौर पर किसी व्यक्ति का लक्ष्य अमीर बनना, डॉक्टर बनना, वकील बनना, पत्रकार बनना आदि—आदि ये सांस्कृतिक लक्ष्य हैं।

संस्थागत साधन (Institutional Means) मर्टन के अनुसार प्रत्येक सामाजिक संरचना में संस्थागत साधन होते हैं, जिससे व्यक्ति लक्ष्य की प्राप्ति करता है। इन दोनों के सही तालमेल से समाज में सामंजस्य बना होता है।

26.9 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

1. आर० के० मर्टन द्वारा महत्व प्रतिपादित करते हुए कौन विचलनशील लक्ष्यों का उद्देश्य रखता है?
- A. अनुसारक
B. नवाचार
- C. कर्मकाण्डी
D. विद्रोही
- 2- रॉबर्ट मर्टन के अनुसार जो लोग एक नई सामाजिक व्यवस्था की पुनर्संरचना के प्रयास में विद्यमान मूल्यों और उन्हें प्राप्त करने के साधनों दोनों को अस्वीकार कर देते हैं, कहते हैं—
- a) विद्रोही

- b) नवाचार
c) कर्मकांडीय
d) प्रावर्तन
- 3- रॉबर्ट मर्टन के अनुसार, “जब सांस्कृतिक मानकों और लक्ष्यों, तथा उनके अनुसार कार्य करने की समूह के सदस्यों की संरचित क्षमताओं के बीच तीव्र वियोजन हो”, तो यह निम्नलिखित से किस स्थिति का कारण बनता है?
- A. अप्रतिमानता
B. सांस्कृतिकपतन
C. सामाजिक गतिशीलता
D. संरचनात्मक रूपांतरण
4. निम्नलिखित में से किस एक समाज वैज्ञानिक ने यह तर्क दिया कि विसामान्यता सांस्कृतिक लक्ष्यों और उन्हें प्राप्त करने के संस्थागत साधनों के बीच अन्तराल का परिणाम है?
- A. आर मर्टन
B. इमाइल दुर्खीम
C. ऑगस्ट कॉम्टे
D. टॉलकट पारसनस
5. जब व्यक्ति सांस्कृतिक साधनों एवं सामाजिक लक्ष्यों, दोनों को अस्वीकार कर देता है, उसे कहेंगे:-
- a. विद्रोही
b. नवाचार
c. कर्मकांडीय
d. प्रावर्तन/पलायनवाद
6. निम्नलिखित में से कौन-सा युग्म सही रूप से सुमेलित नहीं किया गया है?
- e. सी. एच. कूले : प्राथमिक समूह
f. टॉलकट पॉर्सन्स : प्रत्यक्षवाद
g. आर. के. मर्टन : संदर्भ- समूह
h. डब्ल्यू. जी. सन्मर : अंतः समूह, बहिर्समूह
7. निम्नलिखित युग्मों में से कौन-सा एक सही रूप से सुमेलित नहीं किया गया है?
- e. ए. आर. रेडक्लिफब्राउन : चार प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं
f. आर. के. मर्टन : संदर्भ-समूह
g. एमिल दुर्खाइम : सामाजिक तथ्य
h. ई. एच. कूले : प्राथमिक एवं गौण समूह
i.
8. सूची-I को सूची-II के साथ सुमेलित कीजिये तथा सूचियों के नीचे दिए कूट का प्रयोग कर सही उत्तर चयन चुनिए :
- | | |
|-----------------------|----------------|
| सूची-I | सूची-II |
| e. प्रत्यक्ष प्रकार्य | 1. पारसनस |
| f. प्रतिमान हीनता | 2- वेबर |
| g. सामाजिक व्यवस्था | 3- काम्टे |
| h. वस्टहेन | 4- मर्टन |

5. दुर्खीम

कूटः

| | A | B | C | D |
|----|---|---|---|---|
| e. | 4 | 5 | 3 | 1 |
| f. | 2 | 4 | 3 | 1 |
| g. | 4 | 5 | 1 | 2 |
| h. | 1 | 4 | 5 | 2 |

9. सूची-I को सूची-II के साथ सुमेलित कीजिये और सूचियों के नीचे दिये कूट का का प्रयोग कर सही उत्तर चुनिए:

सूची-I

- साधनों के प्रति अनुरूपता, लक्ष्यों के प्रति उदासीनता
- साधनों के प्रति उदासीनता प्रति अनुरूपता लक्ष्यों के
- साधनों तथा लक्ष्यों के प्रति उदासीनता
- साधनों तथा लक्ष्यों के प्रति समर्पिता

सूची-II

- नवाचार
- प्रत्यावर्तन
- कर्मकांडीय
- अनुरूपता
- विचलन

कूटः

| | A | B | C | D |
|----|---|---|---|---|
| a. | 5 | 1 | 2 | 4 |
| b. | 5 | 2 | 1 | 3 |
| c. | 3 | 1 | 2 | 4 |
| d. | 3 | 5 | 2 | 4 |

उत्तर— 1-b, 2-d, 3-a, 4-a, 5-d, 6-b, 7-a, 8-c, 9-c, ।

26.10 संदर्भ ग्रंथ सूची—

- (1) शम्भूलाल दोशी एवं मधुसूदन त्रिवेदी, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (1997)
रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 40-150
- (2) एस. एल. दोशी एवं पी. सी. जैन, सामाजिक विचारक (1997), सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 80-300
- (3) डा. शीबा सिद्दीकी, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (2012)
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली, P- 24&30
- (4) डा. एम. एम. लवानिया एवं शशी के. जैन, सैद्धान्तिक समाजशास्त्र (1998),
रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, P- 119-180
- (5) एस. एस. पाण्डेय, टीएमएच, P- 17.1, 17.11
- (6) डा० अफरोज एकबाल, भारत में सामाजिक परिवर्तन दशा एवं दिशा, ल्यूसेंट पटना, P 1- 55

26.11 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री—

(1) M. Francis Abraham, *Modern Sociological Theory*, Oxford University, Press Bombay, Calcutta, Madras (1982) —P- 40-88

(2) Sujit Kumar Choudhary, *Thinkers and Theories in Sociology* — P 221-260

(1) Parimal B. Kar, *Society, A Study of Social Interaction*, Jawahar Publisher (1994) — P 62-70

26.12 निबंधात्मक प्रश्न—

प्रश्न— सामाजिक संरचना और नियमविहीनता के बीच संबंध के बारे में मर्टन का क्या विचार है? किन अर्थों में कोई नियमविहीन व्यक्ति अनुरूपी भी होता है?

प्रश्न—सामाजिक संरचना, प्रतिमानहीनता और विचलित व्यवहार की ओर आयाम को कैसे पैदा करती है? इस क्षेत्र में मर्टन के योगदान का हवाला देते हुए इसका परीक्षण कीजिए?

इकाई 27 — संदर्भ समूह एवं सामाजिक गतिशीलता
REFERENCE GROUP AND SOCIAL MOBILITY

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य

27.1 प्रस्तावना

27.2 संदर्भ समूह की अवधारणा

27.3 संदर्भ समूह की अध्ययन तत्व

27.4 विभिन्न विचारों के विचार

27.5 मर्टन के विचार

27.6 संदर्भ समूह एवं सामाजिक गतिशीलता

27.7 संदर्भ व्यक्ति या संदर्भ समूह का चुनाव

27.8 संदर्भ समूह के प्रकार्यात्मक पक्ष/सामाजिक गतिशीलता

27.9 सीमान्त मानव

27.10 सारांश

27.11 पारिभाषिक शब्दावली

27.12 अभ्यास प्रश्न

27.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

27.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

27.15 निबंधात्मक प्रश्न

27.0 उद्देश्य—

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान पाएँगे कि —

- 1 संदर्भ समूह क्या है?
- 2 सापेक्षिक वंचना कैसे संदर्भ समूह बनाती है?
- 3 समाज शास्त्र के क्षेत्र में संदर्भ समूह को किसने प्रथम समाज शास्त्री विश्लेषण किया?
- 4 संदर्भ समूह के बारे में वैज्ञानिकों के विचार क्या हैं तथा इनके कौन-कौन से प्रकार हैं?

5 मर्टन ने सन्दर्भ समूह को किस तरह सामाजिक गतिशीलता से जोड़ा?

27.1 प्रस्तावना

विश्व में ऐसा कोई समाज नहीं है जहाँ समूह न हो हम जानते हैं कि समूह दो या अधिक व्यक्तियों की अन्तः क्रिया को कहते हैं। समाज में कई समूह पाये जाते हैं कई बार हम देखते हैं कि एक समूह का व्यक्ति दूसरे समूह को अच्छा मानता है तथा वैसे ही व्यवहार वह करने लगता है तथा समूह का सदस्य बनाना चाहता है तो उस व्यक्ति के लिए वह समूह जिसका व्यवहार वह सीख रहा है वह संदर्भ समूह होगा।

अतः संदर्भ समूह वह समूह है जिस समूह को आधार मानकर व्यक्ति अपना मूल्यांकन करता है तथा अपने आपको उस समूह की तरह बताने का प्रयास करता है। इस तरह संदर्भ समूह व्यक्ति की उच्च आकांक्षा का परिणाम है।

27.2 संदर्भ समूह की अवधारणा (Concept of Reference Group)

सर्वप्रथम 'सन्दर्भ समूह' की चर्चा हर्बर्ट हाईमन (H.H.Hyman) ने अपनी पुस्तक 'द साइकलोजी आफ स्टेटस' (The Psychology of Status) में 1942 में दिया। इसके बाद शेरिफ, ऑटोक्लाइनबर्ग, टी० न्यूकोम्ब, स्टाउफर तथा मर्टन ने अपने विचार व्यक्त किए। संदर्भ समूह के निर्माण के मुख्यतः दो आधार हैं—

- 1 आकांक्षा (Aspires)
- 2 सापेक्षिक वंचना (Relative Deprivation)

हाईमन द्वारा इस अवधारणा का प्रयोग स्कूली बच्चों के अध्ययन के संदर्भ में दिया गया था। हाईमन द्वारा संदर्भ समूह की अवधारणा का उल्लेख मनोविज्ञान विषय में किया गया था जबकि समाजशास्त्र के क्षेत्र में लाने का श्रेय सर्वप्रथम राबर्ट किंग्सले मर्टन को जाता है।

संदर्भ समूह की अवधारणा हमारे लिए विशेष रूप से उपयोगी है क्योंकि इसका सम्बन्ध सदस्यों के मनोविज्ञान से होता है इस मानसिक आधार को समझने के लिए हमें इस विषय की कुछ गहराई में जाना पड़ेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्न दो प्रकार के समूहों का उल्लेख किया जा सकता है।

- 1 सदस्यता समूह
- 2 सन्दर्भ समूह

व्यक्ति जिस समूह का वास्तव में सदस्य होता है और जिस समूह को अपना मानकर उसके प्रकार्यों में सक्रिय भाग लेता है उसे सदस्यता समूह (Membership Group) कहते हैं। पर यह मनोवैज्ञानिक तौर पर अपना सम्बन्ध ऐसे समूह से भी बनाये रखता है। और उसके आदर्श नियमों (Norms), मूल्यों आदि को अपने आचरण में सम्मिलित करता है जिसका वह वास्तविक रूप में सदस्य नहीं है। ऐसे समूहों को ही संदर्भ समूह (Reference group) कहते हैं। एक व्यक्ति का संदर्भ समूह इस समूह इस अर्थ में है कि इसी के संदर्भ में वह अपने आचरणों, विचारों तथा मनोवृत्तियों को काफी हद तक ढालता है। यद्यपि वास्तव

में वह इस समूह का सदस्य नहीं हैं। यह संदर्भ-समूह इस अर्थ में भी है कि इसी संदर्भ में हम व्यक्ति के व्यवहार, मनोवृत्ति, विचार, मूल्य, आदर्श आदि का यथार्थ तथा व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

यह संदर्भ समूह की कुछ परिभाषाओं से और भी स्पष्ट हो जाता है।

संदर्भ समूह का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Reference Group)

संदर्भ समूह की अवधारणा मुख्यतः इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है कि मानव व्यवहार तथा उसके व्यक्तित्व के विकास में प्रायः कुछ गैर सदस्यता समूह की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जिसे हाइमन ने संदर्भ समूह कहा है। इन्हें संदर्भ समूह इसलिए कहा जाता है कि समूह किसी व्यक्ति कि समक्ष ऐसा सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं जिनके आधार पर वह व्यक्ति न सिर्फ अपना एवं अपनी स्थिति का भी मूल्यांकन करता है बल्कि दूसरों की हैसियत का भी मूल्यांकन करता है।

वास्तव में संदर्भ समूह व्यक्ति की उच्च आकांक्षा का परिणाम होता है। उदाहरण के तौर पर यदि कोई विद्यार्थी आइ० ए० एस० (I.A.S.) की तैयारी करता है तथा आई० ए० एस० (I.A.S.) बनना चाहता है वैसे ही स्थिति में आइ० ए० एस० (I.A.S.) उसका संदर्भ समूह होता है क्योंकि वह उसी समूह में शामिल होना चाहता है। अधिकांश व्यक्ति अपने व्यवहार को ढालने, विप्लेशण करने में स्वयं को समूह से बाहर दूसरे समूहों के संदर्भ में अभिप्रेरित करते हैं संदर्भ समूह की अवधारणा की समस्या इन्हीं दूसरे समूहों जिनका वह स्वयं सदस्य नहीं है की ओर अभिप्रेरित करने की समस्याओं के चारों ओर केन्द्रित है। वास्तव में संदर्भ समूह के सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत सदस्यता समूह (membership Group) या असदस्यता समूह (Non-membership Group) दोनों ही प्रकार की अभिप्रेरणाओं का विवरण होना चाहिए पर यहाँ पर इस प्रत्यय का प्रमुख विषय उन प्रक्रियाओं को ढूँढ निकालना है जिनके द्वारा व्यक्ति उन समूहों का सदस्य बनने की चेष्टा करता है जिनका कि वह वर्तमान में सदस्य नहीं है सामान्यतः संदर्भ समूह के सिद्धान्तों का उद्देश्य स्वयं की प्रशंसा व मूल्यांकन को उन प्रक्रियाओं के निर्धारित तत्वों व परिणामों के आधारों के रूप में व्यवस्थित करना है। जिनके द्वारा व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों और समूहों के मूल्यों व स्थापित मानकों को तुलनात्मक संदर्भ के रूप में ग्रहण करता है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संदर्भ समूह का सिद्धान्त यह विचार है कि व्यक्ति के विचार, भावनायें और दृष्टिकोण उन समूहों के द्वारा निर्धारित होते हैं। जिनमें कि व्यक्ति भाग लेते हैं।

शेरिफ के अनुसार, संदर्भ समूह वे समूह हैं जिनसे व्यक्ति अपने को समूह के अंग के रूप सम्बन्धित करता है। अथवा मनोवैज्ञानिक रूप से सम्बन्धित होने की आकांक्षा करता है। प्रतिदिन की बोलचाल में संदर्भ की बोलचाल में संदर्भ-समूह वह समूह है, जिनके साथ व्यक्ति अपना समीकरण (Identity) करता है या समीकरण (Identity) करने की आकांक्षा रखता है। इस प्रकार शेरिफ ने संदर्भ समूह के बारे में दो बातें कही हैं –

- 1 सदस्यता समूह के व्यक्ति का अत्म समूह से संबंध स्थापित करना।
- 2 अन्य समूह से संबंध स्थापित करने की आकांक्षा रखना।

शोरिफ के अनुसार संदर्भ समूह एक मानसिक स्थिति है जिसमें किसी भी समूह के सदस्य किसी दूसरे समूह से जिसे वे श्रेष्ठ समझते हैं। अपना मानसिक संबंध जोड़ते हैं एवं स्वयं का उस अन्य समूह से मूल्यांकन करते हैं।

27.3 संदर्भ समूह के अध्ययन तत्व(Essential Elements of Reference Group)

विभिन्न विद्वानों के विचारों तथा विभिन्न परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि संदर्भ समूह के निम्नलिखित आवश्यक तत्व हैं जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति संदर्भ समूह के अपने को जोड़ता है तथा किसी समूह को अपना संदर्भ समूह मानता है :-

- 1 समाज के अनेक सदस्य एक ही समूह से अपने को सम्बन्धित मान सकते हैं। एवं एक ही समाज में अनेक संदर्भ-समूह भी हो सकते हैं। अर्थात् अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग संदर्भ समूह भी हो सकते हैं और अनेक व्यक्तियों के लिए एक संदर्भ समूह भी हो सकता है।
- 2 संदर्भ समूह की उत्पत्ति व्यक्ति की उन उच्च अभिलाषाओं का परिणाम होती है जिनके प्रभाव में आकर व्यक्ति यह चाहता है कि वह अपने का एक ऐसे समूह से सम्बन्धित कर ले अथवा मान ले जिसकी कि समाज में प्रतिष्ठा है इसलिए शोरिफ ने यह मत व्यक्त किया है कि संदर्भ समूह का एक मनोवैज्ञानिक आधार अवश्य होता है क्योंकि व्यक्ति में जब तक मनोवैज्ञानिक तौर पर किसी समूह से अपने को सम्बन्धित करने अथवा मानने की अभिलाषा उत्पन्न नहीं होती तब तक संदर्भ समूह के पनपने का प्रश्न ही नहीं उठता।
- 3 सामाजिक दृष्टि से किसी व्यक्ति का संदर्भ-समूह उसके अपने समूह से ऊँची स्थिति का होता है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य में यह स्वाभाविक अभिलाषा होती है कि वह अपने को उस स्थिति वातावरण व प्रतिष्ठा से ऊँचा उठाये जिसमें कि वह वास्तव में निवास कर रहा है। इसीलिए वह अपने समूह से किसी ऊँचे समूह में प्रवेश पाना चाहता है और उसी को अपना संदर्भ-समूह मानता है।
- 4 संदर्भ समूह का अस्तित्व उस व्यक्ति के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है जिसे वह आदर्श मानता है। इसलिए जो समूह एक व्यक्ति के लिए आदर्श है वही समूह दूसरे व्यक्ति के लिए आदर्श नहीं भी हो सकता है एक व्यक्ति के लिए कौन-सा समूह संदर्भ-समूह होगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति किस समूह कि मूल्यों आदर्शों तथा व्यवहारों को अपनाने के लिए इच्छुक है वास्तव में व्यक्ति अपने जीवन के लिए ऐसे लक्ष्यों को निश्चित करता है जो अपने समूह से बाहर किसी अन्य समय में ही पूरे हो सकते हैं।
- 5 व्यक्ति के लिए एक समूह विशेष हमेशा उसका संदर्भ-समूह बना नहीं रहता अर्थात् एक व्यक्ति आज जिस समूह का अपना संदर्भ समूह मानता है भविष्य में भी उसी को संदर्भ-समूह मानता रहेगा। ऐसी बात नहीं है अलग अलग समय परिस्थिति स्थान मनोविज्ञानिक व बौद्धिक स्थिति के अनुसार एक व्यक्ति एक संदर्भ समूह को त्यागकर दूसरे संदर्भ समूह को स्वीकार कर सकता है। इस प्रकार संदर्भ समूह व्यक्ति, स्थिति, स्थान आदि से सम्बन्धित एक सापेक्ष (Relative) समूह है।
- 6 प्रत्येक संदर्भ-समूह समाज की दृष्टि से भी एक आदर्श समूह होगा ऐसी बात नहीं है वह समूह तो केवल उस व्यक्ति के लिए आदर्श होता है जो कि उसे अपना संदर्भ समूह मानता है।

संदर्भ समूह एक ऐसा संदर्भ प्रस्तुत करते हैं जिसके द्वारा व्यक्ति स्वयं का मूल्यांकन करता है और अपनी आदतों का निर्माण करता है। अतः संदर्भ व्यवहार के अध्ययन के एक भाग के रूप में उन प्रक्रियाओं का व्यवस्थित अध्ययन किया जाना चाहिये जिनके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे समूह के मूल्यों को आत्मसात करता है। अर्थात् मनोवृत्तियों में निर्माण व मूल्यांकन को संदर्भ-समूह के अध्ययनों के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए।

संदर्भ समूहों के दो प्रमुख प्रकार मर्टन ने अपनी पुस्तक में दिये हैं। प्रथम आदर्शात्मक प्रकार (Normal Type) है जो व्यक्ति के लिए स्टैण्डर्स आदर्श प्रतिमानों को निर्धारित करते हैं जो व्यक्ति के लिए स्टैण्डर्स आदर्श प्रतिमानों को निर्धारित करते हैं और द्वितीय तुलनात्मक प्रकार (Comparison Type) है जो एक तुलनात्मक संदर्भ प्रस्तुत करता है। ये दोनों प्रकार विश्लेषणात्मक दृष्टि से ही भिन्न किए जा सकते हैं क्योंकि एक ही संदर्भ समूह दोनों प्रकार के कार्यों को सम्पन्न कर सकता है। इन दोनों ही संदर्भ समूहों के प्रकारों से भिन्न एक संदर्भ समूह का उल्लेख टर्नर (Turner) ने किया है जिसके सदस्य केवल उन परिस्थितियों का निर्धारण करते हैं जिनमें उन्हें कार्य करना होता है इनको टर्नर ने अन्तः क्रिया समूहों (Interection Group) की संज्ञा ही है। जो कि व्यक्ति के सामाजिक पर्यावरण में केवल एक भाग होते हैं जिनका अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के संदर्भ में उसे ध्यान में रखना होता है लेकिन उसकी कोई तुलनात्मक या आदर्शात्मक दृष्टिकोण से महत्व नहीं होती।

27.4 विभिन्न विद्वानों के विचार

अपने संदर्भ समूह के अनुरूप व्यक्ति अपने व्यवहार को किस ढंग से ढालता है इस संबन्ध में विभिन्न विद्वानों में अपने विचारों को अलग अलग रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ कुछ विद्वानों के विचारों का उल्लेख निम्नवत् है।

हाइमैन के विचार (Views Of Hymain)

हाइमैन ने संदर्भ-समूहों का सर्वप्रथम प्रयोग किया और कहा कि व्यक्ति के व्यवहार प्रतिमान (Behaviour Pattern) तथा उसकी प्रस्थिति (Status) से सम्बन्धित किसी भी विवेचना में हमारे लिए इतना ही जान लेना पर्याप्त नहीं है कि वह किसी समूह का सदस्य है और उस समूह में उस व्यक्ति की वास्तविक स्थिति क्या है अपितु हमारे लिए इस बात का भी ज्ञान होना आवश्यक है कि वह व्यक्ति मनोवैज्ञानिक तौर पर किस समूह से संबन्ध है और अपनी बराबरी वह किस समूह के साथ करता है। यह समूह व्यक्ति की मनोवृत्तियों को नहीं अपितु उसकी स्थिति का आचरण के निर्धारण में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वास्तव में संदर्भ समूह व्यक्ति के लिए आदर्श समूह होता है। और इसीलिए व्यक्ति उसी प्रकार का होना चाहता है जैसा कि संदर्भ-समूह के वास्तविक सदस्यगण हैं यही कारण है कि व्यक्ति उन्हीं के अनुरूप अपने को ढालने का प्रयत्न करता है व उसी रूप में अपनी स्थिति को काल्पनिक या वास्तविक तौर पर बनाये रखता है।

शैरिफ तथा शैरिफ के विचार (Views of Sherif And Sheriff)

संदर्भ-समूह व्यवहार को समझाते हुए शैरिफ तथा शैरिफ ने लिखा है कि जब एक व्यक्ति की प्रेरणायें (Motivation) दूसरे व्यक्तियों के समान होती हैं और वह उस समूह संरचना (Group Structure) जिसका कि वह एक अभिन्न अंग है का निर्माण करने के लिए अन्य लोगों के साथ अन्तः क्रिया करता है तो उस अवस्था में वह उस समूह के मूल्यों आदर्श-नियमों (Norms), विचारधाराओं आदि को भी अपना लेता है क्योंकि वह समूह उसका अपना समूह होता है और उस समूह के विचार, आदर्श, मूल्य आदि उसके अपने विचार आदर्श व मूल्य बन जाते हैं अर्थात् अपने समूह के विचार, आदर्श मूल्य तथा व्यवहार के साथ व्यक्ति का अपना एक नया समीकरण स्थापित कर लेता है प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक समूह होता है। जिसका वह वास्तविक सदस्य होता है और इस नाते उस समूह के साथ उसका इतना अपमान हो जाता है कि वह उस समूह के मूल्य, आदर्श, नियम आदि को अपने ही मूल्य व आदर्श नियम मान लेता है उसे इस बात का गर्व होता है कि वह उस समूह का सदस्य है और वह उसका एक अभिन्न अंग है। इसलिए अपने प्रत्येक व्यवहार में व्यक्ति अपने सामने समूह के आदर्श को ही आदर्श मानकर क्रियाशील होता है क्योंकि उस समूह के आदर्श-नियम, मूल्य, व्यवहार प्रतिमान आदि उसके व्यक्तित्व की अमूल्य धरोहर बन जाते हैं अतः उसके अनुभव तथा व्यवहार समूह के आदर्श नियमों तथा मूल्यों के आधार पर ही करता है। वह अन्य समूहों के व्यक्तियों के व्यवहार का मूल्यांकन भी अपने समूह के मापदण्डों (Norms) द्वारा ही करता है। इसी दृष्टिकोण से वही समूह व्यक्ति का संदर्भ समूह होता है। जो उसका अपना आदर्श समूह होता है। और जिसका वह स्वयं सदस्य होता है।

आधुनिक जटिल समाजों में संदर्भ समूह केवल अपने समूह तक ही सीमित नहीं होता। जिसका कि व्यक्ति वास्तव में सदस्य होता क्योंकि व्यक्ति का आधुनिक जीवन और व्यवहार (अन्तः क्रियाओं) का दायरा केवल अपने समूह तक ही सीमित नहीं है। इसलिए व्यक्ति का व्यवहार केवल उसी समूह द्वारा नियंत्रित व निर्देशित नहीं होता जिसका कि वह वास्तविक तौर पर सदस्य है। ऐसा भी हो सकता है कि उसके अनुभव विचार तथा व्यवहार एक से समूह द्वारा नियमित व संचालित हो, जिसका वह वास्तव में नहीं है और उस समूह का न होते हुए भी वह अपने व्यवहार का उस समूह का वास्तविक सदस्यों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है। उदाहरणार्थ एक गरीब परिवार का लड़का अपने व्यवहार, आचरण, पोषाक तथा रुचि में एक धनी वर्ग के समरूप होना चाहता है और अपने को उसी के अनुसार दूसरे के सामने प्रस्तुत करता है। ऐसी अवस्था में उस लड़के के लिए वह धनी वर्ग ही संदर्भ-समूह है। क्योंकि उसी के विचार, आदर्श, मूल्य आदि के साथ वह अपना समीकरण करता है। अथवा करने की आकांक्षा रखता है। वास्तव में इसी प्रकार के समूहों का बोध करवाने के लिए संदर्भ समूह की अवधारणा का विकास हुआ है। इस अर्थ में संदर्भ-समूह वह समूह है जिसका कि व्यक्ति वास्तव में सदस्य नहीं भी हो सकता है पर जो व्यक्ति के व्यवहारों तथा अनुभवों के निर्धारण में बहुत ही महत्वपूर्ण कारण या शक्ति होते हैं। वास्तव में आधुनिक जटिल समाज में व्यक्ति का जीवन केवल उसके अपने परिवार, पड़ोस, वर्ग, जाति तक ही सीमित न रहकर बृहत्तर समाज के अन्य अनेक ऐसे समूहों से सम्बद्ध हो जाता है। जिसका कि वह वास्तव में सदस्य तो होता पर जिनके विचार आदर्श मूल्य आदि से वह निरन्तर प्रभावित होता रहता है। यह समूह ही उसका संदर्भ-समूह है।

शैरिफ एवं शैरिफ ने इस सम्बन्ध में सदस्यता समूह (Membership-Group) तथा संदर्भ समूह (Reference Group) के बीच पाये जाने वाले प्रकार्यात्मक (Functional) अन्तर का भी उल्लेख किया है। सामान्य रूप से एकाधिक समूहों का वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वास्तव में एकाधिक समूहों का वास्तविक सदस्य (Actual-Member) बनना ही पड़ता है। वह पुत्र के रूप में परिवार का वास्तविक सदस्य होता है तो विद्यार्थी के रूप में किसी स्कूल या कालेज का, खिलाड़ी के रूप में खेल के समूह का, तो मनोरंजन के लिए किसी क्लब का।

इसी प्रकार वह किसी दफ्तर का, वर्ग का, पड़ोस का, आर्थिक संगठन का, राष्ट्र का और ऐसे ही अनेक समूहों का वास्तविक सदस्य होता है। ये सभी समूह उस व्यक्ति कि सदस्यता-समूह (Membership-Group) है। और इन समूहों के द्वारा ही व्यक्ति के व्यवहारों, मनोवृत्तियों, मूल्यों, आदर्शों आदि का अर्थात् उसकी विविध प्रतिक्रियाओं (Reactions) का नियमन व निर्धारण होता है। परन्तु व्यवहारिक स्तर पर एक व्यक्ति की सामाजिक अन्तः क्रियाओं (Inter-acting) तथा प्रतिक्रियाओं का दायरा इससे कहीं अधिक विस्तृत हो सकता है। व्यक्ति वास्तव में एक या कुछ समूह-विषेश का सदस्य हो सकता है। पर मनोवैज्ञानिक रूप में (अर्थात् मानसिक तौर पर) वह अपने को एक भिन्न समूह से सम्बन्धित मान सकता है और उसी समूह के संदर्भ में अपनी मनोवृत्तियों तथा आकांक्षाओं को नियमित कर सकता है। उदाहरणार्थ मध्यम वर्ग (Middle Class) या श्रमिक वर्ग (Working Class) का सदस्य सचेत या अचेत रूप में अपने को एक उच्च वर्ग से संबन्धित मान सकता है और उसी वर्ग के अनुरूप अपने रहन-सहन तथा अनुभवों को विकसित करने का प्रयत्न भी कर सकता है। ऐसी अवस्था में उस व्यक्ति का समूह (मध्यम वर्ग या श्रमिक वर्ग) उसका सदस्यता समूह कहलायेगा। जबकि जिस उच्च वर्ग के साथ वह व्यक्ति मानसिक तौर पर सम्बन्धित है। और जिसके आदर्शों मूल्यों व व्यवहार प्रतिमानों (Behaviour Pattern) के आधार पर वह अपने व्यवहारों तथा अनुभवों को ढालने का प्रयत्न करता है। उसका संदर्भ समूह कहा जायेगा। अतः यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति जिस समूह का वास्तविक सदस्य (Actual Member) हो उसी के आदर्शों, मूल्यों, तथा मानदण्डों के अनुरूप ही मनोवृत्तियों, व्यवहारों, अनुभवों आदि का नियमन (Regulation) तथा निर्धारण करें।

उसके व्यवहार प्रतिमान का निर्धारण व नियमन उस विषेश समूह के मूल्यों, आदर्शों, आदि के द्वारा भी हो सकता है जिसका कि वह केवल मनोवैज्ञानिक सदस्य (Psychological Member) है यही संदर्भ-समूह और उसके द्वारा निर्धारित व्यवहार का रहस्य है।

क्लाइवर्ग के अनुसार (Views of Klineberg)

प्रो० स्लाइवर्ग ने संदर्भ समूह व्यवहार के विषय में लिखते हुए ऐसे समूहों की दो प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है –

1. **संदर्भ-समूह काल्पनिक (Imaginary)** भी हो सकते हैं जब हम इस प्रकार का व्यवहार करते हैं जिन्हें कि हम सर्वोत्तम लोगों (Best People) के व्यवहार के समान मानते हैं तो हो समता है

कि उन सर्वोत्तम लोगों के व्यवहार के संबन्ध में हमें जो कुछ भी ज्ञात है वह बिल्कुल ही वास्तविक न होकर काल्पनिक ही हो। उदाहरणार्थ जब निम्न आर्थिक वर्ग के लोग उच्च वर्ग के लोग बनना चाहते हैं तो उस प्रयत्न में जो कुछ भी आचरण वे करते हैं वह उच्च वर्ग के लोगों के आचरणों का व्यवहार प्रतिमान का वास्तविक नहीं अपितु काल्पनिक रूप ही होता है।

अपने नैतिक मान (Moral Standard) जैसे महत्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में अथवा चाय के प्याले को पकड़ने के तरीके जैसे साधारण विषय के संबन्ध में हम अपने व्यवहार को उस समूह के समरूप कर सकते हैं तो जिसका कि वास्तविक अस्तित्व ही न हो या जो ठीक उस प्रकार का व्यवहार न करता हो जैसे कि हम कर रहे हैं।

2. प्रो० क्लाइनबर्ग का कथन है कि संदर्भ-समूह 'नकारात्मक' (Negative) भी हो सकता है कुछ ऐसे समूह होते हैं जिनसे हम निकटतम संबन्ध रखना चाहते हैं पर कुछ ऐसे समूह भी हो सकते हैं जिनसे हम यथासम्भव दूर रहना इसलिए चाहते हैं कि इस प्रकार के समूह की नीति एक विशेष प्रकार के मूल्यों की समर्थक है इसी आधार पर हम अपने व्यवहारों, आदर्शों तथा मूल्यों को एसा रूप देने हेतु प्रयत्नशील होते हैं जोकि उस समूह से बिल्कुल भिन्न हों, यह विपरीत समूह एक नकारात्मक संदर्भ-समूह (Negative Reference Group) ही होगा, क्योंकि इसी समूह कि संदर्भ में हम अपने व्यवहार को विपरीत रूप ही देना चाहेगें। और उसके लिए सचेत प्रयत्न भी करेंगे उदाहरणार्थ आधुनिक समय में अधिकतर अमेरिका-निवासियों के लिए सोवियत रूस एक नकारात्मक संदर्भ समूह का प्रतिनिधित्व करता है। यही बात सोवियत रूस के लोगों के लिए अमेरिका के सम्बन्ध में लागू होती है।

अतः क्लाइनबर्ग के अनुसार संदर्भ समूह व्यवहार में यह आवश्यक नहीं कि जिस समूह की हम नकल कर रहे हैं या जिसे हम अपना आदर्श मान रहे हैं उसके विषय में हमें स्पष्ट और प्रत्यक्ष ज्ञान हो न ही यह जरूरी है कि उस समूह का वास्तविक अस्तित्व हो इसी प्रकार यह भी जरूरी नहीं है कि संदर्भ-समूह हमारे लिए एक सदैव एक आदर्श समूह ही होगा। वह समूह हमारे लिए एक विपरीत आदर्श का प्रतिनिधित्व कर सकता है। इस पर भी वह समूह हमारा संदर्भ-समूह है क्योंकि इसी समूह के संदर्भ में हम अपने व्यवहारों, आदर्शों तथा मूल्यों को एक विपरीत दिशा की ओर मोड़ना चाहते हैं और एक विपरीत मान (Opposite Standard) को बनाये रखता है।

न्यूकॉम्ब के विचार (Views of Newcomb)

प्रो० न्यूकॉम्ब का मत है कि संदर्भ-समूहों का अस्तित्व वास्तव में हो सकता है एक व्यक्ति के लिए वह समूह संदर्भ-समूह हो सकता है जिसका कि सदस्य वह कदापि न रहा हो अथवा जो कि बहुत पहले ही समाप्त हो गया हो यह संदर्भ-समूह अंशतः या पूर्णतया काल्पनिक समूह (Fictitious Group) हो सकता है इस अर्थ में संदर्भ-समूह का वास्तविक अस्तित्व होना या न होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि यह बात संदर्भ समूह के आदर्श मूल्य, विचार आदि ही वास्तव में व्यक्ति कि व्यवहार, मूल्य, आदर्श आदि को प्रभावित करते हैं।

एक व्यक्ति का सदस्यता समूह (Membership Group) अर्थात् वह समूह जिसका कि वह वास्तव में सदस्य है उसका संदर्भ समूह भी हो सकता है अर्थात् एक व्यक्ति का सदस्यता

समूह किस सीमा तक उसका संदर्भ-समूह भी बना रहेगा। यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस समूह की सदस्यता से उसे कितना संतोष या असंतोष प्राप्त होता है न्यूकॉम्ब ने कहा है कि एक समूह के सदस्यगण अपनी योग्यता, क्षमता, व्यक्तिगत आवश्यकताओं, व्यक्तित्व संरचना आदि के आधार पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं अर्थात् एक ही समूह के विभिन्न सदस्यों में व्यक्तिगत भिन्नताएँ (Individual Differences) होती हैं। इसलिए उस समूह के सदस्य के रूप में उन्हें अलग-अलग मात्रा में संतोष भी प्राप्त होता है। इतना ही नहीं अपनी सदस्यता समूह से एक व्यक्ति को असंतोष भी प्राप्त हो सकता है। असंतोष इस कारण होता है कि एक समूह में जिसका कि व्यक्ति वास्तव में सदस्य है उसके जो सुविधायें व अवसरों से कम हैं आधुनिक गतिशील समाज में तो एक व्यक्ति के लिए यह बहुत ही सरल है कि वह समूह की सदस्यता को छोड़कर दूसरे समूह की सदस्यता को ग्रहण कर सकता है। यही कारण है कि एक समूह के सदस्य के रूप में विभिन्न व्यक्ति उस समूह से अलग-अलग मात्रा में संतोष या असंतोष का अनुभव करते हैं जब असंतोष की भावना अधिक हो जाती है तो कम से कम मानसिक तौर पर वह अपने को उस समूह से सम्बद्ध मान बैठता है। जिससे उसे अधिक संतोष प्राप्त होने की आशा है इस प्रकार वह व्यक्ति अपने सदस्यता समूह से मानसिक तौर पर अलग हो जाता है और उस अवस्था में वह समूह उसका संदर्भ-समूह नहीं रह जाता उसके स्थान पर वह समूह उस व्यक्ति का संदर्भ-समूह बन जाता है जिसके साथ व्यक्ति अपने को वास्तविक या काल्पनिक तौर पर सम्बद्ध कर लेता है और उसी को अपना आदर्श मानकर अपने व्यवहार, मूल्य तथा आदर्शों को उसी समूह के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है क्योंकि उसके मन में यह विश्वास घर कर लेता है कि ऐसा करने पर उसे अधिक संतोष प्राप्त होगा।

न्यूकॉम्ब (Newcomb) का यह भी विचार है कि वास्तविक सदस्यता समूह विभिन्न रूपों में व्यक्ति के लिए सकारात्मक (Positive) और नकारात्मक (Negative) दोनों ही प्रकार के संदर्भ समूह के रूप में कार्य कर सकता है। उदाहरणार्थ एक हिन्दू युवक अपने परिवार की अधिकतम सामान्य मनोवृत्तियों, मूल्यों तथा आदर्शों के प्रति श्रद्धावान हो सकता है और उनको अपने आचरण या व्यवहार के निर्देशक कारक के रूप में स्वीकार भी कर सकता है। इस रूप में उसका वह परिवार उसके लिए सकारात्मक संदर्भ-समूह के रूप में कार्य करता है पर यह भी हो सकता है कि वही युवक अपने ही परिवार के कुछ आदर्शों तथा मूल्यों का समर्थन करने से इन्कार करता हो। उदाहरणार्थ – वह अन्तर्विवाह (Endegrnny) के नियम का अर्थात् अपनी जाति के अन्दर ही विवाह करता है यहाँ तक कि खुले तौर पर इस आदर्श का विरोध करके अन्तर्जातीय विवाह (Intercaste Marriage) कर बैठता है उस अवस्था में उसका परिवार उसके लिए नकारात्मक संदर्भ समूह बन जाता है। इसी प्रकार वह समूह भी एक व्यक्ति का सकारात्मक अथवा नकारात्मक संदर्भ-समूह बन सकता है। जिसका कि वह व्यक्ति वास्तव में सदस्य नहीं है।

27.5 मर्टन के विचार (View of Merton)

समाजशास्त्र के क्षेत्र में संदर्भ समूह का प्रथम वैज्ञानिक विप्लेशण करने का श्रेय अमेरिकी समाजशास्त्री आर० के० मर्टन को जाता है। अमेरिकन सोल्जर (The American Soldier) नामक कृति में राबार्ट किंग्सले मर्टन तथा रोसी ने संदर्भ-समूह की अवधारणा को समझाने का प्रयत्न किया है इस संबन्ध में उनका

निश्कर्ष यह है कि एक व्यक्ति का संदर्भ-समूह उसका अपना अन्तः समूह अर्थात् वह समूह हो सकता है जिसका कि वह वास्तव में सदस्य (Membership Group or In-group) है और बाह्य समूह भी हो सकता है जिसका कि सदस्य नहीं है (Non-membership Group or Out-group) प्रथम अवस्था में अन्तः समूह (In-Group) था अपने ही समूह के सदस्य निर्देश तंत्र (Frame of Reference) का कार्य करते हैं जबकि दूसरी अवस्था में बाह्य समूह (Out-Group) अथवा दूसरे समूह के सदस्य इस निर्देश तंत्र (Frame of Reference) के लिए चुने जाते हैं।

अतः मर्टन के अनुसार संदर्भ-समूह का सिद्धान्त हमें यह बताता है कि व्यक्ति अन्तः समूह अथवा बाह्य समूह को किस प्रकार अपने व्यवहार का निर्देशक मानने लगता है और उस समूह से अपना संदर्भ स्थापित कर लेता है। उपरोक्त अध्ययन के आधार पर संदर्भ समूह से सम्बन्धित अपने विचारों को मर्टन ने इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

- **बहुल संदर्भ समूह (Multiple Reference Group)** – इसके अन्तर्गत मर्टन ने दो प्रकार के संदर्भ समूह का उल्लेख किया है
 - **परस्पर विरोधी संदर्भ-समूह (Conflicting Reference Group)** – कभी कभी व्यक्ति के जीवन में एकाधिक परस्पर विरोधी संदर्भ समूह आ जाते हैं और उस अवस्था में उसके सामने यह समस्या होती है कि वह उनसे किसको चुने अथवा किस समूह को अपना आदर्श माने ऐसी स्थिति में व्यक्ति बहुधा परिस्थिति की समानता से प्रभावित होता है और उस समूह को पूर्णतया अनजाना और भिन्न परिस्थिति वाला है।
 - **निरन्तर सम्पर्क वाले संदर्भ-समूह (Mutually Sustaining Reference Group)** – मर्टन का निष्कर्ष है कि जिस आयु समूह अथवा वैवाहिक स्थिति या शैक्षिक स्तर वाले समूह के निरन्तर सम्पर्क में व्यक्ति रहता है उसी के अनुसार उसकी मनोवृत्तियाँ ढलने लगती हैं। मर्टन की मान्यता है कि जिस समूह के साथ व्यक्ति का सामाजिक सम्बन्ध जितना निरन्तर व दीर्घ होगा वही समूह उस व्यक्ति के जीवन को अधिक प्रभावित भी करेगा।
3. **दूसरे विशिष्ट (Significant Others)** – मर्टन का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति के सामने कुछ दूसरे प्रतिष्ठित समझे जाने वाले लोगों की प्रतिभा होती है जिन्हें कि हम दूसरे विशिष्ट (Significant Others) कह सकते हैं ये लोग उस व्यक्ति की निगाहों में आदर्श होते हैं। और इसलिए वह इन व्यक्तियों के साथ समरूपता स्थापित करना चाहते हैं अर्थात् उन दूसरे विशिष्ट व्यक्तियों जैसा बनना चाहते हैं यही कारण है कि इन व्यक्तियों में वह स्वयं अपनी प्रतिमा (Image) तथा मूल्यांकन का प्रतिबिम्ब (Reflection) देखता है उनके मूल्यां आदर्शों तथा आचरण को ग्रहण करता है ताकि उन दूसरे विशिष्टों की भाँति वह स्वयं भी विशिष्ट बन सकें। यही कारण है कि निम्न समूह के लोग उच्च समूह को प्रभावशाली व प्रतिष्ठा वाले समूह के रूप में न केवल देखते हैं अपितु उनके मूल्यां, आदर्शों तथा आचरणों को ग्रहण करते हुए सामाजिक सीढ़ी के ऊपर चढ़कर उच्च समूह के पास पहुँचने का भी प्रयत्न करते हैं।
4. **समरूपता और असमरूपता (Conformity and Non-Conformity)** – मर्टन का कथन कि संदर्भ समूह का अपना एक प्रकार्यात्मक महत्व (Functional Importance) यह है कि वह

व्यक्ति का उसके साथ समरूपता स्थापित करने का प्रेरित करता है जिसके फलस्वरूप उस व्यक्ति का व्यवहार, आदर्श व मूल्य उस समूह के मूल्य, आदर्श तथा आचरणों से भिन्न हो जाता है जिसका कि वास्तव में सदस्य है अर्थात् उसकी अपने समूह से असमरूपता उत्पन्न हो जाती है परंतु उसका ऐसा करना अर्थात् संदर्भ-समूह में समरूपता और अपने समूह में असमता स्थापित करना उसी सीमा तक वांछनीय समझा जायेगा जहाँ तक वह सामाजिक व्यवस्था के लिए अकार्यात्मक (Dysfunctional) न हो पर यह आवश्यक नहीं है कि वह समूह के साथ जिसका वह सदस्य नहीं है समरूपता स्थापित करना ही आकार्यात्मक हो यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि उसके ऐसा करके उसके अपने समूह के स्थापित मूल्यों को कितनी ठेस पहुँचेगी।

5. **संदर्भ समूह का प्रकार्य और अकार्य (Function and Dyprivation of Reference Group)** – आर० के० मर्टन ने संदर्भ समूह की अवधारणा को समाज में स्थापित किया इन्होंने सापेक्षिक वंचिता (Relative Deprivation) के आधार पर अमेरिकन सोलजर के अध्ययन के आधार पर संदर्भ समूह की चर्चा की।

यदि एक व्यक्ति अपने इच्छित समूह में मिला लिया जाता है तो उसके लिए क्रियात्मक है क्योंकि इससे उसकी दक्षता एवं कार्यकुशलता में वृद्धि होती है यही पर मर्टन ने **Anticipatory Socialization** की व्याख्या की है पर यदि व्यक्ति इच्छित समूह में नहीं मिलाया जाता है तो इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। उसकी सृजनशीलता कम होती है। यही पर मार्जिनल मैन की चर्चा की है।

6. **सदस्यता और असदस्यता संदर्भ-समूह (Membership and Non-membership Reference Group)** – एच० एम० जानसन के अनुसार कभी कभी एक व्यक्ति अपने ही समूह को आदर्श समूह मानकर अनुकरणीय व्यवहार के प्रयास करता है इसे सदस्यता संदर्भ समूह कहते हैं जब व्यक्ति दूसरे समूह को अपना आदर्श मान लेता है तो वह असदस्यता संदर्भ समूह कहलाता है।

आर० के० मर्टन

आर० के० मर्टन ने संदर्भ समूह की चर्चा में कहा कि ये लोग अन्य समूहों को अपना संदर्भ समूह बनाना चाहते हैं

- जो योग्य कुशल क्षमता एवं आगे बढ़ने के योग्य होते हैं
- जो Relative Deprivation की भावना से ग्रस्त होते हैं

Relative Deprivation वह मानसिक अवस्था है जिसमें व्यक्ति वास्तविक अथवा आवश्यकीय कारणों से अपनी अवस्था से सन्तुष्ट नहीं होता है एवं अपनी अवस्था में सकारात्मक परिवर्तन करना चाहता है। इसलिए मर्टन ने इस धारणा का प्रयोग ऊपर जाने वाली सामाजिक गतिशीलता के संदर्भ में किया है।

मर्टन ने स्टाफर के अध्ययन से अफसरों एवं अफसरी में प्रन्नित हो सकने वाली कारापालों का उदाहरण दिया है जो कारापाल उन्नति चाहते थे एवं अपनी वर्तमान अवस्था से सन्तुष्ट नहीं थे वे ही अफसरों के समूह को संदर्भ समूह के रूप में स्वीकार करते थे।

27.6 संदर्भ समूह एवं सामाजिक गतिशीलता

भारत में पहले जब संस्कृतिकरण की प्रकिया थी तब संस्कृतिकरण करने वाली जातियों के साथ भी यही बात लागू होती थी। सुरजीत सिन्हा ने गाडो की राजपूतीकरण की प्रकिया से सम्बन्ध में मजूमदार ने रामपुर के नाईयों के सम्बन्ध में अथवा एफ० जी० बैली ने बीसीपाडा के पानों के सम्बन्ध में भी यही बात कही है। संस्कृतिकरण करने वाली जाति समूह तुलनात्मक रूप से मजबूत होता था और अपनी वर्तमान अवस्था से सन्तोष के कारण ही सामाजिक प्रतिष्ठा के सोपान पर ऊंचा चढ़ने के लिए संस्कृतिकरण की ओर प्रवृत्त होता था।

- **संदर्भ समूह का प्रभाव (Consequences of Reference Group)** – संदर्भ समूह स्थिति के कारण सामाजिक गतिशीलता में सरलता होती है एवं इससे समाज में तनाव कम पनपता है मर्टन ने कहा यदि योग्य एवं समर्थ व्यक्तियों को ऊपर जाने का मौका न दिया जाए तब इससे असंतोष बढ़ेगा जो समाज की स्थिरता के लिए घातक है।

मर्टन का कथन है कि व्यक्ति पर एक तो प्राथमिक सदस्यता और अन्तर्समूहों का प्रभाव पड़ता है और दूसरी ओर द्वितीयक असदस्यता और बाह्य समूह भी उसके व्यवहारों और प्रवृत्तियों को प्रभावित करते हैं।

- **आदर्शात्मक और तुलनात्मक संदर्भ समूह (Normative and Comparative Reference Group)** – समाज में जितने भी संदर्भ समूह हैं इसमें एक प्रकार आदर्शात्मक समूहों का है ये वे समूह हैं जो अपने सदस्यों के लिए मानदण्ड, मूल्य एवं व्यवहार के प्रतिमान निश्चित करते हैं भारतीय संदर्भ में द्विज जातियों के लिये कई समूह हैं जो मद्यपान, मांसाहारी भोजन आदि के प्रतिबन्ध पर जोर देते हैं इन समूहों के व्यवहार के अपने मापदण्ड होते हैं यदि समूह द्वारा निर्धारित आदर्शों का परिपालन सदस्य नहीं करते तो इसके लिये दण्ड का प्रवधान भी होता है।

तुलनात्मक संदर्भ समूह वे हैं जिनके व्यक्ति अपने या दूसरों के व्यवहार का तुलनात्मक आधार मानता है। इस तरह के समूह व्यक्ति के अपने स्वयं या दूसरे व्यवहार के मूल्यांकन के लिए सहायक होते हैं ग्रामीण समूह जब शहरी समूह द्वारा निर्धारित व्यवहार के प्रमानों से अपने समूह की तुलना करते हैं तो वस्तुतः यह तुलनात्मक मूल्यांकन है।

इस भाँति जहाँ आदर्शात्मक संदर्भ समूह व्यक्तियों को इस बात के लिए अभिप्रेरित करते हैं कि वे अपने समूहों के मानदण्डों और मूल्यों को स्वीकार करें उनका सात्मीकरण करें वहीं तुलनात्मक संदर्भ समूह व्यक्तियों के व्यवहारों का तुलनात्मक मूल्यांकन करने में सहायक होते हैं।

- **धनात्मक और ऋणात्मक संदर्भ समूह (Positive and Negative Reference Group)** – प्रो० न्यूकोम्ब ने संदर्भ समूह को धनात्मक तथा ऋणात्मक संदर्भ समूह में बाँटा है

धनात्मक संदर्भ समूह वे हैं जिनसे व्यक्ति जुड़ने की आकांक्षा रखता है परन्तु ऋणात्मक संदर्भ समूह वे हैं जिनसे व्यक्ति एक खास दूरी बरतता है।
जैसे – एक बैंक कर्लक के लिए चपरासियों का समूह जहाँ ऋणात्मक समूह है वहीं अफसरों का समूह धनात्मक संदर्भ समूह है।

- **वास्तविक एवं काल्पनिक संदर्भ समूह (Real and Unreal Reference Group)** – जोनसन का कहना है कि संदर्भ समूह वास्तविक भी हो सकता है और काल्पनिक भी। काल्पनिक समूह का उदाहरण – मार्क्सवादियों के लिए वर्गविहिन समाज तथा गौधीवादियों के लिए रामराज आदि-2 इसी तरह हिन्दुओं में स्वर्ग एवं नरक काल्पनिक धनात्मक एवं ऋणात्मक संदर्भ समूह।

संदर्भ व्यक्ति या संदर्भ समूह का चुनाव – अमेरिकन समाजशास्त्री रॉबर्ट किंग्सले मर्टन के अनुसार एक व्यक्ति के द्वारा अपने संदर्भ के रूप में केवल समूह को नहीं अपितु व्यक्ति को भी चुना जा सकता है इन दोनों का चुनाव कैसे किया जाता है उसे मर्टन ने इस प्रकार समझाया है।

- 1 संदर्भ-व्यक्ति का चुनाव आदर्श भूमिका (Role-Modal) के आधार पर किया जाता है ऐसा होता है कि एक व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति की कुछ भूमिकायें अच्छी लगती हैं और वह उन्हें केवल आदर्श मानने लगता है अपितु उन भूमिकाओं को अपने जीवन में भी निखारने का प्रयत्न करता है।
उदाहरणार्थ – एक विद्यार्थी को अपने किसी शिक्षक का पढ़ाने का ढंग व विद्यार्थियों के साथ व्यवहार करने का ढंग अच्छा लगता है तो आगे चलकर शिक्षक का पेशा अपनाने पर वह विद्यार्थी उसी शिक्षक को अपना संदर्भ-व्यक्ति (Reference Individual) मान लेता है। और शिक्षक के रूप में उनके आचरणों व भूमिकाओं को अपने जीवन में भी निखारने का प्रयत्न करता है।
- 2 संदर्भ-समूह का चुनाव सामाजिक जीवन में अपने को अधिक प्रतिष्ठित देखने की इच्छा से प्रेरित होता है व्यक्ति की यह अभिलाषा होती है कि वह सामाजिक सीढ़ी से ऊपर की ओर जाये। इसके लिए एक आधार की आवश्यकता होती है अतः वह किसी ऐसे समूह को चुन लेता है जो कि उसकी निगाह में आदर्श व अधिक प्रतिष्ठा सम्पन्न है इसी से यह स्पष्ट है कि सामाजिक प्रतिष्ठा पाने की इच्छा व्यक्ति को उसे दूसरे समूह का चुनाव करने की प्रेरणा देती है जिसका वह सदस्य नहीं है।

संदर्भ-समूहों के चुनाव को प्रभावित करने वाले तथ्य (Facts influencing the Selection of Reference Group) – मर्टन ने उन तथ्यों की एक सूची प्रस्तुत की है जो कि संदर्भ समूहों के चुनाव को प्रभावित करते हैं –

- 1 समूहों की सदस्यता के लिए सामाजिक परिभाषाएँ या नियमों का स्पष्ट अथवा अस्पष्ट होना।
- 2 समूह में सदस्यों की लिप्त रहने की मात्रा।
- 3 समूह में सदस्यता की वास्तविक अवधि (Actual Duration)।
- 4 समूह में सदस्यता की अपेक्षित (Expected) अवधि।
- 5 समूह के अस्तित्व की अपेक्षित अवधि।
- 6 समूह के अस्तित्व की वास्तविक अवधि।

- 7 समूह की मुक्त (Open) अथवा बन्द (Closed) प्रकृति ।
- 8 किसी समूह का या उसके निर्माणक अंगों का सापेक्षिक (Relative) आकार ।
- 9 वास्तविक तथा महत्वपूर्ण सदस्यों का अनुपात ।
- 10 किसी समूह का या उसके निर्माणक अंगों का निरपेक्ष आकार ।
- 11 सामाजिक विभेदीकरण की मात्रा ।
- 12 संस्वरण की आकृति (Shape) तथा ऊंचाई ।
- 13 सामाजिक एकता के प्रकार तथा मात्रा ।
- 14 समूह की एकता ।
- 15 समूह के सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति ।
- 16 समूह के अन्तर्गत सामाजिक अन्तक्रिया ।
- 17 समूह के आदर्श नियमों (Norms) के प्रति आपेक्षिक समरूपता की सीमा, पथ-भ्रष्ट व्यवहारों के प्रति सहनशीलता ।
- 18 आदर्शात्मक नियन्त्रणों की व्यवस्था ।
- 19 समूह की भूमिकाओं के मूल्यांकन की मात्रा ।
- 20 समूह की परिस्थिति (Ecological) संरचना ।
- 21 समूह की स्वायत्तता (Autonomy) या निर्भरता (Dependence) की मात्रा ।
- 22 समूह के संरचनात्मक संदर्भ के स्थायित्व की मात्रा ।
- 23 समूह के स्थायित्व की मात्रा ।
- 24 समूह के स्थायित्व (Stability) स्थापित करने के तरीके ।
- 25 समूह के सापेक्षिक (Relative) सामाजिक प्रतिष्ठा ।
- 26 समूह की सापेक्षिक शक्ति ।

27.8 संदर्भ समूह के प्रकार्यात्मक पक्ष /सामाजिक गतिशीलता(Functional Aspects Of Reference Group) –

संदर्भ-समूह, व्यक्ति को (उस समूह के) साथ समरूपता स्थापित करने की प्रेरणा देता है जिसके कारण व्यक्ति अपने संदर्भ-समूह के मूल्यों, आदर्शों तथा आचरणों को अपने जीवन में उतारने के लिए प्रयत्नशील होता है फलस्वरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व में ने केवल अनेक नये मूल्य, आदर्श व्यवहार-प्रतिमान, विचार, प्रतिमायें (Images) आदि सम्मिलित हो जाते हैं अपितु यह सम्भावना भी रहती है कि उसकी सामाजिक स्थिति भी ऊँची उठ सकेगी। एक ऐसी सीख या भूमिका जो भविष्य में करनी है पहले से तैयार करना या पहले से निभाना। उदाहरण के लिए शिक्षक बनने से शिक्षक का नकल करना या शिक्षक शिक्षक जैसा व्यवहार अपनाना।

व्यक्ति का प्रत्याशित सामाजीकरण (Anticipatory Socialization) की दिशा में संदर्भ-समूह का प्रकार्य (Function) उल्लेखनीय है। प्रत्याशित सामाजीकरण (Anticipatory Socialization) केवल मुक्त सामाजिक संरचना (Open Social Structure) में प्रकार्य (Function) के रूप में होता है

बन्द (Closed) सामाजिक संरचना में यह अकार्य (Dysfunction) का रूप धारण की लेता है क्योंकि ऐसे समाज परम्परागत नियमों, आदर्शों तथा मूल्यों के द्वारा आबद्ध होने को कारण एक समूह के सदस्य द्वारा अपने समूह के मूल्यों व व्यवहारों को त्याग कर दूसरे समूह के मूल्यों व व्यवहारों को अपनाना बुरा माना जाता है और उसका विरोध भी किया जाता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक जीवन में तनाव व विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। अतः दूसरे समूह के मूल्यों व व्यवहारों को अपनाने के बाद भी व्यक्ति के लिए अपनी आकांक्षाओं को पूरा करना सम्भव नहीं होता। इस संदर्भ में मर्टन ने हमारा ध्यान उस सत्य की ओर आकर्षित किया है कि जिस अनुपात में एक व्यक्ति दूसरे समूह (संदर्भ-समूह) के मूल्यों, आदर्शों व आचरणों के साथ अपनी समरूपता स्थापित करता है उसी अनुपात में वह अपने समूह के मूल्यों तथा आचरणों से दूर होता जाता है और यदि उसके अपने समूह के अन्य सदस्य इस बात को पसन्द नहीं करते तो उस व्यक्ति व शेष समूह के बीच सामाजिक सम्बन्ध बिगड़ने लगते हैं उस व्यवस्था में अगर व्यक्ति लौटकर अपने ही समूह के मूल्यों व आचरणों को फिर से अपनाना चाहे तो भी उसे ऐसा करने का अवसर नहीं दिया जाता।

अतः दूसरे समूहों मूल्यों व आचरणों को अपनाने की प्रक्रिया एक बार शुरु हो जाने पर वह संचित होती चली जाती है और व्यक्ति अपनी मनोवृत्तियों, मूल्यों तथा सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में अपने समूह से धीरे-धीरे अलग होता जाता है यहाँ तक कि अन्त में वह अपने समूह से बिल्कुल विचित्र हो जाता है और संदर्भ-समूह को ही पूर्णतया स्वीकार कर लेता है। ऐसा विशेषकर उस अवस्था में होता है जबकि उसका अपना समूह पुनः उसे अपने सदस्य के रूप में ग्रहण करने से इनकार कर देता है।

इस संदर्भ में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि मर्टन का कहना है कि जब कोई व्यक्ति संदर्भ-समूह के व्यवहार, आचरण, नियम को अपनाने लगता है तो अपने समूह से अलग होने लगता है और मनोवैज्ञानिक रूप से संदर्भ-समूह से जुड़ जाता है। अगर वह संदर्भ-समूह में शामिल नहीं हो पाता है तो ऐसी स्थिति में 'सीमान्त मानव' (Marginal Man) बन जाता है।

27.9 सीमान्त मानव (Marginal Man) –

वह व्यक्ति न तो संदर्भ-समूह और नहीं अपने समूह का रहता है ऐसी स्थिति में व्यक्ति का अपने समूह में भी कार्य करने में मन नहीं लगता है सृजनशीलता की कमी हो जाती है।

आगे मर्टन का कहना है कि अगर व्यक्ति संदर्भ-समूह का हो जाता है तो उसकी सृजनशीलता, कार्य करने की क्षमता बढ़ जाती है। उदाहरण के तौर पर यदि कोई व्यक्ति आई० ए० एस० बनना चाहता है तो आई० ए० एस० उसका संदर्भ-समूह है अगर वह आई० ए० एस० बन जाता है तो उसके कार्य करने की क्षमता भी बढ़ जाती है। अगर नहीं बनता तो 'सीमान्त मानव' बन जाता है और उसकी सृजनशीलता घटती है।

वेब्लन के विचार (Views of Veblen) –

समाजशास्त्र के क्षेत्र में थर्सटीन वेब्लान ने अपनी पुस्तक 'द थ्यूरी आफ लीजर क्लास' (The theory of Leisure Class) में विलासी वर्ग की अवधारणा दी। विलासी वर्ग वह वर्ग है जो पूँजीवादी समाज के अधिकांश लाभ को संचित करता है। इस वर्ग की जीवन शैली आडम्बरपूर्ण, फिजूलखर्ची, आलसीपन,

लालचीपन, तड़क-भड़क उपभोग से भरी है। इसे प्रस्तुत करते हुए संदर्भ समूह का अप्रत्यक्ष उल्लेख किया है।

उसके अनुसार विलासी वर्ग में भी ऊंच-नीच का संस्तरण होता है जो लोग धन और वंश दोनों में ही ऊंची श्रेणी के होते हैं वे अपने को उस वर्ग से ऊंचा समझते हैं जो धन या वंश के सम्बन्ध में उनसे कमजोर होते हैं समाज में इसी प्रकार का ऊंच-नीच कर एक संस्तरण देखने को मिलता है। प्रत्येक वर्ग अपने से ऊपर वाले वर्ग को अपना आदर्श (या संदर्भ-समूह) मानने लगता है और विलास व उपभोग के सम्बन्ध में उसी ऊपर वाले वर्ग का अनुसरण करने का भरसक प्रयत्न करता है इस रूप में आदर्श मूल्य, व्यवहार आदि अनुकरण करना एक प्रकार से सम्मान का या गर्व करने योग्य विशय माना जाता है क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति अपनी बराबरी ऊपर के वर्ग से कर सकता है जिससे दूसरे लोगों की दृष्टि में उसकी स्थिति स्वतः ही ऊंची उठ जाती है। इसी कारण एक समूह या वर्ग के सदस्य अपने संदर्भ-समूह के आदर्शों व व्यवहार के मानों (Standards of Behaviours) के निकट पहुंचने का यथा साध्य प्रयत्न करते हैं विशेषकर तीज-त्यौहार के अवसर पर खान-पान, वेष-भूषा आदि के विषय में उच्च वर्ग की नकल की जाती है और इसीलिए प्रायः यह देखा जाता है कि ऐसे तीज-त्यौहार के मौके पर अनेक परिवार अपनी हैसियत से भी अधिक खर्च कर बैठते हैं यहाँ तक कि ऐसे अवसरों पर कर्ज लेकर भी अपने खान-पान व पोषाक को उच्च वर्ग के समान लाने का प्रयत्न किया जाता है।

अपने संदर्भ-समूह का अनुकरण करने की छूट व्यक्ति में इस रूप में भी व्यक्त होती है कि नीचे के वर्ग या मध्य वर्ग के लोग भी जिनकी आय अधिक नहीं होती। अपने घर के अन्दरूनी विषयों में या घर-गृहस्थी के खर्चों में बचत करके बाह्य टाट-बाट को यथासम्भव ऊँचे स्तर पर रखने का प्रयत्न करते हैं इसी प्रकार इस समीकरण की प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति सदस्यों के व्यवहार में भी होती है वे अधिक से अधिक अच्छे गहने तथा पोषाकों से अपने को सजाकर तथा उच्चस्तरीय व्यवहार प्रतिमान (Behaviour Pattern) को अपनाकर अपने पति या पिता के परिवार की प्रतिष्ठा को ऊँचा बनाये रखने का एक मनोवैज्ञानिक प्रयत्न करती है।

मध्यम वर्ग के परिवारों में यह भी देखा गया है कि परिवार का कर्ता जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने में इतना अधिक व्यस्त हो जाता है कि उसके जीवन में विलास व भोग का नामोनिशान नहीं होता। परन्तु उसकी पत्नी या बेटियाँ उसकी उस कमी को पूरा करती हैं और अपने जीवन स्तर व व्यवहार प्रतिमानों में ऐश-आराम, वेष-भूषा व आडम्बरपूर्ण चाल-ढाल का इस भाँति समावेश करती हैं कि वे उच्च वर्ग के सदस्यों के समान हो जायें। इस संदर्भ में बेब्लन ने बिगड़े नबाबों के एक विशेष वर्ग का भी उल्लेख किया है इनका संदर्भ-समूह स्वयं उनका अपना ही वर्ग होता है जिसका कि सदस्य अतीत में वे स्वयं नहीं अपितु उनके बाप-दादा रहे हैं इसलिए यह वर्ग उन लोगों का होता है जिनके बाप-दादा कभी अत्यधिक प्रतिष्ठित व धनी रहे हैं। और जिन्हें शरीफाना आदर्शों व ऐश-आराम करने की आदत तो अपने बाप-दादाओं से विरासत के रूप में मिल जाती है पर उस प्रकार के ऐश-आराम की जिन्दगी बिताने के लिए आवश्यक पैतृक धन उन्हें न तो अपने प्रयत्नों द्वारा उसे प्राप्त करने की कभी कोशिश की है। इस पर भी अपने पूर्वजों के वर्ग में प्रचलित टाट-बाट, ऐश आराम व भोग विलास सम्बन्धी सभी आदतों व व्यवहार प्रतिमानों को ही वे आदर्श मान लेते हैं और उस उच्च स्तर को बनाये रखने के लिए किसी भी कीमत को अदा करने को तैयार रहते हैं। उन्हें अपने बाप-दादाओं की भाँति ऐश-आराम करने की आदत पड़ जाती है इसीलिए वे कोई उत्पादक कार्य नहीं करते हैं एक के बाद दूसरी जायदाद बेचकर भी भोग-विलास व

बाहरी ठाट-बाट को बनाये रखना उन्हें मंजूर होता है पर नौकरी करना नहीं। श्रम द्वारा धन कमाना उनके लिए लज्जा की बात है। ऐसा करने में वे अपनी तौहीन समझते हैं उनकी तो शान इसी में है कि अपने बाप-दादाओं के उच्च जीवन-मान को बनाये रखने में वे अपने को धीरे-धीरे पतन की ओर ले जायें मिट जाना उनके लिए सरल है पर ऐश-आराम जीवन को त्यागना या मेहनत से रोटी कमाना उनके लिए असम्भव है।

27.10 सारांश—

इस इकाई के अध्ययन से आप जान चुके हैं कि संदर्भ समूह की अवधारणा किस प्रकार सापेक्षिक वंचना से संबंधित है। सन्दर्भ समूह का अर्थ, विशेषताएँ, प्रकार आदि को भी जान चुके हैं। इसके प्रकार्यात्मक पक्ष किस प्रकार व्यक्ति के लिए लाभदायक हैं साथ ही इसके अप्रकार्यात्मक पहलू किस प्रकार व्यक्ति को प्रभावित करती है और व्यक्ति 'सीमान्त व्यक्ति' बन जाता है।

27.11 पारिभाषिक शब्दावली—

सकारात्मक संदर्भ समूह (Positive Reference Group)— वह समूह जिसकी सदस्यता की इच्छा व्यक्ति रखता है जैसे— किसी विद्यार्थी आई.ए. एस. बनने की इच्छा, अतः विद्यार्थी के लिए आई. ए. एस. सकारात्मक सन्दर्भ समूह है।

नकारात्मक संदर्भ समूह (Negative Reference Group)— वह समूह जिसकी सदस्यता की इच्छा व्यक्ति नहीं रखता है जैसे— चोर, डाकू, गुंडे आदि।

27.12 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

(1) सन्दर्भ समूह व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में 'सीमान्त व्यक्ति' की अवधारणा का किसने प्रयोग किया है?

(क) आर. के. मर्टन

(ख) ए. के. रॉस

(ग) एच. एच. हाइमन

(घ) न्यूकॉम्ब

(2) सन्दर्भ समूह व्यवहार, निम्नलिखित में से किसका परिणाम है?

(क) वंचन का

(ख) सापेक्षिक वंचन का

(ग) सापेक्ष प्रेरणा का

(घ) प्रेरणा का

(3) सन्दर्भ समूह की अवधारणा सर्वप्रथम किसने प्रतिपादित किया?

(क) मर्टन

(ख) हाइमन

(ग) न्यूकॉम्ब

(घ) कूले

(4) सन्दर्भ—समूह का मुख्य आधार है—

(क) वैक्तिक सम्बन्ध

(ख) लघु आकार

(ग) सम्बन्धों में घनिष्टता

(घ) सदस्य बनने की आकांक्षा

(5) सन्दर्भ—समूह को सकारात्मक और नकारात्मक में विभाजित किया है—

(क) न्यूकॉम्ब

(ख) मर्टन

(ग) हाइमन

(घ) सोरोकिन

6. 'संदर्भ समूह' का मुख्य कारण है

(क) हीनभावना

(ख) परजाति केन्द्रवाद

(ग) दरिद्रता

(घ) सापेक्षिक वंचन

7. सापेक्षिक वंचन निम्नलिखित में से कौन-सा युग्म सही रूप से सुमेलित नहीं किया गया है?

(क) सी. एच. कूले : प्राथमिक समूह

(ख) टॉल्कट पॉर्सन्स : प्रत्यक्षवाद

(ग) आर. के. मर्टन : संदर्भ-समूह

(घ) डब्ल्यू. जी. सम्नर : अंतः समूह, बहिर्समूह

8. निम्नलिखित युग्मों में से कौन-सा एक सही रूप से सुमेलित नहीं किया गया है?

(क) ए. आर. रेडक्लिफब्राउन : चार प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं

(ख) आर. के. मर्टन : संदर्भ-समूह

(ग) एमिल दखाइम : सामाजिक तथ्य

(घ) ई. एच. कूले : प्राथमिक एवं गौण समूह

9. निम्नलिखित में से किसने 'सापेक्ष वंचन' को सबसे पहले प्रयुक्त किया?

(क) सैमुअल ए. स्टौफर

(ख) आर. के. मर्टन

(ग) डब्ल्यू. जी. सम्नर

(घ) ए. हैंडर्सन

10. वह प्रक्रिया जिसमें कोई निम्न जाति किसी उच्च जाति की जीवन शैली का अनुकरण करती है, उसे कहेंगे:

(क) संदर्भ समूह

(ख) भूमिका आदर्श

(ग) नकल

(घ) प्रत्याशी समाजीकरण

उत्तर- 1-क, 2-ख, 3-ख, 4-घ, 5-क 6-घ 7-ख 8-क 9-ख 10-क

27.13 संदर्भ ग्रंथ सूची-

(1) शम्भूलाल दोशी एवं मधुसूदन त्रिवेदी, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (1997)

रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 40-150

(2) एस. एल. दोशी एवं पी. सी. जैन, सामाजिक विचारक (1997), सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, P- 80-300

(3) डा. शीबा सिद्दीकी, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (2012)

विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली, P- 24&30

(4) डा. एम. एम. लवानिया एवं शशी के. जैन, सैद्धान्तिक समाजशास्त्र (1998),

रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, P- 119-180

(5) एस. एस. पाण्डेय, टीएमएच, P- 17.1, 17.11

(6) डा० अफरोज एकबाल, भारत में सामाजिक परिवर्तन दशा एवं दिशा, P 1- 55

27.14 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री—

(1) M. Francis Abraham, Modern Sociological Theory, Oxford University, Press Bombay, Calcutta, Madras (1982) —P- 40-88

(2) Sujit Kumar Choudhary, Thinkers and Theories in Sociology — P 221-260

(1) Parimal B. Kar, Society, A Study of Social Interaction, Jawahar Publisher (1994) — P 62-70

27.15 निबन्धात्मक प्रश्न—

(1) सन्दर्भ समूह क्या है? इसकी विशेषताओं का वर्णन करें।

(2) सन्दर्भ समूह के बारे में मर्टन के विचार स्पष्ट करें, यह किस प्रकार सापेक्षिक वंचन से संबन्धित है?

(3) सन्दर्भ समूह की अवधारणा का वर्णन करें। इसके विभिन्न प्रकार बतायें।